卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

श्री आचार्यवर्य सकलकीर्ति भट्टारक विरचित

मूलाचार प्रदीप

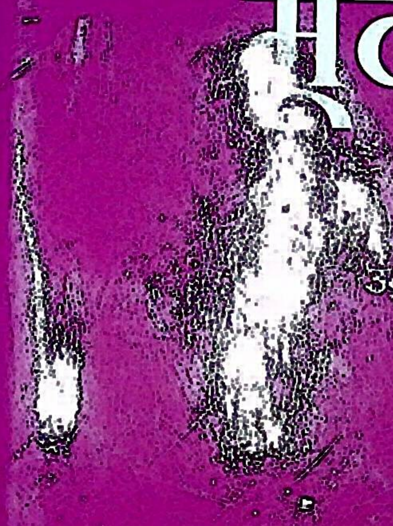

प्रेरक:

उग्रतपस्वी, चारित्रविभूषण, परमपूज्य, आचार्यकल्प

श्री १०८ विवेकसागरजी महाराज

सम्पादक

सिद्धान्तभूषण, न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ

पं० विद्याकुमार सेठी

संयोजन

प्रतिष्ठाचार्य डॉ० आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री कोलकाता

प्रकाशक

आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन

कोलकाता

14.5

श्री वीतरागाय नमः

प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव की अनुपम भेंट २०१९-२०

श्री आचार्यवर्य सकलकीर्ति विरचित

मूलाचार प्रदीप

: प्रेरक :

उग्रतपस्वी, चारित्रविभूषण, परमपूज्य, आचार्यकल्प

श्री १०८ विवेकसागरजी महाराज

: सम्पादक :

सिद्धान्तभूषण, न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ

पं. विद्याकुमार सेठी

संयोजन

प्रतिष्ठाचार्य डॉ. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री, कोलकाता

प्रकाशक

आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन

कोलकाता

ग्रन्थ – मूलाचार प्रदीप

ग्रन्थकार – श्री आचार्यवर्य सकलकीर्ति विरचित

सन्दर्भ – चा.च.आ. श्री शान्तिसागर जी मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं आचार्य श्री वर्द्धमान सागरजी (स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव-२०१९-२०)

मार्गदर्शन एवं सम्प्रेरणा – जगद्गुरु कर्मयोगी स्वस्तिश्रीचारुकीर्ति भट्टारक स्वामी श्री क्षेत्रश्रवणबेलगोला

ग्रन्थमाला सम्पादक – डॉ. श्रेयांसकुमार जैन-वड़ौत
डॉ. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री, कोलकाता
डॉ. कमलेश कुमार जैन, वनारस

संस्करण – प्रथम २०१९-२०

प्रतियाँ – १०००

मूल्य *(पुनः प्रकाशन हेतु)* – ५००/-

संयोजन – प्रतिष्ठाचार्य डॉ. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री, कोलकाता

पुर्ण्याजक – **टीकमचन्द - मनीदेवी जैन काशलीवाल**
पुत्र - पुत्रवधु : आनन्द - संगीता, राकेश - राखी
पौत्र - पुष्पक - अभिषेक - हर्षित

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान – आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन
1/2, दर्पनारायण टैगोर स्ट्रीट, कोलकाता - 700 006
9831008868, 9903080975
ई-मेल – **shantisagar.foundation@gmail.com**

प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज मुनि दीक्षा शताब्दी

100

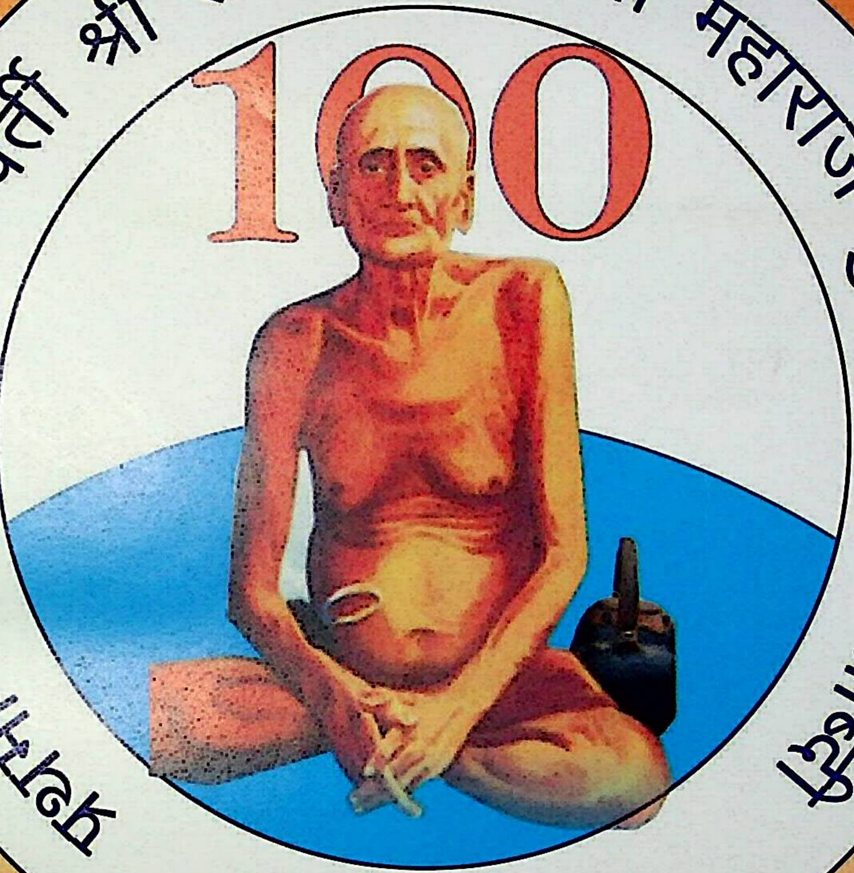

वर्ष – 2020–21

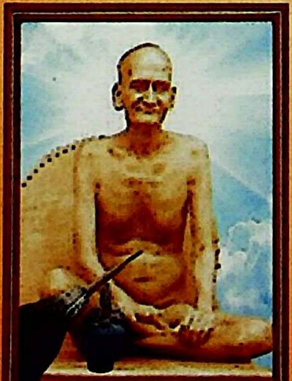

प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा के प्रथम पट्टाचार्य
चारित्र चूड़ामणि आचार्य श्री 108 वीरसागर जी महाराज

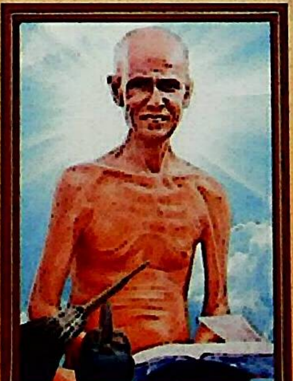

प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा के द्वितीय पट्टाचार्य
सिद्धांत संरक्षक आचार्य श्री 108 शिवसागर जी महाराज

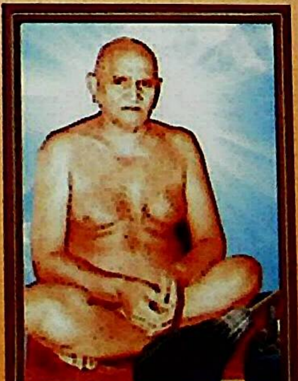

प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा के तृतीय पट्टाचार्य
धर्म शिरोमणि आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज

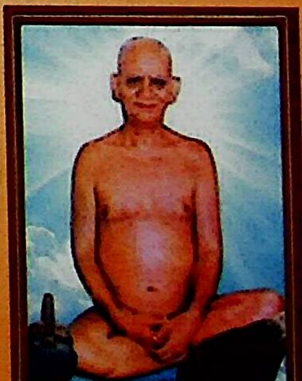

प्रथमाचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की परम्परा के चतुर्थ पट्टाचार्य
अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री 108 अजितसागर जी महाराज

वात्सल्यवारिधि, जिनधर्म प्रभावक, राष्ट्रगौरव
आचार्य १०८ श्री वर्द्धमान सागर जी महाराज का
जीवन परिचय -

जन्म नाम - यशवंत पंचोलिया
जन्म तिथि - १८ सितम्बर १९५० ई. (भादवा सुदी ७) उत्तम आर्जवधर्म
जन्म स्थान - सनावद (म.प्र.)
पिता का नाम - श्री कमलचन्द्र जी पंचोलिया
माता का नाम - श्रीमती मनोरमा देवी
लौकिक शिक्षा - बी.ए. प्रथम वर्ष
ब्रह्मचर्य व्रत - आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज से
शिक्षा प्रदाता - आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागर जी महाराज
मुनि दीक्षा - २४ फरवरी १९६९
विक्रम-संवत् २०२४, सोमवार, फा.शु. ८, श्री महावीरजी
दीक्षा गुरु - आचार्य शिरोमणि १०८ धर्मसागर जी महाराज
आचार्य पद प्रदाता - आचार्यरत्न १०८ श्री अजितसागर जी महाराज
आचार्य पद - २४ जून १९९०, पारसोला (राज.) आषाढ़ शुक्ल २
पट्टाचार्य : २०वीं सदी के प्रथमाचार्य प.पू.चा.च. १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज की अक्षुण्ण मूल बा.ब्र. परंपरा के पंचम पट्टाचार्य
विशेष - कुल चातुर्मास-४९, दीक्षा-७७, मुनि-२७, आर्यिका-२८, क्षुल्लक-१२, क्षुल्लिका-९, ऐलक-१, पंचकल्याणक प्रतिष्ठाएँ-५१, समाधि-४१
पावन सान्निध्य - गोम्टेश्वर बाहुबली महामस्तकाभिषेक में १९९३,२००६,२०१८
यात्राएँ - सिद्धभूमि सम्मेदशिखरजी, चंपापुरजी, सिद्धवरकूटजी ऊन (पावनगिरि), बावनगजाजी, तारंगाजी, कुण्डलपुरजी, गिरनारजी, कुण्डलगिरिजी आदि।

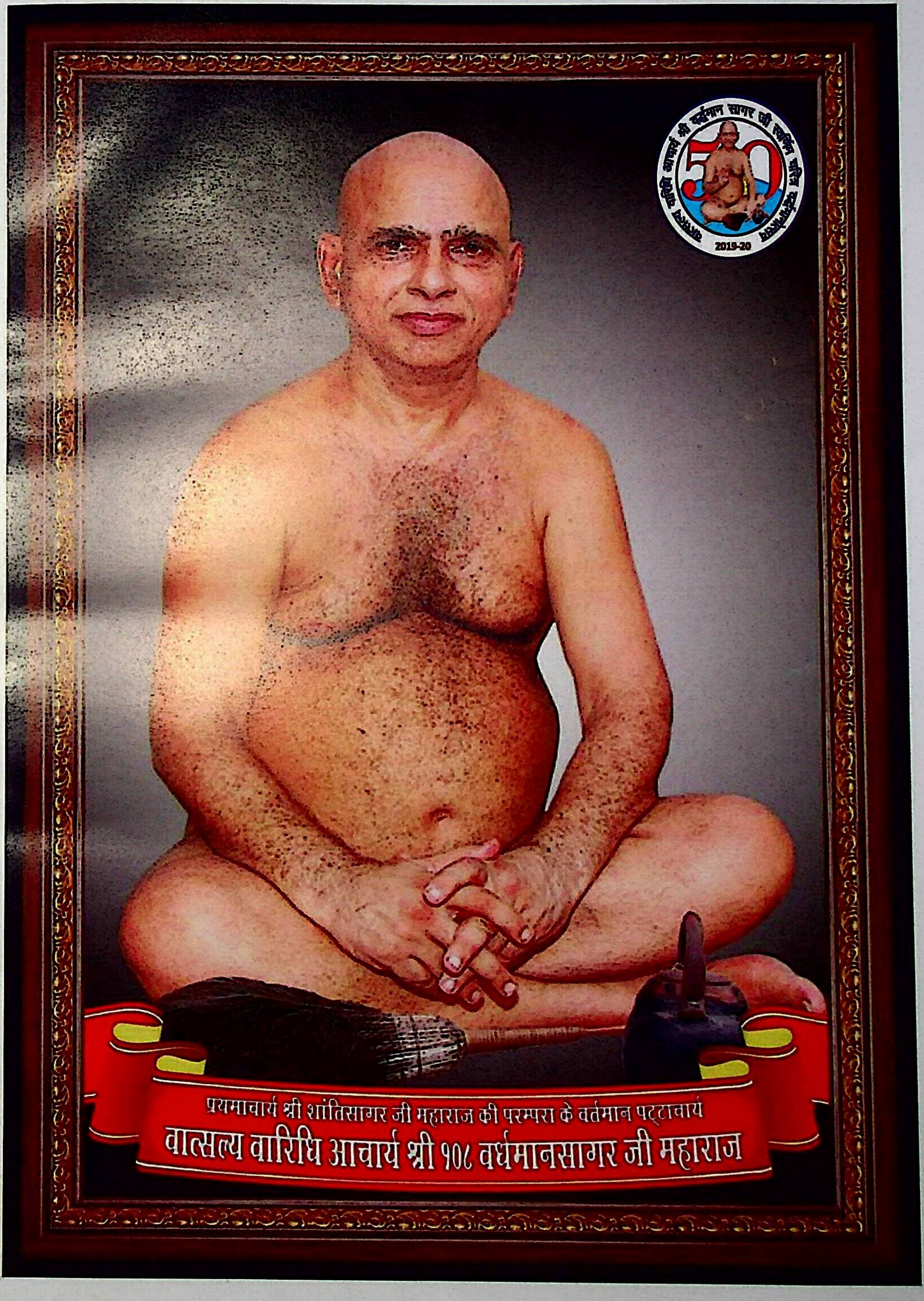

प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज की परम्परा के वर्तमान पट्टाचार्य

वात्सल्य वारिधि आचार्य श्री १०८ वर्धमानसागर जी महाराज

वीसवीं सदी के निर्मल सम्वाहक

श्रमण परम्परा के पुनरुद्धारक

प्रथमाचार्य, चारित्रचक्रवर्ती

श्री शान्तिसागर जी महाराज

मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं उन्हीं

की अक्षुण्ण वाल ब्रह्मचारी पट्ट

परम्परा के सफल सारथी

आगमानुसार चर्या के पोषक,

राष्ट्र गौरव, वात्सल्यवारिधि

आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज

के स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव

पर शत् शत् नमन करते हुए उनके

ही कर कमलों में यह ग्रन्थराज जी सादर समर्पित।

सादर समर्पित

वीसवीं सदी के निर्मल सम्वाहक
श्रमण परम्परा के पुनरुद्धारक
प्रथमाचार्य, चारित्रचक्रवर्ती
श्री शान्तिसागर जी महाराज
मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं उन्हीं
की अक्षुण्ण बाल ब्रह्मचारी पट्ट
परम्परा के सफल सारथी
आगमानुसार चर्या के पोषक,
राष्ट्र गौरव, वात्सल्यवारिधि
आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज
के स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव
पर शत् शत् नमन करते हुए उनके
ही कर कमलों में यह ग्रन्थराज जी सादर समर्पित।

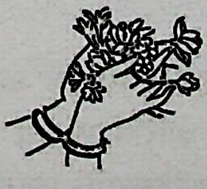

मेरी कलम से...

प्रतिष्ठाचार्य डॉ. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री

श्रमण परम्परा के संवाहक वीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज की मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं पचास वर्ष मुनि दीक्षा के रूप में "स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव" में यह ग्रन्थ हम जिनके श्री कर कमलों में समर्पित कर रहे हैं उन महामना आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी की कीर्ति पताका सारे विश्व में फहरा रही है। वह जैनाचार्य है, वात्सल्य के सागर है, उनका प्रेम, उनकी करुणा और उनकी सम्वेदनशीलता किसी धर्म विशेष तक सीमित नहीं है, वह सबके है और सब उनके हैं।

यह पचास वर्ष की यात्रा किसी 'यशवन्त' की यात्रा नही है, यह यात्रा धर्म की यात्रा हैं...... जिस प्रकार तीर्थयात्रा में पड़ाव आते है उसी प्रकार इस धर्म की यात्रा में पड़ाव आतें है.... पहला पड़ाव वचपन का है बालक यशवन्त विद्याध्ययन के लिये उत्सुक होता है लेकिन वह पुस्तकीय ज्ञानार्जन न करके आत्मीय ज्ञानार्जन करता है धर्म के प्रति अनुरक्त होता है। बाहरी चकाचौंध से अलग होकर अपने भीतर अदृश्य जगत् को देखने की दृष्टि पैदा कर दी और दृश्य जगत के पीछे.छिपे अदृश्य दृश्य को देखना ही अब उनका ध्येय हो गया।

घर आँगन में वचपन की अठखेलियाँ करते हुए पड़ाव पर पड़ाव आते गए और उन्नीस (१९) वर्ष की युवावस्था मे १९६९ में सीधे आचार्य श्री धर्मसागर जी से मुनि दीक्षा ले ली नाम रखा गया मुनि वर्द्धमान सागर। उस समय उन्होंने समस्त पूर्वाचार्यो की शरण को स्वीकार कर लिया..... आचार्य श्री धर्मसागर जी ने जब से उन्हें मुनि पद पर प्रतिष्ठित किया, तब से उनकी यात्रा शुरु हुई। इस यात्रा में "वर्द्धमान सागरजी" सतत साधना पथ पर अग्रसर होते गये। उनकी चर्या निर्दोष, उनकी साधना निर्दोष जिसके कारण उनकी आंतरिक उपलब्धियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गई। चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी की निर्दोष परम्परा को उन्होंने पचास वर्ष तक आगम की छाँव तले निभाया तथा २९ वर्ष आचार्य पद पर रहकर जिन्होंने शिष्य परम्परा को वृद्धिंगत किया और सारे विश्व में दिगम्बरत्व का डंका बजाया।

विश्व प्रसिद्ध भगवान् बाहुबली का द्वादशवर्षीय महामस्तकाभिषेक भी जिनके सान्निध्य में तीन बार हो चुका..... जिनकी वात्सल्य की छाँव तले सैकड़ों मुनि आर्यिका एक ही मंच पर बैठकर उनकी आत्मीयता का रसपान करते है।

परमपूज्य प्रथमाचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शान्तिसागर जी महाराज मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं उनकी पट्ट परम्परा में पञ्चम पट्टाचार्य वात्सल्य वारिधि आचार्य श्री वर्द्धमान सागरजी महाराज जी के पचासवें (५०) मुनिदीक्षा महोत्सव पर "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" से जैनधर्म की प्रभावना, श्रुत की प्रभावना का प्रचार-प्रसार सारे विश्व में हो, भगवान महावीर की वाणी अवाधगति से प्रचारित होती

रहे इस भावना को लेकर आर्ष परम्परागत आचार्य प्रणीत ५० ग्रन्थों का प्रकाशन शताब्दी समारोह एवं आचार्य श्री वर्द्धमान सागरजी महाराज के पचासवें मुनि दीक्षा महोत्सव पर करते हुए हमें हर्ष हो रहा हैं।

आचार्य सकलकीर्ति द्वारा विरचित "मूलाचार प्रदीप" ग्रन्थ मुनियों के मूलगुण एवं उत्तरगुणों का वर्णन करने वाला ग्रन्थ हैं। जिसमें कुल बारह अधिकार है। प्रथम अधिकार में पाँच महाव्रतों का वर्णन, दूसरे अधिकार में पाँच समिति का, तीसरे में पाँच इन्द्रियनिरोध एवं षट् आवश्यक तथा चौथे में शेष सात विशेष गुणों का वर्णन है। इस प्रकार १ से ४ अधिकारों में २८ मूलगुणों का वर्णन है। पंचम अधिकार में दर्शनाचार। छटवाँ अधिकार में शेष चार पंचाचार का विस्तृत वर्णन किया है। सातवाँ में मुनियों के समाचार का, आठवाँ में मुनियों की भावना वर्णन करके दस शुद्धियों का कथन किया है। नवमें अधिकार में चार आराधनाओं में सार भूत समयसार की महिमा का कथन है। दसवाँ में प्रत्याख्यान संस्तर का वर्णन करके दुर्भिक्षादि पड़ जाने पर सन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा दी है। ग्यारहवाँ में शील-गुण एवं दशलक्षण धर्म का निरूपण किया है, वारहवें में अनुप्रेक्षा-परीषह एवं ऋद्धियों का वर्णन है।

प्रस्तुत ग्रन्थराज मूलाचार प्रदीप श्रेष्ठ आचारों को दिखाने वाला दीपक है इसीलिए ही शायद इसका नाम मूलाचार प्रदीप रखा गया है। मुनि धर्म का सांगोपांग वर्णन किया है। प्रत्येक प्रकरण का हृदयगामी वर्णन करके उसकी महत्ता दर्शाकर आत्मार्थी को उसके पालन की प्रेरणा दी है। ग्रन्थ मुनि एवं श्रावक दोनों को ही आत्मोत्थान में सहकारी हैं अतः पाठकों से अनुरोध है कि पुनः पुनः इस ग्रन्थराज का स्वाध्याय कर अपनी आत्म परिणति को निर्मल बनावें।

यह ग्रन्थ पूर्व में दिगम्बर जैन समाज मारोठ (राजस्थान) से सं. २०४२ में प्रकाशित किया था। फिर भी इस ग्रन्थ की मांग होने से एवं प्रबुद्धजनों के पठनार्थ पुनः आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन, कोलकाता से प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है उनके जीवन की मंगल कामना करते है।

मैं जगद्‌गुरु कर्मयोगी स्वस्ति श्री चारुकीर्ति जी भट्टारक स्वामी जी को नमन करता हूँ जिन्होंने मुझे प्रेरणा एवं मार्गदर्शन देकर इस कार्य के लिए प्रेरित किया। साथ ही विद्वत् शिरमौर डॉ. श्रेयांस कुमार जी बड़ौत के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने मेरा धैर्य और साहस बढ़ाया। श्राविका श्रेष्ठ - धर्म परायण कलकत्ता निवासी श्री कुसुम जी छाबड़ा को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में बहुत बड़ा सहयोग दिया। धर्मपत्नी विनीता सिंघई एवं भाई कमलेश जैन वनारस का भी इस कार्य में बहुत बड़ा सहयोग प्राप्त हुआ अतः उनके श्रुत ज्ञान वर्द्धन की कामना करता हूँ तथा ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन-जिन महानुभावों का सहयोग प्राप्त हुआ है उनके मंगल जीवन की कामना करता हूँ।

प्रतिष्ठाचार्य
डॉ. आनन्दप्रकाश शास्त्री
कोलकाता

पुरोवाक्

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन बड़ौत

अध्यक्ष : अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद्

सातिशय पुण्योदय से चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज की परम्परा के पञ्चम पट्टाचार्य वात्सल्यवारिधि श्री वर्द्धमान सागर जी महाराज के मुनिदीक्षा के पचास वर्ष होने पर सम्पूर्ण जैन समाज आचार्य श्री वर्द्धमान सागर जी स्वर्णिम दीक्षा वर्द्धमानोत्सव प्रभावना के साथ मना रही है इसी पुण्यावसर पर "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता लोक कल्याण और स्वाध्याय हेतु ५० ग्रन्थों का प्रकाशन कर रहा है। यह प्रशस्त कार्य है क्योंकि धर्म ग्रन्थों का स्वाध्यायं ही कल्याण का पावन निमित्त होता है जैसा कि कहा गया है–

धर्मशास्त्रश्रुतौ शाश्वत् लालसं यस्य मानसम्।
परमार्थं स एवेह सम्यज्जानाति ना परः।।

जिसका मन धर्म-शास्त्र के सुनने मे सदा लालसा युक्त रहता है वही इस जगत् में परमार्थ को अच्छी तरह जानता है, अन्य नहीं। मानव ने विज्ञान के माध्यम से जड़ तत्वों का अन्वेषण किया है उसने जड़ तत्व को देखा परखा और गहराई में पहुँचकर परमाणु जैसे सूक्ष्म तत्व में निहित विराट शक्ति को खोजा किन्तु इससे शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। शान्ति की अजस्रधारा तो आत्मदर्शन और आत्मज्ञान से ही संभव है वह आत्मज्ञान भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित दिव्य ज्ञान से होता है। भगवान जिनेन्द्र की वाणी को गणधर स्वामी और आरातीय आचार्यो की परम्परा से श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यो ने लिपिवद्ध किया। आचार्यो द्वारा प्रणीत शास्त्रों में आत्मा की मीमांसा है आत्मा का ज्ञान मूल शास्त्रों से ही हो सकता है इसीलिए इनका स्वाध्याय आवश्यक है। क्योंकि–

स्वाध्याज्ज्ञानवृद्धिः स्यात्तस्यां वैराग्यमुत्वणम्।
तस्मात्सर्गपरित्यागस्ततश्चित्तं निरोधनम्।।

अर्थात् – स्वाध्याय से ज्ञान वृद्धि होती है। ज्ञान वृद्धि होने पर उत्कृष्ट वैराग्य बढ़ता है। वैराग्य से संसार त्याग होता है और उससे चित्त का नियन्त्रण होता है।

चित्त का नियन्त्रण ही आत्मज्ञान में सहकारी बनता है। आत्मज्ञान के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय अमोघ दीपक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सचेतक विद्वान डॉ. आनन्दप्रकाश जी शास्त्री, कोलकाता ने आचार्य श्री वर्द्धमान सागर जी स्वर्णिम दीक्षा वर्द्धमानोत्सव के प्रसंग पर ५० मूल प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाशन कराने का जो "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता ने उपक्रम किया है वह महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थों के प्रकाशन से स्वाध्यायियों को तो विशेष लाभ होगा ही साथ में शोध के क्षेत्र में बहुत अधिक सहयोग मिलेगा।

वात्सल्यवारिधि आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज का सभी विद्वानों को विशेष आशीर्वाद है। विद्वान् श्रुत सपर्या करते हुए अपने जीवन को कृतार्थ करें। यह ग्रन्थ प्रकाशन योजना श्रुतसंरक्षण का महत्त्वपूर्ण योग है इस योग हेतु "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता के समस्त पदाधिकारी सहित डॉ. आनन्दप्रकाश जी शास्त्री कोलकाता के श्रुतज्ञान वर्धन की कामना करता हूँ।

शुभाशंसा

स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी

श्री क्षेत्रश्रवणबेलगोला (कर्नाटक)

भगवान महावीर की दिव्यध्वनि को धारण कर गौतम गणधर स्वामी ने श्रुत का गुम्फन किया, उसी श्रुत का आश्रय लेकर श्रुत केवलियों के द्वारा द्वादशांग का प्रणयन हुआ। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वादशांग के पूर्ण ज्ञाता हुए है। उनके बाद श्रुत का बोध हीन होता गया अनन्तर एक अंग के ज्ञाता रहे फिर अंग और पूर्व के आंशिक ज्ञार्न वाले श्रुतज्ञानी रहे इसी क्रम में गुणधर-धरसेन-पुष्पदन्त-भूतबली आचार्य हुए। इन्होंने कसायपाहुड और षट्खण्डागम जैसे आगम ग्रन्थों की रचना की, फिर आचार्य कुन्दकुन्द देव, आचार्य यतिवृषभ, आचार्य शिवार्य, आचार्य नेमिचन्द, आचार्य जिंनसेन आदि अनेक आचार्यो ने ग्रन्थों को रचकर श्रुत का सम्बर्द्धन किया। आचार्यो का विशिष्ट अवदान वर्तमान में संरक्षित रखना सभी मनीषियों का कर्त्तव्य है।

इसी समुद्देश्य से चारित्रचक्रव्रती आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं उन्ही की परम्परा के पञ्चम पट्टाचार्य वात्सल्यवारिधि आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज के स्वर्णिम दीक्षा वर्द्धमानोत्सव के सुअवसर पर आचार्यो द्वारा प्रणीत प्राचीन मूल ग्रन्थों को "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता से प्रकाशित किया जाना महान पुण्य का कार्य हैं। प्राकृत - संस्कृत में रचित ग्रन्थों में अंध्यात्म और सिद्धान्त की प्ररूपणा है। अध्यात्म और सिद्धान्त जैन धर्म-दर्शन के प्राणतत्व है। इनका परिज्ञान के बिना आत्मबोध असंभव होता है।

आत्म प्रवोधन के निमित्त भूत ग्रन्थराजों का प्रकाशन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है, श्रुतज्ञान की प्रभावना केवलज्ञान की प्राप्ति का कारण होती है। केवलज्ञान का कारण ही विनय पूर्वक श्रुताभ्यास है इसीलिए श्रुत के अभ्यास हेतु श्रमण और श्रावक आगम ग्रन्थों का अध्ययन कर आत्मकल्याण करें। ग्रन्थों के प्रकाशन का जो कार्य कोलकाता के उदीयमान नक्षत्र युवा विद्वान् डॉ. आनन्दप्रकाश शास्त्री ने अपने हाथ में लिया है। उनकी यह श्रुत सेवा ज्ञान वृद्धि में सहायक हो, पचास ग्रन्थों का प्रकाशन एक ऐतिहासिक सिद्ध होगा। श्रुत संवर्द्धन योजना ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम का कारण है। इस योजना के लिए सहर्ष अनुमोदना, शुभकामना करते हैं।

जययु सुद देवता

स्वस्ति श्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी

श्रीक्षेत्रश्रवणबेलगोला (कर्नाटक)

१५/०३/२०१८

पुरोवाक्

डॉ. श्रेयांसकुमार जैन बड़ौत

अध्यक्ष : अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन शास्त्रि परिषद्

सातिशय पुण्योदय से चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर महाराज की मुनि दीक्षा शताब्दी समारोह एवं उन्हीं की परम्परा के पञ्चम पट्टाचार्य वात्सल्यवारिधि श्री वर्द्धमान सागर जी महाराज के मुनिदीक्षा के पचास वर्ष होने पर सम्पूर्ण जैन समाज आचार्य श्री वर्द्धमान सागर जी स्वर्णिम दीक्षा वर्द्धमानोत्सव प्रभावना के साथ मना रही है इसी पुण्यावसर पर "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता लोक कल्याण और स्वाध्याय हेतु ५० ग्रन्थों का प्रकाशन कर रहा है। यह प्रशस्त कार्य है क्योंकि धर्म ग्रन्थों का स्वाध्याय ही कल्याण का पावन निमित्त होता है जैसा कि कहा गया है–

धर्मशास्त्रश्रुतौ शाश्वत् लालसं यस्य मानसम्।
परमार्थं स एवेह सम्यज्जानाति ना परः।।

जिसका मन धर्म-शास्त्र के सुनने मे सदा लालसा युक्त रहता है वही इस जगत् में परमार्थ को अच्छी तरह जानता है, अन्य नहीं। मानव ने विज्ञान के माध्यम से जड़ तत्वों का अन्वेषण किया है उसने जड़ तत्व को देखा परखा और गहराई में पहुँचकर परमाणु जैसे सूक्ष्म तत्व में निहित विराट शक्ति को खोजा किन्तु इससे शान्ति का अनुभव नहीं हो सकता। शान्ति की अजस्रधारा तो आत्मदर्शन और आत्मज्ञान से ही संभव है वह आत्मज्ञान भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित दिव्य ज्ञान से होता है। भगवान जिनेन्द्र की वाणी को गणधर स्वामी और आरातीय आचार्यो की परम्परा से श्री कुन्दकुन्द आदि आचार्यो ने लिपिवद्ध किया। आचार्यो द्वारा प्रणीत शास्त्रों में आत्मा की मीमांसा है आत्मा का ज्ञान मूल शास्त्रों से ही हो सकता है इसीलिए इनका स्वाध्याय आवश्यक है। क्योंकि–

स्वाध्याज्ज्ञानवृद्धिः स्यात्तस्यां वैराग्यमुत्वणम्।
तस्मात्सर्गपरित्यागस्ततश्चित्तं निरोधनम्।।

अर्थात् – स्वाध्याय से ज्ञान वृद्धि होती है। ज्ञान वृद्धि होने पर उत्कृष्ट वैराग्य बढ़ता है। वैराग्य से संसार त्याग होता है और उससे चित्त का नियन्त्रण होता है।

चित्त का नियन्त्रण ही आत्मज्ञान में सहकारी बनता है। आत्मज्ञान के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय अमोघ दीपक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सचेतक विद्वान डॉ. आनन्दप्रकाश जी शास्त्री, कोलकाता ने आचार्य शान्तिसागर दीक्षा शताब्दी समारोह एवं आचार्य श्री वर्द्धमान सागर जी स्वर्णिम दीक्षा वर्द्धमानोत्सव के प्रसंग पर ५० मूल प्राचीन ग्रन्थों को प्रकाशन कराने का जो "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता ने उपक्रम किया है वह महत्वपूर्ण है। इन ग्रन्थों के प्रकाशन से स्वाध्यायियों को तो विशेष लाभ होगा ही साथ में शोध के क्षेत्र में बहुत अधिक सहयोग मिलेगा।

वात्सल्यवारिधि आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी महाराज का सभी विद्वानों को विशेष आशीर्वाद है। विद्वान् श्रुत सपर्या करते हुए अपने जीवन को कृतार्थ करें। यह ग्रन्थ प्रकाशन योजना श्रुतसंरक्षण का महत्त्वपूर्ण योग है इस योग हेतु "आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन" कोलकाता के समस्त पदाधिकारी सहित डॉ. आनन्दप्रकाश जी शास्त्री कोलकाता के श्रुतज्ञान वर्धन की कामना करता हूँ।

आचार्य श्री वर्द्धमान सागरजी का बाह्य व्यक्तित्व
उतना ही मनोरम है जितना अंतरंग.....
तपस्या में वे वज्र से कठोर है... पर
उनके मुक्त हास्य और सौम्य मुखमुद्रा से
कुसुम की कोमलता झलकती है....
वे जीवन के शाश्वत सत्यों से स्वयं
रूबरू होकर हमें भी रूबरू करवा रहे हैं...।
सूरज की किरण बनकर हमारे भीतर
आशा और विश्वास का सवेरा जगाते हैं....
तो चंदा की चाँदनी बनकर हमारे अज्ञान के
अन्धकार को दूर करते हैं......
वे अपनी आत्मीयता में डुबोते है और....
बहुत सरलता से पार उतरने के लिए पतवार
थमा देते है..... वे हमें सच्चाई
का सामना करने का पथ और साहस प्रदान करते है।
ऐसे वात्सल्य वारिधि का
"स्वर्णिम चारित्र वर्द्धमानोत्सव"
हमें प्रेरणास्पद बनें...... इस भावना
के साथ उनके चरणों में शत शत नमन....।

— कुसुम छाबड़ा
कोलकाता

जिनके पुनीत स्मरण से मन उदार और श्रद्धा से भर जाता है,
कठिनाईयों से भरी राहों मे जो उम्मीद की किरण दिखाते है,
जीवन के हर मोड़ पर जो नई राह बनाना सिखाते है।
तथा सदोष काल में जो निर्दोष परम्परा को निभा रहे है
ऐसे वन्दनीय गुरुवर आ. श्री वर्द्धमान सागरजी के
५०वें मुनि दीक्षा पर शत शत नमन......।

— विनीता सिंघई
कोलकाता

सकलकीर्ति आचार्य परिचय

संस्कृत भाषा एवं साहित्य के विकास में जैनाचार्यों एवं सन्तों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि भगवान महावीर ने अपना दिव्य सन्देश अर्धमागधी भाषा में दिया था और उनके परिनिर्वाण के पश्चात् एक हजार वर्ष से भी अधिक समय देश में प्राकृत भाषा का वर्चस्व रहा और उसमें अपार साहित्य लिखा गया, लेकिन जब जैनाचार्यों ने देश के बुद्धिजीवियों की रुचि संस्कृत की ओर अधिक देखी तथा संस्कृत भाषा का विद्वान् ही पंडितों की श्रेणी में समझा जाने लगा तो उन्होंने संस्कृत भाषा को अपनाने में अपना पूर्ण समर्थन दिया और अपनी लेखनी द्वारा संस्कृत में सभी विषयों के विकास पर इतना अधिक लिखा कि अभी तक पूर्ण रूप से उसका इतिहास भी नहीं लिखा जा सका। उन्होंने काव्य लिखे, पुराण लिखे, कथा एवं नाटक लिखे। आध्यात्मिक एवं सिद्धान्त ग्रंथों की रचना की। दर्शन एवं न्याय पर शीर्षस्थ ग्रंथों की रचना करके संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। यही नहीं आयुर्वेद, ज्योतिष, मन्त्र शास्त्र, गणित जैसे विषयों पर भी उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। संस्कृत भाषा में ग्रन्थ निर्माण का उनका यह क्रम गत डेढ़ हजार वर्षों से उसी अबाध गति से चल रहा है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य रविषेण, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य जिनसेन, विद्यानन्द एवं अमृतचन्द्र जैसे महान् आचार्यों पर किसे हर्ष नहीं होगा ? इसी तरह आचार्य गुणभद्र, वादीभसिंह, महावीराचार्य, आचार्य शुभचन्द्र, हस्तिमल्ल, जैसे आचार्यों ने संस्कृत भाषा में अपार साहित्य लिख कर संस्कृत साहित्य के यश एवं गौरव को द्विगुणित किया। १४ वीं शताब्दी में ही देश में भट्टारक संस्था ने लोकप्रियता प्राप्त की। ये भट्टारक स्वयं ही आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु के रूप में सर्वत्र समादृत थे। इन्होंने अपने ५०० वर्षों के युग में न केवल जैन धर्म की ही सर्वत्र प्रभावना की किन्तु अपनी महान् विद्वत्ता से संस्कृत साहित्य की अनोखी सेवा की और देश को अपने त्याग एवं ज्ञान से एक नवीन दिशा प्रदान की।

इन भट्टारकों में भट्टारक सकलकीर्ति का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

वे ऐसे ही सन्त शिरोमणि हैं जिनकी रचनायें राजस्थान के शास्त्र भण्डारों का गौरव बढ़ा रही हैं। इस प्रदेश का ऐसा कोई ग्रन्थागार नहीं जिसमें उनकी कम से कम तीन चार कृतियां संग्रहीत नहीं हों। वे साहित्य गगन के ऐसे महान् तपस्वी सन्त हैं जिनकी विद्वत्ता पर देश का सम्पूर्ण विद्वत् समाज गर्व कर सकता है। वे साहित्य गगन के सूर्य हैं और अपनी काव्य प्रतिभा से गत ७०० वर्षों से सभी को आलोकित कर रखा है। उन्होंने संस्कृत एवं राजस्थानी में दो चार नहीं, पचासों रचनायें निबद्ध कीं और काव्य, पुराण, चरित, कथा, अध्यात्म, सुभाषित आदि विविध विषयों पर अधिकार पूर्वक लिखा। गुजरात, बागड़, मेवाड़ एवं ढूंढाहड़ प्रदेश में जिनके पचासों शिष्य प्रशिष्यों ने उनकी कृतियों की प्रतिलिपियां करके यहां के शास्त्र भण्डारों की शोभा में अभिवृद्धि की। और गत ५०० वर्षों से जिनकी कृतियों का स्वाध्याय एवं पठन पाठन का समाज में सर्वाधिक प्रचार रहा है। जिनमें कितने ही पुराण एवं चरित्र ग्रन्थों की हिन्दी टीकायें हो चुकी हैं तथा अभी तक भी वही क्रम चालू है। ऐसे महाकवि का संस्कृत साहित्य के इतिहास में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलना निसन्देह विचारणीय है। "राजस्थान के जैन सन्त व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व"[1] पुस्तक में सर्व प्रथम लेखक ने भट्टारक सकलकीर्ति पर जब विस्तृत प्रकाश डाला तो विद्वानों का इस ओर ध्यान गया और उदयपुर विश्वविद्यालय से डा० बिहारीलालजी जैन ने भट्टारक सकलकीर्ति पर एक शोध प्रबन्ध लिख कर उनके जीवन एवं कर्तृत्व पर गहरी खोज की और बहुत ही सुन्दर रीति से उनका मूल्यांकन प्रस्तुत किया। प्रसन्नता का विषय है कि उदयपुर विश्वविद्यालय ने शोध प्रबन्ध को स्वीकृत करके श्री बिहारीलाल जैन को पी. एच. डी. की उपाधि से सम्मानित भी कर दिया है। डा० जैन ने सकलकीर्ति की आयु एवं जीवन के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्य उपस्थित किये हैं। लेकिन सकलकीर्ति के विशाल साहित्य को देखते हुए अभी उनका और भी विस्तृत मूल्यांकन होना शेष है। अभी तक विद्वानों ने सर्वे के रूप में उनके साहित्य का नामोल्लेख किया है तथा उनका सामान्य परिचय पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है। किन्तु उनकी प्रत्येक कृति ही अपूर्व कृति है जिसमें सभी प्रकार की ज्ञान सामग्री उपलब्ध होती है। उन्होंने काव्य लिखे, पुराण लिखे एवं कथा साहित्य लिखा और जन साधारण में उन्हें लोकप्रिय बनाया। उन्होंने संस्कृत में ही नहीं, राजस्थानी भाषा में भी लिखा। इसमें भट्टारक सकलकीर्ति के महान् व्यक्तित्व को देखा एवं परखा जा सकता है।

जीवन परिचय—

भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म संवत् १४४३ (सन् १३८६) में हुआ था। इनके पिता का नाम करमसिंह एवं माता का नाम शोभा था। ये अणहिलपुर पट्टण के रहने वाले थे। इनकी जाति

---

[1] साहित्य शोध विभाग श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा प्रकाशित।

हूमड थी।[1] "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" कहावत के अनुसार गर्भाधारण करने के पश्चात् इनकी माता ने एक सुन्दर स्वप्न देखा और उसका फल पूछने पर करमसिंह ने इस प्रकार कहा—

"तजि वयण सुणीसार, कुमर तुम्ह होइसिइए।
निर्मल गंगानीर, चन्दन नन्दन तुम्ह तणुए ॥९॥
जलनिधि गहिर गम्भीर खीरोपम सोहामणुए।
ते जिहि तरण प्रकाश जग उद्योतन जस किरणि ॥१०॥"

बालक का नाम पूनसिंह अथवा पूर्णसिंह रखा गया। एक पट्टावलि में इनका नाम पदर्थ भी दिया हुआ है। द्वितीया के चन्द्रमा के समान वह बालक दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। उसका वर्ण राजहंस के समान शुभ्र था तथा शरीर बत्तीस लक्षणों से युक्त था। पांच वर्ष के होने पर पूर्णसिंह को पढ़ने बैठा दिया गया। बालक कुशाग्र बुद्धि का था इसलिये शीघ्र ही उसने सभी ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। विद्यार्थी अवस्था में भी इनका अर्हद् भक्ति की ओर अधिक ध्यान रहता था तथा वे क्षमा, सत्य, शौच एवं ब्रह्मचर्य आदि धर्मों को जीवन में उतारने का प्रयास करते रहते थे। गार्हस्थ्य जीवन के प्रति विरक्ति देख कर माता-पिता ने उनका १४ वर्ष की अवस्था में ही विवाह कर दिया, लेकिन विवाह बंधन में बांधने के पश्चात् भी उनका मन संसार में नहीं लगा और वे उदासीन रहने लगे। पुत्र की गति-विधियां देखकर माता-पिता ने उन्हें बहुत समझाया लेकिन उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। पुत्र एवं माता-पिता के मध्य बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा। पूर्णसिंह के कुछ समझ में नहीं आता और वे बार-बार साधु जीवन धारण करने की उनसे स्वीकृति मांगते रहते।

अन्त में पुत्र की विजय हुई और पूर्णसिंह ने २६ वें वर्ष में अपार सम्पत्ति को तिलांजलि देकर साधु जीवन अपना लिया। वे आत्म-कल्याण के साथ-साथ जगतकल्याण की ओर चल पड़े। "भट्टारक सकलकीर्ति नु रास" के अनुसार उनकी इस समय केवल १८ वर्ष की आयु थी। उस समय भट्टारक

---

[1] हरषी सुणीय सुवाणि पालइ अन्य ऊअरि सुपर।
चोऊद त्रिताल प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ ॥
न्याति माहि मुहुतवंत हूंवड़ हरषि बखाणिइये।
करमसिंह वितपन्न उदयवंत इम जाणीए ॥ ३ ॥
शाभित रस अरधांगि, भूलि सरीस्य सुन्दरीय।
सील स्यंगारित अंगि पेखु प्रत्यक्ष पुरंदरीय ॥४॥

—सकलकीर्ति रास

पद्मनन्दि का मुख्य केन्द्र नैणवां (उदयपुर) था और वे आगम ग्रन्थों के पारगामी विद्वान् माने जाते थे। इसलिये ये भी नेणवां चले गये और उनके शिष्य बन कर अध्ययन करने लगे। यह उनके साधु जीवन की प्रथम पद यात्रा थी। वहां ये आठ वर्ष रहे और प्राकृत एवं संस्कृत के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। उनके मर्म को समझा और भविष्य में सत् साहित्य का प्रचार-प्रसार ही अपना जीवन का एक उद्देश्य बना लिया। ३४ वें वर्ष में उन्होंने आचार्य पदवी ग्रहण की और नाम सकलकीर्ति रखा गया।

विहार——

सकलकीर्ति का वास्तविक साधु जीवन संवत् १४७७ से प्रारम्भ होकर संवत् १४९९ तक रहा। इन २२ वर्षों में इन्होंने मुख्य रूप से राजस्थान के उदयपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ आदि राज्यों एवं गुजरात प्रान्त के राजस्थान के समीपस्थ प्रदेशों में खूब विहार किया।

उस समय जन साधारण के जीवन में धर्म के प्रति काफी शिथिलता आ गई थी। साधु-सन्तों के विहार का अभाव था। जन-साधारण की न तो स्वाध्याय के प्रति रुचि रही थी और न उन्हें सरल भाषा में साहित्य ही उपलब्ध होता था। इसलिये सर्वप्रथम सकलकीर्ति ने उन प्रदेशों में विहार किया और सारे समाज को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने कितने ही यात्रा-संघों का नेतृत्व किया। सर्व प्रथम उन्होंने गिरनार की संघ के साथ यात्रा प्रारम्भ की। फिर वे चंपानेर की ओर यात्रा करने निकले। वहां से आने के पश्चात् हूमड जातीय रतना के साथ मांगीतुंगी की यात्रा के लिये प्रस्थान किया। इसके पश्चात् उन्होंने अन्य तीर्थों की वन्दना की जिससे देश में धार्मिक चेतना फिर से जाग्रत होने लगी।

प्रतिष्ठाओं का आयोजन——

तीर्थ यात्राओं के पश्चात् सकलकीर्ति ने नव मन्दिर निर्माण एवं प्रतिष्ठाएं करवाने का कार्य हाथ में लिया। उन्होंने अपने जीवन में १४ बिम्ब प्रतिष्ठाओं का संचालन किया। इस कार्य में योग देने वालों में संघपति नरपाल एवं उनकी पत्नी बहुरानी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। गलियाकोट में संघपति मूलराज ने इन्हीं के उपदेश से "चतुर्विशति जिन बिम्ब" की स्थापना की थी। नागदा जाति के श्रावक संघपति ठाकुरसिंह ने भी कितनी ही बिम्ब प्रतिष्ठाओं में योग दिया। भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा संवत् १४९०, १४९२, १४९७ आदि संवतों में प्रतिष्ठापित मूर्तियां उदयपुर, डूंगरपुर एवं सागवाड़ा आदि स्थानों के जैन मन्दिरों में मिलती हैं। प्रतिष्ठा महोत्सवों के इन आयोजनों से तत्कालीन समाज में जो जन जाग्रति उत्पन्न हुई थी, उसने देश में जैन धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार में अपना पूरा योग दिया।

व्यक्तित्व एवं पांडित्य—

भट्टारक सकलकीर्ति असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे। इन्होंने जिन-जिन परम्पराओं की नींव रखी, उनका बाद में खूब विकास हुआ। वे गम्भीर अध्ययन युक्त सन्त थे। प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ब्रह्म जिनदास एवं भ० भुवनकीर्ति जैसे विद्वानों का इनका शिष्य होना ही इनके प्रबल पाण्डित्य का सूचक है। इनकी वाणी में जादू था इसलिए जहां भी इनका विहार हो जाता था वहीं इनके सैंकड़ों भक्त बन जाते थे। ये स्वयं तो योग्यतम विद्वान थे ही, किन्तु इन्होंने अपने शिष्यों को भी अपने ही समान विद्वान बनाया। ब्रह्म जिनदास ने अपने ग्रन्थों में भट्टारक सकलकीर्ति को महाकवि, निर्ग्रन्थराज शुद्ध चरित्रधारी एवं तपोनिधि आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है।[1]

भट्टारक सकलभूषण ने अपने उपदेश रत्नमाला की प्रशस्ति में कहा है कि सकलकीर्ति जन जन का चित्त स्वतः ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। ये पुण्यमूर्ति स्वरूप थे तथा अनेक पुराण ग्रन्थों के रचयिता थे।[2]

इसी तरह भट्टारक शुभचन्द्र ने सकलकीर्ति को पुराण एवं काव्यों का प्रसिद्ध नेता कहा है। इनके अतिरिक्त इनके बाद होने वाले प्रायः सभी भट्टारकों ने सकलकीर्ति के व्यक्तित्व एवं विद्वत्ता की भारी प्रशंसा की है। ये भट्टारक थे किन्तु मुनि नाम से भी अपने आपको सम्बोधित करते थे। धन्य कुमार चरित्र ग्रन्थ की पुष्पिका में इन्होंने अपने आपको मुनि सकलकीर्ति नाम से परिचय दिया है।

ये स्वयं भी नग्न अवस्था में रहते थे और इसलिये ये निर्ग्रन्थकार अथवा निर्ग्रन्थराज के नाम से भी अपने शिष्यों द्वारा सम्बोधित किये गये हैं। इन्होंने बागड़ प्रदेश में जहां भट्टारकों का कोई

---

१. ततो भवत्तस्य जगत्प्रसिद्धे: पट्टे मनोज्ञे सकलादिकीर्तिः।
महाकविः शुद्धचरित्रधारी निर्ग्रन्थराजा जगति प्रतापी॥

—जम्बू स्वामी चरित्र

२. तत्पट्ट पंकेजविकासभास्वान् बभूव निर्ग्रन्थवरः प्रतापी।
महाकवित्वादिकला प्रवीणः तपोनिधिः श्री सकलादिकीर्तिः॥

—हरिवंश पुराण

तत्पट्टधारी जनचित्तहारी पुराणमुख्योत्तम-शास्त्रकारी।
भट्टारक श्रीसकलादिकीर्तिः प्रसिद्धनामाजनि पुण्यमूर्तिः॥२१६॥

—उपदेशरत्नमाला—सकल भूषण

प्रभाव नहीं था। संवत् १४९२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की और अपने आपको सरस्वती गच्छ एवं बलात्कारगण की परम्परा का भट्टारक घोषित किया। ये उत्कृष्ट तपस्वी थे तथा अपने जीवन में इन्होंने कितने ही व्रतों का पालन किया था।

सकलकीर्ति ने जनता को जो कुछ चरित्र सम्बन्धी उपदेश दिया था, पहिले उसे अपने जीवन में उतारा। २२ वर्ष के एक छोटे से समय में ३५ से अधिक ग्रन्थों की रचना, विविध ग्रामों एवं नगरों में विहार, भारत के राजस्थान, उत्तरप्रदेश, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों के तीर्थों की पदयात्रा एवं विविध व्रतों का पालन केवल सकलकीर्ति जैसे महा विद्वान् एव प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले साधु से ही सम्पन्न हो सकते थे। इस प्रकार ये श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र से विभूषित उत्कृष्ट एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाले साधु थे।

मृत्यु—

एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति ५६ वर्ष तक जीवित रहे। संवत् १४९९ में महसाना नगर में उनका स्वर्गवास हुआ। पं० परमानन्दजी शास्त्री ने भी प्रशस्ति संग्रह में इनकी मृत्यु संवत् १४९९ में महसाना (गुजरात) में होना लिखा है। डा० ज्योतिप्रसाद जन एवं डा० प्रेमसागर भी इसी संवत् को सही मानते हैं। लेकिन डा० ज्योतिप्रसाद इनका पूरा जीवन ८१ वर्ष स्वीकार करते हैं जो अब लेखक को प्राप्त विभिन्न पट्टावलियों के अनुसार वह सही नहीं जान पड़ता। सकलकीर्ति रास में उनकी विस्तृत जीवन गाथा है। उसमें स्पष्ट रूप से संवत् १४४३ को जन्म एवं संवत् १४९९ में स्वर्गवास होने को स्वीकार किया है।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था—

भट्टारक सकलकीर्ति के समय देश की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। समाज में सामाजिक एवं धार्मिक चेतना का अभाव था। शिक्षा की बहुत कमी थी। साधुओं का अभाव था। भट्टारकों के नग्न रहने की प्रथा थी। स्वयं भट्टारक सकलकीर्ति भी नग्न रहते थे। लोगों में धार्मिक श्रद्धा बहुत थी। तीर्थ यात्रा बड़े-बड़े संघों में होती थी। उनका नेतृत्व करने वाले साधु होते थे। तीर्थ यात्रायें बहुत लम्बी होती थीं तथा वहां से सकुशल लौटने पर बड़े-बड़े उत्सव एवं समारोह किये जाते थे। भट्टारकों ने पंच-कल्याणक प्रतिष्ठाओं एवं अन्य धार्मिक समारोह करने की अच्छी प्रथा डाल दी थी। इनके सघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक आदि सभी होते थे। साधुओं में ज्ञान प्राप्ति की काफी अभिलाषा होती थी, तथा संघ के सभी साधुओं को पढ़ाया जाता था। ग्रन्थ रचना करने का भी खूब प्रचार हो गया था। भट्टारक गण भी खूब ग्रन्थ रचना करते थे। वे प्रायः अपने ग्रंथ श्रावकों

के आग्रह से निबद्ध करते रहते थे। व्रत उपवास की समाप्ति पर श्रावकों द्वारा इन ग्रन्थों की प्रतियां विभिन्न ग्रंथ भण्डारों को भेंट स्वरूप दे दी जाती थीं। भट्टारकों के साथ हस्तलिखित ग्रन्थों के बस्ते के बस्ते होते थे। समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नहीं थी और न उनके पढ़ने-लिखने का साधन था। व्रतोद्यापन पर उनके आग्रहसे ग्रन्थों की स्वाध्यायार्थ प्रतिलिपि कराई जाती थी और उन्हें साधु-सन्तों को पढ़ने के लिये दे दिया जाता था।

साहित्य सेवा—

साहित्य सेवा में सकलकीर्ति का जबरदस्त योग रहा। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होने लगता है जैसे उन्होंने अपने साधु जीवन के प्रत्येक क्षण का उपयोग किया हो। संस्कृत, प्राकृत एवं राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। वे सहज रूप में ही काव्य रचना करते थे। इसलिये उनके मुख से जो भी वाक्य निकलता था वही काव्य रूप में परिवर्तित हो जाता था। साहित्य रचना की परम्परा सकलकीर्ति ने ऐसी डाली कि राजस्थान के बागड़ एवं गुजरात प्रदेश में होने वाले अनेक साधु सन्तों ने साहित्य की खूब सेवा की तथा स्वाध्याय के प्रति जन-साधारण की भावना को जाग्रत किया। इन्होंने अपने अन्तिम २२ वर्ष के जीवन में २७ से अधिक संस्कृत रचनाएँ एवं ८ राजस्थानी रचनाएं निबद्ध की थीं।

राजस्थान में ग्रंथ भण्डारों की जो अभी खोज हुई है उनमें हमें अभी तक निम्न रचनाएं उपलब्ध हो सकी हैं।

संस्कृत की रचनाएं—

१. मूलाचार प्रदीप, २. प्रश्नोत्तरोपासकाचार, ३. आदिपुराण, ४. उत्तरपुराण, ५. शांतिनाथ चरित्र, ६. वर्द्धमान चरित्र, ७. मल्लिनाथ चरित्र, ८ यशोधर चरित्र, ९. धन्यकुमार चरित्र, १०. सुकुमाल चरित्र, ११. सुदर्शन चरित्र, १२ सद्भाषितावली, १३ पार्श्वनाथ चरित्र, १४. व्रतकथा कोष, १५. नेमिजिन चरित्र, १६. कर्मविपाक, १७ तत्त्वार्थसार दीपक, १८. सिद्धान्तसार दीपक, १९. आगमसार, २०. परमात्मराज स्तोत्र, २१. सारचतुर्विंशतिका, २२. श्रीपालचरित्र, २३. जम्बूस्वामी चरित्र, २४. द्वादशानुप्रेक्षा।

पूजा ग्रन्थ—

२५. अष्टाह्निका पूजा, २६ सोलहकारण पूजा, २७. गणधरवलय पूजा।

राजस्थानी कृतियां—

१. आराधना प्रतिबोधसार, २. नेमीश्वर गीत, ३. मुक्तावलि गीत, ४. णमोकार फल गीत, ५. सोलहकारण रास, ६. सारशिखामणि रास, ७. शान्तिनाथ फागु।

उक्त कृतियों के अतिरिक्त अभी और भी रचनाएं हो सकती हैं जिनकी अभी खोज होना बाकी है। भट्टारक सकलकीर्ति की संस्कृत भाषा के समान राजस्थानी भाषा में भी कोई बड़ी रचना मिलनी चाहिये, क्योंकि इनके प्रमुख शिष्य ब्र० जिनदास ने इन्हीं की प्रेरणा एवं उपदेश से राजस्थानी भाषा में ५० से भी अधिक रचनाएं निबद्ध की हैं।

उक्त संस्कृत कृतियों के अतिरिक्त पंचपरमेष्ठी पूजा, द्वादशानुप्रेक्षा एवं सारचतुर्विशतिका आदि और भी कृतियां हैं जो राजस्थान के शास्त्र भंडारों में उपलब्ध होती हैं। ये सभी कृतियां जैन समाज में लोकप्रिय रही हैं तथा उनका पठन-पाठन भी खूब रहा है।

भट्टारक सकलकीर्ति की उक्त संस्कृत रचनाओं में कवि का पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। उनके काव्यों में उसी तरह की शैली, अलंकार, रस एवं छन्दों की परियोजना उपलब्ध होती है जो अन्य भारतीय संस्कृत काव्यों में मिलती है। उनके चरित काव्यों के पढ़ने से अच्छा रसास्वादन मिलता है। चरित काव्यों के नायक त्रेसठशलाका के लोकोत्तर महापुरुष हैं जो अतिशय पुण्यवान हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन अत्यधिक पावन है। सभी काव्य शान्तरस पर्यवसानी हैं।

काव्य ज्ञान के समान भट्टारक सकलकीर्ति जैन सिद्धान्त के महान् वेत्ता थे। उनका मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सिद्धान्तसार दीपक एव तत्त्वार्थसार दीपक तथा कर्मविपाक जैसी रचनाएं उनके अगाध ज्ञान के परिचायक हैं। इसमें जैन सिद्धान्त, आचार-शास्त्र एवं तत्त्वचर्चा के उन गूढ रहस्यों का निचोड़ है जो एक महान् विद्वान् अपनी रचनाओं में भर सकता है।

इसी तरह सद्भाषितावलि उनके सर्वांगज्ञान का प्रतीक है—जिसमें सकलकीर्ति ने जगत के प्राणियों को सुन्दर शिक्षाएं भी प्रदान की हैं, जिससे वे अपना आत्म-कल्याण करने की ओर अग्रसर हो सके। वास्तव में वे सभी विषयों के पारगामी विद्वान् थे। ऐसे सन्त विद्वान् को पाकर कौन देश गौरवान्वित नहीं होगा ?

राजस्थानी रचनाएं—

सकलकीर्ति ने हिन्दी में बहुत ही कम रचना निबद्ध की है। इसका प्रमुख कारण सम्भवतः इनका संस्कृत भाषा की ओर अत्यधिक प्रेम था। इसके अतिरिक्त जो भी इनकी हिन्दी रचनाएं मिली हैं वे सभी लघु रचनाएं हैं जो केवल भाषा अध्ययन की दृष्टि से ही उल्लेखनीय कही जा सकती हैं। सकलकीर्ति का अधिकांश जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ था। इनकी रचनाओं में राजस्थानी भाषा की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत भाषा में ३० ग्रन्थों की रचना करके मां भारती की अपूर्व सेवा की और देश में संस्कृत के पठन-पाठन का जबरदस्त प्रचार किया।

*

प्रस्तावना

"मूलाचार प्रदीप" ग्रन्थ के बारह अधिकारों का संक्षिप्त सारात्मक अथवा विशिष्ट अंश :—

आचार्य सकलकीर्ति ने १२ अधिकारों में मुनियों के मूलगुण एवं उत्तरगुणों का बहुत सुबोध एवं रहस्यात्मक वर्णन किया।

प्रथम ही आचार्य श्री ने ३८ श्लोकों में नमस्कार रूप मंगलाचरण किया। आपने मंगलाचरण में पंच परमेष्ठी के गुणों का क्रमिक एवं बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन किया। पाठक गण स्वयं अनुभव करेंगे कि इसी प्रकार से अरहन्तादिक के गुणों का स्मरण करें तो चित्त की एकाग्रता के साथ-साथ ध्यान की सिद्धि भी हो सकती है। पुनः आचार्य महोदय ने शास्त्र रचना की प्रतिज्ञा करते हुए २८ मूल गुणों का बहुत ही सरल भाषा में वर्णन किया है।

अहिंसा महाव्रत—(१) २६४ गाथाओं में आचार्य श्री ने अहिंसा महाव्रत के पालन हेतु जीवों की काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, योनियों को समझने की प्रेरणा दी है। (२) पंच स्थावरों का स्वरूप निर्देश करते हुए प्राणियों को पृथ्वीकायादि के अस्तित्व का श्रद्धान करने की प्रेरणा दी है। (३) इन जीवों के अस्तित्व का श्रद्धान नहीं करने वाले जीवों को, दीर्घ संसारी, पापी, मिथ्यादृष्टि, कुमार्गगामी, संसार में डूबने वाला, जिन धर्म से बाहर आदि शब्दों के द्वारा तिरस्कृत किया है। (४) आचार्यों ने जिनलिंगधारी मुनिराज को, पृथ्वीकायादिक जीवों की रक्षा के लिये निम्न बातों का निर्देश किया है—

(अ) पृथ्वीकायादिक की विराधना से विरत मुनिराज अपने हाथ-पैर की अंगुली से, खपरादि से पृथ्वी को नहीं खोदते।

(ब) शौचादिक कार्यों में भी त्रियोग से जलकायिक जीवों की हिंसा नहीं करते।

(स) शरीर में शीत ज्वर आदि के उत्पन्न होने पर भी ज्वाला, अंगार, अग्नि की शिखा आदि तेजकायिक युक्त अग्नि को कभी काम में नहीं लेते।

(द) अधिक दाह होने पर भी वस्त्र से, वस्त्र के कोने से, पंखे से, पत्र से, दूसरों के द्वारा भी वायु नहीं करवाना चाहिए। अधिक उष्णता से पीड़ित होने पर भी वायुकायिक जीवों को नाश करने वाली वायु अपने मुख से नहीं निकालना चाहिये।

(५) हाथ-पैर आदि के द्वारा अनन्त जीवों का नाश करने वाली वनस्पति की विराधना नहीं करनी चाहिये।

अहिंसा महाव्रत की ५ भावना में वचन गुप्ति के स्थान पर ऐषणा समिति का वाचन किया है और चार भावनाओं का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र के सदृश्य ही कियां है।

सत्य महाव्रत १. सत्य महाव्रत के स्वरूप का निर्देश करते हुए आचार्य ने अर्हत् मुद्राधारी मुनिराज को निर्मल, कल्याणकारो, वैराग्य की स्थिरता वाले गुण को वृद्धि करने वाले शुभ वचन ही बोलने की प्रेरणा दा है। २. आगमानुकूल वचन नहीं बोलने के समय मौन ही धारण करने की प्रेरणा दी है एवं असत्य के दूषण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि विष खा लेना, विष्टा खा लेना तो अच्छा है परन्तु असत्य बोलना कभी अच्छा नहीं है। ३. अनेक गुणों से सम्पन्न मुनि असत्य भाषण से चाण्डाल के समान निंद्य समझा जाता है। ४. तत्त्वार्थ के सदृश्य ही सत्य महाव्रत की भावना भाने की प्रेरणा दी है।

अचौर्य महाव्रत—[१] अचौर्य महाव्रत का वर्णन करते हुए आचार्य श्री ने कण्ठगत प्राण होने पर भी विना दिया हुआ द्रव्य एवं संयम की हानि करने वाला द्रव्य लेने का निषेध किया। [२] पंच परमेष्ठी की जिस द्रव्य से पूजा की हैं, उस निर्माल्य द्रव्य को कभी नहीं लेना चाहिये। [३] निर्माल्य द्रव्य लेने वाले को नरक में जाने से कोई नहीं बचा सकता। [४] दन्त शुद्धि करने के लिए भो आचार्य महाव्रतधारी के लिये बिना दिये तृण भो न ग्रहण करने का आदेश दिया है। अचौर्य महाव्रत को शुद्ध रखने वाली भावनाओं का बहुत रहस्यात्मक वर्णन किया है जो कि तत्त्वार्थ सूत्र से विदृश्य है—(क) याचना नहीं करना (ख) किसी को कुछ आज्ञा नहीं देना (ग) किसी पदार्थ में ममत्व नहीं रखना। (घ) निर्दोष पदार्थ का सेवन करना (ङ) साधर्मी पुरुषों के साथ शास्त्रानुकूल वर्ताव करना। विशेष—अत्यन्त गम्भोरता से विचारा जाय तो तत्त्वार्थ सूत्र में कथित भावनाओं का सार आचार्य ने अपने शब्दों में किया है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—इस महाव्रत का वर्णन तो बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। १. ब्रह्मचारी को स्त्री संसर्ग ही कलंक का कारण है। ऐसा मानकर ब्रह्मचारी को कोमल बिछौने एवं आसन पर बैठने का निषेध किया है। २. स्त्री का मुख देखना मात्र ही अनेक अनर्थ का कारण है तो साक्षात् स्त्री संसर्ग कलङ्क का कारण क्यों नहीं होगा। ३. ब्रह्मचारियों को स्त्री के श्रृङ्गार, कला,

नृत्यादि को देखने का भी कठोर रूप से निषेध किया है। ४. स्त्री के संसर्ग से योगी भ्रष्ट होकर नरक में जाता है। ५. ब्रह्मचर्य की पांच भावना में चार भावनाओं का तो तत्त्वार्थ सूत्र के सदृश्य ही वर्णन किया गया है। ६. परन्तु पांचवीं भावना में शरीर संस्कार के स्थान पर आचार्य महोदय ने स्त्री के रहने, सोने, उठने, बैठने आदि के स्थान का भी सदा के लिये त्याग करना बताया है।

परिग्रह त्याग महाव्रत—इस महाव्रत का आचार्य श्री ने आकिंचन्य महाव्रत के नाम से वर्णन किया। १. चेतन, अचेतन, बाह्य, अभ्यन्तर परिग्रह में मूर्च्छा के त्याग की प्रेरणा देते हुए आचार्य ने आकिञ्चन व्रत का बहुत अच्छा वर्णन किया है। २. ज्ञान, संयम, शौच के उपकरण के अलावा आचार्य ने सम्पूर्ण परिग्रह के त्याग की प्रेरणा दी है। ३. वसतिकादि में भी स्वामित्व रखने को परिग्रह बताकर मुनिधर्म के अयोग्य पदार्थ को एक बाल के अग्रभाग का करोड़वां भाग भी नहीं ग्रहण करने की प्रेरणा दी है। ४. तत्त्वार्थ सूत्र के सादृश्य ही परिग्रह महाव्रत को शुद्ध रखने के लिए ५ भावनाओं की प्रेरणा दी है। ५. महाव्रत की परिभाषा करते हुए आचार्य कहते हैं कि महापुरुष जिसको धारण करते हैं एवं महान् पद मोक्ष को प्रदान करने वाला महाव्रत के नाम को सार्थक सिद्ध किया है। इस प्रकार की प्ररूपणा करते हुए प्रथम अधिकार को पूर्ण किया।

द्वितीय अधिकार

ईर्या समिति—३३६ श्लोक में आचार्य श्री ने पांच समितियों का विस्तृत वर्णन किया है। आचार्य बताते हैं कि—१. बिना प्रयोजन किसी भी गांव या घर में मुनिराज को नहीं जाना चाहिए। २. कितना व कैसा भी श्रेष्ठ कार्य आ जाने पर भी सूर्यास्त व सूर्योदय के पूर्व मुनिराज को गमन नहीं करना चाहिये। ३. सैंकड़ों कार्य होने पर भी मुनिराज चातुर्मास में न तो स्वयं गमन करे न व्रती को ही बाहर भेजें। ४. प्रयोजन के निमित्त से भी गमनागमन कार्यों में पाप देने वाली सम्मति नहीं देना चाहिये। यहां आ, वहां जा, यहां बैठ, इस कार्य को कर, भोजन कर इस प्रकार कहना भी पाप का कारण है। ५. दयावान मुनिराज को हिलते हुए काष्ठ, पाषाण पर पैर देकर गमन नहीं करना चाहिये। ६. मार्ग में खड़े रहकर भी बात करने का निषेध किया तो चलते हुए वार्तालाप का निषेध तो नियम से ही समझ लेना चाहिये।

भाषा समिति—भाषा समिति के वर्णन में आचार्य महोदय ने १. आत्म प्रशसा, विकथा, हंसी, निन्दा, चुगली आदि के वचन बोलने का निषेध करते हुए त्याग पूर्वक धर्म मार्ग में प्रवृत्ति करवाने वाले सारभूत, परिमित वचन बोलने को ही भाषा समिति कहा है। २. सत्य के दस भेदों का स्वरूप बहुत ही सुन्दर रूप से बतलाया है। पुनः ९ प्रकार की अनुभयादि भाषाओं का कथन किया

है। ३. जो सदा काल मौन धारण करने में असमर्थ हो उसे सत्य व अनुभय भाषा बोलने की प्रेरणा दी है। ४. दस प्रकार को निंद्य भाषाओं के त्याग की प्रेरणा दी है। ५. व्रती पुरुष को ब्रह्मचर्य का घात करनेवाली स्त्री आदि विकथा भी कभी नहीं करना चाहिये। ६. धर्म कथा के अलावा किसी भी प्रकार की कथा त्यागियों को न तो करनी ही चाहिये, न सुननां ही चाहिये। ७. वधकारी वचनों को कहने का निषेध किया है। ८. संघ के दोष का कथन भी पाप का कारण बताते हुए और भी अनेकों दोषों का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

ऐषणा समिति—१. ठण्डा, गर्म जैसा शुद्ध प्रासुक भोजन श्रावक के यहां मिले वैसा ही ले लेना ऐषणा समिति है। २. भोजन के ४६ दोषों को ८ भेदों में गर्भित कर संक्षेप में भेदों का कथन किया। ३. अन्य आचार सार के कथनानुसार आचार्य श्री ने ऐषणा समितिके दोषों का कथन किया। जो पानी बहुत देर पहले गरम किया हो और ठण्डा हो गया हो ऐसा जल संयमियों को नहीं लेना चाहिये। आगे आचार्य श्री ने ६ कारणों से आहार ग्रहण करे व ६ कारणों से आहार का त्याग करने की प्रेरणा दी है। ४. दस प्रकार के अशन दोष में छठ दायक दोष में वेश्या हो, दासी हो, अर्जिका हो या लाल वस्त्र पहनने वाली हो ऐसी स्त्री दान देवे अथवा मुनि लेवे तो दायक दोष उत्पन्न होता है। (४४९ गाथा) ५. तदनन्तर १४ मल दोषों का वर्णन करते हुए उत्तम, मध्यम, जघन्य मलों का भेद दर्शाया है। ६. शुद्ध भोजन की खोज करके आहार लेने वाले मुनि अधः कर्म दोषों से दूषित नहीं होते। भोजन चर्या के काल का कथन करते हुए धनी, निर्धन का भेद नहीं करना चाहिये। ७. पुनः ५ प्रकार की गोचर वृत्ति का कथन किया है एवं भोजन के कालादि ३२ प्रकार के अन्तराय का कथन किया है। स्वाद को छोड़कर भोजन करना चाहिये। ८. थकान आदि की अपेक्षा के विना श्रावकों के घर में नहीं बैठना चाहिये। ९. मुनियों को कभी दिन में नहीं सोना चाहिये एवं १०. विकथादि करने, धर्म ध्यान के दुर्लभ काल को व्यर्थ व्यतीत नहीं करना चाहिये।

आदान निक्षेपण समिति—१. इस समिति के कथन में आचार्य श्री ने ज्ञान, संयम एवं शौचोपकरण को अच्छी तरह देख-भाल कर रखने एवं उठाने की प्रेरणा दी है। २. पाटा संस्तर आदि को हिलाना-चलाना नहीं चाहिये क्योंकि ऐसा करने से जीवों की विराधना होती है। ३. नहीं हिलने वाले संस्तरादि पर बैठना व सोना चाहिये। ४. दुःप्रतिलेखना के त्याग की प्रेरणा देते हुए आचार्य श्री ने अच्छी तरह पहले देखकर फिर सावधानी पूर्वक पिच्छी से मार्जन करने की प्रेरणा दी है। ५. जो मुनि आदान निक्षेपण समिति का पालन करते हैं, उन्हीं के अहिंसा महाव्रत पूर्ण रीति से पालन होता है। ६. जो इस समिति का पालन नहीं करता है वह मुनि शिथिलाचारी व जीवों की विराधना करने वाला होता है। ७. अन्त में आचार्य मुनिराज को आदेश देते हैं कि तुम इस अनेक गुणों की खानि आदान निक्षेपण समिति का पालन करो।

प्रतिष्ठापन समिति—१. जो प्रदेश दृष्टि के अगोचर हैं उस स्थान पर किसी भी प्रकार के मल के निक्षेपण का निषेध किया है। २. संयमियों को नाक एवं कफ के मल को डालकर उसके ऊपर बालू डाल देना चाहिये। ३. दिवाल को पिच्छी से मार्जन करके खुजाल आदि करना चाहिये। ४. क्योंकि बिना यत्नाचार से मल-मूत्रादि के त्याग करने वाले के त्रस जीवों का भी घात होता है तो स्थावर जीवों की तो बात ही क्या। अतः मोक्ष की इच्छा करने वाले को इस प्रतिष्ठापन समिति का पालन अवश्य करना चाहिये। ५. जो इन पांचों समितियों का पालन करने में शिथिलता करते हैं, वे निन्दनीय एवं प्रमादी हैं। उनके अहिंसादि सब व्रत नष्ट हो जाते हैं एवं उन्हें अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। पाठकगण स्वयं इस शास्त्र के पठन से अनुभव करेंगे कि आचार्यों ने कितना रहस्यात्मक वर्णन किया है।

तृतीय अधिकार

आचार्यों ने ४३८ श्लोकोंमें ५ इंद्रिय निरोध एवं षट् आवश्यकों का विस्तृत वर्णन किया।

चक्षु इंद्रिय निरोध—१. चक्षु इन्द्रिय निरोध नामक मूलगुण का वर्णन बहुत ही सारगर्भित किया है। २. मोक्षार्थी को चित्त मोहित करने वाले वस्त्र अथवा वस्त्र के किनारे भी नहीं देखना चाहिये। ३. मुनियों को भोगोपभोग के पवित्र पदार्थों को भी नहीं देखना चाहिये। ४. राजा, सामंत आदि की सेना को देखना भी रौद्रध्यान का कारण है। ५. सम्यग्दृष्टियों को कुदेवादि एवं छः अनायतन को भी नहीं देखना चाहिये। ६. आत्मशुद्धि के लिये राग को उत्पन्न करने वाले नगर आदि को भी नहीं देखना चाहिये। ७. कदाचित् राग की वृद्धि कारक पदार्थ दिख भी जाय तो दृष्टि नीची कर लेना चाहिये। ८. इंद्रिय को नहीं जीतने वाले के मन की चंचलता से ब्रह्मचर्य भी नहीं टिक सकता है। अतः मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये चक्षु इंद्रिय का निरोध करना चाहिये।

श्रोत इन्द्रिय निरोध—श्रोत इन्द्रिय के कथन में १. आचार्य श्री कहते हैं कि मोक्षार्थी को ६ प्रकार के स्वरों को राग पूर्वक नहीं सुनना चाहिये। २. शृंगार रस आदि को बढ़ाने वाले शास्त्र को भी नहीं सुनना चाहिये। ३. विकथा, परनिन्दा, कुकाव्य को सुनने से बुद्धि विपरीत होती है एवं सम्यग्दर्शन भी छूट जाता है। ४. राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले शब्दों को नहीं सुनना चाहिये।

घ्राण इन्द्रिय निरोध—घ्राण इन्द्रिय निरोध करने के लिये १. मोक्षार्थी को सुगन्धित पदार्थों में राग एवं दुर्गंधित पदार्थों में द्वेष नहीं करना चाहिये।

जिह्वा इंद्रिय निरोध—१. जिह्वा इन्द्रिय का निरोध उसी के होता है जो जिह्वा को मनोज्ञ लगने वाले षट्रस मिश्रित पदार्थों में गृद्धता धारण नहीं करते। २. जो मूर्ख मुनि राग-द्वेष पूर्वक आहार करते हैं, उनके पग-पग पर कर्म बंध होता है। ३. जो यति, राक्षसी एवं सर्पिणी के

समान जिह्वा इन्द्रिय को जीतने में असमर्थ हैं वे काम रूपी योद्धा को कभी नहीं जीत सकते । आचार्य श्री ने मिष्ट रस की इच्छा रखने वाले साधुओं को कड़े शब्दों में भर्त्सना दी है ।

स्पर्शन इन्द्रिय निरोध—आचार्य श्री ने स्पर्श इंद्रिय के १. विजेता को कोमल आसन, बिछौना पर सोना, बैठना एवं कोमल रेशमी वस्त्रों का स्पर्श करना भी ब्रह्मचर्य नाशक मानकर त्याग करने की प्रेरणा दी है । २. ग्रीष्म ऋतु में अनायास शीत का एवं शीत ऋतु में अनायास धूप आदि का संयोग हो जाने पर भी इन्द्रिय विजेता मुनिराज को राग-द्वेष नहीं करना चाहिये । ३. आचार्य श्री ने स्पर्शन एवं रसना इन्द्रिय को कामेन्द्रिय एवं शेष इन्द्रियों को भोगेन्द्रिय रूप कहा है । ४. इंद्रियों के अनेक दोष बतलाते हुए इनके आधीन न होने की प्रेरणा दी है । इस प्रकार ११२ श्लोकों में इन्द्रियों का स्वरूप एवं इन्द्रिय विजेता के अनेक गुणों का विशद वर्णन किया है ।

विशेष—आचार्य ने इन इन्द्रियों के निरोधों का वर्णन पश्चात् आनुपूर्वी क्रम से किया है ।

षट् आवश्यक :

सामायिक—अनुकूल प्रतिकूल १. परिस्थितियों में राग-द्वेष का परित्याग ही सामायिक है । ६ प्रकार से सामायिक के भेदों का कथन करते हुए ऋतु परिवर्तन में राग-द्वेष करने का निषेध किया है और २. कांटों से भरे वन में द्वेष एवं बगीचे में राग करने का निषेध किया है । ३. छह प्रकार की सामायिक में भाव सामायिक को मुख्य बताया है । ४. अजितनाथ भगवान से पार्श्वनाथ भगवान तक के २२ तीर्थङ्करों ने सामायिक संयम का ही उपदेश दिया है । ५. आदि व अन्त के तीर्थकरों ने मन्द बुद्धि एवं वक्रबुद्धि वाले जीवों को सामायिक व छेदोपस्थापना दोनों संयम का उपदेश दिया है । ६. सामायिक की महिमा बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं जो कर्म करोड़ों वर्षों के तप से नष्ट नहीं होते वह सामायिक के बल से आधे क्षण में नष्ट हो जाते हैं । ७. अभव्य जीव भी द्रव्य सामायिक के प्रभाव से ऊर्ध्व ग्रैवेयक तक जाता है । ८. प्रथम चक्रवर्ती दिन भर के पापों को शुद्ध सामायिक के द्वारा ही नष्ट करते थे । इस प्रकार पाठकगण स्वयं अनुभव करेंगे कि आचार्य श्री ने सामायिक का स्वरूप व महिमा का वर्णन कितना सुबोध एवं अपूर्व शैली से किया है ।

स्तवन—१. नामादि के भेद से स्तवन भी ६ प्रकार के हैं । प्रत्येक स्तवन का विस्तृत वर्णन किया है । २. अन्त में स्तुति की महिमा का वर्णन करते हुए स्तुति का फल रत्नत्रय की प्राप्ति करने की इच्छा की है, रत्नत्रय प्राप्ति की इच्छा निदान नहीं है । ३. जिनेन्द्र भगवान ने कार्य सिद्धि के लिए रत्नत्रय आदि की इच्छा को अनुभय भाषा कहा है । ४. पंच परमेष्ठी आदि के गुणों में उत्पन्न हुआ स्वाभाविक अनुराग को प्रशस्त अनुराग कहते हैं । ५. यह राग रत्नत्रय को उत्पन्न करने वाला है । आचार्य श्री ने स्तुति का स्वरूप एवं उसकी महिमा का बहुत ही मनोज्ञ वर्णन किया है ।

वन्दना—१. किसी एक तीर्थंकर आदि की स्तुति करना ही वन्दना आवश्यक है। इसका भी नामादिक के भेद से ६ प्रकार का वर्णन किया है। २. वन्दना में कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म, विनयकर्म इन ४ कर्मों से वन्दना की जाती है। इन चार कर्मों का आचार्य ने बड़ी सरल भाषा में वर्णन किया है। ३. विनय के ५ भेद किये हैं–(क) लोकानुवृत्ति (ख) अर्थनिमित्तिक (ग) कामहेतुक (घ) भय और (ङ) मोक्ष संज्ञक, ये पांच भेद किये हैं। प्रत्येक के स्वरूप का वर्णन करते हुए चार विनय को हेय बताया है एवं ४. सर्वोत्कृष्ट मोक्ष विनय धारण करने की प्रेरणा देते हुए इसका विस्तृत वर्णन किया है। ५. आगे आचार्य कृतिकर्म का वर्णन करते हुए कब कौन-कौनसी भक्ति करना चाहिये इसका बड़ा सुन्दर उल्लेख किया है। ६ पुनः वन्दना के अनादतादि ३२ दोषों का वर्णन करते हुए उन दोषों का त्याग करने की प्रेरणा दी है।

चतुर्थ अधिकार

१. आचार्य देव ने चतुर्थ अध्याय में प्रतिक्रमण आदि तीन शेष आवश्यक एवं लोचादि सात विशेष गुणों का ३३६ श्लोकों में वर्णन किया है।

प्रतिक्रमण—प्रथम ही मंगलाचरण के पश्चात् प्रतिक्रमण का स्वरूप एवं नामादि के भेद से उसके छः भेदों का परिभाषा सहित वर्णन किया। ३. पुनः उत्तम प्रतिक्रमण के सात भेद किये। (१) प्रतिक्रामक (२) प्रतिक्रमण एवं (३) प्रतिक्रमितव्य के तीन भेदों का भी सुन्दर वर्णन किया है। ४. व्रतों की शुद्धि के लिये अन्तःकरण शुद्ध करके आलोचना करनी चाहिये। इसके दैवसिक आदि सात भेदों का कथन किया है। ५. व्रतों की शुद्धि के लिये निन्दा, गर्हा एवं शोक पूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये। ६. अन्तरंग शुद्धि का कारण भाव प्रतिक्रमण ही है। ७. स्वभाव सरल अथवा कुटिल बुद्धि वाले शिष्य होने से प्रथम एवं अन्तिम तीर्थङ्कर ने पूर्ण प्रतिक्रमण करने की प्रेरणा दी है परन्तु मध्य के २२ तीर्थंकरों के शिष्य बुद्धिमान एवं प्रमाद रहित थे अतः उन्होंने प्रमाद से जिस व्रत में दूषण लगे उतना ही प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है। ८. आचार्य श्री ने प्रतिक्रमण की विस्तृत महिमा बता कर आत्मार्थियों को आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करने की आज्ञा दी है।

प्रत्याख्यान—१. तपश्चरण के लिये योग्य अथवा अयोग्य पदार्थों का त्याग करना ही प्रत्याख्यान है। २. निक्षेपों के भेद से प्रत्याख्यान छः प्रकार का होता है। ३. नामादि प्रत्याख्यान का स्वरूप बहुत सरल एवं स्पष्ट रूप से किया है। (१) प्रत्याख्यापक (२) प्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यातव्य इन तीनों का स्वरूप बताया है। ४. जो कि प्रत्याख्यान करने वाले को जानना नितान्त आवश्यक है। पुनः अनागत आदि प्रत्याख्यान के दस भेदों का कथन करते हुए तपश्चरण को वृद्धि के लिये इनका पालन करने की प्रेरणा दी। ५. किसी द्रव्य से मिले हुए जल को पीने से उपवास

खण्डित होता है। वेला तेला आदि में जो पानी का त्याग न कर सके तो उसे उष्ण जल ग्रहण करना चाहिये। ६. मुनि को प्राणों का अन्त आने पर भी एक बार भोजन के पश्चात् जलादि ग्रहण नहीं करना चाहिये। ७. प्रत्याख्यान में चार प्रकार की शुद्धि रखने की प्रेरणा एवं उसका स्वरूप का वर्णन किया है। ८. कण्ठगत प्राणों के होने पर अथवा करोड़ों उपसर्ग आने पर भी प्रत्याख्यान को भंग नहीं करना चाहिये। ९. अन्त में प्रत्याख्यान के पालन करने के गुण एवं उसको भंग करने के दूषण का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।

कायोत्सर्ग—१. आचार्य श्री कायोत्सर्ग का स्वरूप बताकर इसको अनन्त वीर्य का उत्पन्न करने वाला बतलाया है। २. नामादिक निक्षेप से भी छह भेद किय एवं इनका स्वरूप निर्देश किया है। (१) उत्थितोत्थित (२) उत्थितोपविष्ट (३) उपविष्ठोथित (४) उपविष्टोपविष्ट के भेद से कायोत्सर्ग के चार भेद किये हैं। ३. दो को शुभ व दो को अशुभ ध्यान बतलाते हुए अशुभ ध्यान के त्याग की प्रेरणा दी है। ४. पुनः कायोत्सर्ग करने वाले के निद्राजयी आदि अनेक गुणों का वर्णन किया है। ५. चतुर पुरुष व्रतादिक में दोष लगने पर कायोत्सर्ग करते हैं। ६. पुनः कायोत्सर्ग के फल का वर्णन करते हुए आत्मार्थियों को कायोत्सर्ग करने को प्रेरणा दी है। ७. उत्कृष्ट एवं जघन्य कायोत्सर्ग के काल का वर्णन करते हुए प्रतिक्रमणादि में कितने कायोत्सर्ग करना चाहिये उसका क्रमिक वर्णन किया। ८. बत्तीस दोषों से रहित धर्म-ध्यानादि पूर्वक किया हुआ कायोत्सर्ग अनेक ऋद्धियों का कारण होता है। ९. पुनः घोटकादि बत्तीस दोषों का स्वरूप सहित वर्णन किया एवं इन दोषों के त्याग की प्रेरणा दी। समर्थ अथवा असमर्थ सभी को कार्य सिद्धि के लिये कायोत्सर्ग करना चाहिये। १०. अन्त में आचार्य देव ने कायोत्सर्ग की महिमा का बहुत सुन्दर वर्णन किया। आवश्यक नाम की सार्थकता बताते हुए आवश्यकों की महिमा बताई है। ११. जो मुनि स्वाध्याय के लोभ से समस्त आवश्यक पूर्ण रूप से नहीं करता अथवा कम करता है उस पर मूर्खता सवार हो जाती है एवं उसके उभय लोक का सुख नष्ट हो जाता है। १२. अनेक उदाहरणों के द्वारा बिना आवश्यकों के कार्य सिद्धि का निषेध किया है अन्त में त्रियोग की शुद्धि पूर्वक आवश्यकों के पालने की प्रेरणा दी है। १३. मुनिराजों के १३ क्रियाओं में निषिद्धिका एवं आसिका इन दो को ही मुख्य करके आचार्य श्री ने स्वरूप निर्देश किया है। १४. जिस मुनि के त्रियोग चंचल है, कषाय एवं ममत्व नहीं घटा है उसके निषिद्धिका शब्द नाम मात्र के लिये कहा है। १५ भोगादिक एवं ख्याति आदि की इच्छा रखने वाले के लिये आसिका शब्द नाम मात्र के लिये ही होता है।

केशलौंच मूलगुण का स्वरूप—१. बिना क्लेश के बालों को उखाड़ना मुनियों का केशलौंच नामका मूलगुण है। २. केशलौंच का उत्तमादि कालों की अपेक्षा वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि करोड़ों रोग हो जाने पर भी ५वें महिने में केशलौंच नहीं करना चाहिये। ३. केशलौंच करने से लाभ एवं मुण्डन करवाने से हानि का स्पष्ट वर्णन किया है।

अचेलकत्व मूलगुण—१. आचार्य श्री अचेलकत्व मूलगुण का स्वरूप निर्देश करते हुए बताते हैं कि जिनलिंग वीर पुरुष ही धारण करते हैं। विकारों को नष्ट करने में असमर्थ कायर पुरुष धारण नहीं कर सकते। २. जो मुनि ब्रह्मचर्य वस्त्र से सुरक्षित हैं वे ही वास्तविक नग्न हैं। ३. कोपिन मात्र आवरण भी चिंता, व्याकुलता एवं अनेक अशुभ ध्यान का कारण है।

अस्नान व्रत का स्वरूप—१. आचार्य देव कहते हैं कि आत्म शुद्धता के लिये स्नानादि का त्याग करना एवं पसीनादि से युक्त शरीर धारण करना अस्नान नामक व्रत है। २. पुनः स्नान त्याग से लाभ एवं स्नान करने से हानि का वर्णन करते हुए अस्नान व्रत को धारण करने की प्रेरणा दी है। ३. जिसका अन्तःकरण पापों से मलिन है ऐसे मिथ्यादृष्टि की स्नान से शुद्धि नहीं होती है।

भूमिशयन मूलगुण का स्वरूप—१. इस मूलगुण के स्वरूप का वर्णन करते हुए भूमिशयन से लाभ और कोमल शय्या पर सोने से हानि का वर्णन किया। २. कोमल शय्या पर सोने से ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। ३. कठिन आसन पर बैठने एवं सोने से निद्रा पर विजय होती है। समस्त पाप एवं अनर्थों का समुद्र इस निद्रा को अन्न-पान की मात्रा अत्यन्त कम करके इसको जीतना चाहिये। ४ जो निद्रा रूपी पिशाचनी को जीतने में असमर्थ है उसको ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। ५. मुनियों को रोगादिक के होने पर भी दिन में निद्रा नहीं लेना चाहिये। ६. रात्रि के मध्य भाग में अन्तर्मुहूर्त तक ही निद्रा लेनी चाहिये। ७. कण्ठगत प्राण होने पर भी रात्रि के पहले एवं अन्तिम भाग (पहर) में निद्रा नहीं लेना चाहिये। ८. अन्त में भूमिशयन नामक मूलगुण की महिमा बताकर इसे धारण करने की प्रेरणा दी है।

अदन्त धोवन मूलगुण—१. वैराग्य वृद्धि के लिये नखादि से दांतों के इकट्ठे मल को दूर नहीं करना ही अदन्त धावन मूलगुण है। २. दन्तधावन में हानि एवं अदन्त धावन में लाभ का वर्णन किया। ३. मुख प्रक्षालादि का दूर से त्याग करने की प्रेरणा दी है। ४. अन्त में अदन्तधावन मूलगुण की महिमा बतलाते हुए आचार्य ने उसको पालन करने की प्रेरणा दी है।

स्थिति भोजन नामक मूलगुण—१. स्थिति भोजन नामक मूलगुण के स्वरूप का निर्देश करते हुए स्थिति भोजन करने से लाभ एवं बैठकर भोजन करने से हानि का निर्देश किया है। २. करोड़ों व्याधियां होने पर भी एवं प्राणों का नाश होने पर भी मुनिराज को बैठकर भोजन नहीं करने की प्रेरणा दी है। ३. मुनिराज को बैठकर कभी जल पानादि का ग्रहण नहीं करना चाहिये। ४. तीर्थङ्कर देव १ वर्ष के उपवास के पश्चात् भी खड़े-खड़े ही आहार लेते हैं ऐसा कहते हुए अन्त में स्थिति भोजन की महिमा बतलाकर उसे पालन करने की प्रेरणा दी है।

एक भुक्त नामक मूलगुण—१. इसके स्वरूप को बतलाते हुए आचार्यों ने कहा है कि मुनिराज सूर्योदय के ३ घड़ी पश्चात् एवं सूर्यास्त के ३ घड़ो पहले तक योग्य काल में एक, दो अथवा तीन मुहूर्त के भीतर तक आहार लेते हैं, ये एक भुक्त नामक मूलगुण है। २. पुनः आचार्य एक भक्त भोजन के ग्रहण से लाभ एवं इस मूलगुण के भंग होने से हानि का निर्देश किया है। ३. मुनि को तीव्र ज्वरादि के होने पर भी दूसरी बार जल ग्रहण नहीं करने की प्रेरणा दी है। ४. इस प्रकार मूलगुणों की महिमा बताते हुए कण्ठगत प्राण होने पर भी इसको भंग नहीं करने की प्रेरणा दी है। ५. उत्तरगुणों के लिए मूर्ख मुनि मूलगुणों का घात करते हैं वे मुक्ति रूपी फल को प्राप्त नहीं कर सकते। ६. पुनः आचार्य ने उपसर्गादिक आने पर भी स्वप्न में भी मूलगुणों को नहीं छोड़ने की प्रेरणा दी है एवं अतिचारादिक नहीं लगाना चाहिये। ७. पुनः अतिचारादिक के स्वरूप का निर्देश करते हुये मूलगुण के फल को बतलाकर इस अधिकार को पूर्ण किया।

पंचम अधिकार

१. **दर्शनाचार**—सम्पूर्ण जगत में जिनकी कीर्ति फैल रही है ऐसे सकलकीर्ति आचार्य नें पञ्चाचार के वर्णन में २५२ श्लोकों द्वारा दर्शनाचार का वर्णन किया। २. पञ्चपरमेष्ठी को नमस्कार करके, कारण पूर्वक पंचाचार के निरूपण करने की प्रतिज्ञा की। ३. तदनन्तर पञ्चाचार के भेदों का नामोल्लेख करते हुए आचार्य सबसे प्रसिद्ध एवं शुद्धि का कारण दर्शनाचार को कहा है। ४. तदनन्तर सम्यग्दर्शन के भेद एवं उनके स्वरूप का निर्देश किया। पुनः आचार्य देव ने, शास्त्र, गुरु एवं धर्मका बहुत मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है। ५. जिनेन्द्र देव के बताये हुए धर्मका श्रद्धानादिक करते हैं उन्हीं के सम्यग्दर्शन होता है। ६. पुनः जिन सप्त तत्वों के श्रद्धान से निर्मल सम्यग्दर्शन होता है, उनका विस्तृत वर्णन किया है। ७. **जीव तत्व**—जीव तत्व के स्वरूप निर्देश में संसारी जीवों का पञ्च स्थावरादि एवं त्रस जीवों का वर्णन किया है। पुनः जीवों की योनि एवं कुल भेदों का कथन किया है। आचार्य श्रो ने व्यवहार एवं निश्चयनय से जीवों का स्वरूप निर्देश करके अजीव तत्व का वर्णन किया। ८. **अजीव तत्व**—अजीव तत्व के निर्देश में पुद्गल द्रव्य के स्कन्धादिक भेद से चार भेद किये। पुनः पुद्गलादि द्रव्यों के उपकार आदि का कथन किया है।

९. **आस्रव तत्व**—आस्रव तत्व के भेद प्रभेदों का वर्णन किया। जो मुनि ध्यानादि द्वारा आस्रव को रोकने में असमर्थ हैं, उनके यम नियमादि सब व्यर्थ हैं। जो मुनि कर्मों के आस्रव को रोकने में असमर्थ हैं वे कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओं को कैसे जीत सकते हैं। १०. **बंध तत्व**—बंध तत्व का कथन करते हुये आचार्य कहते हैं जो मुनि महा तपश्चरण करके ध्यान रूपी शस्त्र से कर्म बन्ध को नाश करने में असमर्थ है वह मुक्त नहीं हो सकता, वह तो संसार रूपी वन में भ्रमण करता ही रहता

है। ११. संवर तत्व—कर्मों के आस्रव को रोकने वाला जो आत्मा का शुद्ध परिणाम है वही भाव संवर है। १३ प्रकार के चारित्रादि भाव संवर के कारण हैं। जो मुनि योगों का निग्रह करके संवर करता है, उसी का जन्म व दीक्षादिक सार्थक है। संवर रहित मुनि का तपादिक भूसी कूटने के समान व्यर्थ, क्लेशकारी है। १२. निर्जरा तत्व—निर्जरा तत्व का स्वरूप एवं भेदों का कथन किया है। रत्नत्रयादि के द्वारा मोक्ष को प्रदान करने वाली कर्मों की निर्जरा करने की प्रेरणा दी है। १३. मोक्ष तत्व—द्रव्य मोक्ष एवं भाव मोक्ष का कथन करके सिद्धों के सुख का वर्णन किया। पुनः प्रयत्न पूर्वक मोक्ष सुख प्राप्त करनेकी प्रेरणा दी है। पुण्य पापका वर्णन करके पुण्यादि प्रकृतियों की सख्या बतलायी है। १४. सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों का स्वरूप निर्देश किया। १५. कुलपर्वतादि का भूभाग चलायमान हो जाये परन्तु जिनेन्द्र भगवान का वचन चलायमान अथवा अन्यथा नहीं हो सकता। १६. सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखने के लिये सप्त तत्वोंके विषय में शंकादि के त्याग की प्रेरणा दी है। १७. दूराकांक्षा का दूर करना ही निःकांक्षित अङ्ग है। १८. पुनः द्रव्य भाव चिकित्सा का स्वरूप निर्देश किया। इस प्रकार से निःकांक्षित अङ्गों का सरलतम शब्दों में स्वरूप निर्देश किया है। १९. आठ अंगों की महिमा बताकर आचार्य श्री ने उन अंगों को प्रसन्नता पूर्वक धारण करने की प्रेरणा दी है। २०. तीन मूढ़ता का स्वरूप बताकर उन्हें त्यागने की प्रेरणा दी है। २१. पुनः आठ मदों के स्वरूप को बताकर जाति आदि के मद करने को निरर्थकता बताई है। २२. कण्ठगत प्राण होने पर भी बुद्धिमानों को जात्यादिक का मद नहीं करना चाहिये।

२३. पुनः नरक के कारणभूत छह अनायतनों के त्याग की प्रेरणा दी है। शङ्कादिक दोषों के भी त्याग की प्रेरणा दी है। २४. आचार्य ने सम्यग्दर्शन की महिमा बहुत अच्छे रूप से करके मोक्षार्थी को सम्यग्दर्शन के सन्मुख किया है। २५. सम्यग्दर्शन से युक्त आरम्भ करने वाला गृहस्थ श्रेष्ठ है एवं सम्यग्दर्शन से रहित तपस्वी साधु निंद्य होता है। २६. इस प्रकार सम्यग्दर्शन से युक्त नरक में निवास करना अच्छा है परन्तु इसके बिना स्वर्ग में निवास करना शोभा नहीं देता है। २७. इस प्रकार सम्यग्दर्शन धारी जीव कहां-कहां उत्पन्न नहीं होते, इसका वर्णन कर सम्यग्दर्शन की महिमा कहकर दर्शनाचार का वर्णन करने वाला पांचवां अधिकार पूर्ण किया।

छठा अधिकार

१. आचार्य श्री ने ५२६ श्लोकों में शेष ४ पंचाचार का विस्तृत वर्णन किया है। २. मंगलाचरण के पश्चात् उत्तम ज्ञान की परिभाषा सारगर्भित शब्दों में की है। ज्ञानाचार के आठ भेद बताकर सिद्धान्त शास्त्र के पढ़ने योग्य काल का वर्णन किया है। ३. तदनन्तर काल शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय से लाभ एवं अकाल में स्वाध्याय से हानि का वर्णन किया। ४. आत्मार्थियों को द्रव्यादिक शुद्धिपूर्वक

स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी है। ५. किन शास्त्रों को काल शुद्धि पूर्वक पढ़ना चाहिये। ६. पंच-संग्रह, गोम्मटसारादि ग्रन्थ अन्य काल में भी पढ़े जा सकते हैं। **विनयाचार**—सिद्धान्त शास्त्रों के पढ़ने के पूर्व एवं अन्त में उपवास अथवा पांच कायोत्सर्ग करने का कथन किया है। ७. उपधाचार के वर्णन में ग्रन्थ समाप्ति तक विकार एवं पौष्टिकता रहित आहार ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानाचार के आठों अङ्गों का वर्णन शास्त्र स्वाध्याय करने से पाठकगण समझ लेवें, विस्तार भय से नहीं लिखा। ८. ज्ञान से केवलज्ञान प्राप्त होता है। अतः विनयादिक के साथ ज्ञान के अभ्यास करने की प्रेरणा दी। ९. आचार्य श्री ने अनेकों उदाहरणों के द्वारा ज्ञानाचार की महत्ता प्रकट करके मोक्षार्थी को आगम अभ्यास की प्रेरणा दी।

चारित्राचार—१. ९ कोटि से पांचों पापों का त्याग करना महाव्रत है एवं रात्रिचर्या के दूषण बताकर छठें रात्रि भोजन त्याग व्रतकी रक्षा की प्रेरणा दी है। २. तदनन्तर तीन गुप्तियों का सरल सुबोध एवं विस्तृत वर्णन करके उसे पालने की प्रेरणा दी। ३. अप्रशस्त प्रणिधान को त्याग कर प्रशस्त प्रणिधान को धारण करने की प्रेरणा दी है। ४. जो मुनि ध्यान एवं आगम रूपी अमृत समुद्र में अपने मन को जैसे-जैसे लगाते वैसे-वैसे मनोगुप्ति की पूर्णता होती है। ५. जो मुनि अपने चंचल मन को बाह्य विषयों से रोकने में असमर्थ है उसके अन्य गुप्ति कैसे हो सकती है? ६. मनोगुप्ति पालन करने के फल को बताकर उसे पालने की प्रेरणा दी है। ७. वाग्गुप्ति को पालने वाले मुनि को या तो नित्य मौन रहना चाहिये या शिष्यों को आगम पढ़ाना चाहिये अथवा करुणा-बुद्धि से सज्जनों का अनुग्रह करने के लिये कभी-कभी धर्मोपदेश देना चाहिये। ८. मुनियों को प्राण त्याग का समय आने पर भी व्रतादिक की निर्मलता एवं कारितजन्य प्राण घात के दोषों की निवृत्ति के लिये "तुम आओ, जाओ, प्रसन्न वैठो, यह कार्य शीघ्र करो" ऐसे वचन कभी नहीं बोलने चाहिये। ९. मौन व्रत ध्यान को प्रकट करने में दीपक के समान है। इत्यादिक रूप से मौन व्रत की महिमा बताकर उसे पालन करने की प्रेरणा दी है। १०. शरीर की चंचलता से अनेक प्रकार की हानि होती है। ११. ध्यान उत्पन्न करने में माता के समान काय गुप्ति पालन करने की प्रेरणा दी है।

१२. अन्त में चारित्र की महिमा बताकर आचार्य देव कहते हैं कि चारित्रके अभाव में उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन, उत्कृष्ट ज्ञान मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं। १३. ज्ञान दर्शन को धारण करने वाला मुनि यदि चारित्र से भ्रष्ट है शिथिल है तो वह भी लङ्गड़े की भांति मोक्ष मार्ग में कभी गमन नहीं कर सकता। १४. अतः चारित्र की महिमा समझकर प्राणों के त्याग के समय भी सर्वोत्कृष्ट चारित्र को मलिन नहीं करने की प्रेरणा दी है। **तपाचार**—१. तपाचार का स्वरूप एवं उसके भेदों का प्रथम ही निर्देश किया है। २. अनशन तप के साकाँक्ष, निराकांक्ष दो भेद बताये। पुनः साकांक्ष तपके कनकावली एवं निराकांक्ष तप के भक्तप्रत्याख्यान मरणादिक अनेक भेद किये हैं। ३. जिनेन्द्र देव ने

बाह्य तपश्चरण उसे ही कहा है जिससे अभ्यन्तर तप को वृद्धि करने वाले ध्यान, अध्ययन तप की वृद्धि हो । ४. आचार्य देव ने बाह्य तप की महिमा बताकर मोक्ष प्राप्ति के लिये समस्त शक्ति लगाकर बाह्य तप करने की प्रेरणा दी है । ५. जो दूसरों को दिखाई न दे एवं अज्ञानीजन जिसे धारण नहीं कर सके वही श्रेष्ठ अभ्यन्तर तप है । आचार्य देव ने तपश्चरण का सारभूत वैय्यावृत्ति तप है । पुनः

(१) प्रायश्चित्त तप—१. प्रायश्चित्त तप के आलोचनादिक दस भेदों का निर्देश करके उनका पृथक-पृथक स्वरूप निर्देश किया । २. आकम्पितादि दोषों को दूर करके आलोचना करने की प्रेरणा दी है । ३. आचार्य कैसे साधु को व्रतादिक में दूषण लगने पर कैसा-कैसा प्रायश्चित्त देते हैं इसका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है । ४. पुनः व्रतों में दूषण लगने पर प्रायश्चित्त लेने में लाभ एवं नहीं लेने से हानि का वर्णन करके आत्मार्थियों को प्रायश्चित्त लेने की प्रेरणा दी है ।

(२) विनय तप—१. विनय तप के पांच भेदों का वर्णन विस्तार सहित करके मुमुक्षु जीवों को विनय करने की प्रेरणा दी है । २. उपचार विनय के प्रत्यक्षादिक भेद से छह प्रकार की होती है । ३. पुनः शारीरिक विनय के सात भेदों का वर्णन किया है । अन्त में विनय तप की महत्ता एवं उसको धारण करने का बड़ा ही रोचक वर्णन किया ।

(३) वैयावृत्य तप—१. अशुभ ध्यान को नष्ट करने के लिये एवं श्रेष्ठ ध्यानादि की सिद्धि के लिये आचार्यादिक की सेवा, सुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है । २ आचार्य श्री ने १० प्रकार के मुनि का स्वरूप बतलाकर १० प्रकार की वैयावृत्य का स्वरूप निर्देश किया है । ३. वैय्यावृत्य करने वाले के निर्विचिकित्सा अङ्ग का पालन एवं तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य बन्ध होता है अतः आत्मार्थियों को वैय्यावृत्ति करनी चाहिये ।

(४) स्वाध्याय तप—१. आचार्य श्री ने स्वाध्याय का स्वरूप व उसके भेदों का वर्णन करके स्वाध्याय की महिमा बताकर स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी है । २. समस्त तपाचार में स्वाध्याय के समान न तो तप हुआ है और न आगे होगा । ३. क्योंकि स्वाध्याय से इन्द्रिय निरोध, तीन गुप्ति का पालन, संवर, निर्जरा, मोक्ष की प्राप्ति रूप अनेक लाभ होते हैं ।

(५) कायोत्सर्ग तप—१. कायोत्सर्ग का वर्णन पहले षट् आवश्यकों में कायोत्सर्ग नामके छठे आवश्यक में विस्तृत वर्णन किया गया है ।

(६) ध्यान तप—१. समस्त चिंतवन को रोककर एकाग्रचित्त से द्रव्यों के समूह का चिन्तवन करना ही ध्यान है । २. ध्यान के प्रशस्त एवं अप्रशस्त भेद प्रभेद करके आचार्य श्री ने उनका अच्छा वर्णन किया । ३. आर्त्तध्यान प्रथम गुणस्थान में उत्कृष्ट एवं छठे गुणस्थान में जघन्य होता है । ४. उसी प्रकार रौद्रध्यान प्रथम गुणस्थान में उत्कृष्ट एवं पंचम गुणस्थान में जघन्य होता है ।

५. रौद्रध्यान की सामग्री प्रमाद एवं कषायें हैं। आचार्य श्री ने अपाय विचयादि धर्मध्यान के परिभाषाओं सहित दस भेदों का कथन किया है। ६. यहां अनित्यादि बारह भावनाओं के चिन्तवन करने को संस्थान विचय धर्म ध्यान बताया है। ७. ध्यानादि के भेद से धर्मध्यान ४ प्रकार का है। ८. बुद्धिमान तथा एकान्तवास में सदा सन्तुष्ट रहने वाला आत्मा धर्म ध्यान का ध्याता होता है। ९. इसी प्रकार शुक्लध्यान आदि का बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन करके अन्त में तप की महिमा को बताकर साधक को तपाचार पालन करने की प्रेरणा दी है। १०. इन्द्रिय लम्पटी, शक्तिहीन जो मनुष्य तपश्चरण नहीं करते उनकी बड़े कठोर शब्दों में आलोचना की है। **वीर्याचार**—१ बल वीर्य आदि को प्रकट करके जो संयमाचार का पालन करते हैं वह ही वीर्याचार है। २ बल एवं वीर्य शब्दों की परिभाषा का कथन करके प्राणी संयम एवं इन्द्रिय संयम के भेद करके प्राणी संयम के २७ भेदों का परिभाषाओं सहित कथन किया, अन्त में पंचाचार की महिमा बताकर उसको पालन करने की प्रेरणा दी। ३. इस प्रकार ५२६ श्लोकों में अन्तिम चार आचारों का विस्तृत वर्णन करके यह छठा अधिकार पूर्ण किया।

सातवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १६९ श्लोकों में मुनियों के समाचार का वर्णन किया। मंगलाचरण करके समाचार का स्वरूप एवं औघिक व पदविभागिक के भेद से समाचार के दो भेद किये हैं। २. औघिक समाचार के इच्छाकार आदि १० भेदों का स्वरूप पूर्वक वर्णन किया है। ३. पुनः उपसम्पत् समाचार के विनयादिक के ५ भेद का स्वरूप निर्देश किया। ४. तदनन्तर सूत्र उपसम्पत के तीन भेदों का स्वरूप बताया एवं पदविभागी समाचार का स्वरूप निर्देश किया। ५. आगम अभ्यास के लिये यदि दूसरे संघ में जाना हो तो अपने गुरू से शिष्य ३ बार, ५ बार, ७ बार पूछता है। ६. संघ से निकलना हो तो किसी मुनि को अकेला कभी नहीं निकलना चाहिये। ७. पुनः ग्रहिता एवं ग्रहितार्थाश्रित विहार के इस प्रकार दो भेद किये। ८. कैसे गुणों वाला मुनि एकल विहारी हो सकता है एवं कैसे आचार वाला मुनि एकल विहार न करें। ९. एकल विहार करने से ५ प्रकार की हानि व अनेक दोषों का वर्णन करके एकल विहार करने का निषेध किया है। १०. शिष्य को आगमादिक के अध्ययन हेतु कैसे संघ (गुरुकुल) में निवास करना चाहिये। ११. पंचम काल में एकल विहार करने का निषेध क्यों किया, इसका आचार्य ने अच्छे हेतुओं के द्वारा समाधान किया है। आचार्य श्री ने अनेक हेतुओं से एकल विहार करने का निषेध किया है।

१२. पुनः आचार्य के गुणों का निर्देश बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। १३. अभ्यागत मुनि आचार्य संघ में आता है तो वे परस्पर में किस प्रकार वात्सल्य भाव से व्यवहारिक कर्त्तव्य निभाते हैं।

१४. तीन दिन तक किस प्रकार स्वाध्याय, आहार विहारादि चर्या की परीक्षा करते हैं। तीन दिन पश्चात् आगन्तुक साधु का नाम, गुरू, दीक्षादिक का काल पूछकर फिर विधि पूर्वक श्रुतादिक का पठन-पाठन का आदेश देते हैं। १५. अगर आगन्तुक साधु के व्रताचार शुद्ध नहीं है तो उनको शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त देते हैं अगर प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करता तो उसे संघ में नहीं रखते हैं। १६. इस प्रकार पाठकगण स्वयं अनुभव करेंगे कि आचार्य कितने अनुभवी एवं व्यवहार कुशल होते हैं। १७. पुनः आगन्तुक साधु किस प्रकार द्रव्यादिक की शुद्धि पूर्वक श्रुत अभ्यास करते हैं। यदि नहीं करते हैं तो क्या हानि होती है, इसका वर्णन किया है। १८. आगन्तुक साधु को स्वगण के समान ही परगण के आचार्य से पूछकर सब कार्य करना चाहिये। १९. मुनि को अर्जिकादि स्त्रियों के साथ बात-चीत करना भी अनेक दोष उत्पन्न करने वाला है। अतः बिना प्रयोजन इनसे बातचीत नहीं करना चाहिये। २०. अकेले मुनि से अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो व्रतों की शुद्धि के लिये मुनि को उत्तर नहीं देना चाहिये।

२१. तरुण मुनि एवं तरुण अर्जिका बातचीत करे तो ५ प्रकार के दोष लगते हैं। २२. अर्जिका के आश्रम में मुनि को स्वाध्यायादि क्रिया करने का निषेध किया। उसी प्रकार अर्जिका को भी मुनि के आश्रम में स्वाध्यायादि क्रिया नहीं करना चाहिये। २३. आर्यिका को प्रतिक्रमण आदि करवाने वाले आचार्य के गुणों का निर्देश किया है एवं मुनियों के योग्य समाचारों को आर्यिकाओं को भी पालन करना चाहिये। २४. आर्यिकाओं को वृक्ष-मूलादि योग धारण करने का निषेध किया। २५. पुनः आर्यिकाओं के विशेष समाचार का निर्देश करते हुए मायाचारी लोभादि से रहित, लज्जादि गुणों सहित एक-दूसरों की परस्पर रक्षा करते हुए रहना चाहिये। २६. शरीर पर पसीने से धूल या नाकादि का मल लगा हो तो इससे कोई हानि नहीं परन्तु अपने शरीरका संस्कार तो कभी नहीं करना चाहिये। २७. उन्हें अनुप्रेक्षादि के चिन्तवनादि शुभ ध्यान में ही समय बिताना चाहिये। २८. आर्यिकाओं के दो तीन अथवा अधिक दस-बीस आर्यिकाओं के साथ रहना चाहिये। २९. अकेली आर्यिका को किसी भी समय विहार या गमन नहीं करना चाहिये। ३०. भिक्षादि के लिये भी ५-७ वृद्ध आर्यिकाओं के बीच में अथवा कुछ आगे-पीछे चलने की प्रेरणा दी है। ३१. आर्यिका आचार्य वन्दनादि के योग्य समय में जाती है तो आचार्य से ५ हाथ, उपाध्याय से ६ हाथ, साधु से ७ हाथ दूर बैठकर गवासन से भक्तिपूर्वक नमस्कार करती है। इस प्रकार आचार्य श्री ने मुनियों के समाचार का वर्णन करते हुए सातवां अध्याय पूर्ण किया।

आठवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १७३ श्लोकों में मुनियों की भावना का वर्णन किया है। २. पंच परमेष्ठी एवं सरस्वती देवी आदि को नमस्कार रूप मंगलाचरण करके मुनियों की भावना के कथन की

प्रतिज्ञा की है। ३. मुनियों की भावना को जो श्रद्धा पूर्वक सुनते हैं वे भव्य जीव स्वर्ण के समान शुद्ध होते हैं। ४. मुनियों के लिये दस शुद्धियों का कथन किया।

(१) **लिंग शुद्धि**—१. संसार शरीर आदि का स्वरूप समझकर धनादि का मोह त्याग कर विशुद्ध जो जिन लिंग धारण करते हैं उनके लिंग शुद्धि होती है। २. जो शरीर का संस्कार नहीं करते, जिनका शरीर मल से युक्त होने पर भी जो कर्म मल से सदा दूर रहते हैं। ३. त्रियोगी की शुद्धता पूर्वक द्वादशांग रूपी अमृत से भरे हुए सर्वोत्कृष्ट धर्म तीर्थ का चिन्तवन करते हैं। ४. जो काम भोग से सदा विरक्त हैं एवं जिन मुद्रा के धारी हैं। ५. जो प्रमाद रहित होकर चरित्राचरण का पालन एवं दस धर्मों को धारण करते हैं। ६. इस प्रकार उपरोक्त अनेक निर्मल उपायों से अपने शुद्ध आचरणों का पालन करते उनके लिंग शुद्धि मानी गयी है।

(२) **व्रत शुद्धि**—१. जो बुद्धिमान् मुनि अष्ट प्रवचन मातृकाओंसे युक्त पंच महाव्रतोंका पालन करते हैं उनके व्रत शुद्धि है। २. जो मुनि परिग्रह से रहित हैं फिर भी रत्नत्रय परिग्रह को धारण करते हैं। ३. मुनियों के अयोग्य बाल के अग्रभाग के करोड़वें भाग परिग्रह की भी स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते हैं। ४. जो अत्यन्त संतोषी है। ५. सदा मौन धारण करते हैं। ६. सूर्यास्त के पश्चात् विहार नहीं करते हैं। ७. बालक के समान निर्विकार दिगम्बर शरीर को धारण करते हैं। ८. इसप्रकार जो व्रतों को निर्मल पालन करते हैं उन महामुनि के व्रत शुद्धि होती है।

(३) **वसतिका शुद्धि** - १. जो धीर-वीर विशाल हृदय वाले मुनि ध्यान की सिद्धि के लिये गुफादि एकान्त स्थान में निवास करते हैं उनके वसतिका शुद्धि होती है। २. ऐसे मुनि गांव में एक दिन एवं नगर में पांच दिन रहते हैं। ३. एकल विहारी, निर्भीक वनों में निवास करते हैं। ४. शरीर से ममत्व धारण नहीं करते हैं। वज्रवृषभनाराचसंहनन को धारण करने वाले वे मुनिराज श्रेष्ठ ध्यानादि की सिद्धि के लिये सैंकड़ों उपसर्ग आ जाने पर अथवा परीषहों के आ जाने पर भयानक जीवों से घोर दुष्कर वन में ही निवास करते हैं। ५. सिंहादिक को भीष्ण शब्दों को सुनकर रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते हैं उन्हीं के वसतिका शुद्धि होती है।

(४) **विहार शुद्धि**—१. स्वतन्त्र विहार करनेवाले मुनिराज सूर्योदय के बाद एवं सूर्यास्त होने के पहले धर्म प्रवृत्ति के लिये ईर्यापथ से गमन करते हैं। उनके उत्तम विहार शुद्धि होती है। २. जो मुनि जीवों की योनि आदि का ज्ञान करके उनकी नवकोटिसे कभी विराधना नहीं करते। ३. वे अपने हाथों में डण्डा आदि हिंसा के उपकरणों को कभी नहीं रखते हैं। ४. पैर में कांटा या तीक्ष्ण पत्थर के टुकड़े की धार से छिद जाय उसकी पीड़ा होने पर भी कभी क्लेश नहीं करते हैं। ५. आत्मा के चतुर्गति भ्रमण का निरन्तर चिन्तवन करके जो निराकुल चित्त एवं वैराग्यभाव से आगम का चिन्त-

वन करते हैं। ६. सुन्दर, असुन्दर स्थान में विहार करते हुए स्त्रियांदिक को देखने में अन्ध, कुतीर्थों के लिये लङ्गड़े, विकथा करने के लिये गूंगे, शरीर से निस्पृह एवं मुक्ति को सिद्ध करने की तीव्र लालसा है, ऐसे अनेक प्रकार के गुणों से युक्त मुनि के विहार शुद्धि होती है।

(५) भिक्षा शुद्धि—१. शरीर की स्थितिके लिये उपवासादिक के पारणे के दिन योग्य घर में नव कोटि से शुद्ध आहार भिक्षावृत्ति से लेते हैं उनके भिक्षा शुद्धि होती है। २. यथालब्ध सरस, नीरस जैसा शुद्ध आहार मिलता है उसे बिना स्वाद से ग्रहण कर लेते हैं। ३. अशुभ आहार के मिलने पर खेद खिन्न एवं शुभ आहार के मिलने पर वे सन्तुष्ट नहीं होते। अशुद्ध आहार का दूर से ही त्याग करते हैं। ४. शुद्ध आहार लेने पर भी प्रतिक्रमण करते हैं ऐसे अनेक गुणों से युक्त मुनि के भिक्षा-शुद्धि होती है।

(६) ज्ञान शुद्धि—१. अभिमान से रहित कालादि शुद्धि पूर्वक एकाग्रचित्त से अङ्ग पूर्वों का पठन-पाठन करते हैं उनके ज्ञान शुद्धि होती है। २. जो मुनि अनेक प्रकार की ऋद्धियां एवं मति आदि चार ज्ञानों से युक्त हैं जो सदा श्रेष्ठ ध्यान में लीन हैं। ३. त्रियोग शुद्धि पूर्वक जो सदा समस्त अङ्गों को पढ़ते पढ़ाते हैं, उनका चिन्तवन करते हैं, किंचित् भी प्रसिद्धि एवं बड़प्पन की इच्छा नहीं करते ऐसे उपरोक्त कहे अनेक उपाय करते हैं उन्हीं मुनि के ज्ञान शुद्धि होती है।

(७) उज्झन शुद्धि—१. शरीर में प्रक्षालन आदि संस्कार भी स्त्रियों में स्नेह उत्पन्न करने वाला है, अत्यन्त अशुभ मोहरूपी शत्रु को उत्पन्न करने वाला है। इस प्रकार जो परिग्रह में किसी समय भी मोह उत्पन्न नहीं करते। उनके उज्झन शुद्धि होती है। २. शरीर के संस्कार से रहित सैंकड़ों रोगों के आने पर उनके प्रतिकार रहित जो शरीर भोग एवं बन्धुवर्ग के पारमार्थिक स्वरूप को विचार कर उनमें स्नेह नहीं करते उन्हीं के उज्झन शुद्धि होती है।

(८) वाक्य शुद्धि—१. जो मुनि धर्म की सिद्धि के लिये एकान्तमत से रहित अनेकान्तमयी हित-मित प्रिय वचन बोलते, उनके वाक्यशुद्धि होती है। २. धर्म से विरुद्ध वचन पूछने या बिना पूछे कभी नहीं वोलते। ३. अनेक प्रकार के अनर्थ देखते एवं सुनते हैं एव सार-असार पदार्थ को जानते हैं फिर भी वे गूंगे के समान बने रह कर किसो की निंदा स्तुति नहीं करते हैं। ४. पाप की खानि विकथाओं को वे मुनि कभी नहीं करते। ५. वे मुनिराज संवेग वैराग्य को उत्पन्न करने वाली महापुरुषों की श्रेष्ठ कथाओं को कहते हैं उन्हीं के वाक्य शुद्धि होती है।

(९) तप शुद्धि—१. जो व्रत गुप्ति आदि से सुशोभित हैं प्रमाद रहित अपनी शक्ति के अनुंसार वारह प्रकार के तपों को ज्ञानपूर्वक करते, उनके तप शुद्धि होती है। २. शरीर से असक्त

फिर भी धैर्य बल को धारण करने वाले बेला, तेला, महिने दो महिने आदि के उपवास को धारण करते हैं। ३. पारणे के दिन वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करते हैं। ४ नीरस आहार करते हैं। ५. शीत-उष्ण की बाधा को जीतते हैं। ६. अनेक प्रकार के योग धारण करते हैं। ७. परीषह सहने में रंचमात्र खेद नहीं करते हैं, इस प्रकार से घोर उग्र तप करते हैं, उनके तप शुद्धि होती है।

(१०) ध्यान शुद्धि—१. आर्त रौद्रध्यान का त्यागकर पर्वतों की गुफा में बैठकर एकाग्रचित्त से धर्म ध्यानादि धारण करते हैं। २. उनके कर्मरूपी वन को जलाने में ज्वाला के समान ध्यान शुद्धि होती है। ३. मन रूपी दुर्धर हाथी विषम वन में घूमता रहता है। इसको ध्यान रूपी अंकुश से वश करते हैं। ४. आचार्य श्री ने श्रेष्ठ ध्यान को एक नगर की उपमा देकर उसका सुन्दर वर्णन किया। ५. इस ध्यान रूपी नगर के स्वामी मुनि कैसे बाणों से शत्रुओं को जीतते हैं। ६. कर्म शत्रुओं को जीतकर कैसा साम्राज्य प्राप्त करते हैं; इसका वर्णन किया। ७. आगे मुनि के श्रमण, साधु आदि नामों की सार्थकता का वर्णन किया। ८. अन्त में दस प्रकार की शुद्धियों की महिमा एवं फल को बताकर सम्पूर्ण भावनायें एवं आत्म शुद्धि की प्राप्ति की भावना की है।

नवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १५२ श्लोकों द्वारा समयसार नामक नौवें अध्याय का कथन किया। २. प्रथम मंगलाचरण करके समस्त ग्रन्थों (अधिकार) एवं चार आराधनाओं में सारभूत यहां समयसार की महिमा का कथन किया। ३. जो द्रव्यादिक शुद्धि का आश्रय करके सम्यग्दर्शन ज्ञान पूर्वक जो चारित्र धारण करने का प्रयत्न करता है वह मुनि शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है। ४. बिना चारित्र के कोई शुद्ध नहीं हो सकता। ५. पुनः मुनि को भिक्षावृत्ति धारण करने की, जितेन्द्रिय बनने की, लोक व्यवहार से दूर रहने आदि अनेक प्रकार की शिक्षा दी है। ६. ज्ञान, ध्यान और संयम का कार्य निर्देश करते हुए इन तीनों का संयोग ही मोक्ष का कारण है ऐसा निर्देश किया। ७. पुनः व्रतादिक के लिये सम्यग्दर्शन ही मूल है। ८. मुनिको ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रको प्रधान माननेकी प्रेरणा दी है।

चार जिन कल्प—१. पूर्ण रूप से नग्नता धारण करना। २. वैराग्य को बढ़ाने वाला केशलौंच करना। ३. संस्कारों से रहित शरीर में निर्ममता धारण करना। ४. प्रतिलेखन के लिये पीछी धारण करना ये चार लिंग कल्प कहे हैं। ५. पुनः मयूर पिच्छ की पीछीके पांच गुणों का वर्णन किया है। ६. जो मुनि बिना शुद्ध किये आहार ग्रहण कर लेता है उसको प्रायश्चित्त रूप पुनः दीक्षा देना चाहिये। ७. जो मुनि कीर्ति आदि के लिये मूल गुणों को भंग करता है उसके अभ्रावकाश आदि योग व्यर्थ है। ८. बिना शुद्ध आहार करने के अनेकों दोषों का वर्णन किया है। ९. जो अधःकर्म नामके दोष से दूषित आहार करते हैं। उनके तपादिक व्यर्थ हैं। १०. जो मुनि पंच पापों से नहीं डरते एवं

त्रियोग से अन्न के पकवाने आदि की अनुमोदना में प्रवर्तते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। ११. निर्दोष आहार प्रतिदिन कर लेना अच्छा है परन्तु मासोपवास के पारणे के दिन भी सदोष आहार लेना अच्छा नहीं। १२. पुनः आचार्य श्री ने बाह्य एवं अभ्यन्तर जुगुप्सा का वर्णन किया। १३. जहां रागद्वेष उत्पन्न हो, व्रतों का भंग हो, ध्यान-अध्ययनादि में विघ्न उपस्थित ऐसे क्षेत्रों को मुनियों को छोड़ देना चाहिये। १४. जहां संयम की हानि हो, दीक्षा लेने वाले धर्मात्मा लोगों का निवास न हो। १५. जहां स्त्री राज्य करती हो ऐसे क्षेत्रों में मुनि को कभी नहीं रहना चाहिये। १६. मुनि को कायोत्सर्ग स्वाध्याय आदि के लिये भी आर्यिका के आश्रम में एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिये क्योंकि स्त्रियों के संसर्ग से उभय प्रकार की जुगुप्सा प्रकट होती है। १७. जो मुनि नीच पुरुषों की संगति करता है वह क्रोधादि अनेक दूषणों से युक्त हो जाता है। १८. ऐसे मुनि की सदाचारी कभी संगति नहीं करें। १९. पहले आचार्य का शिष्य न बन करके आचार्य पद धारण करने के लिये घूमता है उसे घोंघाचार्य दंभाचारी समझना चाहिये। २०. मुनि को मैं बहुत दिनों का दीक्षित हूं ऐसा अहंकार नहीं करना चाहिये। २१. ध्यान अध्ययन में लीन मुनि संवर रूपी जहाज पर चढ़कर शीघ्र संसार से पार हो जाते हैं।

२२. पुनः आचार्य श्री ने निद्रा को राक्षसी के समान अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाली बताकर उसे जीतने की प्रेरणा दी है। २३. मुनिराज समुद्र के समान कषाय, इन्द्रिय सुखों को फेंक (दूर) करके एकाग्रचित्त से आत्मा का ध्यान करते हैं। २४. कषायों के अभाव को ही चारित्र कहते हैं। २५. जो मुनि कषायों के वशीभूत है वह असंयमी, कुमार्गगामी और मिथ्यादृष्टि है। २६. गण में शिष्यादिक का मोह उत्पन्न हो जाता है अतः समाधि के समय मुनि को अपने गण में नहीं रहना चाहिये। २७. मुनिराज को अनन्त संसार को बढ़ाने वाली चार-चार अंगुल प्रमाण जिह्वा इन्द्रिय एवं कामेन्द्रिय को वैराग्य रूपी मन्त्र से कील देना चाहिये। स्त्रियों का संसर्ग चारित्र से भ्रष्ट करने वाला है। अतः मुनिराज को जिस स्त्री के हाथ-पैर कटे हुए हो और नाक, कान भी कटे हुये हो ऐसी स्त्री यदि सौ वर्ष की भी हो तो भी व्रतियों को दूर से ही त्याग कर देना चाहिये। २८. पुनः दस ब्रह्मचर्य को घात करने के कारणों का निर्देश किया है।

दसवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १८७ श्लोकों में प्रत्याख्यान संस्तर नामक अधिकार का वर्णन किया। मंगलाचरण करके आचार्य श्री ने दुर्भिक्षादि पड़ जाने पर सन्यास ग्रहण करने की प्रेरणा दी है। २. सन्यास ग्रहण करने वाले को प्रथम क्षमा मांगनी चाहिये एवं सबको क्षमा कर देना चाहिये। ३. स्वगण का त्याग करके परगण में प्रवेश करना चाहिये। ४. पुनः अपने दोषों की आलोचना करके समाधि के लिये निर्यापक आचार्य बनाना चाहिये। ५. पुनः निर्यापकाचार्य आगमानुसार मृत्यु के

आवीचीमरणादि १७ भेदों का स्वरूप पूर्वक कथन करते हैं। ६. चार आराधना करने वाले को दुर्गति के कारण अशुभ मरण का त्याग करना चाहिये। ७. शिष्य के द्वारा देव दुर्गति का स्वरूप एवं उनमें जाने वाले जीवों का स्वरूप पूछने पर बहुत स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है। ८. कैसे आचरण करने वाले मुनि संसार में भटके हैं एवं कैसे आचरण वाले मुनि संसार से पार होते हैं उसका वर्णन किया। ९. निर्यापकाचार्य क्षपक को अनेक प्रकार से दुर्गति आदि का स्वरूप बताकर बाल-बाल मरण से विरक्त करके पंडित मरण की प्रेरणा देते हैं। १०. तदनन्तर क्षपक चार आराधना की शुद्धि को प्रारम्भ करता है। चार आराधना एवं क्षमादि गुणों को धारण कर काया एवं कषाय का सल्लेखना करता है।

११. समस्त गुणों का आधार एवं सारभूत आत्मा का आश्रय लेकर समस्त दोषों की निंदा गर्हा करके ३३ आसादना को नहीं लगाने की प्रतिज्ञा करता है। १२. आचार्य क्षपक को उपवासादि तप के द्वारा शरीर को कृश करने की प्रेरणा देते हैं। १३. अन्नादि के त्याग का क्रम बताकर धारण करने योग्य १० प्रकार के मुण्डन के स्वरूप का वर्णन करते हैं। १४. मोक्षदायनी दीक्षा भी इन्हीं दस मुण्डन से सफल मानी जाती है। १५. क्षपक को नरकादिक दुःखों का एवं संसार के दुःखों का चिंतवन करना चाहिये। १६ क्षपक को प्रशस्त ध्यान की सिद्धि के लिये परमेष्ठी वाचक पदों का चिन्तवन करने की प्रेरणा दी है। १७. रोगादिक आने पर किस प्रकार चिन्तवन कर अपने मन को स्थिर रखता है इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। १८. यद्यपि क्षपक निरीहवृत्ति का धारक होता है फिर भी महा लोभ के लिए उद्यम करता है। १९. एक उत्तमगति, पञ्चमगति के फल की याचना करता है। २०. इस प्रकार आत्मा का ध्यान पंच परमेष्ठी वाचक पदों का चिन्तवन एवं निर्यापकाचार्य के मुख से निकले सारभूत धर्म के अक्षरों को सुनते हुए प्रशस्त ध्यान पूर्वक प्राणों का त्याग करता है। २०. समाधि के फल का निर्देश कर उसे धारण करने की प्रेरणा देते हैं। २१. अन्त में आराधना की महिमा बताकर आचार्य देव ने आराधना की प्राप्ति के लिये नमस्कार किया है।

ग्यारहवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने १८८ श्लोकों द्वारा शील गुण एवं दस लक्षण धर्म का निरूपण किया है। २. प्रथम मंगलाचरण किया पश्चात् ३ योग, ३ करण, ४ संज्ञा, ५ इन्द्रियां, १० प्रकार के पृथ्वीकाय जीव और १० प्रकारके उत्तम क्षमादि धर्म, इन सब योगादिकको परस्परमें गुणा कर देने से १८,००० भेद शील के होते हैं। ३. आचार्य श्री ने सरल सुबोध भाषा में योगादि का स्वरूप बताकर इनके त्याग से ब्रह्मचर्य होता है। ४. शील पालन करने वालों का एक दिन जीना अच्छा परन्तु बिना शील के सैंकड़ों, करोड़ों बर्ष जीना भी व्यर्थ है। ५. तदनन्तर अनेक प्रकार से शील की महिमा बतलाकर

शील पालने की प्रेरणा दी है। ६. हिंसादिक के २१ भेद, अतिक्रमणादिक के ४ भेद; पृथ्वीकायादिक के १०० भेद; ब्रह्मचर्य विराधना के दस दोष, आलोचना के दस दोष इन सब हिंसादिक को परस्पर गुणा करने से मुनि के ८४ लाख उत्तरगुण होते हैं। ७. आचार्य श्री ने हिंसादिक का स्वरूप बताकर इनके त्यागने की प्रेरणा दी है। ८. उत्तर गुणों की महिमा बताकर इनको पालने की प्रेरणा दी है। ९. दशधर्म—ये मुनियों के लिये सुख के समुद्र एवं मुक्ति नगर गमन के लिये मार्ग में पाथेय हैं।

उत्तम क्षमा—१. आचार्य श्री ने क्षमा का स्वरूप बताकर क्रोधादिक के निमित्त आने पर किस प्रकार का चिन्तवन कर एवं क्षमा धारण कर दुष्ट दुर्वचनादि को सहना चाहिये। २ कोई मारे तो भी मुनिराज किस प्रकार का चिन्तवन कर क्षमा धारण करते हैं। ३. मुनिराज विचार करते हैं कि मैंने पहले अनेक कष्ट सहन करके जो उपशमरूप परिणामोंका अभ्यास किया वह व्यर्थ हो जायेगा। ४. इसप्रकार क्रोध नहीं करने से अनेक गुण एवं क्रोध करने से हानियों का वर्णन प्रसिद्ध महापुरुषों का उदाहरण देकर किया एवं नित्य ही क्षमा धारण करने की प्रेरणा दी।

उत्तम मार्दव—१. ज्ञान के आठ कारणों की उत्तमता प्राप्त होने पर भी कोमल योग को धारण कर मद का त्याग करना मार्दव धर्म है। २. मार्दव धर्म की महिमा बताकर उसे पालन करने की प्रेरणा दी है।

उत्तम आर्जव—१. सरल बुद्धि को धारण कर मन में जो कार्य जिस रूप से चिन्तवन किया, उसको उसी रूप से कहना एवं करना उत्तम आर्जव धर्म का लक्षण है। २. मन, वचन, काय की सरलता से अव्रती भोगभूमि के जीव स्वर्ग में एवं बिल्ली, मगरमच्छादि मायाचारी जीव दुर्गति में उत्पन्न होते हैं। ३. मायाचारी से उत्पन्न अनेक हानियों का वर्णन करके आर्जव धर्म धारण करने की प्रेरणा दी है।

सत्य धर्म—१. सिद्धान्त को जानने वाले मुनि तत्वों के अर्थ से सुशोभित यथार्थ, सारभूत वचन, भाषा समिति का अवलम्बन लेकर कहते हैं वह सत्य धर्म का लक्षण है।

शौच धर्म—१.जो मुनि इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति त्यागकर मन में समस्त पदार्थों के प्रति निस्पृहता धारण करते हैं एवं लोभ को जीतकर शौच गुण को धारण करते हैं उन्हीं के शौच गुण होता है। २. लोभ चार प्रकार बताया है—(क) जीवित रहने का लोभ (ख) आरोग्य रहने का लोभ (ग) पञ्चेन्द्रिय का लोभ (घ) भोगोपभोग सामग्री का लोभ। इन लोभों को त्याग करने की प्रेरणा दी।

संयम धर्म—१. त्रियोग की शुद्धि पूर्वक ५ इन्द्रिय, एक मन का निरोध एवं षट् काय के जीवों की विराधना नहीं करते, वही जिनेन्द्र देव कथित संयम है। २. आचार्य श्री ने उपेक्षा संयम

एवं अपहृत संयम के भेद से इस संयम के दो भेद भी किये हैं एवं ३. उनके स्वरूप का कथन किया है। ४. सामायिक आदि के भेद से उत्कृष्ट संयम ५ प्रकार का है। ५. आचार्य श्री ने प्रत्येक का स्पष्ट वर्णन किया है। ६. संयम के बिना तप, ध्यान एवं व्रतादिक सब व्यर्थ है।

उत्तम तप—पांचों इन्द्रियों के विषयों में अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करना तप है।

उत्तम त्याग—१. त्रियोगों से दोनों प्रकार के परिग्रहों में मूर्च्छा एवं ममत्वका त्याग कर देना त्याग है। २. ज्ञान दानादिक के भेद से त्याग के चार भेद किये हैं।

उत्तम आकिंचन धर्म—१. जो निस्पृह मुनि त्रियोग की शुद्धता पूर्वक शरीर, परिग्रह और इन्द्रियों के सुख में ममत्व का त्याग करना आकिंचन धर्म है।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म—१. राग-द्वेष को त्याग करने वाले जो पुरुष अपने मनरूपी नेत्रों से समस्त स्त्रियों को माता के समान देखते हैं उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य होता है। इसप्रकार आचार्य श्री ने दस धर्मों की महिमा का वर्णन करके उसको धारण करने की प्रेरणा दी है।

बारहवां अधिकार

१. आचार्य श्री ने २३१ श्लोकों में अनुप्रेक्षा, परीषह एवं ऋद्धियों का वर्णन किया है। प्रथम अनुप्रेक्षा के चिन्तवन करने वाले मुनिराज को नमस्कार रूप मङ्गलाचरण किया है।

(१) अनित्य भावना—१. इन्द्रचक्रवर्त्ति आदि पद क्षणभंगुर हैं। २. चंचल स्त्री सांकल के समान बन्धन में डालने वाली है। ३. कुटुम्ब विडम्बना मात्र हैं। ४. पुत्र जाल के समान बांधने वाले हैं। ५. घर का निवास कारागार के समान है। ६. इस प्रकार अनेक प्रकार से जगत् की अनित्यता बताकर आत्मार्थी को रत्नत्रय धारण कर अनित्य शरीरादि से नित्य मोक्ष को सिद्ध कर लेने की प्रेरणा दी है।

(२) अशरण भावना—१. जीव को जब यम रूपी शत्रु पकड़ लेता है तब उससे बचाने वाला शरणभूत तीन लोक में कोई नहीं दिखाई देता। अतः अरहन्तादिक ही शरणभूत है ऐसा जानकर उनकी शरण लेनी चाहिये।

(३) संसार भावना—१. पञ्च परावर्तनका स्वरूप सरल भाषा में समझाया है। २. मिथ्यात्वादि अशुभ भावों से कर्मों का उदय आता है। ३. उससे संसार में महान् दुःखों को उठाता है। ४. इस प्रकार आत्मार्थी को रत्नत्रय द्वारा शीघ्र मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिये।

(४) एकत्व भावना—१. जीव अकेला कर्म बन्ध करता है। अकेला ही सुख-दुःख को भोगता है। २. अनेक भोगोपभोग सामग्री से पोषित ये शरीर भी जीव के एक पेंड भी साथ नहीं

जाता है। ३. आत्मार्थी को मोक्ष रूप एकत्व पद प्राप्त करने के लिये एकत्व भावना का चिन्तवन करना चाहिये।

(५) अन्यत्व भावना—१. जहां मरने पर शरीर साक्षात् भिन्न दिखाई देता है। २. स्त्री आदि समस्त कुटुम्ब वर्ग भी भिन्न ही हैं, रत्नत्रय को छोड़कर कोई पदार्थ मेरा नहीं है। इसप्रकार आत्मा को अन्तरङ्ग में ही शरीर से भिन्न समझकर चिंतवन करना चाहिये।

(६) अशुचि भावना—१. नरकादि गति में अशुचिमय शरीर को प्राप्त करता है तथा जो भोग स्त्रियों की अपवित्र योनि से उत्पन्न हो तो भला ये भोग अशुचिमय क्यों नहीं होंगे। अतः विरक्त पुरुषों को अपवित्र शरीर से पवित्र मोक्ष को सिद्ध करना चाहिये।

(७) आस्रव भावना—१. जिन मनुष्यों ने धर्म रूपी जहाज को छोड़ दिया है। २. वे निरंतर कर्मों का आस्रव करते रहने से सैंकड़ों दुःखों से भरे संसार समुद्र में डूबते हैं।

(८) संवर भावना—१. कर्मों के आस्रव का निरोध करना ही संवर है। २. क्षमादि भावों से कषायादि दुर्भावों को रोकने का बडा सुन्दर वर्णन किया है।

(९) निर्जरा भावना—१. चारित्र रूपी गुण को धारण करनेसे तपश्चरण के द्वारा मोक्ष को देने वाली निर्जरा होती है। २. जिस प्रकार अग्नि के द्वारा स्वर्ण पाषाण युक्ति पूर्वक शुद्ध करने से शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तप रूपी अग्नि से संवर, निर्जरा करने वाला भव्य जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाता है।

(१०) लोक भावना—१. आचार्य श्री ने लोक भावना का वर्णन करते हुए उर्ध्व, मध्य और अधोलोक का स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शनादिक धारण कर शीघ्र मोह का नाश कर मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

(११) बोधि दुर्लभ—१. आचार्य श्री ने मनुष्य जन्म, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुलादि अनेक मोक्ष पुरुषार्थ की सामग्री की दुर्लभता बताई है। २. अन्त में सबसे दुर्लभ समाधिमरण है ऐसा कथन करके रत्नत्रय को धारण कर मोक्षादि का प्राप्त करना ही बोधि का फल कहा है।

(१२) धर्म भावना—१. धर्म की इच्छा रखने वाले को भुक्ति एवं मुक्ति को प्रदान करानेवाले धर्म को पालन करने की प्रेरणा दी है। २. आचार्य श्री ने बारह भावना की महिमा बताकर उसे सदा चिन्तवन करने की प्रेरणा दी है।

परीषह—१. मुनिराज चारित्रमार्ग अथवा मोक्ष मार्ग से च्युत न होने के लिये सदा परीषह सहन करते हैं। २. आचार्य श्री ने संसार में भ्रमण करते हुए पराधीनतावश जो वेदना सहन की

उसका चितवन करके क्षुधा, तृषा, वेदना को सहन करने की प्रेरणा दी है। ३. मुनिराज ध्यान रूपी अग्नि से शीत वेदनां को जीतते हैं। ४. आचार्य श्री ने अनेक प्रकार के चिन्तवन द्वारा मुनि परीषहों को जीतते हैं। ५. इसका बहुत ही सुन्दर हृदयग्राही वर्णन किया है। ६. कौनसे कर्म के उदय से कौन-कौन सा परीषह होता है एवं कौन-कौन से गुणस्थान में कितने परीषह होते हैं इसका वर्णन किया। ७. आचार्य श्री ने मुनि को कर्मोदय से प्राप्त परीषहों को कर्म नाश करनेके लिये ध्यानादि द्वारा सहन करने की प्रेरणा दी है। ८. परीषहजय से लाभ एव परीषह नहीं जीतने से हानि का बड़ा सुन्दर वर्णन किया।

ऋद्धियां—१. सम्पूर्ण ऋद्धियां तपश्चरण की शुद्धता के प्रभावसे प्रकट होती है। २. तदनंतर ऋद्धियों के बुद्धि ऋद्धि आदि आठ भेद किये हैं। ३. बुद्धि ऋद्धि के १८, क्रिया ऋद्धि के २, (चारण ऋद्धि के ९ भेद) विक्रिया ऋद्धि के ११, तप ऋद्धि के ७, बल ऋद्धि के ३, रस ऋद्धि के ६, क्षेत्रऋद्धि के २ इस प्रकार आचार्य श्री ने ८ ऋद्धियोंके भेदों का स्वरूप पूर्वक वर्णन किया। ४. जो मुनि त्रियोग की शुद्धता पूर्वक बिना किसी आकांक्षा के पाप रहित श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं उनके स्वत: ये ऋद्धियां प्रकट होती है। ५. जो मुनि दीक्षा धारण करके तपश्चरण नहीं करते उनके अनेक प्रकार के रोग होते हैं। ६. आचार्य श्री ने पुन: श्रेष्ठ तपश्चरण करने की प्रेरणा दी। ७. आचार्य श्री लिखते हैं हैं कि मूलाचार आदि अनेक शास्त्रों का सार लेकर मुनि के लिये इस सद् ग्रन्थ की रचना की है।

यह ग्रन्थ श्रेष्ठ आचारों को दिखाने वाला दीपक है, अत: इस ग्रन्थ का मूलाचार प्रदीप नाम सार्थक है। इसप्रकार अन्त में भी अर्हन्तादिक की वन्दना करके रत्नत्रय आदि पदकी श्रेष्ठ याचना की है। इस प्रकार पाठकगण आद्योपांत इस ग्रन्थ को पढ़कर स्वयं अनुभव करेंगे कि आचार्य को अरहन्तादिकके प्रति कितना बहुमान था कि प्रत्येक अधिकार के आदि एवं अन्त में उनके गुणों का स्मरण पूर्वक नमस्कार किया। मुनि धर्म का सांगोपांग वर्णन किया। प्रत्येक प्रकरण का हृदयगामी वर्णन करके उसकी महत्ता दर्शाकर आत्मार्थी को उसके पालन की प्रेरणा दी है। यह ग्रन्थ मुनि एवं श्रावक दोनों को ही आत्मोत्थान में सहकारी है क्योंकि मुनि एवं श्रावक दोनों एक नदी के दो किनारे हैं। एक किनारे के नष्ट होने पर नदी अपने आप में नदी नहीं रहती है। उसी प्रकार श्रावक मुनि भी एक दूसरे के पूरक हैं। मुनि के अभाव में श्रावक को, मोक्षमार्ग को कौन बतायेगा। श्रावकों के अभाव में मुनि की साधना में निमित्तभूत आहारादिक क्रिया भी निर्बाध रूप से इस काल में हीन संहनन के कारण नहीं हो सकती। अत: पाठकों से अनुरोध है कि पुन: पुन: इस ग्रन्थराज का स्वाध्याय कर अपनी आत्म परिणति को निर्मल बनावें। इत्यलम् !

विशेष :—१. समयाभाव के कारण हमें इस ग्रन्थ की मूल प्रतियों की प्राप्ति नहीं होने से मूल श्लोकों का संशोधन नहीं हो सका। कई श्लोक छूटे हुए हैं, कहीं अधूरे भी हैं। इस ग्रन्थ के

प्रत्येक अधिकार के अन्त में दिये गये श्लोकों के योग के अनुसार श्लोकों का योग ३२४८ ही आता है जबकि आचार्य स्वयं इस ग्रन्थ के अन्त में एक श्लोक के द्वारा सम्पूर्ण श्लोकों का योग ३३६५ श्लोक बताते हैं। इन श्लोकों के अनुसार कुल ११७ श्लोकों का अन्तर है। इसके विषय में अनुवादक पं० लालारामजी साहब शास्त्री ने भी कुछ निर्देश नहीं दिया है। हम भी समयाभाव के कारण इसका स्पष्टीकरण नहीं कर पाये हैं इसका हमें खेद है।

२. पाठक वृन्द इस ग्रन्थ का अध्ययन करते समय, प्रेस की भूल के कारण, श्लोक संख्या १००३ से १७५० तक के ७४७ श्लोकों में जो क्रम की गलती हुई है उसे सुधार कर पढ़ने का कष्ट करें।

—卐—

शुद्धि पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	५	ऋषभदेव	वृषभसेन
५	२	और खूब वृद्धि की है	और खूब वृद्धि की है तथा मैंने भी जिसकी पूजा स्तुति और वृद्धि की है
७	३	"आचारांगों को	आचारों को
६	२	पृथ्वो कायिक जीव	पृथ्वीकायिक जीव
१०	८	भेद को	भेष को
११	४	कमी	कभी
११	१७	अपने पर्यन्त	अपने जीवन पर्यन्त
१३	१२	अर्हंमुदा	अर्हंत् मुद्रा
१४	७	तसमात्	तस्मात्
१४	१७	दया पालन	दया पालनी
१५	१७	और	और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र
१६	२	विना	बिना
१७	१२	खान	खानि
१७	१३	कचिद दुःसहा	कचिद् दुःसहा
२४	१८	नृणाम्	नृपात्
२५	१	छटने	छूटने
२५	५	पूजा द्रव्य	पूजा के द्रव्य
२५	१३	द्रव्य भी	द्रव्य भी सज्जनों
२६	१	दांत, शुद्ध	दांत शुद्ध
२६	२६	शुभाशयै:	शुद्धाशयै:
२७	१३	कृतादीनिरिरूध्य	कृतादीनि निरूध्य
२८	१०	ज्वालांमंगिनाम्	ज्वालोपमगिनाम्
२६	९	दुखभाक्	दुःखभाक्
३१	१	सबलाहरा	सबलाहारा
३१	२५	देखंनि उत्पन्न	देखने से उत्पन्न
३३	२४	भोक्तव्या	मोक्तव्या
३७	२	कोचड़ से संसार के प्राणी अवश्य डूब जाते हैं	कीचड़ से संसार के प्राणी पाप और अशुभ ध्यान की खानि ऐसे बाह्य परिग्रह रूपी कीचड़ में अवश्य डूब जाते हैं।
३८-३९	२६	त्याग महाव्रत	त्याग महाव्रत की पांच भावना कहते हैं, परिग्रह त्याग महाव्रत
३९	३	५ आकिञ्चन	पांचवें आकिञ्चन
३९	७	के लिये सूर्य के समान है	के लिये वज्र के समान है पाप रूपी अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान है
३६	१३	सिद्ध करते हैं	सिद्ध करते हैं अथवा तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर के पदको सिद्ध करते हैं

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
३९	१६	नामको	नाम को
४१	१३	सेर्वा	सेर्या
४२	२६	यहाँ जा	वहाँ जा
४३	२१	कार्यं	काय
४३	२४	त्यक्तेर्यासमिति	स्थक्त्वेर्यासमिति
४४	२७	जनपदाभिधम्	जनपदाभिरधम्
४५	१७	मुख्य वर्णन	मुख्यवर्णन
४६	२४	सत्या सत्य	सत्यासत्य
४८	१४	एतएव	अतएव
५०	१०	यथा	यया
५१	२०	दुख	दुःख
५२	६	कार्यो	कार्ये
५२	२१	समस्त शीतता	समता शांतता
५५	९	उद्यम	उद्गम
५५	१७	कारणम्	कारणाम्
५८	२८	य यद्	च यद्
६०	३	गृहा	गृहात्
६१	१५	भेद है तथा	तथा व्यक्त और अव्यक्त के भेद से अनीश्वर अर्थात् अमुख्य वा गोड़ के दो भेद हैं इसप्रकार
६२	५	कमेते	कर्मते
६२	१३	चात्रिव	धात्रीव
६४	११	लोभ	लोभ नाम का
६४	१८	वेष्णातट	वेष्णातट
६६	५	लगता है	लगता है यह दोष महापाप उत्पन्न करने वाला है ।
६७	१२	साधुभ्याम्	साधुभ्यो
६८	१३	बैठी हो,	वा नीची जगह पर बैठी हो,
६८	१५	दायक दोष उत्पन्न होता है	दायक नामका पाप उत्पन्न करनेवाला दोष उत्पन्न होता है
६९	२१	दव्यं	द्रव्यं
७०	११	खड़िकाहारतालादि	खड़िकाहरतालादि
७१	२५	निदा	निंदा
७३	३	निर्मल	निर्बल
८१	२४-२५	गुणरत्न	गुणरूपी रत्न
८३	२०	लोभ	लाभ
८३	२८	स्पशोत्	स्पशेत्
८३	२८	स्वस्थ	स्वस्य
८५	२३	एवोदशच्च	एवोदराच्च
८९	२६	अधकर्म	अघःकर्म
१०२	२४	परमयत्नाछ्रान्नरोधं	परमयत्नाछ्रोन्नरोधं
१०३	२१	अत्यन्त शुभ	अत्यन्त अशुभ
		दुखे	दुःखे
		योगिमिः	योगिभिः
१०३	२७	शभेतरी	शुभेतरी
१०५	१२	जसा	जैसा
१०५	१६	श्लोक नं० ६५२ मूलप्रति में नहीं है	६५३ मूल में नहीं है
१०७	२२	सर्वोत्कृष्ट	सर्वोत्कृष्ट हैं
१०९	८	स्पशषु	स्पर्शेषु
१११	१७	देतें हैं	देती हैं
१११	२१	विषय	बिषम
११३	९	ओर	और
११५	३	निर्जित खारीणां	अतोऽनिर्जित खारीणां

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
११३	२१	खोते हैं	खोता है
११४	२०	हो जाती है	हो जाता है
११४	२१	नहीं जातने	नहीं जीतने
११६	१८	इन्द्रियजन्य	इन्द्रियजय
११७	१४	दुखे	दुःखे
१२८	२३	प्रतिमा को	प्रतिमा की
१३०	१७	आत्तम	उत्तम क्षमा
१३३	१७	साधकानिसं	साधकाऽनिशं
१३६	२४	पुरुषार्थों को सिद्धि	पुरुषार्थों को सिद्ध
१३७	५	योगिमिः	योगिभिः
१३९	१	कामहेतुकभय	कामहेतुक, भय
१४०	६	कहलाती हैं	कहलाता है
१४४	२	सिद्धि भक्ति	सिद्ध भक्ति
१४४	६	सिद्ध चेत्य	सिद्धचैत्य
१४४	२१	अचल प्रतिष्ठा	अचल प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा
१४४	२६	भक्कि	भक्ति
१४६	९	सिद्धान्त के जानकार आचार्य के मरण	तीर्थंकर के निर्वाण के
१४६	१९	भक्तपः	भक्तयः
१४६	१३	कल्याण के	कल्याणक के
१५१	७	आचाय	आचार्य
१५२	८	समाप्ति को	प्रारम्भ करने
१५८	२६	निर्गुणोंपि	निर्गुणोपि
१६०	७	गुर-वः	गुरवः
१७५	४	रखने लिये	रखने के लिये
१८७	२२	ममत्व सर्वथा	ममत्व का सर्वथा
१९१	१२	भिन्न भिन्न	भिन्न-भिन्न
१९३	२८	प्राणिहिंसावृतस्तेया	प्राणिहिंसानृतस्तेया
२०३	४	सव्रदोषपरिहन्तृन	सर्वदोषापरिहन्तृन्
२०३	५-८	त्रिश्वार्च्यान्……भोः १२६३	स्रगधारा छन्द में बोले
२१४	१७	दाप्ता	दाता
२१६	१०	एकद्वित्रमुहूतानां	एकद्वित्रिमुहूर्तानां
२१८	८	सवत्रा हो	सर्वत्रा हो
२१९	४	महाव्रतसभित्या-वश्यादि	महाव्रतसमित्या-वश्यादि
२१९	२२	तैलोक	त्रैलोक
२१९	२३	ज्ञान	ज्ञानं
२२२	१९	गुरु में तत्वों में	गुरु में, तत्वों में
२२३	१२	जयते	जायते
२२४	२	जनतत्वपदार्थेभ्यः	जैन तत्व पदार्थेभ्यः
२२८	१०	पदप्रक्षालन	पाद प्रक्षालन
२२८	१५	ज्वाल का प्रकाश	ज्वाला का प्रकाश
२३१	८	निकोतस्य	निगोद तस्य
२३१	१५	निगोत	निगोद
२३४	१४	नय जीवों	नय से जीवों
२३४	१७	सुखदुखादिभोगिनः	सुखदुःखादिभोगिनः
२३७	२१	धनादिक	ध्यानादिक
२३८	४	वध्यंन्ते	बध्यन्ते
२३८	५	वध	बन्ध
२३८	१७	कारण आत्मा	कारणों से आत्मा
२३८	२७	तलवार से जब तक	तलवार से
२३९	१०	महन्	महान्
२३९	२४	तपोवलात्	तपोबलात्
२३९	२५	वद्धते	वर्द्धते
२४१	८	नायका	नायिका
२४१	२५	कमयो महान्	कर्मयो महान्

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
२४२	६	प्रभाव	प्रमाण
२४३	७	मनुष्यगत्तिप्रायोग्यानुपूर्वी	मनुष्यगतिप्राग्योग्यानुपूर्वी,
२४८	२४	आचार्यंते	आचयंते
२५०	१२	तपश्चरण का	तपश्चरण का मद नहीं करते थे यही समझकर प्रसन्नता पूर्वक तपके मद को छोड़ देना चाहिये
२५३	४	प्राक्ताशुभम्	प्राक्तीशुभम्
२५३	१८	सम्यग्दर्शन महात्म्य	सम्यग्दर्शन के माहात्म्य
२५७	१२	जान जाय	जाना जाय
२६२	१६	शास्त्रों	शास्त्रों का
२६८	२१	मोहायिक	मोहादिक
२७०	८	गप्ति	गुप्ति
२७०	११	सर्वथा	सर्वदा
२७१	७-८	इस संसार में एक मनोगप्ति का परम पालन करना चाहिये	इस संसार में एक मनोगुप्ति का ही पालन करना चाहिये
२७६	१८	निमल	निर्मल
२७८	१९	इहोजित:	इहोर्जित:
२८१	२३	अवमोदर्य	अवमोदर्य
२८२	२६	गः	य।
२८३	४	यतस्रः	चतस्रः
२८६	९	दश त्मकम्	दशात्मकम्
२८७	१३	प्राकृतिक	प्राकतिक
२९३	२८	प्रतिबदनां सहाखिलम्	प्रतिबन्दनां सहाखिलम्
३०४	५	लोक	लोग
३०४	२५	सवतो	सर्वतो
३०६	२१	अपना आत्मा	अपनी आत्मा
३०९	२	बुधे:	बुधैः
३१०	५	संयोग के	संयोग के लिये
३१५	२२	युद्गलानां	पुद्गलानां
३१५	१८	अधीन	आधीन
३१६	६	नीम	नीम कांजी
३१८	१६	आन्तर्मुहूर्तकः	अन्तर्मुहूर्तकः
३१९	७	सवद्वन्दातिगं	सर्वद्वन्दातिगं
३१९	२०	वितर्काभ्यार्वीचारेण	वितर्काभ्यावीचारेण
३२०	९	संयोगी	सयोगी
३२५	८	पूरुषों	पुरुषों
३२५	१६	रसहारोषधाघ	रसाहारोषधार्घ
३२६	१	प्राणिसंयम	प्राणी संयम
३२६	२६	सम्मूच्छन	सम्मूर्च्छन
३२७	९	चचलात्मनाम्	चंचलात्मनाम्
३३०	२२	सन्निमन्त्रण	सन्निमंत्रण
३३१	८	उवसम्यद्	उवसम्पद्
३३३	६	बध	वध
३३४	९	काय सिद्धये	कार्य सिद्धये
३३६	७	युष्मत्पद प्रसादेन	युष्मत्पाद प्रसादेन
३४१	८	की । वृद्धि	की वृद्धि
३४२	१८	सचिनाचित्तमिश्रं	सचित्ताचित्तमिश्रं
३४४	५	अदि	आदि
३४६	२३	अवकाश	आवास
३४८	२१	गृहीतु	गृहीतुं
३५६	८	जगच्छद्धिदायिनः	जगच्छुद्धिदायिनः
३६१	२४	वसतिका शुद्ध	वसतिका शुद्धि
३६२	२०	वा पहुंच जाते हैं	वा न पहुंचवाते हैं

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
३६२	२८	सर्वहिंसोपकरण	सर्वंहिंसोपकरण
३६३	११	उद्योग	उद्यम :
३६३	२२	निममत्वाय	निर्मंमत्वाय
३६४	१९	वेला	बेला
३६४	२६	साग्रहस्थो	सद्ग्रहस्थो
३६५	४	तथाज्ञात	तथाज्ञातं
३६६	१६	जा आहार	जो आहार
३६७	२३	प्रसिद्ध	प्रसिद्धि
३६८	१	है अनृत के	है अमृत के
३६८	६	अर्थों को	अर्थों का
३६८	१३	प्रसिद्ध	प्रसिद्धि
३६९	१२	ऐसे ही ऐसे	ऐसे
३६९	१५	पात ह्रानये	पाप ह्रानये
३७०	२	सेवन नहीं	सेवन ही
३७०	८	शुक श्रोणित	शुक्र शोणित
३७१	८	पापबीजे	पाप बीज
३७१	१३	छद्धिरूज्झबाह्या	छुद्धिरूज्झबाह्या
३७१	१९	ब्रयते सारं	ब्रुयतेसारं
३७७	७	लिये की	लिये
३७९	५	जिनज्ञा	जिनाज्ञा
३७९	७	पचाक्ष	पंचाक्ष
३७९	२८	शत्र	शत्रु
३८३	२६	जानकार	जानकर
३८४	२६	सकती है	सकता है
३८७	१२	बह	वह
३८७	१३	रक्खेगा	रखेगा
३९३	४	घूंप	घूम
३९८	७	परिनतंनम्	परिवर्तनम्
३९८	२४	निर्विकल्पक	निर्विकल्प
३९९	९	माक्षमार्ग	मोक्षमार्ग
३९९	२४	सगोत्थ	संगोत्थ
४००	१४	चतुरगुल	चतुरंगुल
४०२	८	वाली	बाली और स्त्री
४०२	१७	करता	करता है
४०५	१३	इर्या	ईर्या
४०८	२०	बनना	बनाना
४०९	३	अवश्य	की अवश्य
४०९	२३	वालो	बालो
४११	९	संसार	संसारी
४१४	२	वंघं	वन्धम्
४१६	४	हसी	हँसी
४१६	१५	हंसी	हँसी
४१७	२६	बोधि	बोधि
४१९	५	त्रिसस्थावरा	त्रसस्थावरा
४२०	३	ज्ञानाराधना	ज्ञानाराधना की
४२१	१७	शेषामेंगादयो भावा	शेषामंगादयोभावा
४२२	२	मुलने	मुलेन
४२३	२	आसादनाओं का	आसादनाओं की
४२३	१०	मुनि का	मुनि को
४२८	१०	मूलकरण	मूलकारण
४३०	३	जाने	जाने देना
४३४	१	प्रमाद से	प्रासाद से
४३७	१६	पृष्ठ्यपू	पृष्ठ्यप
४३८	२५	सेवन के	सेवक के
४३९	२४	प्रतिक्रमण मेवैकं	प्रतिक्रमण मेवैकं
४४०	७	इकईस	इक्कीस

पृष्ठ	पक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
४४०	१३	प्रकुवते	प्रकुर्वंते
४४३	२६	मुक्तिपरीं	मुक्तिपुरीं
४४४	१८	क्षसा	क्षमा
४४४	१८	रत्नखनी	रत्नखानी
४४७	४	अक्त	आक्रान्त
४४८	२७	क्षमम	क्षमम्
४४९	६	शरीरचागात्तैजसेन	शरीरंचागस्त्तैजसेन
४५०	१०	शुभकरा	शुभंकरा
४५२	७	धम लक्षणम्	धर्मं लक्षणम्
४५२	१४	मृशुचिरो	मृदुचिरो
४५६	२५	अतिचार	अतिचार का
४६१	२५	हृच्छद्धया	हृच्छुद्धया
४६२	९	क्षमादि लक्षण	क्षमादि लक्षणे
४६५	६	संकल	सांकल
४६६	१४	जीवात्पचेन्द्रिया	जीवात्पंचेन्द्रिया
४७२	४	मोह	मोह के कारण
४७६	३	वाले की	वाले को
४७७	११	दु	दुर्लभ
४८१	२३	ध्यानच्चलेष्म	ध्यानाच्चलेष्म
४८४	१३	बध बंधन	वध बंधन
४८४	१३	बध परिषह	वध परिषह
४८९	१७	बध	वध
४९०	६	हंसी	हँसी
४९१	५	सभिन्न	संभिन्न
४९२	८	विक्रियद्धि	विक्रियर्द्धि
४९२	१०	अन्तधान	अन्तर्धान
४९४	१३	प्राप्त करें	प्रदान करें
४९५	१८	रत्नों का	रत्नों की
४९८	२२	तीथनाथा	तीर्थनाथा

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अधिकार

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	१-३६	१-६
प्रतिज्ञा	३७-४५	६-७
मूलगुण का वर्णन	४६-४९	७
महाव्रत का लक्षण	५०-५१	८
अहिंसा महाव्रत	५२-१२१	८-१८
सत्य महाव्रत	१२२-१६०	१८-२४
अचौर्य महाव्रत	१६१-१७९	२४-२६
ब्रह्मचर्य महाव्रत	१८०-२२९	२६-३४
आकिंचन्य महाव्रत	२३०-२६२	३४-३९
प्रथम अध्याय का उपसंहार	२६३-२६४	३९-४०

दूसरा अधिकार

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	२६५	४१
समिति का लक्षण और भेद	२६६-२६८	४१
ईर्या समिति	२६९-२८४	४१-४४
भाषा समिति	२८५-३४८	४४-५३
ऐषणा समिति	३४९-३५०	५३
ऐषणा के आठ प्रकार के दोष	३५१-३५८	५३-५४
४६ दोषों का वर्णन	३५९-४६४	५५-७२
भोजन त्याग व ग्रहण करने के हेतु	४६७-४८६	७२-७६
मुनि के ग्रहण योग्य भोजन	४८७-४८८	७६
१४ मलों का वर्णन	४८९	७६
आहारचर्या सम्बन्धित विशेष वर्णन	४९०-५७३	७६-९०

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
आदान निक्षेपण समिति	५७४-५९५	९०-९४
प्रतिष्ठापन समिति	५९६-५९७	९४-९५
समितियों की महिमा	५९८-६०१	९५-९६

तीसरा अधिकार

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	६०२	९७
प्रतिज्ञा	६०३	९७
चक्षु इन्द्रिय का निरोध	६०४-६२२	९७-१००
श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध	६२३-६३६	१००-१०३
घ्राणेन्द्रिय का निरोध	६३७-६४५	१०३-१०४
जिह्वा इन्द्रिय का निरोध	६४६-६६१	१०४-१०७
स्पर्श इन्द्रिय का निरोध	६६२-६७५	१०७-१०९
पांचों इन्द्रियों का स्वरूप	६७५-७१३	१०९-११६
आवश्यकों का स्वरूप और भेद	७१४-७१५	११७
सामायिक आवश्यक	७१६-७७८	११७-१२७
स्तवन आवश्यक	७७९-८३१	१२७-१३५
वन्दना आवश्यक	८३२-८४५	१३६-१३७
वन्दनांतर्गत कृतिकर्म, चितिकर्म पूजाकर्म, विनयकर्म, लोकानुवृत्ति	८४६-८५१	१३७-१३८
विनय के भेद	८५२-८५७	१३८-१३९
मोक्ष विनय के भेद	८५८-८७१	१३९-१४२
कृतिकर्म	८७२-९५३	१४२-१५४
पार्श्वस्थ आदि त्याज्य मुनियों का स्वरूप	९५४-९८०	१५५-१५९
मुनियों की वन्दना कब करना चाहिये	९८१-९९५	१५९-१६१
वन्दना के बत्तीस दोष	९९६-१०३७	१६१-१६७
उपसंहार	१०३८	१६८

चौथा अधिकार

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	१०३९	१६९
प्रतिक्रमण	१०४०-१०९५	१६९-१७७
प्रत्याख्यान	१०९६-१११५	१७७-१८०
प्रत्याख्यान के १० भेद	१११६-११४९	१८०-१८५

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
कायोत्सर्ग और उसके भेद	११५०-१२११	१८५-१९५
कायोत्सर्ग के ३२ दोषों के नाम	१२१२-१२४६	१९५-२००
आवश्यक की महिमा	१२४७-१२६३	२००-२०३
१३ क्रियाओं में सारभूत क्रिया	१२६४-१२७०	२०३-२०४
केशलोंच का स्वरूप	१२७१-१२८०	२०४-२०६
अचेलकत्व का स्वरूप	१२८१-१२८८	२०६-२०७
उपसंहार	१२८९-१३००	२०७-२०९
अस्नान मूलगुण	१३०१-१३१३	२०९-२११
भूमिशयन मूलगुण	१३१४-१३२४	२११-२१३
अदन्त धावन मूलगुण	१३२५-१३३१	२१३-२१४
स्थिति भोजन मूलगुण	१३३२-१३४४	२१४-२१६
एक भक्त मूलगुण	१३४५-१३५०	२१६-२१७
मूलगुण की महिमा	१३५१-१३७०	२१७-२२०

पांचवां अधिकार

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
मङ्गलाचरण	१३७१-१३७५	२२१
प्रतिज्ञा	१३७६-१३७७	२२१
पंचाचार के भेद	१३७८-१३७९	२२२
दर्शनाचार	१३८०	२२२
सम्यग्दर्शन के भेद	१३८१-१३९२	२२२-२२४
सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप	१३९३-१३९९	२२४-२२५
तत्वों का स्वरूप	१४००-१४२९	२२५-२४३
सम्यग्दर्शन के अंगों का वर्णन	१४३०-१४६५	२४३-२४८
सम्यग्दर्शन के मलों का स्वरूप	१४६६-१४८८	२४८-२५१
निर्मल सम्यग्दर्शन की महिमा	१४८९-१६२२	२५१-२५६

छठा अधिकार

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा	१६२३-१६२३	२५७
ज्ञानाचार का स्वरूप उसके भेद	१६२४-१६७९	२५७-२६४
ज्ञानाचार की महिमा	१६८०-१६९६	२६४-२६६
चारित्राचार का स्वरूप	१६९७	२६६
चारित्राचार के भेद	१६९८	२६६
रात्रिचर्या का निषेध	१६९९-१७०४	२६६-२६७

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
समिति के भेद	१७०५-१७०६	२६७
गुप्ति के भेद, मनोगुप्ति का स्वरूप	१७०७-१७२६	२६७-२७०
मनोगुप्ति की महिमा व फल	१७२७-१७३२	२७०-२७१
वचनगुप्ति का स्वरूप	१७३३-१७४३	२७१-२७२
मौन की महिमा	१७४४-१७४९	२७२-२७३
वचनगुप्ति की महिमा	१७५०	२७३
कायगुप्ति का स्वरूप	१७५१-१७५७	२७३-२७५
त्रिगुप्ति की महिमा	१७५८-१७६१	२७५
अष्ट प्रवचनमातृका का स्वरूप	१७६२-१७६७	२७५-२७६
चारित्र की महिमा	१७६८-१७८१	२७६-२७८
तपाचारका स्वरूप व उसके भेद	१७८२-१७८७	२७८-२७९
अनशन तपका स्वरूप व उसके भेद	१७८८-१७९७	२७९-२८०
अनशन तप की महिमा	१७९८-१८००	२८०-२८१
अवमौदर्य तप का स्वरूप	१८०१-१८०४	२८१-२८१
अवमौदर्य तप की महिमा	१८०५-१८०६	२८१-२८२
वृत्तिपरिसंख्यान तप का स्वरूप	१८०७-१८०८	२८२
वृत्तिपरिसंख्यान तप का फल	१८०९-१८१०	२८२
रस परित्याग का स्वरूप	१८११-१८१६	२८२-२८३
रस परित्याग का फल	१८१७-१८१८	२८३
विविक्त शय्यासन तप का स्वरूप	१८१९-१८२०	२८३-२८४
विविक्त शय्यासन तप का फल	१८२१-१८२२	२८४
काय क्लेश तप का स्वरूप	१८२३-१८२४	२८४
काय क्लेश तप का फल	१८२५-१८२६	२८४
बाह्य तप का स्वरूप	१८२७-१८३०	२८४
आभ्यन्तर तप का स्वरूप	१८३१-१८३२	२८४
आभ्यन्तर तप के भेद	१८३३-१८३४	२८४-२८५
प्रायश्चित तपका स्वरूप व उसके भेद	१८३५-१८३७	२८५
आलोचना का स्वरूप	१८३८-१८३९	२८५
आलोचना के १० दोष	१८४०-१८६१	२८५-२८९
प्रायश्चित्त लेने में प्रमादका निषेध	१८६२-१८६९	२८९-२९१
प्रतिक्रमणादिका स्वरूप	१८७०-१९१०	२९१-२९७
विनय और उनके भेदों का स्वरूप	१९११-१९६७	२९७-३०४

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
वैयावृत्य तपका स्वरूप व उसके भेद	१९६८-१९८४	३०४-३०६
स्वाध्याय तप और उसके भेद	१९८५-१९९२	३०६-३०८
स्वाध्याय तप का फल	१९९३-१९९७	३०८
कायोत्सर्ग का स्वरूप	१९९८-१९९९	३०८
ध्यान का स्वरूप व उसका फल	२०००-२०९२	३०९-३२१
ध्यान की महिमा	२०९३-२०९८	३२१-३२२
तप की महिमा	२०९९-२१२१	३२२-३२५
वीर्याचार का स्वरूप	२१२२-२१२४	३२५
संयम के भेद	२१२५-२१४४	३२५-३२८
पंचाचार की महिमा व फल	२१४५-२१४८	३२८-३२९

सातवां अधिकार

मङ्गलाचरण	२१४९	३३०
समाचार नीति और उसके भेद	२१५२	३३०
औघिक समाचार के भेद	२१५४-२१९३	३३०-३३६
पद विभागी समाचार के लक्षण	२१९४-२१९७	३३६
एकल विहारी का निषेध	२१९८-२२४१	३३६-३४१
आगन्तुक मुनि की परगण में कैसी प्रवृत्ति करें।	२२४२-२२९९	३४१-३५०
आर्यिका समाचार नीति	२२९०-२३१४	३५०-३५४
समाचार की महिमा	२३१५-२३१७	३५५

आठवां अधिकार

मङ्गलाचरण	२३१८-२३२०	३५६
प्रतिज्ञा	२३२१-२३२२	३५६
मुतियों की भावना का फल	२३२३-२३२४	३५७
दस प्रकार की शुद्धि के नाम	२३२५-२३२६	३५७
लिंग शुद्धि का स्वरूप	२३२७-२३३७	३५७-३५८
व्रत शुद्धि का स्वरूप	२३३८-२३४५	३५९-३६०
वसतिका शुद्धि का स्वरूप	२३४६-२३६२	३६०-३६१
उत्ताम विहार शुद्धि का स्वरूप	२३६३-२३८२	३६१-३६४
भिक्षा शुद्धि का स्वरूप	२३८३-२३९८	३६४-३६७
ज्ञान शुद्धि का स्वरूप	२३९९-२४१०	३६७-३६८

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
उज्झन शुद्धि का स्वरूप	२४११-२४२८	३६८-३७१
वाक्य शुद्धि का स्वरूप	२४२९-२४४४	३७१-३७३
तप शुद्धि का स्वरूप	२४४५-२४६२	३७३-३७६
ध्यान शुद्धि का स्वरूप	२४६३-२४८७	३७७-३८०
दशों शुद्धियों की महिमा	२४८८-२४९०	३८०-३८१

नवां अधिकार

मङ्गलाचरण	२४९१	३८२
प्रतिज्ञा	२४९२-२४९३	३८२
समयसार की भावना	२४९४-२५१८	३८२-३८६
जिन लिंग के चिह्न निर्देश	२५१९-२५२०	३८६-३८६
मयूर पिच्छी के ५ गुण	२५२१-२५२२	३८६-३८७
प्रतिलेखन के गुण	२५२३-२५२८	३८७-३८८
हिंसा का निषेध	२५२८-२५३८	३८८-३८९
अध.जन्य आहार का निषेध	२५३९-२५४९	३८९-३९१
मुनियों का विशेष आचरण	२५५०-२५८७	३९१-३९७
स्वाध्याय	२५८८-२५९०	३९७
निद्रा के दोष	२५९१-२५९२	३९७
ध्यान	२५९३-२६००	३९८-३९९
समाधिमरण में स्वगण का निषेध	२६०१-२६०६	३९९-४००
इन्द्रिय के वश का निषेध	२६०७-२६१७	४००-४०१
ब्रह्मचर्य घात के १० कारण:	२६१८-२६२१	४०२
श्रमण का स्वरूप	२६२२-२६२४	४०२-४०६

दसवां अधिकार

मङ्गलाचरण	२६४३	४०७
समाधिमरण की विधि	२६४४-२६६४	४०७-४१०
मरण के भेद और उनका स्वरूप	२६६५-२७३४	४१०-४२०
कषाय सल्लेखना की विधि	२७३५-२७४०	४२०-४२१
क्षपक का चिन्तवन	२७४१-२७५४	४२१-४२३
क्षपक शरीर को कैसे कृश करें	२७५५-२८२६	४२३-४३४
पण्डितमरण का फल	२८२७:२८२८	४३४
आराधना की महिमा	२८२९	४३४-४३५

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ

ग्यारहवां अधिकार

मंगलाचरण	२८३०	४३६
शील का स्वरूप और उसके भेद	२८३१-२८५१	४३६-४३८
उत्तर गुणों का स्वरूप और उसके भेद	२८५२-२८७८	४३९-४४२
शील और गुणों की महिमा	२८७९-२८८५	४४२-४४३
धर्म का स्वरूप और उसके भेद	२८८६-२८८८	४४३-४४४
उत्तम क्षमा का स्वरूप	२८८९-२९१९	४४४-४४८
क्षमा की महिमा	२९२०	४४८
क्रोध से हानि	२९२१-२९२५	४४९
क्षमा धारण करने की प्रेरणा	२९२६-२९३३	४४९-४५१
मार्दव धर्म का स्वरूप	२९३४-२९४३	४५१-४५२
आर्जव धर्म का स्वरूप	२९४४-२९५०	४५२-४५३
सत्य धर्म का लक्षण और धारण करने का फल	२९५१-२९५६	४५३-४५४
शौच धर्म का लक्षण	२९५७-२९६३	४५५
संयम धर्म का लक्षण	२९६४-२९६५	४५५
सयम धर्म के भेद	२९६६-२९८८	४५५-४५८
तप का स्वरूप और उसके भेद	२९८९-२९९०	४५८-४५९
त्याग धर्म का स्वरूप और उसके भेद	२९९१-२९९४	४५९
आकिंचन धर्म	२९९६-३००५	४५९-४६१
उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का लक्षण	३००६-३००९	४६१-४६२
धर्म की महिमा	३०१०-३०१७	४६२-४६३

बारहवां अधिकार

मङ्गलाचरण	३०१८	४६४
अनुप्रेक्षा का स्वरूप और उनके भेद	३०१९-३०२१	४६४
अनित्य अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०२२-३०२९	४६४-४६५
अशरण अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०३०-३०३७	४६५-४६६
संसार अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०३७-३०४९	४६६-४६८

विषय	श्लोक संख्या	पृष्ठ
एकत्व भावना का स्वरूप	३०५०-३०५७	४६८-४६९
अन्यत्व भावना का स्वरूप	३०५८-३०६२	४६९-४७०
अशुचि भावना का स्वरूप	३०६३-३०७२	४७०-४७१
आस्रव भावना का स्वरूप	३०७३-३०८५	४७१-४७३
संवर अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०८६-३०९३	४७३-४७४
निर्जरा अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३०९४-३१०१	४७४-४७५
लोक अनुप्रेक्षा का स्वरूप	३१०२-३१०७	४७५-४७६
बोधिदुर्लभ भावना	३१०८-३११७	४७७-४७८
अनुप्रेक्षा की महिमा	३०१८-३०२२	४७८-४७९
परीषहों का स्वरूप और उसके भेद	३०२३-३०२६	४७९
कैसे चिन्तवन से मुनिराज परीषहों को जीतते हैं	३०२७-३१७६	४७९-४८७
किस कर्म से कौनसी परीषह होती है	३१७८-३१८२	४८७
परीषहों का विशेष कथन	३१८५-३२०२	४८८-४९०
ऋद्धियोंका स्वरूप और उनके भेद	३२०३-३२२७	४९०-४९३
ऋद्धियों की महिमा	३२२८-३२३२	४९३-४९४
ग्रन्थ की प्रामाणिकता	३२३३-३२३५	४९४-४९५
ग्रंथ के पठन-पाठन का फल	३२३६-३२३८	४९५
ग्रन्थ के लिखने लिखवाने का फल	३२३९	४९६
तीर्थङ्करादिक देव की स्तुति	३२४०-३२४७	४९६-४९८
शास्त्र के श्लोक संख्या का प्रमाण	३२४८	४९९

卐

卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

श्री आचार्यवर्य, सकलकीर्त्ति विरचित

–: मूलाचार प्रदीप :–

(भाषा टीका सहित)

◆

मंगलाचरण संस्कृत आचार्यकृत—

श्रीमंतं मुक्तिभर्त्तारं, वृषभं वृषनायकं। धर्म-तीर्थंकरं ज्येष्ठं, वंदेऽनंतगुणार्णवम् ।।१।।

भाषा टीकाकार कृत मंगलाचरण—

परमेष्ठी पांचों नमूं, जिनवाणी उर लाय। मूलाचार-प्रदीप की, टीका लिखूं बनाय ।।

अर्थ—जो भगवान श्री वृषभदेव स्वामी अंतरंग, बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं, जो मुक्तिरूपी स्त्री के स्वामी हैं, धर्म के नायक हैं, धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले हैं, इस युगके तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर हैं और अनंतगुणों के समुद्र हैं, ऐसे भगवान् वृषभदेव की वंदना करता हूं।

आचारांग वभाषे यो, यत्नाचार निरूपकम्। आदौ चतुर्थकालस्यात्राद्य, मोक्षाप्तये सताम् ।।
तमादितीर्थकर्त्तारं यत्याचार्यपरायणम्। आचार शुद्धये स्तौमि, धर्मतीर्थप्रवर्त्तकम् ।।३।।

अर्थ—सज्जन पुरुषों को इस भरतक्षेत्रमें आज भी मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस चतुर्थ कालके प्रारंभ में ही जिन्होंने मुनियों के आचरणों को निरूपण किया था तथा जो मुनियों के आचरण पालन करने में स्वयं तत्पर हुए थे और जिन्होंने इस युग में धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति की है, ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव की मैं आचार्य (सकलकीर्ति) अपने आचरण शुद्ध करने के लिये स्तुति करता हूं ।।२-३।।

येन प्रकाशितं लोकेऽस्मिन्नाचारांगमूर्जितम्। हीयमानमपि स्थास्यति, यावदंतिमं दिनम् ।४।
कालस्य पंचमस्यादौ, तं नौम्याचारपारगम्। श्री वर्द्धमाननामानं, मिथ्याज्ञानतमोपहम् ।५।

अर्थ—जो भगवान् वर्धमान स्वामी मिथ्याज्ञान रूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्यके समान हैं और जिन्होंने इस संसारमें अत्यंत देदीप्यमान आचारांग को प्रकाशित किया है तथा उन वर्धमान स्वामी का कहा हुआ जो आचारांग इस पंचम कालमें दिनों दिन घटता हुआ भी इस पंचमकाल के अंत तक बराबर बना रहेगा ऐसे आचारांग को निरूपण करने वाले और आचार पालन करने में पारंगत भगवान् वर्धमान स्वामी को मैं नमस्कार करता हूं ।।४-५।।

शेषा ये तीर्थकर्त्तार, आचारांगप्रवर्त्तिनः। आचारभूषिता वंद्यास्त्रि जगत् स्वामिभिः स्तुताः ।६।
अजिताद्या जिनाधीशाः, विश्वभव्यहितोद्यताः । संतु ते मे स्वभूत्याप्त्यै, वंदिता संस्तुता मया ।७।

अर्थ—भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक मध्यके तीर्थंकर भी आचारांग की प्रवृत्ति करने वाले हैं, आचार से विभूषित हैं, तीनों लोकों के स्वामी जिनकी वंदना करते हैं; स्तुति करते हैं तथा जो समस्त भव्यजीवों के हित करने में उद्यत रहते हैं और मैंने भी जिनकी वंदना और स्तुति की है, ऐसे वे तीर्थंकर परमदेव अपनी अनंत चतुष्टयरूपी विभूति मुझे भी प्रदान करें ।।६-७।।

विदेहे पूर्व संज्ञे यः, प्रवर्त्तयति मुक्तये । अद्यापि भव्यजीवाना, माचारांगं सुवृत्तदम् ।।८।।
तस्मै तीर्थंकृते श्री सीमंधर स्वामिने नमः । तद्गुणाय जिनेन्द्राय, ह्यनन्तगुणसिंधवे ।।९।।

अर्थ—जो भगवान् सीमंधर स्वामी पूर्व विदेह क्षेत्रमें भव्य जीवों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये आज भी निर्मल चरित्र को बतलाने वाले आचारांग की प्रवृत्ति कर रहे हैं, जो अनंत गुणों के समुद्र हैं और जिनेन्द्र हैं ऐसे भगवान् सीमंधर स्वामीको उनके गुण प्राप्त करने के लिये मैं नमस्कार करता हूं ।।८-९।।

येऽत्राधिक सद्वीपद्वये सन्ति जिनाधिपाः । आचारवर्त्तिनः पुंसां, दिव्येन ध्वनिना भुवि ।।१०।।
आचारभूषणा अन्तातीताः कालत्रयोद्भवाः । वंद्याः स्तुत्याः सुरेन्द्राद्यैस्ते ये सन्त्वस्य सिद्धये ।।

अर्थ—इस ढाई द्वीपमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालोंमें होनेवाले जिन तीर्थंकर वा सामान्य केवलियों ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा इस संसार में भव्य जीवों के लिये आचारांग की प्रवृत्ति की है, जो आचार से विभूषित हैं और इन्द्रादिकदेव भी जिनकी वंदना और स्तुति सदा किया करते हैं, ऐसे अनंत तीर्थंकर वा सामान्य केवली भगवान् मेरे इस कार्यकी सिद्धि करें ।।१०-११।।

आचारांगोक्तमार्गेणाराध्य रत्नत्रयं द्विधा। तपसाहत्य कर्माणि, येऽगुर्निर्वाणमद्भुतम् ।।१२।।

आचारफलमाप्तांस्तान्, सिद्धान् लोंकाग्रवासिनः। दिव्याष्टगुणशर्माब्धीन्, वंदेऽनंतान् शिवाप्तये।।

अर्थ—जिन्होंने आचारांगमें कही हुई विधिके व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारके रत्नत्रय का आराधन कर, तपश्चरणके द्वारा समस्त कर्मोंका नाश किया है और इसप्रकार अद्‌भुत मोक्षपद प्राप्त किया है तथा जो इसप्रकार आचार पालन करने के फलको प्राप्त हुये हैं, जो लोक शिखरपर विराजमान हैं और दिव्य आठ गुण रूपी कल्याणके समुद्र हैं ऐसे अनंत सिद्धों को मैं मोक्ष प्राप्त कराने के लिये वंदना करता हूं ।।१२-१३।।

आचरंति स्वयं साक्षात् पंचाचारं सुखाकरम्। आचारशास्त्रयुक्त्या ये, शिष्याणां चारयंति च ।।
स्वर्गमुक्त्यादिसौख्याय, सूरयो विश्ववन्दिताः। तेषां पादाम्बुजान् नौमि, पंचाचारविशुद्धये ।१५।

अर्थ—जो आचार्य, सुखकी खान हैं, ऐसे पांचों आचारों को स्वयं साक्षात् पालन करते हैं, जो आचार शास्त्रों से सदा सुशोभित रहते हैं, जो शिष्यों को स्वर्ग-मोक्षके सुख प्राप्त कराने के लिये, उन्हीं पंचाचारों को उन शिष्योंसे सदा पालन कराते हैं और समस्त संसार जिन्हें वंदना करता है ऐसे आचार्य परमेष्ठी के चरण कमलों को मैं अपने पंचाचारकी विशुद्धिके लिये सदा नमस्कार करता हूं ।।१४-१५।।

आचारप्रमुखांगानि, निष्प्रमादाः पठन्ति ये। पाठयन्ति विनेयानां, ज्ञानायाज्ञान हानये ।।१६।।
पाठकास्त्रिजगद्वंद्याः महामति विशारदाः। विश्वदीपाश्च ये तेषां, क्रमाब्जानंगहेतवे ।।१७।।

अर्थ—जो उपाध्याय अपना ज्ञान बढ़ाने के लिये या अज्ञान को दूर करनेके लिये प्रमाद रहित होकर आचारांग आदि अंगों को सदा पढ़ते रहते हैं और शिष्यों को पढ़ाते रहते हैं तथा जो तीनों लोकों के द्वारा वंदनीय हैं, महाबुद्धि को धारण करनेसे जो अत्यंत चतुर हैं, और जो संसारके समस्त पदार्थों का स्वरूप दिखलाने के लिये दीपक के समान हैं, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी के चरण कमलों का मैं उन समस्त अंगों की प्राप्ति के लिये आश्रय लेता हूं ।।१६-१७।।

ज्ञानाचारादिसर्वांगास् त्रिकालयोगधारिणः। उग्रदीप्तमहाघोर, तपोलंकृतविग्रहाः ।।१८।।
साधवो ये त्रिलोकार्च्या, निष्प्रमादाः जितेन्द्रियाः। गुहाद्रयादिकृतावासास्तेभ्यः सुतपसे नमः ।।

अर्थ—जो साधु आचार आदि समस्त अंगों को जानते हैं, जो तीनों काल योग धारण करते हैं, जिनका शरीर उग्रतप, दीप्ततप, महातप और घोरतप आदि तपों से अलंकृत है, जो तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य हैं, प्रमादरहित हैं, जितेन्द्रिय हैं और जो

गुफा वा पर्वतों में निवास करते हैं, उन साधु परमेष्ठियों के लिये मैं तपश्चरण की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूं ॥१८-१९॥

प्रारंभे तुर्यकालस्य, रचितं येन धीमता । आचारांगं शिवाप्तयै च, वृषभसेन गणेशिना ॥२०॥
गुरोस्तदर्थमादाय तं सप्तर्द्धि विभूषितम् । चतुर्ज्ञानधरं स्तौमि, कवीन्द्रं तद्गुणाप्तये ॥२१॥

अर्थ—जिन श्री ऋषभदेव महाचतुर गणधरने चौथे कालके प्रारम्भ में मोक्ष प्राप्त करने, कराने के लिए अपने गुरु भगवान् वृषभदेव से उस अंग का अर्थ लेकर आचारांग की रचना की है, तथा जो सप्त ऋद्धियों से विभूषित हैं और चारों ज्ञानों को धारण करने वाले हैं ऐसे कवियों के इन्द्र भगवान् वृषभसेन गणधर की मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिए स्तुति करता हूं ॥२०-२१॥

पदरूपेण येनाचारांगं रचितं परम् । आचारवृत्तयेनाचारनिषेधाश्च योगिनाम् ॥२२॥
तस्यांशं वर्त्ततेऽद्यापि, स्थास्यत्यग्रे न संशयः । स्तुवेऽहं तं गणाधीशं, गौतमं गुणवारिधिम् ॥२३॥

अर्थ—जिन भगवान् गौतम गणधर ने मुनियों के आचार की प्रवृत्ति करने के लिये तथा अनाचार का निषेध करने के लिये पद रूपसे आचारांग की उत्कृष्ट रचना की है तथा उसी आचारांग का अंश आज भी विद्यमान है और आगे भी अवश्य निःसंदेह बना रहेगा ऐसे गुणोंके समुद्र भगवान् गौतम गणधर की मैं स्तुति करता हूं ॥२२-२३॥

शेषा गणधराः, आचारांगादि रचने क्षमाः । चतुर्ज्ञानाखिलार्थज्ञा, ये महाचारभूषिताः ॥२४॥
मोक्षमार्ग प्रणेतारो, महान्तो मुक्तिगामिनः । तान् सर्वान् शिरसा वंदे, तत्समस्तगुणाप्तये ॥

अर्थ—बाकी के जितने गणधर हैं जो कि आचारांगादिक की रचना करनेमें समर्थ हैं; जो अपने चारों ज्ञानोंसे समस्त पदार्थों के जानकार हैं, जो महा आचारों से विभूषित हैं। मोक्षमार्ग को निरूपण करने वाले हैं, जो महापुरुष हैं और मोक्षगामी हैं, ऐसे समस्त गणधरों को मैं उनके समस्त गुण प्राप्त करने के लिये मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥२४-२५॥

यत्प्रसादेन मेऽत्राभूत्, रागदूरा महामतिः । समर्थानेकशास्त्राणां, रचने शुभदाऽनघा ॥२६॥
सा जिनेन्द्रमुखोत्पन्ना, भारती पूजिता स्तुता । वर्द्धिता श्री गणेशाद्यै, मया चास्तु चिदे मम ॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुखसे उत्पन्न हुई जिस सरस्वती के प्रसाद से मेरी यह महाबुद्धि रागरहित होकर अनेक शास्त्रों की रचना करनेमें समर्थ हुई है तथा

जो शुभ देनेवाली है, पाप रहित है, गणधरदेवों ने जिसकी पूजा की है, स्तुति की है और खूब वृद्धि की है, ऐसी सरस्वती देवी मेरे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति करो ।।२६-२७।।

अंग पूर्वं प्रकीर्णादीनामाचाराद्यर्थंसूचकान्। त्रिजगद्दीपकान् सर्वान् तदर्थाप्त्यै भजेन्वहम् ।।२८।।

अर्थ—इसप्रकार अंग, पूर्व और प्रकीर्ण आदि में कहे हुये आचार आदि के अर्थ को सूचित करनेवाले और तीनों जगत् के पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले जितने भी महापुरुष हैं उन सबकी मैं उन अंगपूर्व और प्रकीर्णक का अर्थ जानने के लिये प्रति दिन सेवा करता हूं ।।२८।।

सुधर्म सूरिजम्बू स्वामिनौ केवललोचनौ। शुद्धाचारोन्वितौ नौमि, स्वाचारांगप्ररूपकौ ।।२९।।

अर्थ—केवल ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले, शुद्धाचार को पालन करने वाले और अपने आचारांग को निरूपण करनेवाले सुधर्मा गणधर और जम्बू स्वामी को भी मैं नमस्कार करता हूं ।।२९।।

विष्णुश्च नंदिमित्राख्योऽपराजितो मुनीश्वरः। गोवर्द्धनो मुमुक्षुश्च भद्रबाहुर्जगन्नुतः ।।३०।।
श्रुतकेवलिनोऽत्रैते, पंचाचारादि देशिनः। परमाचार सम्पन्नाः, कीर्त्तिताः संतु मे चिदे ।।३१।।

अर्थ—(१) विष्णु (२) नंदिमित्र (३) मुनिराज अपराजित (४) मोक्ष की इच्छा करने वाले गोवर्द्धन और समस्त संसार जिनको नमस्कार करता है ऐसे भद्रबाहु ये पांच इस पंचम कालमें श्रुतकेवली हुये हैं; ये पांचों ही श्रुतकेवली पंचाचार का उपदेश देनेवाले हैं और परमोत्कृष्ट आचार को पालन करनेवाले हैं; इसलिए मैं उनकी स्तुति करता हूं जिससे कि मुझे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो ।।३०-३१।।

विशाखाचार्यमुख्या ये, सूरयो बहवो भुवि। आचारांगादिशास्त्रज्ञाः, दद्यु स्ते मे स्तुताः श्रुतम् ।।

अर्थ—इस संसार में विशाखाचार्य को आदि लेकर और भी अनेक आचार्य हुये हैं जो कि आचारांगादि शास्त्रों के जानकार हैं; उनको मैं स्तुति करता हूं; वे सब मुझे श्रुतज्ञानको प्रदान करें ।।३२।।

कवीन्द्रा वादिनो ये श्री कुंदकुंदादि सूरयः। तान् स्तुवे सत्कवित्वाय, स्वाचारश्रुतसूचकान् ।।

अर्थ—आचार प्ररूपक श्रुतज्ञान को निरूपण करनेवाले और भी जो कविराज या वादी मुनि हुये हैं अथवा कुंदकुंदादिक आचार्य हुये हैं उन सबको मैं श्रेष्ठ कवित्व प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूं ।।३३।।

बाह्यान्तग्रंथ निर्मुक्तान् दिग्वस्त्रालंकृतान् परान् । मदीयांश्च गुरुन्नौमि, विश्वान् गुरुगुणाप्तये ।।

अर्थ—जो बाह्य और अंतरंग परिग्रहसे सर्वथा रहित हैं, जो दिशारूपी वस्त्रों से ही सुशोभित हैं अर्थात् दिगम्बर हैं और इसलिये जो उत्कृष्ट हैं ऐसे अपने समस्त गुरुओं के लिये भी मैं उनके श्रेष्ठ गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं ।।३४।।

इति तद्विघ्नहान्यै च, मांगल्यार्थं प्रसिद्धये । स्तुता ये वंदिता ग्रंथारम्भेऽर्हच्छ्रु तयोगिनः ।।३५।।
इष्टा इष्टाप्तये संतु, प्रत्यूहान् घ्नंतु तस्य च । कुर्वंतु मंगलं ते यें, विश्वमांगल्यकारिणः ।।३६।।

अर्थ—इसप्रकार ग्रंथके प्रारम्भ में इसकी रचना में होनेवाले विघ्नों को दूर करने के लिये तथा मंगलमय पदार्थों की प्राप्ति के लिये जिन अरहंत, शास्त्र और मुनियों की वंदना की है; या उनकी स्तुति की है, ऐसे वे समस्त संसार में मंगल करने वाले देव, शास्त्र, गुरु, इष्ट या पंचपरमेष्ठी मुझे इष्ट की प्राप्ति करें । अर्थात् मेरे ग्रंथको पूर्ण करें; उसमें होने वाले विघ्नों को नष्ट करें, और मेरे लिये मंगल करें । ।।३५-३६।।

इष्टदेवान् प्रणम्येति, विज्ञायार्थान् परान् शुभान् । मूलाचारादि सद्ग्रंथानामाचार प्रवर्त्तये ।३७।
महाग्रंथं करिष्येऽहं, श्री मूलाचार दीपकम् । हिताय मे यतीनां च, शुद्धाचारार्थ देशकम् ।।३८।।

अर्थ—इसप्रकार मैं अपने इष्ट देवों को नमस्कार कर तथा शुभ और श्रेष्ठ अर्थों को जानकर, मूलाचार आदि श्रेष्ठ ग्रंथों में कहे हुये आचारों की प्रवृत्ति करने के लिये तथा अपना और मुनियों का हित करने के लिए, शुद्धाचारके स्वरूप का निरूपण करने वाले 'मूलाचार-प्रदीपक' नामके महाग्रंथ की मैं रचना करता हूं ।।३७-३८।।

आचारांग का वर्णन—

आचारांगं पदष्टादशसहस्रपदान्वितम् । श्रुतकेवलिभिः प्रोक्तम्, ह्यर्थैगम्भीरमब्धिवत् ।।३९।।

अर्थ—आचारांग नामके अंग में, अठारह हजार पद हैं । वह श्रुतकेवलियों के द्वारा कहा हुआ है तथा समुद्र के समान अर्थों से महा गंभीर है ।।३९।।

शत षोडश कोट्यामा, चतुस्त्रिंशच्च कोटयः । त्र्यशीति रथलक्षाण्यष्टासप्तत्ति शतान्यपि ।४०।
अष्टाशीतिश्च सद्वर्णा, इति संख्या जिनोदिता । आगमेक्षर संख्याभिः, पदेकस्य न चान्यथा ।।

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव ने अपने कहे हुए आगम में एक-एक पदके अक्षरों की संख्या सोलह अरब, चौंतीस करोड, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सो, अट्ठासी बतलाई है ।।४०-४१।।

एतदंगमहाग्रंथं, समस्ताचारदीपकम् । मया प्रोक्तम् कथं शक्यं, कविना स्वल्पबुद्धिना ॥४२॥
तथापि पूर्वसूर्यादि, प्रणामार्जितपुण्यतः । स्तोकं सारं करिष्यामि, ग्रंथमाचारसूचकम् ॥४३॥

अर्थ—समस्त आचारांगों को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान यह आचारांग नामका बड़ा ग्रंथ है। यह इतना बड़ा महाग्रंथ भला अत्यंत थोड़ी सी बुद्धि को धारण करने वाले मुझ ऐसे कविसे कैसे कहा जा सकता है ॥४२॥ तथापि पहिले के आचार्यों को प्रणाम करने से उत्पन्न हुए पुण्य के प्रभाव से आचार को सूचित करने वाले बहुत ही स्वल्प और सारभूत ग्रंथकी रचना मैं करूंगा ॥४३॥

तस्यादौ ये जिनैः प्रोक्ता, अष्टाविंशति संख्यकाः । परा मूलगुणाः साराः, मूलभूताः सुयोगिनाम् ॥
गुणानां चात्र दीक्षाया, आचारस्य शिवंकरान् । तान् प्रवक्ष्ये स्वशक्त्याहं, सर्वान् सर्वार्थसाधकान् ॥

अर्थ—इस ग्रंथके प्रारंभ में भगवान् जिनेन्द्रदेव के कहे हुए और श्रेष्ठ मुनियों के मूलभूत २८ मूलगुणों को कहूंगा; ये मूलगुण सर्वोत्कृष्ट हैं, मुनियों के गुण दीक्षा और आचार को मंगल करने वाले हैं और समस्त अर्थों की सिद्धि करने वाले हैं उन्हीं सबको मैं अपनी शक्ति के अनुसार कहूंगा ॥४४-४५॥

२८ मूलगुणों का संक्षिप्त में वर्णन—

महाव्रतानि पंचैव, परा समितयस्तथा । पंचेन्द्रियनिरोधाश्च, लोचआवश्यकानि षट् ॥४६॥
अचेलत्वं, ततोऽस्नानम् धराशयनमेवहि । अदन्तघर्षणं रागदूरं च स्थिति भोजनम् ॥४७॥
एकभक्तं समासेनामी, सन्मूलगुणाबुधैः । विज्ञेयाः कर्महंतारः, शिवशर्मसुखाकराः ॥४८॥
पुनरेतान् प्रवक्ष्यामि, विस्तरेण पृथक् पृथक् । विस्ताररुचिशिष्याणामनुग्रहायसिद्धये ॥४९॥

अर्थ—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इंद्रियों का निरोध, ६ आवश्यक, (१) केशलोंच (२) नग्नत्व धारण करना (३) स्नान नहीं करना (४) दंत-धावन नहीं करना (५) रागरहित खड़े होकर भोजन करना (६) दिन में एकबार ही भोजन करना और (७) भूमिपर शयन करना ये संक्षेप में २८ मूलगुण हैं। ये समस्त मूलगुण कर्मों को नाश करनेवाले हैं और मोक्षके सुख तथा सिद्धों में होनेवाले समस्त गुणों को देनेवाले हैं। विद्वानों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए ॥४६-४८॥

'पुनरेतान् प्रवक्ष्यामि' के अन्तर्गत प्रतिज्ञा-कथन। अर्थ—विस्तार के साथ समझने वाले शिष्यों का उपकार करने के लिए तथा सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के लिए आगे हम इनका अलग-२ स्वरूप विस्तार के साथ कहते हैं ॥४९॥

महाव्रतों की परिभाषा—

हिंसाया अनृतास्तेयादब्रह्मतः परिग्रहात् । कृत्स्नान्मनोवचः कायैः, कृतकारितमानसैः ।।५०।।
सर्वथा विरतिर्या च क्रियते मुनिपुंगवैः । महाव्रतानि तान्यत्र, कथ्यन्ते योगिनां जिनैः ।।५१।।

अर्थ—श्रेष्ठ मुनिराज अपने मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से जो (१) हिंसा (२) झूंठ (३) चोरी (४) कुशील और (५) परिग्रह इन ५ पापों का पूर्ण रूपसे सर्वथा त्याग कर देते हैं उनको भगवान् जिनेन्द्रदेव मुनियों के महाव्रत कहते हैं ।।५०-५१।।

(१) अहिंसा महाव्रत का लक्षण—

हृदा च वपुषा वाचा, कृतेन कारितेन च । स्वानुमत्या प्रयत्नेन, रक्षा यात्र विधीयते ।।५२।।
मत्वात्मसदृशान् जीवान्, नवभेदैः षडंगिनाम् । मूलं सर्वव्रतानां स्यात् पंचमं तन्महाव्रतम् ।।५३।।

अर्थ—छहों कायके समस्त जीवों को अपने आत्मा के समान समझकर मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना के ९ भेदों से प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना पहला अहिंसा महाव्रत कहलाता है । इस अहिंसा महाव्रत को समस्त व्रतों का मूल समझना चाहिए ।।५२-५३।।

कायेन्द्रियगुणस्थान, मार्गणाश्च कुलान्यपि । योनीश्च सर्वजीवानां, ज्ञात्वा सम्यग् जिनागमे ।।
तेषां विविध जन्तूना, मितिरक्षा प्रयत्नतः । कर्त्तव्या मुनिभिर्नित्यं, सर्वथा च कृतादिभिः ।।५५।।

अर्थ—मुनियों को सबसे पहले जिनागम के अनुसार समस्त जीवों की काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल और योनियों को समझ लेना चाहिए और फिर उन अनेक प्रकारके जीवों की रक्षा सब तरहसे, बड़े प्रयत्नसे, मन-वचन-काय और कृत-कारित-अनुमोदना से करनी चाहिए ।।५४-५५।।

शिलाद्रि धातुरत्नादि, खरपृथ्व्यंगिनो बहून् । मृदादि मृदुपृथ्वीकायांश्च, सूक्ष्मेतरान् सदा ।।५६।।
हस्तपादांगुलि काष्ठ, शलाका खर्परादिभिः । न खनेत् खानयेन्नैव, न लिखेन्नैव लेखयेत् ।५७।
न भंज्यान् भंजयेन्नैव, न हन्यान् घातयेन्न च । जातु संघटयेन्नैव, पीडयेन्नदयात्तधीः ।५८।
खनंतं च लिखन्तं वा, भक्तवन्तं परं जनम् । निघ्नंतं घट्टयन्तं वा, पीडयन्तं धरात्मनः ।५९।
नानुमन्येत योगीऽन्याद्यैः प्रकारैर्विराधना । न कार्या मुनिभिस्तेषां योगैराद्यव्रताप्तये ।।६०।।

अर्थ—शिला, पर्वत, धातु, रत्न आदि में बहुतसे कठिन पृथ्वी कायिक जीव रहते हैं तथा मिट्टी आदि में बहुतसे कोमल पृथ्वी कायिक जीव रहते हैं तथा उनके भी

स्थूल, सूक्ष्म आदि अनेक भेद हैं। इसलिए मुनिराज अपने हाथ से, पैर से, उंगली से, लकड़ी से, सलाई से, या खप्पर से पृथ्वी कायिकजीव सहित पृथ्वी को न खोदते हैं, न खुदवाते हैं, न उस पर लकीरें करते हैं, न कराते हैं, न उसे तोड़ते हैं, न तुड़वाते हैं न उस पर चोट पहुंचाते हैं, न चोट पहुंचवाते हैं तथा अपने हृदयमें दया बुद्धि धारण कर न उस पृथ्वीको परस्पर रगड़ते हैं न उसको किसी प्रकार की पीड़ा देते हैं। यदि कोई अन्य भक्तपुरुष उस पृथ्वी को खोदता है या उस पर लकीरें करवाता है, उस पर चोट मारता है; रगड़ता है; या अन्य किसी प्रकारसे उन जीवों को पीड़ा पहुंचाता है तो वे योगी उसकी अनुमोदना भी नहीं करते। इसप्रकार वे मुनिराज अहिंसा महाव्रतको प्राप्त करने के लिए उन पृथ्वीकायिक जीवोंकी विराधना कभी नहीं करते ।।५६-६०।।

ये पृथ्वीकायिका जीवाः, ये पृथ्वीकायमाश्रिताः । पृथ्वीकायसमारंभाद् ध्रुवं तेषां विराधना ।।
तस्मात् पृथ्वीसमारंभो, द्विविधस्त्रिविधेन च । यावज्जीवं योग्योत्र, जिनमार्गानुचारिणाम् ।६२।।

अर्थ—पृथ्वीकाय का समारंभ करने से, पृथ्वीकायिक जीवों की तथा पृथ्वीकाय के आश्रय रहने वाले जीवों की विराधना अवश्य होती है। इसलिए जिनमार्ग के अनुसार चलने वाले मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से दोनों प्रकार का पृथ्वी का समारंभ कभी नहीं करना चाहिए ।।६१-६२।।

न श्रद्दधातियोजीवान्, पृथ्वीकायगतानिमान् । समवेदीर्घसंसारी, लिंगस्थोऽप्यति दुर्मतिः ।।६३।।

अर्थ—जो दुर्बुद्धि जिन लिंग धारण करके भी पृथ्वी कायमें प्राप्त हुए जीवों का श्रद्धान नहीं करता है, उसे दीर्घ संसारी ही समझना चाहिये ।।६३।।

मत्वेति तत्समारंभो, जातु कार्यो न योगिभिः । स्वेन वान्येनमुक्त्याप्त्यै, चैत्यगेहादि कारणैः ।।

अर्थ—यही समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्वयं वा दूसरे के द्वारा जिनालय आदि बनवाकर भी पृथ्वी का समारंभ नहीं करना चाहिए ।।६४।।

जलकायिक जीवों का रक्षण—

स्थूलाणुबिंदुमेघावश्यादिजलदेहिनाम् । न कुर्यात्कारयेन्नैव, स्पर्शसंघट्टनादिकम् ।।६५।।

अर्थ—मेघ वा बरफ की बूंदों में रहने वाले जलकायिक जीवों का स्पर्श व संघट्टन न कभी करना चाहिए और न कराना चाहिए ।।६५।।

बाधां चान्यं च कुर्वन्तं, मनसा नानुमन्यते । वाचांगेन यतिः शौच, पादप्रक्षालनादिभिः ॥६६॥
जीवा अप्कायिका येऽत्र, ये चाप्कायँ समाश्रिताः । अप् कायांगिसमारम्भात्स्फुटं तेषां परिक्षयः ॥
तस्मादपां समारम्भो, द्विधावाक्कायमानसैः । यावज्जीवं मनाक् योग्यो नात्राहिद्वेषधारिणाम् ॥

अर्थ—इसीप्रकार शौच, पाद प्रक्षालन आदि के द्वारा उन जीवों को बाधा देनेवाले अन्य पुरुषोंको मन-वचन-कायसे कभी अनुमोदना नहीं करनी चाहिये ।६६-६७।

क्योंकि जलकायिक जीवोंसे भरे हुए जलका समारंभ करने से (जलको काम में लाने से) जलकायिक जीव और जल काय के आश्रय रहने वाले जीवों का नाश अवश्य ही होता है । इसलिये अरहंत के भेदको धारण करने वाले मुनियों को मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से जीवन पर्यन्त दोनों प्रकार के जलका समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ॥६८॥

न श्रद्दधातियोऽत्रैतान्, प्राणिनोप्कायतामिताम् । स भवेद् दीर्घसंसारं, लिंगस्थोपि कुमार्गगः ॥
ज्ञात्वेति जल कायानां, कार्या हिंसा न जातुचित् । शौचादि कारणैर्दक्षै, मनोवाक्काय कर्मभिः ॥

अर्थ—जो मुनि अप्कायमें प्राप्त हुए इन जीवों का श्रद्धान नहीं करता है, वह कुमार्गगामी बहुत दिन तक संसारमें परिभ्रमण करता है । इसलिये चतुर मुनियों को शौचादि कार्यों में जलकायिक जीवों की हिंसा, मन-वचन-कायसे कभी नहीं करनी चाहिये ॥६९-७०॥

(अग्निकायिक जीवों का रक्षण)

ज्वालांगारार्चि शुद्धाग्न्यादितेजः कायिकात्मनाम् । शीतज्वरादिके जाते, सति कार्यं न संयतैः ॥

अर्थ—मुनियों को शीतज्वरादि के उत्पन्न होने पर भी ज्वाला, अंगार, अग्नि की शिखा, शुद्ध अग्नि आदि तेजस्कायिक जीव सहित अग्नि को कभी काम में नहीं लाना चाहिये ॥७१॥

विध्यापनं कराद्यैः, प्रजालनं च विराधनम् । संघट्टनं क्वचिद्घातं, प्रच्छादनं कदर्थनम् ॥७२॥

अर्थ—मुनियों को अपने हाथ से, या अन्य किसी उपाय से न तो अग्नि को बुझाना चाहिये, न जलाना चाहिये, न उसका घात करना चाहिये ॥७२॥

अधश्चोर्ध्वं चतुर्दिक्षु, ह्यनिलोऽखिलान् । भस्मसात् कुरुते जीवान्, षड्विधान् स्वोष्णतापतः ॥

अर्थ—यह अग्नि अपनी उष्णता के संताप से ऊपर, नीचे चारों विदिशाओं

में छहों प्रकारके समस्त जीवों को भस्म कर देती है ।।७३।।

तस्य घोरेऽतिपापाढ्ये, नेकसत्त्वक्षयंकरे । ईहते न यमी स्थांतु, कदापि सति कारणे ।।७४।।

अर्थ—इस अग्नि का उद्योत या प्रकाश जीवों का नाश करनेवाला और पाप रूप है इसलिये मुनिराज कारण मिलने पर भी उसके प्रकाश में कमी रहने की इच्छा नहीं करते ।।७४।।

क्षेपक श्लोक—(दशवैकालिक ग्र'थे)

पाचीणं पच्छिम वावि; मुदीचि दाहिणं तहा । अधो दहदि उड्ढं, च दिसासु विदिसा सुय ।।१।।

अर्थ—यही बात दशवैकालिक ग्रंथमें लिखी है यह अग्नि–पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, दिशा, विदिशा में सब जीवों को जला देती है ।।१।।

क्षेपक गाथा नं० २

एसो जीवोत्ति अक्खादा, हव्ववाहो ण संसओ । तमुज्जीवपदा वड्ढं, मणसावि ण पच्छए ।।२।।

अर्थ—अतएव अपने मन से अग्नि के प्रकाश की कभी इच्छा नहीं करनी चाहिये ।।२।।

ये तेजस्कायिकाजीवायेऽत्र तेजोंऽगमाश्रिताः । तेजः कायं समारंभाद्; मुंक्षु तेषां विहिंसिनम् ।।

अर्थ—इसलिये अग्नि का समारंभ करने से तेजस्कायिक जीवों की तथा तेजस्काय के आश्रित रहने वाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है ।।७५।।

तस्मात्तेजः समारंभास्त्रियोगैर्द्विविधः क्वचित् । निर्ग्रंथ संयतानां च, यावज्जीवं हि नोचितः ।।

अर्थ—इसलिये निर्ग्रंथ मुनियों को अपने पर्यंत मन, वचन, काय से दोनों प्रकारकी अग्निका समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ।।७६।।

एतान् यो मन्यते नैवाप्तान्, तेजोऽगं च देहिनः । मिथ्यादृष्टिः स विज्ञेयो, लिंगस्थोप्यतिपापभाक् ।।

अर्थ—जो मुनि तेजस्काय में प्राप्त हुए जीवों को नहीं मानता वह मुनि होकर भी अत्यंत पापी मिथ्यादृष्टि है ।।७७।।

ज्ञात्वेत्यग्नि समारम्भोऽनंतजीवक्षयंकरः । मनोंगवचनैर्जातु, न कार्यः प्रेक्षणादिभिः ।।७८।।

अर्थ—इसलिये अग्निके समारंभको, अनंत जीवोंके नाश करनेवाला समझकर देखने आदि कार्योंके लिये भी मन-वचन-कायसे उसका समारंभ नहीं करना चाहिये ।७८।

(वायुकायिक जीवों का रक्षा)

उत्किल्युम्द्रमगुंजादि, वातकायिक जन्मिनां। वधोत्पत्तिकरं वातं, कुर्याज्जातु न संयतः ।।७९।।

अर्थ—मुनियों को अनेक प्रकार की वायु में रहने वाले वायुकायिक जीवोंका घात करनेवाली वायु कभी उत्पन्न नहीं करनी चाहिये ।।७९।।

कारयेन्न च वस्त्रेण, व्यजनेन करेण वा। वस्त्रकोणेन पत्रेण, सति दाहे परेण वा ।।८०।।

अर्थ—मुनियों को अधिक दाह होनेपर भी, वस्त्रसे, पंखेसे, हाथसे, वस्त्र के कोने से, या पत्ते से, दूसरे के द्वारा भी कभी वायु उत्पन्न नहीं कराना चाहिये ।।८०।।

ये वातकायिका जीवा, वातकायं च ये श्रिताः। वातकायसमारंभात्, हिंसा तेषां न चान्यथा ।।

अर्थ—वायु का प्रारम्भ करने से वायुकायिक जीवों की या वायुकाय के आश्रित रहने वाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।।८१।।

तस्माद्वातसमारंभो, द्विधा योगत्रयैरपि। जिनमार्गानुलग्नानां, यावज्जीवं न युज्यते ।।८२।।

अर्थ—इसलिये जिनमार्ग में लगे हुए मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन, वचन, कायसे दोनों प्रकार की वायुका समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ।।८२।।

न श्रद्दधाति योऽत्रामून्, जीवान् वातांगम भिश्रितान्। संसारसागरेमग्नो, द्रव्यलिंगी स केवलम् ।।

अर्थ—जो मुनि इन वातकाय के आश्रित रहनेवाले जीवों का श्रद्धान नहीं करता है वह संसार सागर में डूबता है; उसे केवल द्रव्यलिंगी ही समझना चाहिये। ।।८३।।

मत्वेति स्वशरीरादौ, वातः कार्यो न जातु चित्। वातांगिवध कृद्दक्षै मुंखाद्यै रुष्णपीडितैः ।।

अर्थ—यही समझकर चतुर मुनियों को उष्णता से पीड़ित होनेपर भी वातकायिक जीवों को नाश करने वाली वायु अपने मुख आदि से भी कभी उत्पन्न नहीं करनी चाहिये ।।८४।।

हरितांकुर बीजानां, पत्रपुष्पादि कांगिनाम्। वनस्पतिशरीराणां, मुनिर्जातु करोति न ।।८५।।
कारयेन्न त्रिशुध्यात्न, छेदनं भेदनं क्वचित्। प्रपीडनं वधं बाधां, स्पर्शनं च विराधनाम् ।।८६।।

अर्थ—मुनिराज मन-वचन-काय की शुद्धता धारण करने के कारण हरित

अंकुर, बीज, पत्र, पुष्प आदि के आश्रित रहने वाले वनस्पति कायिक जीवोंका छेदन, भेदन, पीडन, वध, बाधा, स्पर्श और विराधना आदि न तो स्वयं करते हैं और न दूसरों से कराते हैं ।।८५-८६।।

सेवालं पुष्पिकादीनां, मनंतकायदेहिनाम् । विधेया जातु हिंसा न, गमनागमनादिभिः ।।८७।।

अर्थ—मुनियोंको गमन, आगमन आदिके करने में सेवाल (काई) और पुष्पिका (फूलन अथवा बरसात में होनेवाला एक छोटा पौधा जिसके ऊपर सफेद फूलसा रहता है) आदि में रहनेवाले अनंतकाय जीवोंकी हिंसा भी कभी नहीं करनी चाहिये ।।८७।।

ये वनस्पति कायाः ये, वनस्पत्यंगमाश्रिताः । वनस्पतिसमारंभाद्वधस्तेषां हि देहिनाम् ।।८८।।

अर्थ—वनस्पति का समारंभ करने से, वनस्पति कायिक जीव और वनस्पति कायके आश्रित रहनेवाले जीवों की हिंसा अवश्य होती है ।।८८।।

तस्मात्तेषां समारंभो द्विधा योगत्रिकैः क्वचित् । मरणांतं न योग्योर्हन्मुद्रा स्वीकृतयोगिनाम् ।।

अर्थ—इसलिये अर्हंमुद्रा वा जिनलिंग को स्वीकार करने वाले मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन वचन कायसे उन दोनों प्रकारकी वनस्पति का समारंभ नहीं करना चाहिए ।।८९।।

न रोचतेऽत्रयो ह्येतान्, जीवान् वनस्पति गतान् । जिनधर्मबहिर्भूतो, मिथ्यादृष्टिः स पापधीः ।।

अर्थ—जो मुनि वनस्पति में प्राप्त हुए इन जीवों को नहीं मानता उसे जिन धर्म से बाहर मिथ्यादृष्टि और पापी समझना चाहिये ।।९०।।

विज्ञायेति न कर्त्तव्या, वनस्पति विराधना । हस्तपादादिभिर्जातु, ह्यनन्तं सत्त्वनाशदा ।।९१।।

अर्थ—यही समझकर अपने हाथ, पैर आदि के द्वारा अनंत जीवों का नाश करनेवाली वनस्पति की विराधना कभी नहीं करनी चाहिये ।।९१।।

त्रस जीवों की विराधना का निषेध—

द्वित्रितूर्येन्द्रियाणां च, पंचाक्षाणां त्रसात्मनाम् । बाधानैव विधातव्या, मुनिभिर्यत्नतत्परैः ।।

अर्थ—प्रयत्न करने में तत्पर रहने वाले मुनियों को दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेन्द्रिय त्रस जीवों की बाधा कभी नहीं करनी चाहिये ।।९२।।

गमने चासने स्थाने, रात्रौ वा दृष्टिगोचरे । सर्वथा च दया कार्या, मृदु पिच्छिकयेक्षणात् ।।९३।।

अर्थ—मुनियों को चलने में बैठने में शय्यासन करने में रात्रि वा दिन में कोमल पीछी से वा देखकर जीवों पर सर्वथा दया करनी चाहिये ॥९३॥

त्रस कायाश्च ये जीवा त्रसकायं हि ये श्रिताः। त्रसकायसमारंभा त्तेषां बाधा वधोऽथवा ॥९४॥

अर्थ—त्रस कायिक जीवोंका समारंभ करने से (त्रस जीव विशिष्ट वस्तुओं को काम में लाने से) त्रस जीवों की और त्रस जीवोंके आश्रित रहने वाले जीवों की बाधा अथवा उनका वध अवश्य होता है ॥९४॥

तस्मात् त्रससमारंभो, द्विधा योगैः कृतादिभिः। योग्यो न मृत्युपर्यंत, जिनवेषधृतात्मनाम् ॥९५॥

अर्थ—इसलिये जिनलिंग धारण करनेवाले मुनियों को अपने जीवन पर्यंत मन-वचन-काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे दोनों प्रकारके त्रस जीवों का समारंभ कभी नहीं करना चाहिये ॥९५॥

न मन्यतेंगिनोऽत्रैतान्, यस्त्रसत्वगतान् बहून्। लिंगस्थोऽपि स पापात्मा, भ्रमेद घोरां भवांटवीम् ॥

अर्थ—जो मुनि त्रस पर्याय को प्राप्त हुए अनेक प्रकार के जीवों को नहीं मानता है; वह पापी, जिन लिंग धारण करता हुआ भी संसाररूपी घोर वनमें परिभ्रमण करता है ॥९६॥

विचिंत्येति प्रयत्नेन, दयात्रसांगिनां सदा। अनुष्ठेया न बाधा, चात्राप्रमत्तैस्तपोधनैः ॥९७॥

अर्थ—इसप्रकार प्रमाद का त्याग करनेवाले मुनियों को प्रयत्न पूर्वक त्रस जीवों की दया पालना चाहिये तथा उनकी बाधा कभी नहीं करना चाहिये ॥९७॥

त्रिशुद्धयेत्यनिशं योऽत्र, रक्षां कुर्यात्षडंगिनाम्। अप्रमत्तो भवेत्, तस्याद्य संम्पूर्णमहाव्रतम् ॥

अर्थ—यही समझकर जो मुनि अप्रमत्त होकर तथा मन, वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक छहों प्रकार के जीवों की रक्षाके लिये पूर्ण प्रयत्न करता है उसके पहला अहिंसा महाव्रत पलता है ॥९८॥

महाव्रती की शोभा—

सर्वजीवकृपाक्रांत, मना योऽखिल देहिनाम्। यत्नाचारी सुरक्षायै, महाव्रती स नापरः ॥९९॥

अर्थ—जो मुनि अपने मनमें समस्त जीवों की दया धारण कर, समस्त जीवों की रक्षाके लिये पूर्ण प्रयत्न करता है; उसे ही महाव्रती समझना चाहिये; उसके

सिवाय, अन्य कोई महाव्रती नहीं हो सकता ॥९९॥

यतो जीवे मृते वा न, कर्मबंधः पदे पदे। अयत्नचारिणां नूनं, व्रतभंगोऽशुभा गतिः ॥१००॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो मुनि यत्नाचारका पालन नहीं करता उससे जीव मरे या न मरे; फिर भी उसके क्षण क्षणमें कर्मों का बंध होता ही है। इसके सिवाय, उनके व्रतों का भंग होता है और उससे अशुभ गति की प्राप्ति होती है ॥१००॥

क्वचिन्मृतेप्यहो जीवोयत्नाचारिमुनीशिताम्। न बंध कर्मणां किंतु, शुद्धिः स्याद्योगशुद्धितः ॥

अर्थ—जो मुनि, अपनी प्रवृत्ति यत्नाचार पूर्वक करते हैं उनसे यदि कोई जीव मर भी जाय; तो भी उनके कर्मोंका बंध नहीं होता तथा उनके मन-वचन-काय की शुद्धि होने से उनके आत्माकी शुद्धि और बढ़ जाती है ॥१०१॥

तस्माद् व्रतार्थिनो दक्षा, यत्नं कुर्वन्तु सर्वथा। सर्वजीव दयासिद्धयै, त्रिशुध्या सद्व्रताय च ॥

अर्थ—इसलिये अपने व्रतों की रक्षा की इच्छा करने वाले चतुर मुनियोंको मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक अपने श्रेष्ठ व्रतोंकी रक्षाके लिये और समस्त जीवोंकी दया पालन करने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ॥१०२॥

अहिंसा का गौरव

अहिंसा जननी प्रोक्ता, सर्वेषां च व्रतात्मनाम्। दृग्ज्ञानवृत्तरत्नानां, खनी विश्व हितंकरा ।१०३।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस अहिंसा को समस्त व्रतों की माता बतलाई है और समस्त रत्नत्रयकी खान बतलाई है तथा समस्त जीवों का हित करने वाली बतलाई है ॥१०३॥

सूत्राधारेण तिष्ठंति, दाम हारादयो यथा। कृपाधारेण सर्वे च योगिनां सद्गुणास्तथा ॥१०४॥

अर्थ—जिसप्रकार सूतकी गांठसे बनने वाले हार सूत के ही आधार से ठहर सकते हैं उसी प्रकार मुनियों के समस्त सद्गुण जीवोंकी कृपा के आधार से ही ठहरते हैं ॥१०४॥

शेषव्रतसमित्यादीन्, ब्रुवन्ति श्री जिनाधिपाः। आद्यव्रतविशुध्यर्थं, केवलं च तपः क्रिया ॥१०५॥

अर्थ—इस अहिंसा महाव्रत के अतिरिक्त जितने भी व्रत, समिति और तपश्चरण आदि हैं वे सब केवल एक इसी अहिंसा महाव्रतकी विशुद्धिके लिये ही भगवान्

जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं ।।१०५।।

विना तेन व्रतेनास्मात्, सर्वाशेषव्रतव्रजम् । व्यर्थं स्याच्च तपो घोरं, यतीनांतुष खंडनम् ।।१०६।।

अर्थ—इस अहिंसा महाव्रत के बिना, बाकी के जितने व्रतों का समुदाय है अथवा जितना भी मुनियों का घोर तपश्चरण है वह सब व्यर्थ है; भूसीको कूटने के समान असार है ।।१०६।।

दयापूर्वमनुष्ठानं, तपो योगादिभिः कृतम् । भवेन्मोक्षतरोर्बीजं, सतां विश्वर्धिकारणम् ।।१०७।।

अर्थ—यदि तपश्चरण, योग आदि के द्वारा किया हुआ अनुष्ठान, दया पूर्वक किया जाता है तो वह सज्जनों को मोक्षरूपी वृक्षका बीज माना जाता है तथा समस्त ऋद्धियों का कारण बन जाता हैं ।।१०७।।

कृत्स्नसत्त्वकृपाक्रांतं, यस्यासीन्मानसं शुभं । सिद्धं समीहितं तस्य, संवरो निर्जरा शिवम् ।।

अर्थ—जिस मुनि का शुभ हृदय समस्त जीवों की कृपासे भरा हुआ है उसके संवर, निर्जरा और मोक्ष आदि समस्त इष्ट पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं ।।१०८।।

क्रियते स्वगृहत्यागो, दीक्षा च गृह्यते बुधैः । केवलं करुणासिध्यै, तां विना तौ निरर्थकौ ।।

अर्थ—बुद्धिमान् लोग जो अपने घरका त्याग करते हैं और दीक्षा ग्रहण करते हैं वह केवल दया की सिद्धि के लिये ही करते हैं; यदि दया नहीं है तो घरका त्याग और दीक्षा दोनों ही व्यर्थ हैं ।।१०९।।

विज्ञायेति विधायोच्चैः, सर्वं जीव कदम्बकम् । समानं स्वात्मनश्चित्ते, रक्षणीयं प्रयत्नतः ।।

अर्थ—यही समझकर तथा समस्त जीवों के समूह को अपने हृदय में, अपनी आत्मा के समान मानकर, बड़े प्रयत्न के साथ अच्छी तरह उनकी रक्षा करनी चाहिये ।।११०।।

गमनागमनोत्सर्गे, प्रावृट्कालेंगि संकुले । अहोरात्रे यतीन्द्रैश्चादान निक्षेपणादिना ।।१११।।
ये यत्नचारिणोऽत्रा हो पालयंति व्रतोत्तमम् । तेषां सर्वं व्रतान्येव, यांति सम्पूर्णतां लघु ।।११२।।

अर्थ—वर्षाकाल में बहुतसे जीवों का समुदाय उत्पन्न हो जाता है; इसीलिये मुनिराज उन दिनों में गमन, आगमन का त्याग कर देते हैं । उन दिनोंमें जो मुनिराज रात दिन के किसी पदार्थ के ग्रहण करने या रखने आदि के द्वारा, यत्नाचार पूर्वक

इस अहिंसा महाव्रत रूपी उत्तम वृतको पालन करते हैं; उनके अन्य समस्त वृत बहुत ही शीघ्र पूर्ण हो जाते हैं ।।१११-११२।।

यदि कश्चिदहो दत्ते, मृत्यर्थं कस्यचिन्महीम् । सर्वां रत्नादिपूर्णां स, तथापीच्छति नो मृतिम् ।।
अतो विश्वांगिनां लोकेऽभयदानात्परं न च । विद्यते परमं दानं, वृथा दानं दयां विना ।।११४।।

अर्थ—यदि किसीसे यह कहा जाय कि हम तुझे समस्त रत्नोंसे परिपूर्ण इस समस्त पृथ्वीको देते हैं; इसके बदले तू मर जा, परन्तु इतनें पर भी कोई मरने की इच्छा नहीं करता, इसलिये कहना चाहिये कि इस संसार में समस्त जीवोंको अभयदान से बढ़कर और कोई दान नहीं है । यह अभयदान सबसे उत्कृष्ट दान है । दयाके विना, अन्य दान सब व्यर्थ है ।।११३-११४।।

हिंसैव पंच पापानां, परं पापं निगद्यते । विश्वदुःखाकरी भूता, श्वभ्रद्वारि प्रतोलिका ।।११५।।

अर्थ—पांचों पापोंमें यह हिंसा ही सबसे बड़ा पाप कहा जाता है । यह हिंसा समस्त दुःखोंकी खान है और नरक के द्वार की गली है ।।११५।।

ये केचिदद्दुः सहा रोगाः, सर्वदुःखविधायिनः । तेऽखिला निर्दयानां च, जायंतेऽत्राधयोऽशुभात् ।।

अर्थ—इस संसार में समस्त दुःखों को देने वाले जितने भी कठिन रोग हैं वे सब निर्दयी जीवोंके ही होते हैं तथा इसी निर्दयता के पाप से मानसिक व्याधियां भी होती हैं ।।११६।।

दुर्गति जींवघातेन, सद्‌गति जींव रक्षणात् । देहिनां च विदित्वेति, यदिष्टं तत्त्वमाचरः ।।११७।।

अर्थ—इस संसार में जीवों को जीवों का घात करने से दुर्गति प्राप्त होती है तथा जीवों की रक्षा करने से उत्तम गति प्राप्त होती है । यंही समझकर हे जीव, जो तुझे अच्छा लगे सो कर ।।११७।।

अहिंसा महाव्रत की ५ भावना—

एषणा समिति श्चित्तगुप्तीर्या समिती परे । तथैवादाननिक्षेपणा, ख्यासमिति सत्तमा ।।११८।।
दृशालोकितपानादि, भोजनं पंचभावनाः । इत्यार्या भावयन्त्वाद्य, व्रतस्थैर्यार्थमन्वहम् ।।११९।।

अर्थ—(१) एषणासमिति (२) मनोगुप्ति (३) ईर्यासमिति (४) आदाननिक्षेपणसमिति (५) आलोकित पान भोजन । ये पांच इस अहिंसाव्रत की भावना हैं ।।११८।। इस अहिंसा महाव्रत को स्थिर रखने के लिये मुनियों को प्रतिदिन इन भावनाओं का चिंतवन करना चाहिये ।।११९।।

भावितं भावनाभिश्च, प्रथमं सारं महाव्रतं । प्रारोहति परां कोटिं, शुद्धि मुक्तिकरं सताम् ।।

अर्थ—सज्जनोंको मोक्ष प्रदान करनेवाली और सारभूत यह अहिंसा महाव्रत इन भावनाओं के चिंतवन करने से सर्वोत्तम शुद्धता को प्राप्त होता है ।।१२०।।

अहिंसा व्रतकी सार्थकता उपसंहार रूप में—

असमगुण निधानं, स्वर्गमोक्षैकहेतुम् । व्रतसकलसुमूलं, तीर्थनाथैर्निषेव्यम् ।
अभयकरमपापं, सर्वयत्नेन दक्षाः, भजत शिवसुखाप्त्यै, ह्यादिमं सद्व्रतं भो ।।१२१।।

अर्थ—यह अहिंसा महाव्रत, सर्वोत्तम गुणों का निधान है; स्वर्ग मोक्ष का कारण है, समस्त व्रतों का मूल है, भगवान् तीर्थंकर परमदेव के द्वारा भी सेवन करने योग्य है तथा समस्त जीवों को अभय देनेवाला है और पापों से सर्वथा रहित है। इसलिये हे चतुर पुरुषों ! मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये, सब तरह के प्रयत्न कर इस महाव्रत का पालन करो ।।१२१।।

द्वितीय सत्य महाव्रत का वर्णन—

तथ्यं हितं मितं सारं, जिनसूत्रानुगं शुभम् । निष्पापं करुणाक्रांतं, ब्रूयते यन्मुनीश्वरैः ।।१२२।।
धर्मज्ञानोपदेशाय, रागद्वेषादिदूरगम् । वचनं श्री जिनैः प्रोक्तं, तद्द्वितीयं महाव्रतम् ।।१२३।।

अर्थ—मुनिराज जो धर्म और ज्ञानके उपदेश के लिये रागद्वेष रहित, यथार्थ हित करने वाले परिमित सारभूत, जिन शास्त्रों के अनुसार शुभ, पाप रहित, और करुणा से भरे हुए जो वचन कहते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव दूसरा सत्य महाव्रत कहते हैं ।।१२२-१२३।।

वचः सत्यमसत्यं चो, भयं ह्यनुभयं परम् । चतुर्धेति गणाधीशै, रुक्तं वचन मंजसा ।।१२४।।

अर्थ—भगवान् गणधर देवों ने वचन के चार भेद बतलाये हैं—(१) सत्यवचन (२) असत्यवचन (३) उभयवचन और (४) अनुभयवचन ।।१२४।।

असत्योभयनामात्र, द्विधा वाक्यं शुभातिगम् । सर्वपापकरं त्याज्यं, दूरतो व्रतकांक्षिभिः ।।१२५।।

अर्थ—इनमें से (१) असत्य और (२) उभय दोनों प्रकार के वचन अशुभ हैं और समस्त पापों के करने वाले हैं इसलिये व्रत धारण करने की इच्छा करनेवालों को इन दोनों को दूर से ही त्याग देना चाहिये ।।१२५।।

सत्यानुभयसद्वाणी, जगच्छर्मविधायिनी । निष्पापा धर्मदा वाच्या, सारा धर्माय योगिभिः ।।

अर्थ—सत्य और अनुभय वचन संसार का कल्याण करनेवाले हैं; पापरहित हैं, धर्मकी वृद्धि करनेवाले हैं; कहने योग्य हैं और सारभूत हैं इसलिये मुनियों को ये ही दो प्रकार के वचन कहने चाहिये ।।१२६।।

प्रियं हितं वचः किंचित्परं किंचिद्धिताप्रियं । अप्रियाहितमेवान्यच्चतुर्धेति वचो नृणाम् ।।१२७।।

अर्थ—कोई वचन प्रिय होकर भी हित करने वाले होते हैं; कोई हित करनेवाले होकर भी अप्रिय होते हैं तथा कोई प्रिय भी नहीं होते और हित करनेवाले भी नहीं होते, इन तीनों के अतिरिक्त जो वचन हैं वे सब चौथे भेद में शामिल हैं। ।।१२७।।

अप्रियाहितमेवैकं, स्वान्ययोः पापदुःखदम् । यत्नेन परिहर्त्तव्यं, संयतैधर्मसिद्धये ।।१२८।।

अर्थ—इनमें से अप्रिय और अहित करने वाले वचन अपने और दूसरे दोनों को दुःख देने वाले तथा पाप उत्पन्न करने वाले हैं इसलिये मुनियों को धर्मकी सिद्धिके लिये ऐसे वचन बोलने का प्रयत्न पूर्वक त्याग कर देना चाहिये ।।१२८।।

क्वचिद् धर्मवशाद् ग्राह्यं, हिताप्रियं महात्मभिः । वचनं धर्मसिध्यर्थं, विपाके केवलं हितम् ।।

अर्थ—महात्मा लोग कभी-२ धर्म के निमित्तसे होने वाले हितकारी किन्तु अप्रिय वचनों को धर्मकी सिद्धि करने वाले और ग्रहण करने योग्य समझते हैं क्योंकि ऐसे वचनों का अंतिम फल आत्मा का हित ही होता है ।।१२९।।

हितं प्रियं च वक्तव्यं, वचः सर्वार्थसिद्धये । प्रस्पष्टं निर्मलं दक्षै धर्मोपदेशनाय च ।।१३०।।

अर्थ—चतुर पुरुषों को समस्त पदार्थों की सिद्धि के लिये और धर्म का उपदेश देनेके लिये निर्मल और स्पष्ट ऐसे हितकारी प्रिय वचन ही कहने चाहिये ।।१३०।।

चौरस्य चौर एवायं, ह्यंधस्यांधोत्र पापिनः । पापी षंडस्य षंडो, रंडाया रंडेति दुर्वचः ।।१३१।।

अर्थ—चोर को चोर कहना, अंधे को अंधा कहना, पापी को पापी कहना, नपुंसक को नपुंसक कहना और रांड को रांड कहना, 'दुर्वचन' कहलाते हैं ।।१३१।।

सत्यं चापि न वक्तव्यं, परं क्रोधादिकारणम् । निष्ठुरं कटुकं निंद्यं, वचः पीडाकरं नृणाम् ।।

अर्थ—यद्यपि ये वचन सत्य हैं; तथापि दूसरों को क्रोध उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिये ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिये; इनके अतिरिक्त कठोर, कड़ुवे, निंदनीय और मनुष्योंको दुःख उत्पन्न करनेवाले वचन भी कभी नहीं कहने चाहिये ।।१३२।।

वचसा येन जायेत, बाधा पीडा च देहिनाम् । तत्सत्यमपि लोकेऽस्मिन् न सत्यं गदितं बुधैः ।।

अर्थ—जिन वचनों से जीवों को पीडा या बाधा पहुंचती हो, ऐसे वचन यद्यपि सत्य हों तथापि बुद्धिमान लोग इस संसार में ऐसे वचनों को 'सत्य' कभी नहीं कहते ।।१३३।।

असत्यमपि सत्यं स्यात्, परार्थेन शुभप्रदम् । जीवरक्षा हिताद्यर्थं, वचो ब्रूतं क्वचिद् बुधैः ।।

अर्थ—बुद्धिमान् मनुष्यों को जीवोंकी रक्षा और किसी आत्माका हित करने के लिये कभी कभी 'असत्य वचन' भी कहने पड़ते हैं; परन्तु ऐसे असत्य वचन दूसरे का कल्याण करने के कारण सत्य और शुभप्रद या कल्याण करने वाले ही माने जाते हैं ।।१३४।।

येन संतप्यते लोकः, क्रोधलोभादयोऽखिलाः । वधबंधान्यपीडाद्याः, स्मरादीन्द्रिय विद्विषः ।।
जायन्ते चोत्कटाः पुंसां, जातु वाच्यं न तद्वचः । रागद्वेषमदोन्मादैः, प्राणनाशेऽपि संयतैः ।।

अर्थ—जिन वचनों से लोगों को संताप हो; क्रोध, लोभादि विकार उत्पन्न हो; वध, बंध या दूसरों को पीड़ा हो; काम आदि इंद्रियों के विकार उत्पन्न हो; तीव्रता बढ़ जाय ऐसे राग, द्वेष, मद और उन्माद से उत्पन्न होने वाले वचन कभी नहीं कहने चाहिये । मुनियों को अपने प्राण नष्ट होने पर भी ऐसे वचन कभी नहीं कहने चाहिये ।।१३५-१३६।।

स्थिरं जायेत वैराग्यं, वर्द्धन्ते सद्गुणाः सताम् । विलीयन्ते च रागाद्याः, साम्यन्त्यत्र स्मरादयः ।।
दुर्ध्यानानि च येनाशु, शुभो भावोऽस्ति धीधनैः । वक्तव्यं तद्वचो मिष्टं, धर्मतत्त्वादिदर्शकम् ।।

अर्थ—जिन वचनों से वैराग्य की स्थिरता हो; सज्जनों के गुण वृद्धि को प्राप्त होते रहें; राग, द्वेष नष्ट हो जाय, कामादिक विकार तथा आर्त्त, रौद्र, ध्यान नष्ट हो जाय तथा जिन वचनों से शुभ भाव प्रगट हो जाय, जो वचन मिष्ट हों और धर्म या तत्त्वों का उपदेश देने वाले हों; ऐसे ही वचन, बुद्धिमानों को बोलने चाहिये ।।१३७-१३८।।

उक्तेनान्येनमेऽन्येषां, शुभं किंवाऽशुभं भवेत् । यशोऽथवाऽअयशः स्वास्थ्यं, श्रेयोश्रेयोथ संप्रति ।।
पूर्वं चित्ते विचार्यंति, पश्चाद्वदंतु योगिन. । शश्वद्धर्मोपदेशाय, स्वांग मानिदितं वचः ।।१४०।।

अर्थ—मुनियों को बोलने के पहले यह विचार कर लेना चाहिये कि इन वचनोंके कहने से मेरा या दूसरे का शुभ होगा या अशुभ होगा, यश होगा या अपयश

होगा, तथा कल्याण होगा या अकल्याण होगा; यह सब विचार कर, मुनियों को बोलना चाहिये तथा निरन्तर धर्मोपदेश देनेके लिये अपने आगम के अनुसार, अनिंदित वचन ही कहने चाहिए ।।१३९-१४०।।

नो चेन्मौनं प्रकुर्वन्तु सारं, सर्वार्थसिद्धिदम् । धर्मशुक्ला गमात्मज्ञाः, सर्वदोषापहं परं ।।१४१।।

अर्थ—यदि ऐसे वचन (आगमानुकूल वचन) कहने का समय न हो तो धर्मध्यान शुक्लध्यान और आगम को जानने वाले मुनियों को समस्त दोषों को दूर करने वाला समस्त पदार्थों की सिद्धि करने वाला सर्वोत्कृष्ट और सारभूत मौन धारण लेना चाहिये ।।१४१।।

सत्येन वचसा कीर्तिः परमा शशिनिर्मला । भ्रमे ल्लोकत्रये सर्वे वर्द्धते सद्‌गुणाः सताम् ।।१४२।।

अर्थ—सत्य वचन कहने से सर्वोत्कृष्ट और चंद्रमा के समान निर्मल कीर्त्ति, तीनों लोकों में भर जाती है तथा सज्जनों के समस्त श्रेष्ठ गुण वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं ।।१४२।।

सत्य मंत्रेण योग्यं वा, भारती विश्वदीपिका । सद्‌बुद्ध्यावतरत्येवामा, मुखे सत्यवादिनां ।।

अर्थ—इस सत्यरूपी मंत्रके प्रभाव से संसार के समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली सरस्वती श्रेष्ठ बुद्धि के साथ साथ सत्यवादियों के मुख में ही आकर अवतार लेती है सो योग्य ही है ।।१४३।।

सम्पद्यते परा बुद्धि निकषग्राव सन्निभा । विश्वतत्त्वपरीक्षायां, सुधियां सत्यवाक्यतः ।।१४४।।

अर्थ—इस सत्यवचन के प्रभाव से बुद्धिमान् पुरुषों की श्रेष्ठ बुद्धि, समस्त तत्त्वों की परीक्षा करने के लिए कसौटी के समान हो जाती है ।।१४४।।

वाक्येन मधुरेणात्र, तुष्यंति प्राणिनो यथा । न तथा वस्तुदानाद्यै र्वाक्येऽहो का दरिद्रता ।।

अर्थ—इस संसार के प्राणी, जिस प्रकार मधुर वचनों से संतुष्ट होते हैं; उसप्रकार अन्य पदार्थों के देने से सन्तुष्ट नहीं होते; इसलिये वचनों से कभी दरिद्रता नहीं रखनी चाहिए ।।१४५।।

मत्वेति मधुरं वाक्यं, हितं कर्णसुखावहम् । कटुकं निष्ठुरं त्यक्त्वा, वक्तव्यं धर्मसिद्धये ।।१४६।।

अर्थ—यही समझकर, धर्मकी सिद्धि के लिये, कठोर और कड़वे वचनों का

त्याग कर, मधुर एवं हित करने वाले और कानों को सुख देने वाले वचन कहने चाहिये ।।१४६।।

सत्ये च मधुरे वाक्ये, जगत्पूज्ये शुभाकरे । सत्यसत्यं जगन्निंद्यं, वदेत्कः कटुकं सुधीः ।।१४७।।

अर्थ—सत्य और मधुर वचन जगत्पूज्य हैं और शुभकी खान हैं; फिर भला ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो ऐसे वचनों को छोड़कर असत्य, जगत् में निंद्य और कड़वे वचनों को कहेगा अर्थात् कोई नहीं ।।१४७।।

इन्द्रादयो न प्रत्यूहं, कर्त्तुं शक्ताश्च धीमताम् । खादितुं क्रूरसर्पाद्याः, सत्यसीमावलं बिनाम् ।।

अर्थ—सत्य वचन कहने वाले, बुद्धिमानों के कार्यों में, इन्द्र भी कोई विघ्न नहीं कर सकता; तथा क्रूर सर्पादिक भी उसे नहीं काट सकते ।।१४८।।

अग्नयो न दहन्त्यत्र, नागा खादंति जातु न । सुसत्यवादिनो लोके, प्रत्यक्षेति दृश्यते ।।१४९।।

अर्थ—इस संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि सत्यवादी लोगों को न तो अग्नि जलाती है और न सर्प ही काटते हैं ।।१४९।।

असत्यवादिनस्तेऽपि, न सहंतेऽनलादयः । मुखरोगादयः सर्वे, जायन्तेऽनृतभाषिणाम् ।।१५०।।

अर्थ—वे अग्नि, सर्प आदि असत्यवादियों को कभी सहन नहीं कर सकते; असत्यवादियों के मुख रोग या कुष्ट आदि समस्त रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।१५०।।

मृषावादोत्थपापेन, मूर्खता जायते नृणाम् । हीयते परमा बुद्धि रकीर्त्तिः स्याज्जगत्त्रये ।।१५१।।

अर्थ—मिथ्या भाषण से उत्पन्न हुए पाप के द्वारा मनुष्यों में मूर्खता उत्पन्न होती है । श्रेष्ठ बुद्धि भी नष्ट हो जाती है और तीनों लोकों में अपकीर्त्ति फैल जाती है ।।१५१।।

गूथभक्षणमेवाहो, वरं वा विषभक्षणम् । नासत्यभाषणं धर्म, विरोधि वा शुभाकरम् ।।१५२।।

अर्थ—यह असत्य भाषण, धर्म का विरोधी है और दुर्गतियों को देने वाला है; इसलिये विष खा लेना अच्छा; अथवा विष्ठा खा लेना अच्छा; परन्तु असत्य भाषण करना अच्छा नहीं ।।१५२।।

चिरंप्रव्रजितो योगी, महाश्रुतपोऽङ्कितः । यः सोप्यत्र मृषावादात्, निंद्यः स्यादंत्यजादपि ।।

अर्थ—जो मुनि चिरकाल का दीक्षित है, महाश्रुतज्ञानी है तथा महा तपस्वी है; वह भी असत्य भाषण करने से चांडाल से भी निंद्य समझा जाता है ।।१५३।।

विज्ञायेति न वक्तव्यं, क्वचिच्च वितथं वचः । परपीडाकरं दक्षैः, सत्सुकार्यादिकोटिषु ।।१५४।।

अर्थ—यही समझकर करोड़ों श्रेष्ठ और अच्छे कार्य होने पर भी, चतुर पुरुषों को पीड़ा उत्पन्न करने वाले, असत्य वचन कभी नहीं कहने चाहिये ।।१५४।।

अनिष्टं यद्बूवेद्वाक्यं, पुरुषं कर्णदुखदम् । न वाच्यं तत्परस्यैतन्मूलं, धर्मव्रतात्मनाम् ।।१५५।।

अर्थ—जो वचन दूसरों को अनिष्ट हो; जो कठोर हो और कानों को दुःख देने वाले हों ऐसे वचन धर्मात्मा और व्रती पुरुषों को कभी नहीं कहने चाहिये ।१५५।

मौन की उपयोगिता—

मौनमेवोचितं सारं, सर्वास्रवनिरोधकम् । मुनीनां समया जाते, कार्ये धर्मनिबंधिनि ।।१५६।।
वदन्तु मुनियः सत्यं, मितं स्वल्पाक्षरं शुभम् । बह्वर्थं धर्म संसिध्यै, व्यक्तं चागमसंभवम् ।।१५७।।

अर्थ—प्रायः मुनियों को मौन धारण करना चाहिये, यह मौन ही समस्त आस्रव को रोकने वाला ह और सारभूत है । यदि किसी धर्म कार्य के लिये बोलना पड़े तो मुनियों को धर्म की सिद्धि के लिये सत्य, परिमित, शुभ, थोड़े से अक्षरों में बहुत से अर्थ को सूचित करने वाला, व्यक्त और आगम के अनुकूल बोलना चाहिये ।।१५६-१५७।।

सत्य महाव्रत की ५ भावना—

क्रोधलोभभयत्यागाः, हास्यवजनमेव च । सामस्त्येन विचार्योच्चैरागमोक्तसुभाषणम् ।।१५८।।
इमाः सद्भावनाः पंच, भावयंतु तपोधनाः । सत्यव्रतविशुध्यर्थं, प्रत्यहं व्रतकारिणीः ।।१५९।।

अर्थ—(१) क्रोध का त्याग (२) लोभका त्याग (३) भय का त्याग (४) हास्य का त्याग और (५) सब बातों का विचार कर आगम के अनुसार भाषण करना ये पांच इस सत्य महाव्रत की भावना हैं । ये भावना ही व्रतों को स्थिर रखती हैं इसलिये मुनियों को अपना सत्यव्रत विशुद्ध रखने के लिये प्रतिदिन इन भावनाओं का चिंतवन करते रहना चाहिये ।।१५८-१५९।।

सत्यव्रत की महिमा उपसंहार रूपमें—

श्रुतसकल विधातारं, महाधर्मबीजम् । शिवसुरगति हेतुं, विश्वकीर्त्यादिहानिम् ।।
दुरिततिमिरभानुं, सर्वकल्याणमूलम् । नियमपगतदोषाः सद्व्रतं पालयन्तु ।।१६०।।

अर्थ—यह सत्य महाव्रत समस्त श्रुतज्ञानको देनेवाला है, धर्म का श्रेष्ठ बीज

है, मोक्ष तथा स्वर्ग गति का कारण है; संसार भर में कीर्त्तिको फैलाने वाला है, पाप रूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्यके समान है, समस्त कल्याणों का मूल है अतएव समस्त दोषों से रहित मुनियों को इसका पालन करना चाहिये ॥१६०॥

अचौर्य महाव्रत का स्वरूप—

ग्राम खेटाटवी शैल, गृहारण्यपथादिषु । पतितं विस्मृतं नष्टं, स्थापितं वान्य वस्तु च ॥१६१॥
सूक्ष्मं स्थूलं महद्वाल्पं, गृह्यते यत्र जातुचित् । कृष्णाहिरिव विज्ञेयं, तत् तृतीयं महाव्रतम् ॥

अर्थ—किसी गांव, खेट, वन, पर्वत, घर, जंगल वा मार्ग आदि में पड़ी हुई, भूली हुई, खोई हुई या रक्खी हुई छोटी, बड़ी बहुत वा कम दूसरे की वस्तु को कभी ग्रहण नहीं करना हैं। उसे काले सर्प के समान समझकर अलग हट जाना है उसको तीसरा 'अचौर्य महाव्रत' कहते हैं ॥१६१-१६२॥

अहो ! ये मुनयो वंद्याः, निर्लोभाः स्वतनावपि । दत्तं जातु न गृह्णन्ति, श्रामण्यायोग्यमेव यत् ॥
कथं गृह्णन्ति ते निंद्यं, परं स्वं श्वभ्रकारणम् । अदत्तं स्वान्ययो र्घोर, दुःखक्लेशा शुभादिमम् ॥

अर्थ—देखो ! जो मुनि वंदनीय हैं; जो अपने शरीर में भी लोभ या ममत्व नहीं रखते; जो मुनियों के अयोग्य पदार्थों को देने पर भी ग्रहण नहीं करते, वे भला दूसरे के द्वारा बिना दिये हुए निंदनीय परधन को कैसे ग्रहण कर लेंगे; क्योंकि बिना दिया हुआ दूसरेका धन, नरक का कारण है तथा अपने और दूसरों के लिये घोर दुःख, घोर क्लेश और अनेक दुर्गतियों को देनेवाला है ॥१६३-१६४॥

अदत्तादानदोषेण, बंधवधादयो नृणाम् । लभ्यन्तेऽत्रैव चौरैश्च, परत्र नरकादयः ॥१६५॥

अर्थ—बिना दिये हुए धनको ग्रहण करने के दोष से चोरों को राजा से इसी लोकमें अनेक प्रकार के वध, बंधन आदि के दुःख प्राप्त होते हैं तथा परलोक में नरकादि दुर्गतियां प्राप्त होती हैं ॥१६५॥

क्षणमात्रं न चेहन्ते, संसर्गं तस्करस्य भो । यतयः स्वजना वात्र, वध बंधादिशंकया ॥१६६॥

अर्थ—हे मुनिराज ! देखो चोर के कुटुम्बी लोग भी वध, बंधन आदि की आशंका से क्षण भर भी चोर का संसर्ग नहीं चाहते ॥१६६॥

अदत्तादानमात्रेण, कलंकं दुस्त्यजं भुवि । जायते प्राणसन्देहः, कुलस्य दुर्धियां क्षणात् ॥१६७॥

अर्थ—बिना दिए हुए, धनको ग्रहण करने मात्र से इस संसार में कभी न

छूटने वाला कलंक लग जाता है तथा वह कलंक उन मूर्खोंके समस्त कुलमें लग जाता है और क्षण भर में ही उनके प्राणों में संदेह हो जाता है ।।१६७।।

अर्हतां याष्टधा पूजा, केनचिद्धीमता कृता । तामादत्तेऽत्रयो लुब्धो, महाचौरः स कथ्यते ।।१६८।।

अर्थ—किसी भी बुद्धिमान् के द्वारा, जो अष्टद्रव्य से भगवान् अरहंतदेवकी पूजा की जाती है; उस चढ़ी हुई पूजा द्रव्यको जो ग्रहण करता है उसे भी लोभी और महा चोर समझना चाहिये ।।१६८।।

श्री जिनेन्द्रमुखोत्पन्ने, शास्त्रेकेनापि पूजिते । तत्पूजावस्तु नादेयं, जात्वचौर्यव्रताप्तये ।।१६९।।

अर्थ—जिस किसी भी पुरुष ने भगवान् जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुई सरस्वती की पूजा की है और उसमें जो द्रव्य चढ़ाया है; वह भी अचौर्य व्रत पालन करने के लिये कभी नहीं लेना चाहिये ।।१६९।।

रत्नत्रयं समुच्चार्य, गुरुपादौ प्रपूजितौ । अर्चया सान चादेया, सद्द्रव्या जातुचिज्जनैः ।।१७०।।

अर्थ—जिस द्रव्यसे रत्नत्रय का उच्चारण करते हुए आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी की पूजा की है; वह द्रव्य भी कभी नहीं लेना चाहिये ।।१७०।।

किमिव बहुनोक्तेन, निर्माल्यं दुरिताकरम् । देवशास्त्रगुरूणां च, नादेयं धर्मकांक्षिभिः ।।१७१।।

अर्थ— बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि देव, शास्त्र, गुरुओं पर चढ़ाया हुआ निर्माल्य द्रव्य धर्मात्मा पुरुषों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि उसको ग्रहण करनेसे अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न होते हैं ।१७१।

यदि स्वर्गं व्रजेत्, पूजा कर्त्तार्हंद्ज्ञान योगिनाम् । तन्निर्माल्यात्त चित्तानां, श्वभ्रं केन निवार्यते ।।

यदि देव शास्त्र गुरु की पूजा करनेवाला स्वर्ग को जाता है तो उस निर्माल्य द्रव्यको ग्रहण करने वाले को नरक में जाने से कौन रोक सकता है अर्थात् कोई नहीं ।।१७२।।

अदत्तमथवा दत्तं, यत्संयमादि हानिकृत् । तत्सर्वथा न च ग्राह्यं, प्राणैः कंठगतैरपि ।।१७३।।

अर्थ—जो द्रव्य दिया हो या न दिया हो; यदि वह संयम की हानि करने वाला है तो कंठगत प्राण होने पर भी मुनियों को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये । ।।१७३।।

इति मत्वा न चादेयं, संयतै र्दन्तशुद्धये । अदत्तं तृणमात्रं भो, का कथा पर वस्तुषु ।।१७४।।

अर्थ—यही समझकर मुनियों को अपने दांत, शुद्ध करने के लिये बिना दिया हुआ तृण भी ग्रहण नहीं करना चाहिये; फिर भला पर पदार्थों की तो बात ही क्या है ॥१७४॥

अचौर्य व्रतकी सफलता—

परस्वं येन गृह्णंति, ग्राहयंति न जातुचित् । गृह्णन्तं नानुमन्यन्ते, ऽत्राणुमात्रेतर बुधाः ॥१७५॥
कालाहिमिव कायेन, वचसा मनसा भुवि । संपूर्णं जायते तेषां, ज्ञानिनां तन्महाव्रतम् ॥१७६॥

अर्थ—जो बुद्धिमान् पुरुष अणुमात्र या बहुत सी पर वस्तु को काले सर्पके समान समझकर, मन-वचन-काय से न तो स्वयं ग्रहण करते हैं; न कभी दूसरों से ग्रहण कराते हैं और न कभी ग्रहण करने वाले की अनुमोदना ही करते हैं; उन ज्ञानी पुरुषों के इस संसार में तीसरा अचौर्य महाव्रत पूर्ण प्रकट होता है ॥१७५-१७६॥

अचौर्यव्रतकी ५ भावना—

याचाख्या समनुज्ञापना, नात्मभाव एव हि । तथैव निरवद्यं, प्रति सेवनं सुभावना: ॥१७७॥
सधर्म्युपकरस्यानु वीची सेवनं त्विमाः । अस्तेयव्रत शुद्धयर्थं, भावनीयाः सुभावनाः ॥१७८॥

अर्थ—(१) कभी किसी से याचना नहीं करना (२) किसीको कुछ आज्ञा न देना (३) किसी भी पदार्थ से ममत्व नहीं रखना (४) सदा निर्दोष पदार्थ का सेवन करना (५) और साधर्मी पुरुषों के साथ शास्त्रानुकूल बर्त्ताव करना ये पांच अचौर्य महाव्रत को शुद्ध रखनेवाली श्रेष्ठ भावनायें हैं ॥१७७-१७८॥

अखिलविभवहेतुं, लोभमातंगसिंहम् । शिवशुभगतिमार्गं, सारमस्तेयसंगम् ॥
व्रतवरमपदोषं, मुक्तिकामा शिवाप्त्यै, भजत परमयत्ना, लोभशत्रुं निहत्य ॥१७९॥

अर्थ—यह अचौर्य महाव्रत, समस्त विभूतियों का कारण है, लोभ रूपी हाथी को मारने के लिये सिंह के समान है, मोक्ष और शुभगति का मार्ग है, समस्त वृतों में सार है, सब वृतों में उत्तम है और समस्त दोषों से रहित है; इसलिये मोक्षकी इच्छा करने वाले को लोभ रूपी शत्रुको मारकर बड़े प्रयत्न से, केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये, इस महावृत का पालन करना चाहिये ॥१७९॥

ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप—

स्वात्मजेव सुकन्या, यौवनस्था भगिनीव च । वृद्धा नारी निजाम्बेव, दृश्यते या विरागिभिः ॥
सरागपरिणामादीन्, त्यक्त्वा शुभाशयैः सदा । निर्मलं तज्जिनैः प्रोक्तं, ब्रह्मचर्यं महाव्रतं ॥

अर्थ—शुद्ध हृदय को धारण करने वाले, वीतरागी पुरुष अपने राग रूप परिणामों का सर्वथा त्याग कर कन्या को अपनी पुत्री के समान, मानते हैं। यौवनवती स्त्रीको अपनी भगिनी के समान मानते हैं और वृद्धा स्त्रीको अपनी माता के समान मानते हैं; इसप्रकार जो निर्मल ब्रह्मचर्यको धारण करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव 'ब्रह्मचर्यं महाव्रत' कहते हैं ॥१८०-१८१॥

स्त्री तिरश्ची च देवीमाः, कथ्यन्ते त्रिविधा स्त्रियः। मनोवचनकायैस्ताः, प्रत्येकं गुणिता भुवि॥
नवधेति विकल्पाः स्युरब्रह्महेतवोऽखिलान्। परिहृत्य त्रिशुध्यातान् नवधा ब्रह्मरक्ष्यते ॥१८३॥

अर्थ—संसार में (१) मनुष्यनी (२) तिर्यंचनी और (३) देवी ये तीन प्रकार की स्त्रियां हैं; यदि इन तीनों को मन, वचन, काय इन तीनों से सेवन करने की इच्छा की जाय तो 'अब्रह्मचर्य' के ९ भेद हो जाते हैं; इसलिये मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक इन सबका त्याग कर नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिये ॥१८२-१८३॥

मनो वाक् काययोः, कृतकारितानुमोदनैः। प्रत्येकं गुणिता रामा, नवभेदा भवंतिवा ॥१८४॥
सर्वथा वाक् मनः कायान्, कृतादीनिरिरुध्य च। नवधा ब्रह्मचर्यं हि, पालयंतु जितेन्द्रियाः॥

अर्थ—अथवा मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना को सर्वथा रोककर, जितेन्द्रिय पुरुषों को ९ प्रकार से पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालना चाहिये क्योंकि प्रत्येक स्त्री के संबंध से ९ भेद हो सकते हैं ॥१८४-१८५॥

स्त्री श्रृंगारकथालापाः, कामोद्रेक निबंधनाः। न श्रोतव्या न कर्त्तव्या, त्रिशुध्या ब्रह्मचारिभिः॥

अर्थ— स्त्रियों के श्रृंगार की कथा कहना भी कामोद्रेकका कारण है इसलिए ब्रह्मचारियों को अपने मन वचन कायको शुद्ध रखकर स्त्रियों के श्रृंगार की कथा न कभी सुननी चाहिये और न कभी कहनी चाहिये ॥१८६॥

विलासकार श्रृंगार, गीतनृत्यकलादिकान्। योषितां नैव पश्यंति, बहून् रागकरान् बुधाः॥

अर्थ—स्त्रियों के विलास, हास, श्रृंगार, गीत, नृत्य, कला आदि सब बहुत ही राग उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये बुद्धिमान् लोग इनको कभी नहीं देखते हैं।१८७।

क्षणमात्रं न कर्त्तव्यं, संसर्गं योषितां क्वचित्। कलंककारिणं निंद्यं, ब्रह्मचर्यपरायणैः ॥१८८॥

अर्थ—स्त्रियों का संसर्ग कलंक लगाने वाला, अत्यंत निंद्य है इसलिये ब्रह्म-

चारी पुरुषों को, स्त्रियों का संसर्ग क्षणमात्र भी कभी नहीं करना चाहिये ।।१८८।।

यतः संसर्गमात्रेण, स्त्रीणां संजायते सताम् । कलंकं दुस्त्यजं लोके, प्राणसन्देह एव च ।।१८९।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि इस संसारमें स्त्रियोंका संसर्ग करने मात्रसे सज्जन पुरुषों को कभी भी न छूटने वाला कलंक लग जाता है तथा उनके प्राणों में भी संदेह हो जाता है ।।१८९।।

चित्रादि निर्मिता नारी, मनः क्षोभं करोति भो । साक्षात्पुंसां सुरूपा स्त्री, किमनर्थं करोति न ।।

अर्थ—अरे ! देखो । चित्र की बनी हुई स्त्री भी पुरुषों के मन में क्षोभ उत्पन्न कर देती है फिर भला, अत्यंत रूपवती साक्षात् स्त्री क्या क्या अनर्थ नहीं कर सकती ? अर्थात् सब कुछ कर सकती है ।।१९०।।

नवनीतनिभं चित्तं, ह्यग्निज्वालामंगिनाम् । किं नाकृत्यं नृणां कुर्यात्तयोः संसर्ग एव च ।।१९१।।

अर्थ—पुरुष का हृदय, मक्खन के समान है; और स्त्री का हृदय अग्निकी ज्वालाके समान है; फिर भला, इन दोनों का संसर्ग क्या २ अनर्थ नहीं कर सकता; अर्थात् सब तरह के अनर्थ कर सकता है ।।१९१।।

वरं व्याघ्रादि चौराणां, संसर्गः प्राणनाशकृत् । न च स्त्रीणां जगन्निंद्यो, व्रतघ्नो नरक प्रदः ।।

अर्थ—सिंह, सर्प और चोर आदि का संसर्ग यद्यपि प्राणों को नाश करने वाला है तथापि वह तो श्रेष्ठ है परन्तु संसार भर में निंदनीय, व्रतों को नाश करने वाला और नरक में ढकेलने वाला स्त्रियों का संसर्ग कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता ।।१९२।।

नारीसंसर्गमात्रेण, बहवो योगिनो भुवि । नष्टाः श्वभ्रं गताः केचिच्छ्रूयंते श्री जिनागमे ।।

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के आगम से जाना जाता है कि इस संसार में स्त्रियों का संसर्ग करने मात्रसे अनेक योगी नष्ट हो गये हैं और कितने ही योगी नरक में पहुंचे हैं ।।१९३।।

मत्वेति सर्वयत्नेन, संसर्गोऽनर्थकृद्बुधैः । त्याज्यः स्त्रीणां च सर्वासां, कलंक शंकयातराम् ।।

अर्थ—यही समझकर, बुद्धिमान् पुरुषों को कलंक लगने की शंका से; पूर्ण प्रयत्न के साथ, समस्त स्त्रियों का संसर्ग छोड़ देना चाहिये; क्योंकि स्त्रियों का संसर्ग अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाला है ।।१९४।।

न केवलं बुधैस्त्याज्यः, संसर्गो योषितामिह । किन्तु निःशीलपुंसां च, संगो लोकद्वयांतकृत् ।।

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों का कार्य, केवल स्त्रियों के संसर्ग के त्याग करने से ही पूर्ण नहीं होता, किन्तु उन्हें शील रहित पुरुषों के संसर्ग का भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि शील रहित पुरुषों का संसर्ग भी दोनों लोकों को नाश करने वाला है ।।१९५।।

ब्रह्मचर्यं च सर्वेषां, व्रतानां शुद्धिकारणम् । ब्रह्मचर्यविनाशेन, सर्वे नश्यन्ति सद्व्रताः ।।१९६।।

अर्थ—यह ब्रह्मचर्य, समस्त व्रतों की शुद्धि का कारण है; तथा इस ब्रह्मचर्य का नाश होने से समस्त श्रेष्ठ व्रत नष्ट हो जाते हैं ।।१९६।।

ब्रह्मचर्यच्युतः श्वेव, सर्वत्र चापमान्यते । मुनिभिः सुजनैः प्राणी, इहामुत्रेति दुःखभाक् ।।१९७।।

अर्थ—जो प्राणी ब्रह्मचर्यसे च्युत हो जाता है, उसका अपमान, मुनि वा अन्य सज्जन सर्वत्र करते हैं तथा वह प्राणी इस लोक और परलोक दोनों लोकों में दुःख पाता है ।।१९७।।

गौरं चर्मावृतं कान्तं, वस्त्राभरणमंडितम् । स्त्रीरूपं त्वं मुने वीक्ष्य, तस्यान्तःस्थं विचारय ।।

अर्थ—हे मुनिराज, गौर वर्ण के चमड़े से ढके हुये, अत्यन्त मनोहर और वस्त्राभूषणों से सुशोभित ऐसे स्त्रीके रूपको देखकर, तू उसके भीतर भरे हुए पदार्थों का चिंतवन कर ।।१९८।।

अहो ! घृणास्पदं निन्द्यं, लालाम्बुकर्दमीकृतम् । श्लेष्मागारं च दुर्गंधं, स्त्रीमुखं कः प्रशस्यते ।।

अर्थ—देखो, स्त्रियों का मुख, अत्यंत घृणित और निंदनीय है; थूक के पानी की बनी हुई कीचड़ से वह भर रहा है, कफ का वह घर है और अत्यन्त दुर्गंधमय है; भला ऐसे स्त्री के मुखकी प्रशंसा कहां की जा सकती है अर्थात् कहीं नहीं ।।१९९।।

मांसपिंडौ कुचौ स्त्रीणां, धातुश्रोणितसंभृतौ । विष्ठादिनिचितं चास्ति, पंजरं जठरं परम् ।।

अर्थ—और देखो, स्त्रियों के कुच मांसके पिण्ड हैं; धातु और रुधिर से भरे हुए हैं । इसीप्रकार स्त्रियों का उदर विष्ठा से भरा हुआ है और हड्डी पसलियों से परिपूर्ण है ।।२००।।

स्रवन् मूत्रादि दुर्गंधं, योनिरंध्रं घृणास्पदं । श्वभ्रागारमिवासारं, कथं स्याद् रतये सताम् ।।

अर्थ—स्त्रियों की योनिसे, सदा रुधिर, मूत्र बहता रहता है; इसलिये वह

दुर्गंधमय अत्यन्त घृणित और नरक के घरके समान असार समझी जाती है। उसमें भला सज्जन लोग कैसे अनुराग कर सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ॥२०१॥

सूक्ष्मा अलब्ध पर्याप्ता, जायन्तेमानवाः सदा। योनौ नाभौ च कक्षायां, विश्वस्त्रीणां स्तनान्तरे॥

अर्थ—कर्मभूमि की समस्त स्त्रियों की योनि में, नाभि में, कांख में और दोनों स्तनों के मध्य भाग में सूक्ष्म और अलब्ध पर्याप्तक मनुष्य सदा उत्पन्न होते रहते हैं ॥२०२॥

तेषु सर्वं प्रदेशेषु, म्रियन्ते जन्तुराशयः। लिंगह स्तादिसंस्पर्शादित्युक्तंस्वागमे जिनैः ॥२०३॥

अर्थ—उन समस्त प्रदेशों में लिंग अथवा हाथका स्पर्श होता है। उस स्पर्श से वह सब जीवों की राशि मर जाती है। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने अपने आगम में बतलाया है ॥२०३॥

अतो मुनीश्वरैर्निंद्यं, श्वभ्रं दुःखनिबंधनम्। सर्वपापकरी भूतं, मैथुनं स्यात्कुमार्गगम् ॥२०४॥

अर्थ—इसलिये कहना चाहिये कि यह मैथुन कर्म मुनीश्वरोंके द्वारा निंदनीय है, नरक के दुःखों का कारण है, समस्त पापों की खान है और कुमार्ग में ले जाने वाला है ॥२०४॥

कामदाहादिशान्त्यर्थं, सेवन्ते येऽत्र मैथुनम्। वृषभास्तेऽनलं दीप्तं, तैलेन वारयन्ति भोः ॥२०५॥

अर्थ—जो लोग केवल काम के संताप को शांत करने के लिये, मैथुन सेवन करते हैं, उन्हें 'बैल' समझना चाहिये; वे लोग जलती हुई अग्नि को तेल से बुझाना चाहते हैं ॥२०५॥

कार्यं न शयनं जातु, कोमले संस्तरे क्वचित्। आसने चासनं ब्रह्म, घातकं ब्रह्मचारिभिः ॥२०६॥

अर्थ—ब्रह्मचारियों को 'कोमल बिछौने' पर कभी नहीं सोना चाहिये और न कोमल आसनपर बैठना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मचारियों को कोमल आसन भी ब्रह्मचर्य का घात करनेवाला है ॥२०६॥

सर्वः शरीरसंस्कारः, कामरागादिवर्धकः। न विधेयो बुधैर्निद्यो, ब्रह्मरक्षात्तमानसैः ॥२०७॥

अर्थ—शरीर का सब तरह का संस्कार, काम और रागको बढ़ाने वाला है तथा निंदनीय है; इसलिये ब्रह्मचर्यकी रक्षा करने में जिनका मन लगा हुआ है ऐसे बुद्धिमान् पुरुषोंको किसी भी प्रकार का शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिये।२०७।

दुग्धाद्या सबलाहरा:, सुस्वादा मोदकादयः । कामाग्निदीपिका ग्राह्या न क्वचित् ब्रह्मकांक्षिभिः ।।

अर्थ—ब्रह्मचर्यके रक्षा करने की इच्छा करने वाले पुरुषों को न तो बल देने वाला दूध आदि का आहार करना चाहिये, न लड्डू आदि स्वादिष्ट पदार्थों का आहार करना चाहिये, क्योंकि ये सब पदार्थ कामरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेवाले हैं ।२०८।

यथा तृणादिसंयोगैः, प्रादुर्भवेदगृहेऽनलः । तथा काये च कामाग्निः, सबलाहार सेवनैः ।।२०६।।

अर्थ—जिसप्रकार घास फूंसके संयोग से घर में अग्नि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार 'पौष्टिक आहार' के सेवन करने से शरीर में 'कामाग्नि' उत्पन्न हो जाती है ।।२०६।।

अन्नपानासना, द्यैश्च, रक्षणीयो न शर्मणा । कामनागालयः कायः, क्वचिद् ब्रह्मविशुद्धये ।।

अर्थ—यह शरीर 'काम रूपी सर्प का घर हैं' इसलिये अपने ब्रह्मचर्य को विशुद्ध रखने के लिये, अन्न, पान, आसन आदि से कभी इसकी रक्षा तो करनी चाहिये किन्तु इंद्रिय भोगों के लिये नहीं करनी चाहिये ।।२१०।।

यतः कामप्रकोपेन, शरीरसुखकांक्षिणाम् । सार्धं सर्वव्रतैः शीघ्रं, ब्रह्मचर्यं पलायते ।।२११।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि 'शरीर के सुख की इच्छा' करने वालों के शरीर में 'कामका प्रकोप' उत्पन्न हो जाता है और फिर समस्त व्रतोंके साथ उसका ब्रह्मचर्य भी शीघ्र ही भाग जाता है ।।२११।।

मत्वेति सर्वथा त्याज्यं, वपुः सौख्यं विषान्नवत् । सबलान्नं मुखाद्यंग, संस्कारं शयनादि च ।।

अर्थ—यही समझकर शरीरके सुख को 'विष मिले हुए अन्नके समान' सर्वथा त्याग कर देना चाहिये तथा इसी प्रकार 'पौष्टिक आहार' मुख आदि, शरीर के 'अंगों का संस्कार' और 'अधिक शयन' आदि का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।।२१२।।

निरीक्षणं न कर्त्तव्यं, स्त्रीणां हावेंऽगिते मुखे । यतस्तल्लोकनादेते, जायन्तेऽनर्थकारिणः ।।२१३।।

अर्थ—हाव भावसे भरे हुये, स्त्रियों के मुख को, कभी नहीं देखना चाहिये क्योंकि स्त्रियों का मुख देखने से नीचे लिखे अनुसार अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं ।।२१३।।

स्त्रियों का मुख देखने उत्पन्न अनर्थ—

'दष्टिपातो' भवेदादौ, 'व्यामुह्यति मनस्ततः' 'सरागः' कुरुते पश्चात्, तत्कथागुणकीर्त्तनम् ।।

ततः प्रेमानुबंधः, प्रवर्धंते ह्युभयोस्ततः । उत्कंठते शुभं चेतः कामभोगादि केवलम् ।।२१५।।
'दानदाक्षिण्यवार्त्ताद्यै', रुभयोः वर्धंते स्मरः । ततः कामाभिलाषेण, परा प्रीतिश्च जायते ।।

अर्थ—देखो, (१) सबसे पहले तो 'दृष्टिपात' होता है तदनन्तर (२) मन मोहित होता है (३) फिर वह मनुष्य उससे प्रेम करने लगता है (४) फिर वह उसकी कथा कहता है (५) फिर उसके गुणों का वर्णन करता है (६) तदनन्तर उन दोनों के प्रेम का सम्बन्ध बढ़ता है (७) फिर उन दोनों का मन उत्कंठित होता है अथवा काम सेवन आदि की उत्कंठा करता है (८) तदनन्तर परस्पर देने लेने व चतुरता की बातचीत से अथवा और भी ऐसी ही बातों से दोनों का कामदेव बढ़ता जाता है । (९) तदनन्तर काम सेवन की इच्छा से दोनों में प्रेम की मात्रा खूब बढ़ जाती है । ।।२१४-२१६।।

तथा मिलति चान्योन्यं मानसं कामलालसम् । प्रणश्यति ततोलज्जा, कंदर्पशरताडिता ।।२१७।।

अर्थ—फलस्वरूप 'काम सेवन' की लालसा करने वाला उन दोनों का मन परस्पर मिल जाता है और (१०) फिर कामदेव के वाणों से ताडित हुई लज्जा शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ।।२१७।।

निर्लज्जः कुरुते कर्म, रहोजल्पनमन्वहम् । तयोस्ततश्च कामाग्नि, दुर्निवारो विजृम्भते ।।२१८।।

अर्थ—तदनंतर निर्लज्ज होकर वे दोनों एक दिन एकांत में बैठकर बातचीत करने का कार्य करते रहते हैं और फिर उन दोनों की कामरूपी अग्नि ऐसी बढ़ जाती है जो किसी से रोकी नहीं जा सकती ।।२१८।।

दह्यमानस्ततस्तेन, बहिरन्त स्मराग्निना । अविचार्यतया वाशु, वर्त्तते निंद्य कर्मणि ।।२१९।।

अर्थ—उस कामदेव रूपी अग्नि से वे बाहर और भीतर जलते रहते हैं; जिससे उनका विचार सब नष्ट हो जाता है और विचार तथा बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण वे दोनों शीघ्र ही निंद्य कर्म में प्रवृत्ति करने लग जाते हैं ।।२१९।।

फलतः सर्वगुणों का नाश—

तेन श्रुतं तपः शीलं, कुलं च वृत्तमुत्तमम् । इंधनीकुरुते मूढः, प्रविश्य स्त्री विलानले ।।२२०।।

अर्थ—उस निंद्य कर्मके करने से वह मूर्ख स्त्री रूपी अग्निकुंडमें, पड़कर अपने उत्तम श्रुतज्ञानको, तपश्चरणको, शीलको, कुलको और चारित्रको जला डालता है ।२२०।

ततोऽपमानमत्रैव, वधबंधकदर्थनम् । लभते स परत्राहो; नरकं सप्तमं कुधीः ॥२२१॥
विदित्वेति न पश्यंति, कामिनीं ब्रह्मचारिणः । क्वचिद् दृष्टिविषाहिं, मिवाखिलानर्थ कारिणीम् ॥

अर्थ—श्रुत, शील, तप आदि के नष्ट हो जाने से, इस लोक में ही, उसका भारी अपमान होता है और वध बंधन के द्वारा वह भारी तिरस्कृत होता है तथा परलोक में उस मूर्ख को सातवां नरक प्राप्त होता है ॥२२१॥

यही समझकर ब्रह्मचारी पुरुषों को दृष्टि विष (जिसको देखने मात्र से विष चढ़ जाय) ऐसे सर्प के समान समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाली स्त्रियां कभी नहीं देखनी चाहिये ॥२२२॥

वे पुरुष ही धन्य हैं—

धन्यास्ते एव लोकेऽस्मिन्, यैर्ब्रह्म निर्मलं क्वचित् । स्वप्नेप्युपद्रितैः स्त्रीभिः, न नीतं मलसन्निधौ ॥

अर्थ—संसार में वे ही लोग धन्य हैं; जो स्त्रियों के द्वारा उपद्रव किये जाने पर भी, स्वप्न में भी अपने निर्मल ब्रह्मचर्यको कभी मलिन नहीं होने देते हैं ॥२२३॥

शीलालंकरिणां पादान्नमन्त्याज्ञाविधायिनः । देवेशाः समराश्चाहो, का कथा परभूभुजाम् ॥

अर्थ—समस्त पृथ्वी पर आज्ञा करनेवाले, इन्द्र भी अपने अनुचर देवों के साथ, शील पालन करने वाले मनुष्यों के चरणों को नमस्कार करते हैं; फिर भला राजाओं की तो बात ही क्या है । वे तो नमस्कार करते ही हैं ॥२२४॥

विज्ञायेति जगत्सारं, शीलरत्नं सुदुर्लभम् । स्त्रीकटाक्षादि चौरेभ्यो, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥२२५॥

अर्थ—यही समझकर, तीनों लोकों में सारभूत और अत्यन्त दुर्लभ ऐसे इस शील रत्न को प्रयत्न पूर्वक स्त्रियों के 'कटाक्ष आदि चोरों से' रक्षा करनी चाहिये ॥२२५॥

ब्रह्मचर्य व्रतकी ५ भावना—

स्त्रीरूपमुखश्रृंगार, विलासाद्यनिरीक्षणम् । पूर्वानुभूतसद्भोग, रत्यादि स्मरणोज्झनम् ॥२२६॥
स्त्रीश्रृंगारकथात्यागः, सरसान्नाद्यसेवनम् । कामिनीजनसंसक्त, वसति त्यजनं सदा ॥२२७॥
पंचेमा भावनाः शुद्धाः, ब्रह्मव्रतविशुद्धिदाः । न भोक्तव्या ह्वदो जातु, मुनिभिर्ब्रह्मशुद्धये ॥२२८॥

अर्थ—(१) स्त्रियों के रूप, मुख, श्रृंगार, विलास आदि को नहीं देखना (२) पहले भोगे हुए भोग और रति क्रीड़ा आदि के स्मरण करने का भी त्याग कर

देना, (३) स्त्रियों के श्रृंगार की कथा का भी त्याग कर देना (४) रसीले पौष्टिक आहार के सेवन का त्यागकर देना चाहिये (५) और स्त्रियोंके रहने, सोने, बैठने आदि के स्थान का भी सदा के लिये त्याग कर देना। ये पांच ब्रह्मचर्य व्रतको विशुद्ध करने वाली शुद्ध भावना हैं। मुनियों को अपना 'ब्रह्मचर्य' शुद्ध रखने के लिये अपने हृदयसे इन भावनाओं को कभी अलग नहीं करना चाहिये अर्थात् इनका चिंतवन सदा करते रहना चाहिये ।।२२६-२२८।।

ब्रह्मचर्य व्रतकी महिमा—

नरसुरपति वंद्य', स्वर्गसोपानभूतम् । सकलगुणसमुद्रं, धीरवीरैर्निषेव्यम् ।
शिवसुख शुभखानि, सर्वयत्नेनपूतम् । भजत गतविकारं, ब्रह्मचर्यं सदार्च्या. ।।२२९।।

अर्थ—यह ब्रह्मचर्य महाव्रत, इन्द्र, नरेंद्र आदि सबके द्वारा वंदनीय है; स्वर्ग के लिये सीढी के समान है; समस्त सद्गुणों का समुद्र है; धीर वीर पुरुष ही इसका सेवन कर सकते हैं; अत्यन्त शुभ ऐसे मोक्ष सुख की यह खान है; अत्यन्त पवित्र है और विकार रहित है। इसलिये पूज्य पुरुषों को बड़े प्रयत्नसे सदा इसका पालन करते रहना चाहिये ।।२२९।।

परिग्रह महाव्रतका स्वरूप—

त्यजन्ते निखिला यत्र, बाह्यान्तः स्थाःपरिग्रहाः । जीवाबद्धनिबद्धाश्चसमंतान् मूर्च्छया बुधैः ।।
कृत-कारित-संकल्पै र्मनोवाक्कायकर्मभिः । तत्प्रणीतं जिनैः पूज्य, माकिंचन्यमहाव्रतम् ।।२३१।।

अर्थ—जहां पर बुद्धिमान् लोग, शरीर, कषायादि संसारी जीवों के साथ, रहने वाले और वस्त्रालंकार आदि जीव के साथ न रहने वाले, समस्त परिग्रहों का त्याग कर देते हैं तथा मन-वचन-काय और कृत-कारित अनुमोदना से उन परिग्रहों में होने वाली मूर्च्छा व ममत्वका भी त्याग कर देते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव ने पूज्य 'आकिंचन्य' महाव्रत कहा है ।।२३०-२३१।।

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं, द्विपदं पशुसंचयम् । आसनं शयनं वस्त्रं, भांडं बाह्याः परिग्रहाः ।।२३२।।
दशामी सर्वथा त्याज्याः, पृथग्भूतानिजात्मनः । जीवाबद्धास्त्रिशुध्यात्र, यतिभिः सहमूर्च्छया ।।

अर्थ—(१) खेत (२) घर (३) धन (४) धान्य (५) दास (६) पशु (७) आसन (८) शयन (९) वस्त्र और (१०) बर्त्तन ये दस प्रकार के बाह्य परिग्रह कहलाते हैं। परिग्रह 'जीवाबद्ध' या जीव से भिन्न कहलाते हैं क्योंकि ये सब

आत्मा से भिन्न हैं। मुनियों को इनमें रहने वाली मूर्च्छा के साथ-साथ मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक इन सबका त्याग कर देना चाहिये ।।२३२-२३३।।

मिथ्यात्वं च त्रयोवेदा, रागा हास्यादयोऽत्रषट् । चत्वारोऽपि कषाया हि, चतुर्दश परिग्रहाः ।।
अभ्यंतरा इमे जीव, निबद्धा दुस्त्यजा बुधैः । विश्वदोषाकरा हेयाः, सर्वथा जीवतन्मयाः ।।२३५।।

अर्थ—(१) मिथ्यात्व (२) स्त्रीवेद (३) पुंवेद (४) नपुंसकवेद (५) राग (६) हास्य (७) अरति (८) शोक (९) भय (१०) जुगुप्सा (११) क्रोध (१२) मान (१३) माया (१४) लोभ ये चौदह अंतरंग परिग्रह कहलाते हैं। ये १४ परिग्रह 'जीव-निबद्ध' हैं अर्थात् जीव के साथ लगे हुए हैं और इसीलिये कठिनता से त्याग किये जाते हैं। ये जीव से तन्मय होकर रहते हैं और समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिये बुद्धिमानों को इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। ।।२३४-२३५।।

चेतनास्तेऽथवा दासी, दासगोऽश्वादयो भुवि । मणिमुक्तासुवर्णांशुक, गेहाद्या अचेतना ।।२३६।।

अर्थ—अथवा दासी, दास, गाय, घोड़ा आदि इस संसार में 'चेतन परिग्रह' कहलाते हैं तथा मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र, घर आदि 'अचेतन परिग्रह' कहलाते हैं ।।२३६।।

चेतनाचेतना सर्व, बाह्यासंगाः अघार्णवाः । ज्ञानसंयम शौचोप, करणेन बिना बुधैः ।।२३७।।
न ग्राह्याश्च स्वयं श्रामण्यायोग्या, हि परस्यभोः । न दातव्या न कार्योऽनुमोदस्तद्ग्रहणे परैः ।।

अर्थ—चेतन, अचेतन, बाह्य-आभ्यंतर सब परिग्रह पापों के समुद्र हैं और मुनिधर्म के अयोग्य हैं; इसलिये ज्ञान, संयम और शौच के उपकरणों को छोड़कर बुद्धिमानों को बाकी के सब परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये; न तो उन्हें स्वयं ग्रहण करना चाहिये; न दूसरों को देना चाहिये और अन्य कोई ग्रहण करता हो तो उसकी अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिये ।।२३७-२३८।।

मूर्छा तेषु न कर्त्तव्या, खनिः सर्वैनसां बुधैः । यतो मूर्च्छैव सिद्धांते, संगः प्रोक्तो गणाधिपैः ।।

अर्थ—बुद्धिमानोंको इन परिग्रहोंमें कभी ममत्व भी नहीं रखना चाहिये; क्योंकि इनमें ममत्व रखना भी समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है; इसका भी कारण यह है कि भगवान् गणधर देवने सिद्धांत शास्त्रों में मूर्छा या ममत्व को ही 'परिग्रह' बतलाया है ।।२३९।।

असंयत जनच्छात्रो, वासुश्र षादि हेतवे । असंयमकरः स्वांते, रक्षणीयो न संयतै ।।२४०।।

अर्थ—मुनियों को अपनी सेवा, सुश्रूषा करनेके लिये भी, असंयम को बढ़ाने वाला असंयमी मनुष्य या विद्यार्थी, अपने समीप नहीं रखना चाहिये ।।२४०।।

वसत्यादौ विधेयं न, स्वामित्वं संगकारणम् । पूजा द्रव्यांगचेलेषु, चान्यत्र परवस्तुनि ।।२४१।।

अर्थ—इसीप्रकार 'वसतिका' आदि में भी अपना स्वामित्त्व नहीं रखना चाहिये; क्योंकि उसमें 'स्वामित्त्व' रखना भी परिग्रह का कारण है तथा पूजा द्रव्यके अंगभूत वस्त्र आदि पर वस्तुओं में भी अपना 'स्वामित्व' कभी नहीं रखना चाहिये । ।।२४१।।

बहुनोक्तेन किं साध्यं, मंत्रादेयो न योगिभिः । बालाग्रः कोटिमात्रः, श्रामण्यायोग्यः स जातुचित् ।।

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ हैं ? इतने में ही समझ लेना चाहिये कि मुनियों को, मुनिधर्म के अयोग्य पदार्थ का 'एक बाल के अग्रभाग का करोड़वां भाग' भी कभी ग्रहण नहीं करना चाहियें ।।२४२।।

परिग्रहार्जनेनात्र, पराचिंता च जायते । तस्याप्ते परमोरागो, रौद्रध्यानं च रक्षणे ।।२४३।।
तन्नाशे शोककोपाद्याः, सर्वे प्रादुर्भवन्ति भोः । तैश्च पापानि घोराणि, पापैर्दुर्गतयोऽखिलाः ।।
तासु दुःखानि तीव्राणि, लभन्ते संगिनः शठाः । इतिमत्वा बुधैर्हेय, संगः सर्वोऽपि सर्वथा ।।

अर्थ—इस संसार में परिग्रहको इकट्ठा करने में बड़ी चिंता करनी पड़ती है; उसके प्राप्त होनेपर 'परम राग' उत्पन्न हो जाता है, उसकी रक्षा करने में 'रौद्रध्यान' प्रगट हो जाता है तथा उसके नाश होने पर 'क्रोध-शोक' आदि सब विकार उत्पन्न हो जाते हैं; उन क्रोधादिक विकारों से महा पाप उत्पन्न होते हैं; उन पापों से नरकादिक समस्त दुर्गतियां प्राप्त होती हैं और उन दुर्गतियों में परिग्रह रखने वाले वे मूर्ख तीव्र दुःखों को प्राप्त होते हैं; यही समझकर, बुद्धिमानों को सब तरह के परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।।२४३-२४५।।

ग्रंथा येऽभ्यन्तराः, विश्वे दुस्त्याज्याः कातरांगिनां । महायत्नेन तेत्याज्याः, कृत्सादोषविधायिनः ।।

अर्थ—अंतरंग परिग्रह कातर पुरुषों से कभी नहीं छोड़े जाते तथा वे अंतरंग परिग्रह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं; इसलिये महान् प्रयत्न करके उन सब परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिए ।।२४६।।

यतोंऽतः संगपाकेन, मज्जंति प्राणिनोऽखिलाः । बाह्येषु संगपंकेषु, पापदुर्ध्यानखानिषु ॥२४७॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि इस अंतरंग परिग्रह रूपी कीचड़ से संसार के प्राणी अवश्य डूब जाते हैं ॥२४७॥

अतस्तपो व्रतैः सार्धं, प्रव्रज्या निष्फलासतां । वृथा वस्त्रपरित्यागोऽत्रान्तर्ग्रंथाच्च्युतात्मनाम् ॥

अर्थ—बाह्य परिग्रहों में डूब जाने से सज्जन पुरुषों के व्रत, तपश्चरण आदि भी सब निष्फल हो जाते हैं; और उनके साथ-साथ दीक्षा भी निष्फल हो जाती है; इसलिये जिन लोगों ने अंतरंग परिग्रहों का त्याग नहीं किया है उनका वस्त्रों का त्याग करना भी व्यर्थ है ॥२४८॥

यथा मुंचति कृष्णाहि निर्मोकं च विषं न भोः । तथा कश्चित्कुधीः वस्त्रा, दीनिनान्तः परिग्रहान् ॥

अर्थ—जिस प्रकार काला सर्प, अपनी कांचली तो छोड़ देता है; परन्तु विषको नहीं छोड़ता; उसीप्रकार कोई कोई मूर्ख वस्त्रों का तो त्याग कर देते हैं परंतु अंतरंग परिग्रहों का त्याग नहीं करते ॥२४९॥

अतो मिथ्यात्ववेदांश्च, कषायान् सकलेतरान् । त्यक्तुं येऽत्राक्षमास्तेषां, वस्त्रत्यागोऽहिवद्भवेत् ॥

अर्थ—इसलिये जो पुरुष मिथ्यात्व, वेद, कषाय और नौ कषायों के त्याग करने में असमर्थ हैं; उनका वस्त्रों का त्याग भी सर्प के समान समझना चाहिये । ॥२५०॥

महायत्नेन मत्वेति, मिथ्यावेदोदयान् बुधाः । हास्यादींश्च कषायारीन्, घ्नतु शत्रूनिवाखिलान् ॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को बड़े प्रयत्न से मिथ्यात्व, वेद, कषाय और नौकषाय रूप समस्त शत्रुओं को अच्छी तरह नाश कर देना चाहिये । ॥२५१॥

बाह्यान्तर्ग्रंथसंत्यागाच्चित्त शुद्धिः परासताम् । जायते च तया ध्यानं, कर्मारण्यदवानलम् ॥

अर्थ—अंतरंग और बाह्य परिग्रहों का त्याग कर-देने से सज्जनों का हृदय परम शुद्ध हो जाता है तथा कर्मरूपी वन को जलाने के लिये, दावानल अग्निके समान, उत्तम ध्यान प्रगट हो जाता है ॥२५२॥

ध्यानाच्च कर्मणां नाशस्ततो मोक्षोऽसुखातिगः । वाचामगोचरंसौख्यं, नित्यं तत्र भजंति ये ॥

अर्थ—ध्यानसे कर्मों का नाश हो जाता है; कर्मों के नाश होने से समस्त

दुःखों से रहित, मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है और मोक्ष में उनको वाणी के अगोचर ऐसा नित्य सुख प्राप्त हो जाता है ।।२५३।।

द्रव्यादीनुपधीन् बाह्यान्, यः क्लीवस्त्यक्तुमक्षमः ।
सोऽन्तः स्थान् च कषायादीन्, रिपून् हंति कथं बहून् ।।२५४।।

अर्थ—जो नपुंसक मनुष्य, (कुछ न करने वाला) धन, धान्य आदि बाह्य परिग्रहों का ही त्याग नहीं कर सकता; वह भला अंतरंग कषाय रूपी अनेक शत्रुओं को कैसे मार सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ।।२५४।।

पूर्वं त्यक्त्वाखिलान् संगान्, कटिसूत्रादिकान् ततः ।
इष्टवस्तूनि गृह्णाति, यः सोऽह्रो किं न लज्जते ।।२५५।।

अर्थ—जो मुनि पहले तो करधनी आदि समस्त परिग्रहों का त्याग कर देता है; और फिर वह इष्ट पदार्थों को ग्रहण करता है आश्चर्य है कि वह फिर भी लज्जित नहीं होता ।।२५५।।

धन्या पूज्यास्त एवात्र, विरक्ता ये मुमुक्षवः । शरीरादिषु नेहन्ते, संगं स्वल्पं सुखादि वा । २५६।।

अर्थ—इस संसार में मोक्ष की इच्छा करने वाले जो वीतरागी पुरुष हैं वे ही धन्य और पूज्य हैं; क्योंकि वे शरीरादिक के लिये भी कुछ परिग्रह नहीं चाहते और न कभी सुख की इच्छा करते हैं ।।२५६।।

विज्ञायेति द्विधा संगान्, त्यजंतु मुक्तिकांक्षिणः । सौख्यैर्वैषयिकैः सार्धं, हत्वा लोभाक्षविद्विषः ।।

अर्थ—यही समझ कर, मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को लोभ और इंद्रिय रूपी शत्रुओं को नाश कर, विषय जन्य सुखों के साथ साथ दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये ।।२५७।।

शब्दरूपरसस्पर्श, गंधेषु विषयेषु च । सुमनोज्ञामनोज्ञेषु, पंचाक्षाणामिहाखिलाः ।।२५८।।
रागद्वेषादयो दक्षैस्त्यज्यन्ते ये सुभावना । । ताः पंच सर्वदा ध्येयाः, पंचमव्रत शुद्धये ।।२५९।।

अर्थ—इन्द्रियां ५ हैं तथा उनके विषय भी शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गंध ये पांच हैं, ये पांचों विषय मनोज्ञ भी होते हैं और अमनोज्ञ भी अथवा अनिष्ट भी होते हैं; इन सबमें चतुर पुरुषों को राग, द्वेष छोड़ देना चाहिये; मनोज्ञ विषयों में राग और अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेष छोड़ देना चाहिये । इन्हीं को परिग्रह त्याग महाव्रत

को शुद्ध रखने के लिये इन पांचों भावनाओं का सदा चिंतवन करते रहना चाहिये। ॥२५८-२५९॥

५ आकिंचन्य महाव्रत की सफलता—

त्रिभुवनपतिपूज्यं, लोभतृष्णाद्रिवज्रं । दुरिततिमिर सूर्यं, श्री जिनेशादि सेव्यं ॥
शिवशुभगतिमार्गं, सौख्यखानिं गुणाब्धि । श्रयंत विद इहाकिंचन्यसारं प्रयत्नात् ॥२६०॥

अर्थ—यह आकिंचन्य महाव्रत, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर देवोंके द्वारा भी पूज्य हैं; लोभ, तृष्णा रूपी पर्वत को चूर करने के लिये सूर्यके समान है; भगवान् जिनेन्द्र देव भी इसको सेवन करते हैं, यह मोक्ष और शुभगति का मार्ग है; सुख की खान है, गुणों का समुद्र है; इसलिये बुद्धिमानों को बड़े प्रयत्न से इस परिग्रह त्याग महाव्रत को धारण करना चाहिये ॥२६०॥

महार्थं मोक्षमेवाहो, वा त्रिलोकीपतेः पदम् । साधयंति महंद्भिःवा चरितानि जिनादिभिः ॥
महान्ति वा स्वयं यानि, महाव्रतान्यतोबुधैः । सार्थनामानि नान्यत्र, कीर्त्तितानि शिवाप्तये ॥

अर्थ—ये महाव्रत सर्वोत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध करते हैं; इसलिये इनको 'महाव्रत' कहते हैं अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुष इनका पालन करते हैं इसलिये भी ये 'महाव्रत' कहलाते हैं अथवा ये स्वयं ही महान् हैं इसलिए भी इनको 'महाव्रत' कहते हैं। इसप्रकार विद्वानों के द्वारा सार्थक नामको धारण करने वाले महाव्रत मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही मैंने यहां पर निरूपण किए हैं ॥२६१-२६२॥

प्रथम अध्याय का उपसंहार—

एतान्यत्र महाव्रतानि महतां, योग्यानि साराणि च ।
स्वर्मोक्षैक निबन्धनानि विबुधा । ये पालयंत्यन्वहम् ।
ते संप्राप्य महत्सुखं त्रिभुवने सर्वार्थसिध्यादिजं ।
हत्वा कर्मरिपून् व्रजन्त्यचिरतो मोक्षं सुशर्माकरम् ॥२६३॥

अर्थ—ये महाव्रत महापुरुषों के ही योग्य हैं; सारभूत हैं; और स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं; जो विद्वान इनको प्रति दिन पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले सर्वार्थसिद्धि आदि के महा सुखों को पाकर फिर मनुष्य पर्याय में कर्मरूपी समस्त शत्रुओं को नाश कर, अनंत सुख देने वाले मोक्ष में शीघ्र ही जा विराजमान होते हैं ॥२६३॥

महाव्रतधारियों का शुभाशीर्वाद

ये पालयंति यमिनोऽत्र, महाव्रतानि यैः पालितानि जिनदेवगणाधिपाद्यैः ।
ते मे स्तुताश्च महिता, गणिनो जिनेशाः सर्वार्थसिद्धि मखिलां स्वयमादिशंतु ॥२६४॥

अर्थ—जो मुनिराज इन महाव्रतों का पालन करते हैं अथवा जिन तीर्थंकर या गणधर देवों नें इनका पालन किया है; वे पूज्य तीर्थंकर वा गणधर देव मेरे हृदय में विराजमान हों तथा मेरे लिए समस्त मोक्ष आदि सर्वोत्कृष्ट पदार्थों की सिद्धि प्रदान करें ॥२६४॥

प्रथमाधिकार समाप्त ।

◆

अथ द्वितीयोऽधिकारः

मंगलाचरण पूर्वक समिति वर्णन—

श्रीमद्भ्यः परमेष्ठिभ्यो मोक्षगामिभ्य एव च । महासमिति युक्तेभ्यो नमः समितिसिद्धये ।।२६५।।

अर्थ—जो परमेष्ठी अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी से सुशोभित हैं जो मोक्षगामी हैं और महासमितियों से सुशोभित हैं उनको मैं समितियों की सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूं ।।२६५।।

५ समितियों के नाम—

ईर्याभाषैषणादान, निक्षेपण समाह्वया । प्रतिष्ठापन संज्ञाः समितयः पंच चेति वै ।।२६६।।

अर्थ—(१) ईर्यासमिति (२) भाषासमिति (३) एषणासमिति (४) आदान निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति ये पांच समितियां कहलाती हैं ।।२६६।।

ईर्यासमिति का लक्षण—

दिवसे प्रासुके मार्गे, गोखरोष्ट्ररथादिभिः । प्राणिभूतातिगेशुद्धे जनाद्यैरुपमर्दिते ।।२६७।।
कार्यार्थं गमनं यच्च, क्रियते संयतैः शनैः । यस्माद् युगान्तरं प्रेक्षिभिः सेर्यासमितिर्मता ।।२६८।।

अर्थ—जो यत्नपूर्वक ४ हाथ भूमिको देखकर, गमन करने वाले मुनि अपने किसी काम के लिये, गाय, गधा, ऊंट, रथ आदि से मर्दित या मनुष्यों से उपमर्दित शुद्ध प्रासुक मार्ग में, दिन में ही धीरे धीरे गमन करते हैं उसको 'ईर्यासमिति' कहते हैं ।।२६७-२६८।।

ईर्यासमिति का विशेष विवरण—

कार्याद्दृते न गन्तव्यं, जातुग्रामगृहादिषु । वृथा पर्यटनं भूमौ, न कार्यं वा शुभप्रदम् ।।२६९।।

अर्थ—मुनियों को बिना काम के किसी गांव या घर में, कभी नहीं जाना चाहिये; और न पृथ्वी पर व्यर्थ घूमना चाहिये क्योंकि इससे अशुभ वा पाप ही उत्पन्न होता है ।।२६९।।

कब गमन नहीं करना चाहिये—

अस्तं गते दिवानाथे, ऽथवा भानुदयादृते । विधेयं गमनं जातु, न सत्सुकार्यंराशिषु ।।२७०।।

अर्थ—यदि कैसा ही और कितना ही श्रेष्ठ कार्य आ जाय; तथापि सूर्य अस्त होनेपर, अथवा सूर्य उदय होने के पहले कभी गमन नहीं करना चाहिये ॥२७०॥

मुनिराज रात्रि में गमन क्यों नहीं करते ?

यतो रात्रौ म्रियन्ते, व्रजनेनादृष्टिगोचरे । पंचाक्षा बहवस्तस्मान्नश्येदाद्य महाव्रतम् ॥२७१॥

अर्थ—क्योंकि रात्रिमें गमन करने से, दृष्टि के अगोचर, ऐसे अनेक पंचेंद्रिय जीव मर जाते हैं; जिससे अहिंसा महाव्रत सर्वथा नष्ट हो जाता है ॥२७१॥

महाव्रत के नाश होने से दुर्गति गमन—

व्रतनाशेन जायते, महत्पापं प्रमादिनाम् । पापाद् घोरतरं दुःखं, दुर्गतौ च न संशयः ॥२७२॥

अर्थ—अहिंसा महाव्रत के नाश होने से प्रमादी पुरुषों को महा पाप उत्पन्न होता है और पापसे अनेक दुर्गतियों में अत्यन्त घोर दुःख प्राप्त होता है; इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥२७२॥

चतुर्मास में गमन का निषेध क्यों ?

मह्यीं सत्वाकुलेजाते, चातुर्मासे सुसंयतैः । पापभीतैर्न गंतव्यं, प्रयोजनशतैः क्वचित् ॥२७३॥

अर्थ—चतुर्मास में जब पृथ्वी अनेक जीवों से भर जाती है तब पापोंसे डरने वाले मुनियों को सैंकड़ों आवश्यक कार्य होने पर भी कहीं गमन नहीं करना चाहिये ।॥२७३॥

प्रेषणं नात्रदातव्यं, सति कार्ये व्रतात्मनाम् । गमने प्रेरणं वाह्यो, बुधैर्जीवक्षयंकरम् ॥२७४॥

अर्थ—विद्वानों को चतुर्मास में आवश्यक कार्य होने पर भी किसी व्रती को बाहर नहीं भेजना चाहिये; क्योंकि जाने के लिये प्रेरणा करना, अनेक जीवों का घात करने वाला है ॥२७४॥

विधेयानुमतिर्जातु, गमनादौ न पापदा । प्रयोजनवशात्पुंसां, मुनिभिर्यत्नचारिभिः ॥२७५॥

अर्थ—यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले मुनियों को किसी प्रयोजन के निमित्त से भी गमनागमन कार्यों में पाप देने वाली सम्मति कभी नहीं देनी चाहिये ।॥२७५॥

आगच्छ, गच्छ, तिष्ठेह, कुरु कार्यं च भोजनम् । इति जातु न वक्तव्यं, व्रतिभिः पापकारणम् ॥

अर्थ—यहां आ, यहां जा, यहां बैठ, इस कार्य को कर, या भोजन कर, इस

प्रकार कहना भी पापका कारण है। इसीलिये व्रती पुरुषों को इस प्रकार भी कभी नहीं कहना चाहिये ॥२७६॥

चतुर्हस्तांतरालस्थां, महीं वीक्ष्याति यत्नतः। शनैः पादोऽत्र दातव्यः, पथीर्यागमनोद्यतैः ॥२७७॥

अर्थ—ईर्या समिति से गमन करने की इच्छा करने वाले मुनियों को बड़े प्रयत्न से, ४ हाथ पृथ्वी देखकर धीरे धीरे पैर रखना चाहिये ॥२७७॥

पूर्वं स्थित्वा धरां वीक्ष्य, दूरस्थां प्रासुकां बुधाः। कुर्वन्तु गमनं पश्चात्, संकोच्यावयवान् सदा ॥

अर्थ—पहले खड़े होकर, दूर तक की प्रासुक भूमि देख लेनी चाहिये और फिर विद्वानों को, अपने शरीर के अवयवों को संकोच कर गमन करना चाहिये ।२७८।

काष्ठंपाषाणमन्यद्वा, ज्ञात्वा चलाचलं बुधैः। तेषु पापं विधायाशु, न गंतव्यं दयोद्यतै. ॥२७९॥

अर्थ—दया धारण करने वाले विद्वानों को काठ या पाषाण को हिलता हुआ समझ कर, उन पर पैर रखकर गमन नहीं करना चाहिये ॥२७९॥

शीघ्रं गमनं कार्यं, नातिमंदं च संयतैः। सहसाघ्रिर्न दातव्यः, स्थित्वा मार्गे च जल्पनम् ॥२८०॥

अर्थ—मुनियों को न तो शीघ्र ही गमन करना चाहिये; न धीरे ही गमन करना चाहिये; न अकस्मात् किसी पर पैर रखना चाहिये और न मार्ग में खड़े होकर बातचीत करनी चाहिये ॥२८०॥

इतीर्यागमनस्याहो, विधिं ज्ञात्वा व्रजंति ये। स्वकार्येऽत्र भवेत्तेषां, परैर्या समितिः सताम् ॥

अर्थ—इसप्रकार ईर्यागमन की विधि समझकर जो अपने कार्य के लिये गमन करते हैं; उन सज्जनों के उत्कृष्ट ईर्यासमिति होती है ॥२८१॥

तां विना स्वेच्छया येऽत्र गमनं कुर्वंते बुधाः। तेषां षडंगघातेन, नश्येदाद्यं व्रतोत्तमम् ॥२८२॥

अर्थ—जो विद्वान् इस ईर्या समिति के बिना, स्वच्छंद गमन करते हैं; वे छहों कार्य के जीवों का घात करते हैं और इसीलिये उनका 'अहिंसा महाव्रत' नष्ट हो जाता है ॥२८२॥

मुख्यव्रत स्वरूप ईर्यासमिति—

मत्वेति धीधना जातु, मा व्रजन्तु महीतले। त्यक्तेर्यासमितिं चाद्य, व्रताभ्यांव्रतशुद्धये ॥२८३॥

अर्थ—यही समझकर, बुद्धिमान् पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध रखने के लिये,

सबसे मुख्यव्रत स्वरूप इस 'ईर्या समिति' को छोड़कर इस पृथ्वी पर कभी गमन नहीं करना चाहिये ।।२८३।।

उपसंहार रूपमें 'ईर्यासमिति'

गुणसमुदाय खानिं, स्वर्गसोपानमालां, शिवसुखजननीं हिंसादिदरां पवित्राम् ।
जिनगणधरसेव्यां, दोषदूरां भजध्वम् । समितिमिह सुयत्नादादिमां मुक्तिकामाः ।।२८४।।

अर्थ—यह 'ईर्या समिति' समस्त गुणों की खान है; स्वर्ग की सीढी है; मोक्ष सुखको उत्पन्न करने वाली माता है; हिंसादि पापों से सर्वथा दूर है; अत्यन्त पवित्र है; तीर्थंकर और गणधर देवों के द्वारा सेवन करने योग्य है और समस्त दोषों से रहित है। इसलिये मोक्षकी इच्छा करने वाले पुरुषों को बड़े प्रयत्न से इस 'ईर्या समिति' का पालन करना चाहिये ।।२८४

२ भाषा समिति का स्वरूप—

हास्यकर्कशपैशून्य, परनिन्दात्म शंसनात् । विकथादींश्च संत्यज्य, धर्ममार्गप्रवर्त्तये ।।२८५।।
स्वस्यान्येषां हितं सारं, मितं धर्माविरोधियत् । वचनं ब्रूयते दशैः, साभाषासमितिर्यथा ।।२८६।।

अर्थ—चतुर पुरुष, (१) हंसी के वचन (२) कठोर वचन (३) चुगली के वचन (४) दूसरे की निंदा के वचन (५) और अपनी प्रशंसा के वचनों को तथा (६) विकथाओं को छोड़कर, केवल धर्म मार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए तथा अपना और दूसरों का हित करने के लिए सारभूत परिमित और धर्म से अविरोधी जो वचन कहते हैं उसको 'भाषा समिति' कहते हैं ।।२८५-२८६।।

सत्य वचन के १० भेद—

सत्यं जनपदाख्याद्यं, संमतं स्थापनाह्वयम् । नामरूपं प्रतीतं संभावना सत्यसंज्ञकम् ।।२८७।।
व्यवहाराभिधं भाव, मुपमासत्यमेव च । दशधेति वचो वाच्यं, सत्यं सत्यागमोद्भवम् ।।२८८।।

अर्थ—(१) आगम में निम्न लिखित सत्य वचनों के १० भेद बतलाये हैं यथा (१) जनपद सत्य (२) संमत सत्य (३) स्थापना सत्य (४) नाम सत्य (५) रूप सत्य (६) प्रतीत सत्य (७) संभावना सत्य (८) व्यवहार सत्य (९) भावसत्य और (१०) उपमा सत्य ।।२८७-२८८।।

सत्य के १० भेदों के लक्षण—

नानादेशादिभाषाभिः, कथ्यते यच्छुभाशुभम् । वस्तु तच्च विरुद्धं न, सत्यं 'जनपदाभिधम्' ।।

यथा च प्रोच्यते लोकैः, सर्वभाषाभिरोदनं । चौरः द्राविडभाषाभिः, न विवादोऽत्रविद्यते ॥

अर्थ—अनेक देशों की भाषा में जो शुभाशुभ कहा जाता है और जो किसी के विरुद्ध नहीं होता; उसको (१) जनपद सत्य कहते हैं; जैसे लोग सब भाषाओं में 'ओदन' या 'भात' कहते हैं अथवा चोर भी सब भाषाओं में कहते हैं तथा द्राविड़ आदि किसी भाषा में उसके लिए विवाद उपस्थित नहीं होता इसको 'जनपद सत्य' कहते हैं ॥२८९-२९०॥

बहुभिः संमतं यत्तत्, सत्यं सम्मतमुच्यते । मानुष्येऽपि यथा लोके, महादेवी निगद्यते ॥२९१॥

अर्थ—जिसको बहुतसे लोग मानें उसको 'संमत सत्य' कहते हैं जैसे—रानी मनुष्य है तो भी उसे 'महादेवी' कहते हैं ॥२९१॥

स्थाप्यते प्रतिबिंबंयत्, स्थापना सत्यमेव तत् । यथार्हन्मुनिसिद्धानां, प्रतिमार्चाप्रवृत्तये ॥२९२॥

अर्थ—किसी के प्रतिबिंब को स्थापन करना 'स्थापना सत्य' है; जैसे—पूजा करने के लिए अरहंत, सिद्ध या मुनियों की प्रतिमा स्थापन की जाती है ॥२९२॥

गुणैस्तथ्यमतथ्यं वा, नाम यत्क्रियते नृणाम् । नामसत्यं तदेवात्र, देवदत्तो यथा पुमान् ॥२९३॥

अर्थ—जो मनुष्यों का नाम रखा जाता है; वह गुणों से सत्य भी होता है और असत्य भी होता है तथापि उसको 'नाम सत्य' कहते हैं। जैसे—किसी पुरुष का नाम 'देवदत्त' रख लिया जाता है ॥२९३॥

मुख्यवर्णेन यद्रूपं, 'रूपसत्यं' तदुच्यते । यथा श्वेता बलाकाख्या, सति वर्णान्तरेपरे ॥२९४॥

अर्थ—जो रूप किसी मुख्य वर्णसे कहा जाता है उसको 'रूप सत्य' कहते हैं जैसे 'बगले' सफेद होते हैं। यद्यपि 'बगलों में' और भी वर्ण होता है तथापि वे सफेद ही कहलाते हैं ॥२९४॥

अन्यं ह्यपेक्ष्य सिद्धं यत्प्रतीतसत्यमेव तत् । यथा दीर्घोऽयमन्यत् ह्रस्वमपेक्ष्यात्र कथ्यते ॥२९५॥

अर्थ—जो अन्य किसी पदार्थकी अपेक्षा से सिद्ध होता है उसको 'प्रतीत्त सत्य' कहते हैं; जैसे यह लंबा है; यह लंबाई किसी की कम लंबाई की अपेक्षा से कही जाती है ॥२९५॥

शक्याशक्यद्विभेदाभ्यां, कार्यंकर्तुं यदीहते । संभावना भिधं तद्बाहुभ्यां तर्तुं यथाम्बुधिम् ॥

अर्थ—यह काम हो सकता है या नहीं; इस प्रकार दोनों ओर के विकल्पसे

जो काम करने की इच्छा की जाती है उसको 'संभावना सत्य' कहते हैं। जैसे—यह समुद्र भुजाओं से पार किया जा सकता है या नहीं ॥२९६॥

व्यवहारेण कार्यादौ, प्रोच्यते यद्वचो जनैः। व्यवहाराख्यसत्यं तद्, यथा कूरोऽत्र पच्यते ॥

अर्थ—किसी भी कार्य में, व्यवहार से जो लोग वचन कहते हैं उसको 'व्यवहार सत्य' कहते हैं; जैसे यह भात पकाया जाता है, पके चावलों को 'भात' कहते हैं तथापि व्यवहार में भात पकाना कहते हैं ॥२९७॥

हिंसादिदोषदूरं यत्, सत्यं वा सत्यमुच्यते। भावसत्यं च तल्लोके, दृष्टश्चौरो यथात्र न ॥२९८॥

अर्थ—जो हिंसादिक पापों से रहित, वचन हैं उनको 'भाव सत्य' कहते हैं; जैसे—घरमें 'चोर' रहते हुए भी कहना कि यहां नहीं है ॥२९८॥

औपम्येनात्र संयुक्तं, ब्रूयते वचनं च यत्। उपमासत्यमेवैतद्, यथा पल्योपमादयः ॥२९९॥

अर्थ—जो वचन किसी 'उपमा' के साथ कहे जाते हैं उन्हें 'उपमा सत्य' कहते हैं, जैसे—पल्य, सागर आदि ॥२९९॥

अमीभि र्दशभि र्भाषाभेदै धर्मप्रवृत्तये। आगमोक्तैः स्वतत्त्वज्ञाः, वदन्तु सूनृतं वचः ॥३००॥

अर्थ—आत्मतत्त्वको जाननेवाले, पुरुषों को धर्मकी प्रवृत्ति करनेके लिये आगम में कहे अनुसार, भाषा भेद से जो १० प्रकार के सत्य के भेद हैं उन्हें ही बोलना चाहिये ॥३००॥

असत्य वचन का स्वरूप—

भाषा भेदेभ्य एतेभ्यो, दशभिः प्रोच्यतेऽन्यया। विपरीताऽशुभाभाषा, तदसत्यं वचोमतम् ॥३०१॥

अर्थ—भाषा के भेद से जो सत्य के १० भेद बतलाये हैं उससे विपरीत जो अशुभ भाषा है उसको 'असत्य वचन' कहते हैं ॥३०१॥

सत्यासत्यद्वयोपेता, भाषा या ब्रूयते नरैः। सात्र सत्यमृषा, भाषा भाषिता श्री जिनागमे ॥
तस्मात् सत्यमृषा वादात्, विपरीतं च भाषणम्। यत्सासत्यमृषा भाषा, नवधा कथिता श्रुते ॥

अर्थ—मनुष्यों के द्वारा, जो सत्य और असत्य उभय रूप भाषा बोली जाती है उसको जिनागम में 'सत्या सत्य' भाषा कहते हैं। उस 'सत्यासत्य' भाषा से जो विपरीत भाषण है उसको 'अनुभय भाषा' कहते हैं; अथवा 'असत्यासत्य' कहते हैं, वह अनुभय भाषा शास्त्रों में ९ प्रकार की बतलाई है ॥३०२-३०३॥

९ प्रकार की अनुभय भाषा के भेद—

प्रथमा मंत्रिणी भाषा, ज्ञापना याचनाभिधा। संपृच्छना तथा प्रज्ञा पना भाषा च पंचमी ॥
प्रत्याख्यानाह्वयेच्छा, नुलोमाख्या सप्तमी ततः। संशयादि वचन्यंत, भाषाष्टमी ततोऽपरा ॥
अनक्षराभिधाभाषा, सारासत्यमृषाह्वया। असत्यासत्यभाषाया, नवभेदा भवन्त्यमी ॥३०६॥

अर्थ—(१) आमंत्रणी (२) आज्ञापना (३) याचना (४) संपृच्छना (५) प्रज्ञापना (६) प्रत्याख्याना (७) इच्छानुलोमा (८) संशयवचनी (९) अनक्षरा ये ९ अनुभय भाषा के भेद हैं ॥३०४-३०५-३०६॥

आमंत्र्यते यया लोकोऽभिमुखी क्रियते प्रति। व्यापारान्तरमेवान्यै र्भाषासामन्त्रणी स्मृता ॥

अर्थ—किसी को अपने सामने करने के लिये, बुलाने के लिये अथवा व्यापारान्तर करने के लिये, दूसरों के द्वारा, जो भाषा बोली जाती है उसको (१) आमंत्रणी भाषा कहते हैं ॥३०७॥

आज्ञाप्यते यथा लोके, आज्ञां तेऽहं ददामि भोः। इत्यादि वचनं यत्सा, ज्ञापना गीर्निरूपिता ॥

अर्थ—"मैं तुमको यह आज्ञा देता हूं" इसप्रकार जो आज्ञा रूप वचन कहना है उसको (२) 'आज्ञापनी' भाषा कहते हैं ॥३०८॥

याचना क्रियते लोके, यया सा याचनाख्यगीः। यथाहं याचयामि त्वां किंचिद्वस्तु शुभाशुभम् ॥

अर्थ—मैं तुमसे यह शुभ या अशुभ वस्तु मांगता हूं, इसप्रकार मांगने के लिए जो भाषा बोली जाती है उसको 'याचना नामकी' भाषा कहते हैं ॥३०९॥

संपृच्छयते ययान्यैः सा, भाषा संपृच्छनाह्वया। यथा पृच्छाम्यहंत्वा च, किंचित्कार्यं हिताहितं ॥

अर्थ—मैं तुमसे कुछ 'हित या अहित की बात पूछना चाहता हूं' इसप्रकार जो दूसरों के द्वारा पूछने के लिये जो भाषा बोली जाती है उसको 'संपृच्छना' भाषा कहते हैं ॥३१०॥

यया प्रज्ञाप्यते लोको, भाषा प्रज्ञापनात्र सा। यथा प्रथापयामि त्वा, महं किंचिन्मनोगतम् ॥

अर्थ—मैं तुमको अपने मन की कुछ बात बताना चाहता हूं इसप्रकार लोगों को कुछ सूचना देने की बात कही जाती है उसको 'प्रज्ञापना' भाषा कहते हैं ॥३११॥

यत्प्रत्याख्यायते भाषया, सा भाषात्र कथ्यते। प्रत्याख्याना यथा, प्रत्याख्यानं मेदीयतामिदम् ॥

अर्थ—'मुझे यह प्रत्याख्यान दीजिये' इस प्रकार भाषा के द्वारा जो प्रत्या-

ख्यान किया जाता है उसको 'प्रत्याख्याना' भाषा कहते हैं ।।३१२।।

सर्वत्रात्रानुकूलाया, स्वेच्छया प्रोच्यते जनैः । भाषा सेच्छानुलोमाख्या, यथैवं च करोम्यहं ।।

अर्थ—'मैं ऐसा करता हूं' इसप्रकार सर्वत्र अपने अनुकूल अपनी इच्छानुसार बोलने को 'इच्छानुलोमा' नामकी भाषा कहते हैं ।।३१३।।

बालवृद्धपशूनां च, यथा नार्थः प्रतीयते । भाषया संशयाद्यंत, वचनी सा निगद्यते ।।३१४।।

अर्थ—बालक, वृद्ध और पशुओं की भाषा से अर्थ की प्रतीति नहीं होती इसलिये उसको 'संशय वचनी' भाषा कहते हैं ।।३१४।।

अनक्षरगता भाषा, याद्वीन्द्रियादि देहिनाम् । साऽत्रा सत्यमृषा नाम्नी, कथ्यते नवमीबुधैः ।।

अर्थ—दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि जीवों की जो अक्षररहित भाषा है उसको 'अनक्षरा' नामकी 'अनुभय भाषा' कहते हैं ।।३१५।।

विशेषा प्रतिपत्तेनं, मृषाभेदनवान्विता । (आगे की पंक्ति मूल पाठ में ही नहीं है ।) ।।३१६।।

अर्थ—इन ९ प्रकार की भाषाओं में पदार्थ के विशेष स्वरूप का ज्ञान नहीं होता; इसलिये ये वचन सत्य नहीं कहलाते; तथा इनसे सामान्य का ज्ञान होता है इसलिये इनको असत्य भी नहीं कहते; एतएव इन ९ प्रकार की भाषाको 'अनुभय' वचन कहते हैं ।।३१६।।

शश्वन्मौनं विधातुं ये, समर्था योगिनो भुवि । सत्यानुभयभाषाभ्यां, ते ब्रुवन्तु वचः शुभम् ।।

अर्थ—इस संसार में जो मुनि सदा काल मौन धारण करने में असमर्थ हैं उनको सत्य और अनुभय भाषा के द्वारा शुभ वचन कहने चाहिये ।।३१७।।

कर्कशा कटुका भाषा, परुषा निष्ठुराघदा । परप्रकोपिनी मध्य, कृशाभिमानिनीचगीः ।।३१८।।
तथानयंकरा छेदं, करी मूतवधंकरी । निंद्येमा दशधा भाषा, त्याज्या निंद्याधिकारिणी ।।३१९।।

अर्थ—(१) कर्कश (२) कठोर (३) कटुक (४) निष्ठुर (५) पर प्रकोंपिनी (६) मध्यकृशा (७) अभिमानिनी (८) अनयंकरी (९) छेदंकरी (१०) और मूतवधंकरी ये १० प्रकार की भाषायें 'निंद्य' कहलाती हैं; निंद्य जीव ही इसके बोलने के अधिकारी होते हैं इसलिये इन निंद्य भाषाओं का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । ।।३१८-३१९।।

त्वं मूर्खस्त्वं बलीवर्दो, न किंचिद्वेत्सिरे शठ। संताप जननी त्याद्या, यागीः सा कर्कशोच्यते ॥

अर्थ—तू मूर्ख है; तू बैल है, अरे शठ ! तू कुछ नहीं जानता इसप्रकार की संताप को उत्पन्न करने वाली जो भाषा है, उसको 'कर्कश' भाषा कहते हैं ।३२०।

कुजातिस्त्वं च निर्धर्म, इत्यादि वचनं च यत् । उद्वेगजननी भाषा, कटुका सा मतागमे ॥३२१॥

अर्थ—तू कुजाति है; तू अधर्मी है; इस प्रकार के जो वचन हैं या उद्वेग करने वाली भाषा है उसको आगम में 'कटुक भाषा' कहते हैं ॥३२१॥

अनेकदेश दुष्टोऽसि, त्वमाचारपरांगमुखः । इत्यादि यद्वचो मर्म, चालनी परुषात्र सा ॥३२२॥

निष्ठुर भाषा—

अर्थ—'तू बहुत अंशों में दुष्ट है; तू आचार पालन करने से परांगमुख है' इसप्रकार के मर्म छेदने वाले वचनों को 'परुष' भाषा कहते हैं ॥३२२॥

त्वामहं मारयिष्यामि, कर्त्तयिष्यामि ते शिरः। इत्यादि ब्रूयते वाक्यं, यत्सा भाषातिनिष्ठुरा ॥

अर्थ—'मैं तुझे मार डालूंगा तेरा मस्तक काट डालूंगा इस प्रकार के वचन कहना निष्ठुर भाषा है ॥३२३॥

परकोपिनी भाषा—

किं ते तयोऽत्र निर्लज्जस्त्वंरागी हसनोद्यतः । इत्यादि कोपकृद्वाक्यं, यत्सागीः परंकोपिनी ॥३२४॥

अर्थ—हे निर्लज्ज, तू यह क्या तपश्चरण करता है क्योंकि तू रागी है, सदा हंसता ही रहता है । इस प्रकार के क्रोध उत्पन्न करने वाले वचनों को 'परकोपिनी' भाषा कहते हैं ॥३२४॥

हड्डानांमध्यभागं च, यया निष्ठुरया गिरा । कृत्यते सुमतां मध्य, कृशा सा निर्दयात्रगीः ॥३२५॥

अर्थ—जिस निष्ठुर भाषा से, हड्डी के मध्य भाग भी कट जाय, ऐसी निर्दय भाषा को 'मध्यकृषा' भाषा कहते हैं ॥३२५॥

अभिमानिनी भाषा—

स्वगुणख्यापनं लोके परेषां दोषभाषणम् । यया च क्रियते निंद्यै, निंद्यागीः साभिमानिनी ॥

अर्थ—निंद्य लोग जिस भाषा से अपने गुणों का वर्णन करते हैं और दूसरे के दोषों का वर्णन करते हैं उस भाषा को 'अभिमानिनी' भाषा कहते हैं ॥३२६॥

अनयंकरी भाषा—

या खंडनकरी शीलानां या चाचोन्य गतात्मनाम्। 'विद्वेषकारिणी' भाषा, स्मृता सात्रानयंकरा।।

अर्थ—जो भाषा परस्पर एक दूसरे के शील खंडन करनेवाली है या परस्पर विद्वेष उत्पन्न करनेवाली है उसको 'अनयंकरी' भाषा कहते हैं ।।३२७।।

छेदंकरी भाषा—

वीर्यशीलगुणादीनां, या निर्मूलविधायिनी। असद्भूतान्यदोषोद्भाविनी छेदंकरात्र सा ।।३२८।।

अर्थ—जो भाषा वीर्य शील और गुणों को निर्मूल नाश करने वाली है; जो असत्य है और दूसरों के दोषों को कहने वाली है वह 'छेदंकरी' भाषा है ।।३२८।।

भूतवधंकरी भाषा—

प्राणनाशोऽशुभं पीड़ा, भूतानां जायते यथा। सर्वानिष्टकरी भूता, सा गीर्भूतवधंकरी ।।३२९।।

अर्थ—जिस भाषा से जीवों का प्राण नाश होता हो; अशुभ और पीड़ा उत्पन्न होती हो; जो सब तरह का अनिष्ट करने वाली हो; उसको 'भूतबंधकारी' भाषा कहते हैं ।।३२९।।

इमा दश विधा भाषाः, खन्या सर्वैनसां भुवि। प्राणान्तेऽपि न वक्तव्या, मुनिभिः परदुःखदाः ।।

अर्थ—यह १० प्रकार की भाषा, ससस्त पापों की खान है; और दूसरों को दुःख देनेवाली है। इसलिये मुनियों को अपने प्राण नाश होने पर भी, ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये ।।३३०।।

विधेया न कथा स्त्रीणां, श्रृंगार रसवर्णनैः। कामादि दीपिका जातु, व्रतिभिः ब्रह्मनाशिनी ।।

अर्थ—व्रती पुरुषों को ऐसी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये; जो काम के विकार को बढ़ाने वाली हो; और ब्रह्मचर्य को नाश करने वाली हो तथा ऐसी कथा भी नहीं कहनी चाहिये; जिसमें स्त्रियों के श्रृंगार रस का वर्णन हो ।।३३१।।

भक्तपान रसादीनामिष्टानां सुखकारिणाम्। क्वचिन्न कुकथा कार्या, हारसंज्ञाप्रवर्द्धिनी ।।३३२।।

अर्थ—आहार संज्ञा को बढ़ाने वाली, तथा मीठे और सुख देनें वाले भोजन पान या रस आदि का वर्णन करने वाली कुकथा या भोजन कथा भी नहीं कहनी चाहिये ।।३३२।।

रौद्रकर्मोद्भवा निद्या, रौद्रसंग्रामपोषणैः। भूभुजां कुकथा त्याज्या, रौद्रध्यानविधायिनी ।।३३३।।

अर्थ—रौद्र संग्राम का वर्णन करने से रौद्र कर्म को उत्पन्न करने वाली और

रौद्रध्यान को बढ़ाने वाली निंदनीय राज्य कथा भी कभी नहीं कहनी चाहिये ।।३३३।।

विकथाओं का निषेध—

चौराणां बहुदेशानां, मिथ्यादृष्टिकुलिंगिनां । अर्थार्जनं विधीनां च, भाषणं वैरिणाम् भुवि ।।
मृषास्मृतिकुशास्त्रादि, पुराणानां च या कथाः । विकथास्ता न कर्त्तव्या, न श्रोतव्या अघाकराः ।।

अर्थ—(१) चोरों की कथा (२) अनेक देशों की कथा (३) मिथ्यादृष्टि कुलिंगियों की कथा (४) धन उपार्जन के कारणों की कथा (५) शत्रुओं की कथा (६) मिथ्या स्मृति शास्त्र कुशास्त्र, मिथ्या पुराणों की कथायें या पाप उत्पन्न करने वाली विकथायें कभी नहीं कहनी चाहिये; न कभी सुननी चाहिये ।।३३४-३३५।।

किमत्र बहुनोक्तेन, जिन केवलियोगिनाम् । मुक्त्वा धर्मकथाअन्याः, कार्या जातु न संयतैः ।।

अर्थ—बहुत कहने से क्या ? थोड़े में इतना समझ लेना चाहिये कि मुनियों को भगवान् अरहंत देव, केवली भगवान् और मुनियों की धर्म कथाओं को छोड़कर बाकी की कोई कथा नहीं कहनी चाहिये ।।३३६।।

विकथाचारिणामत्र, यतो नश्येच्छ्रुतं मति । महान् पापास्रवो नित्यं, मूर्खता च प्रजायते ।।

अर्थ—इसका भी कारण है कि विकथा कहने वालों की बुद्धि और श्रुतज्ञान सब नष्ट हो जाता है तथा प्रति समय तीव्र पाप कर्मों का आस्रव होता रहता है और मूर्खता भी प्रकट होती है ।।३३७।।

परनिंदा न कर्त्तव्या, स्वान्यदुःखविधायिनी । पृष्ठमांसोपमा जातु, वृथाघास्रवकारिणी ।।३३८।।

अर्थ—मुनियों को पर-निंदा भी कभी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि परनिंदा अपने को तथा दूसरोंको सबको दुःख देनेवाली है; व्यर्थ ही पापास्रव उत्पन्न करनेवाली है; और पीठ के मांस के समान (कुबड़े के कुब्ज के समान) दु ख देने वाली है। ।।३३८।।

कैसी वाणी कभी नहीं बोलनी चाहिये—

जायेतात्र यथान्येषां, पीडावधश्च देहिनां । क्लेशाद्यब्धौ पतेत्स्वात्मा, सा गीर्वाच्या न योगिभिः ।।

अर्थ—मुनियों को कोई भी ऐसी वाणी नहीं बोलनी चाहिये जिससे कि अन्य प्राणियों को पीड़ा या वध होता हो अथवा क्लेश होता हो अथवा अपनी आत्मा क्लेश आदि के महासागर में पड़ती हो ऐसी वाणी कभी नहीं कहनी चाहिये ।।३३९।।

चतुर्विधसुसंघानां, निर्दोषाणां निसर्गतः । जातु दोषो न वक्तव्यः, प्राणान्तेप्यघसागरः ॥३४०॥

अर्थ—चारों प्रकार का संघ स्वभाव से ही निर्दोष है; इसलिये प्राणों का अन्त समय आने पर भी संघ का दोष नहीं कहना चाहिये; क्योंकि संघका दोष कहना महापाप का कारण है ॥३४०॥

मैत्री आदि चारों भावनाओं की उपयोगिता—

सर्वसत्त्वेषु कर्त्तव्या, मैत्री धर्मस्वनी परा । प्रमोदः परमः कार्यो, गुणाधिकतपस्विषु ॥३४१॥
करुणाक्लिष्टजीवेषु, विधेयानुग्रहादिभिः । माध्यस्थं मुनिभिः कार्यं, विपरीतजडात्मसु ॥३४२॥

अर्थ—मुनियों को समस्त प्राणियों में धर्म की खान ऐसा मैत्री भाव धारण करना चाहिये तथा जो तपस्वी, अधिक गुणी हैं; उनको देखकर परम प्रमोद धारण करना चाहिये । दुःखी जीवों को देखकर अनुग्रह पूर्वक करुणा धारण करनी चाहिये और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मनुष्यों में मध्यस्थता धारण करनी चाहिये ॥३४१-३४२॥

शुभ-भावनाओं का फल—

आभिः सुभावनाभिर्ये, प्रवर्त्तन्तेऽन्वहं बुधाः । लोके मुक्ता इवाहो ते, रागाद्यंशं स्पृशंति न ॥

अर्थ—जो बुद्धिमान्, रात दिन इन भावनाओं का चिंतवन करते हैं; वे इस संसार में मोती के समान रागद्वेष के अंशों को कभी स्पर्श नहीं करते ॥३४३॥

उपसंहारात्मक भाषा का प्रयोग—

विश्वदेहाक्षसौख्यादौ, विरक्तिर्जायते यथा । सम्यग्दृग्ज्ञान चारित्र, शमादि गुण राशयः ॥३४४॥
स्वान्येषां च प्रवर्धन्ते, धैर्यं सम्पद्यते तरां । तपोयोगादि सिध्यैसा भाषा वाच्या मुमुक्षिभिः ॥

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करने वाले, मुनियों को तप और ध्यान की सिद्धि के लिये ऐसी भाषा बोलनी चाहिये जिससे कि शरीर और इंद्रियों के सुख से वैराग्य उत्पन्न हो जाय, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र और समस्त शीतलता आदि अपने या अन्य लोगों के गुणों की वृद्धि हो जाय तथा सर्वोत्तम धीरता की प्राप्ति हो जाय । ॥३४४-३४५॥

भाषा समिति की उपयोगिता—

मूलभूतां न जानाति, भाषासमितिमूर्जिताम् । जिनधर्मस्य यः सोऽत्र, कथं कर्मास्रवांस्त्यजेत् ॥

अर्थ—जो मुनि जिनधर्म की मूलभूत और सर्वोत्कृष्ट ऐसी इस भाषा समिति

को नहीं जानता है वह अपने कर्मों के आस्रव को कैसे रोक सकता है ? अर्थात् कभी नहीं रोक सकता है ।।३४६।।

भाषा समिति का उपसंहारात्मक विवरण—

मत्वेति यत्नतो नित्यं, पालयंतु शिवार्थिनः । भाषासमितिमत्यर्थं, जिनोक्तां शिवसिद्धये ।।३४७।।

अर्थ—यही समझकर, मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये भगवान् जिनेन्द्रदेव की कही हुई भाषा समितिको यत्न पूर्वक प्रतिदिन अच्छी तरह पालन करना चाहिये ।।३४७।।

श्रुतसकलगुणाम्वां, विश्वविज्ञानखानिम् । जिनपतिमुनिसेव्यां, पाविनीं धर्ममूलाम् ।।
शिवशुभगतिवीथीं, मोक्षकामा स्वसिध्यै । प्रभजत समितिं, भाषभिधां सर्वयत्नात् ।।३४८।।

अर्थ—यह भाषा समिति समस्त श्रुतज्ञान को देनेवाली है; समस्त विज्ञानकी खान है; भगवान् तीर्थंकर परमदेव और मुनियों के द्वारा सेवन करने योग्य है, अत्यंत पवित्र है; धर्मकी मूल है तथा मोक्ष और स्वर्गगति का मार्ग है; इसलिये मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये, पूर्ण प्रयत्न के साथ, भाषा समिति का पालन करना चाहिये ।।३४८।।

(३) एषणा समिति का स्वरूप—

शीतोष्णादि यथालब्धं, भुज्यते यन्मुमुक्षुभिः । परगृहेऽशनं शुद्धं, सैषणासमिति मंता ।।३४६।।

अर्थ—मोक्षकी इच्छा करने वाले मुनिराज, दूसरे के घरमें जाकर, शीत या उष्ण जैसा मिल जाता है, वैसा शुद्ध भोजन करते हैं इसी को 'एषणा समिति' कहते हैं ।।३४६।।

मुक्ता यै रष्टभिर्दोषै रेषणाशुद्धि रद्भुता । निर्मला स्यात्प्रवक्ष्येतान्, पिंडशुद्धिमलप्रदाम् ।।३५०।।

अर्थ—आठ प्रकार के दोषों से रहित हो; वही 'एषणा शुद्धि' निर्मल कही जाती है । इसलिये पिंड शुद्धियों से मल उत्पन्न करने वाले उन दोषों को अब कहते हैं ।।३५०।।

ऐषणा के आठ प्रकार के दोष—

षोडशैवोद्गमा दोषाः, षोडशोत्पादनाभिधाः । दशैवासन दोषाहि, दोषः संयोजनाह्वयः ।।३५१।।
अप्रमाणस्तथांगारो, धूमः कारणसंज्ञकः । अमीभिरष्टभिर्दोषैः, समासेन विवर्जितः ।।३५२।।

अर्थ—सोलह तो 'उद्‌गम दोष' कहलाते हैं, १६ 'उत्पादन दोष' कहलाते हैं, १० भोजन के दोष कहे जाते हैं; १ संयोजन, १ अप्रमाण, १ अंगार, १ धूम और एक कारण। संक्षेप से इन ८ दोषों से रहित ही भोजन होना चाहिये ॥३५१-३५२॥

अध: कर्मातिगा पिंड, शुद्धिः स्यादष्टधा परा । निर्मला च मुमुक्षूणां, कर्मास्रव निरोधिनी ॥

अर्थ—इसप्रकार अधःकर्म से रहित, पिंडशुद्धि आठ प्रकार से मानी है। मोक्ष की इच्छा करने वाले मुनियों को ऐसी पिंडशुद्धि ही निर्मल और कर्मों के आस्रव को रोकने वाली कही जाती है ॥३५३॥

एतैर्दोषैर्बहिर्भूतो, गृहि पाखंडिसंश्रितः । योधः कमबृहद्दोषः, षट् प्राणिवधकारकः ॥३५४॥

अर्थ—गृहस्थ और पाखंडियों के आश्रित रहने वाला तथा इन सब दोषों से भिन्न एक अधःकर्म नामका सबसे बड़ा दोष है; तथा यह दोष छहों प्रकार के प्राणियों की हिंसा करने वाला है ॥३५४॥

नीच कर्मोद्भवस्त्याज्यो, दूरतः सोऽत्र संयतैः । पापभीतै महापापकरोऽकीर्त्ति निबंधनः ॥३५५॥

अर्थ—पापों से डरने वाले मुनियों को, नीच कर्मों से उत्पन्न हुआ आहार दूर से ही छोड़ देना चाहिये क्योंकि ऐसा आहार, महा पाप उत्पन्न करनेवाला है और अपकीर्त्ति का कारण है ॥३५५॥

षड्‌विधांगिनिकायानां, मारणं च विराधनम् । कृत्वा निष्पन्न मन्नं, स्वयं कायेनान्नयत्कृतं ॥
कारितं वचसा वानु, मतेन सकलं च तत् । नीचकर्म करं निंद्य, मधः कर्म निगद्यते ॥३५७॥

अर्थ—छहों प्रकार के जीवों को स्वयं अपने हाथ से मारने अथवा उनकी विराधना करने से या वचन के द्वारा दूसरों से मरवाने या विराधना कराने से अथवा अनुमोदना करने से जो अन्न उत्पन्न होता है ऐसे निंदनीय और नीचकर्म से उत्पन्न होने वाले अन्न को 'अधःकर्म' कहते हैं ॥३५६-३५७॥

यह अधःकर्म महा दोष है—

ज्ञात्वेत्ययं महादोषो, ऽत्रासंयतजनाश्रितः । सर्वयत्नेन संत्याज्यः, सदाधः कर्मसंज्ञकः ॥३५८॥

अर्थ—यह 'अधःकर्म' नामका महादोष असंयमी लोगों से उत्पन्न होता है; इसलिये इस 'अधःकर्म' नाम के दोष को अपने पूर्ण प्रयत्नों से सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ॥३५८॥

१६ उद्‌गम दोषों का वर्णन—

आद्य उद्दे शिको दोषो, द्वितीयोऽध्यधिनामकः । पूति मिश्राभिधो दोषः, स्थापितो बलिसंज्ञकः ।।
प्रार्वाततात्ह्वयः प्राविक्करणः क्रीत एव च । ततः प्रामिच्छदोषोऽथ, परिवर्त्तकसंज्ञकः ।।३६०।।
दोषोऽभिघट उद्भिन्नो, मालारोह समाह्वयः। आच्छेद्याख्योप्यनीशार्थो, ऽमीदोषाः षोडशोद्‌गमाः ।।
नागादि देव पाखंडि, दीनाद्यर्थं च यत्कृतं। उद्दिश्यान्तं गृहस्थैत, दुद्दे शिकमिहोच्यते ।।३६२।।

अर्थ—अब १६ उद्‌गम दोषों को कहते हैं—(१) उद्देशिक (२) अध्यधि (३) पूति (४) मिश्र (५) स्थापित (६) बलि (७) परावर्त्तित (८) प्राविक्करण (६) क्रीत (१०) प्रामिच्छ (११) परिवर्त्तक (१२) अभिघट (१३) उद्भिन्न (१४) मालारोहण (१५) आच्छेद्य और (१६) अनीशार्थ ये १६ 'उद्यम दोष' कहलाते हैं। ।।३५९-३६१।।

(१) उद्दे शक दोष—

अर्थ—गृहस्थों के द्वारा जो नागादि देवों के उद्देश्य से अथवा पाखंडियों के या दीन हीन मनुष्यों के उद्देश्य से जो आहार तैयार करते हैं, ऐसे आहार को लेना (१) 'उद्देशक दोष' कहलाता है ।।३६२।।

सामान्यांश्च जनान् कांश्चित्, तथा पाखंडिनोऽखिलान्। श्रमणाञ्च परिव्राजकादीन्निर्ग्रंथ संयतान् ।।
उद्दिश्य यत्कृतं चान्न, मुद्दे शिकं चतुर्विधम् । तत्सर्वं मुनिभिस्त्याज्यं, पूर्वसावद्यदर्शनात् ।।३६४।।

अर्थ—एक तो अन्य सामान्य लोगों के लिये, भोजन बनाया जाता है; दूसरे बहुत से पाखंडियों के लिये बनाया जाता है तीसरे परिव्राजक साधुओं के लिये बनाया जाता है और चौथे निर्ग्रंथ मुनियों के लिये बनाया जाता है; वह जो चारों के उद्देश्य से आहार बनाया जाता है वह चार प्रकार का 'उद्देशिक' कहलाता है। मुनियों को उस आहार के बनने के सब पापों को देख कर सबका त्याग कर देना चाहिये। ।।३६३-३६४।।

(२) अध्यधि दोष—

दानार्थं संयतान् दृष्ट्वा, निक्षेपोयः स्वतंडुले। अन्येषां तंडुलानां स, दोषोध्यधिसमाह्वयः ।।३६५।।

अर्थ—आहार के लिये आते हुए संयमियों को देखकर पकते हुए अपने चावलों में किसी दूसरेके चावल और मिला देना (२) 'अध्यधि' नामका दोष कहलाता है ।।३६५।।

अन्नपानादिकं मिश्रं, यदप्रासुकवस्तुना । पूति दोषः स एव स्यात् पंच भेदोऽघकारकाः ॥३६६॥

अर्थ—जो अन्नपानादिक अप्रासुक वस्तु से मिला हो उसको 'पूति दोष' कहते हैं। यह 'पूति दोष' पाप उत्पन्न करने वाला है और उसके ५ भेद हैं ॥३६६॥

(३) पूति दोष—

रन्धन्युदूखलौ दर्वीभोजनं गंध एव हि । पूतिदोषो इमे ज्ञेया, पंच सावद्यकारिणः ॥३६७॥

अर्थ—रंधनी (चूल्हा) उदूखल (ओखली) दर्वी (करछली) भोजन और गंध ये ५ प्रकार के 'पूति दोष' कहलाते हैं। ये सब पाप उत्पन्न करने वाले हैं ॥३६७॥

रंधन्या प्रवराहारं, निष्पाद्य साधवे चर्यं । दास्याम्यादौ ततो न्येषां, पूतिदोषः स उच्यते ॥

अर्थ—इस चूल्हे पर सबसे उत्तम आहार बनाया है; इसे सबसे पहले किसी साधु के लिये दूंगा तदनंतर किसी दूसरे को दूंगा ऐसे आहार में 'पूति दोष' उत्पन्न होता है ॥३६८॥

चूर्णयित्वा शुभं वस्तूदूखले योगिने च यत् । यावद्दास्यामि नान्येभ्यस्तावत्पूतिः स कथ्यते ॥

अर्थ—किसी ओखली में अच्छी वस्तु कूटकर विचार करना कि जबतक इसमें से मुनि को नहीं दे दूंगा तब तक किसी दूसरे को नहीं दूंगा; ऐसे आहार में भी 'पूति दोष' उत्पन्न होता है ॥३६९॥

द्रव्यार्नयाकृतं द्रव्यं, यावद्दास्यामि नोऽर्जितम् । ऋषिभ्योऽन्यस्य तावन्नपूतिदोषः स पापकृत् ॥

अर्थ—इस करछली से यह श्रेष्ठ द्रव्य बनाया है; जब तक इस करछली से ऋषियों को नहीं दे लूंगा तब तक किसी दूसरे को नहीं दूंगा इसप्रकार के अन्न में पाप उत्पन्न करने वाला 'पूति दोष' होता है ॥३७०॥

ददामि भोजनं यावत् साधुभ्यो न श्रु तावहं । इदं तावन्न चान्येषां, योग्यं पूतिः स एव हि ॥

अर्थ—इस भोजन में से जब तक साधुओं को नहीं दूंगा तब तक दूसरों को नहीं दूंगा ऐसे अन्न में भी 'पूति दोष' प्रगट होता है ॥३७१॥

यतिभ्यो दीयते नायं, गंधो भोजनपूर्वकः । यावत्तावन्न योग्योत्र, स्वान्येषां पूतिरेव सः ॥३७२॥

अर्थ—इस गंध में सें जब तक आहार देकर मुनियों को न चढ़ा लूंगा तब तक यह गंध दूसरों को नहीं दूंगा । इस प्रकार के अन्न में भी 'पूति दोष' होता है ॥३७२॥

प्रथमारंभ संजात, मिदमाहार मंजसा । यतिभिः परिहर्त्तव्यं, दातृसंकल्पदोषजं ।।३७३।।

अर्थ—अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थ से प्रथम आरंभ हुआ, प्रथम ही बनाया हुआ, भोजन मुनियों को ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसमें दाताके संकल्प का दोष उत्पन्न हो जाता है ।।३७३।।

(४) मिश्र दोष—

मुनिभ्यो दातुमुद्दिष्टः, निष्पन्न मशनं च यत् । सार्द्धं पाखंडिसागारैः, मिश्रदोषोऽत्र सौघदः ।।

अर्थ—मुनियों को देने के उद्देश्य से पाखंडी गृहस्थों के साथ-साथ जो अन्न तैयार किया गया है उसमें (४) 'मिश्र' नामका दोष उत्पन्न होता है ।।३७४।।

(५) स्थापित दोष—

पाकं भाजनतोऽन्यस्मिन्, भाजनेस्थापितं च यत् । अन्नं स्वान्यस्य गेहेवा, सदोषः स्थापिताह्वयः ।।

अर्थ—जिस बर्त्तन में भोजन बनाया गया हो, उसमें से लेकर यदि किसी दूसरे बर्त्तन में रख दिया गया हो, चाहे वह अपने घरमें रखा हो; और चाहे दूसरों के घर में रख दिया हो ऐसे अन्न के लेने में (५) 'स्थापित' नामका दोष होता है ।।३७५।।

(६) बलि दोष—

यक्षनागादि देवानां, निमित्तं यः कृतो बलिः । तस्य शेषः स प्रज्ञप्तः, उपचारेण भो बलिः ।।

अर्थ—किसी यक्ष, नाग आदि देवों के लिये जो अन्न तैयार किया जाता है उसमें से उनको देकर जो बच रहता है उसको उपचार से (६) 'बलि' कहते हैं । ।।३७६।।

संयतागमनार्थं यद् बलिकर्म विधीयते । अर्चाम्बु क्षेपणाद्यैर्वा बलिदोषः स उच्यते। ।।३७७।।

अर्थ—अथवा संयमियों के आने के लिये पूजा, नल क्षेपणादि के द्वारा जो बलिकर्म किया जाता है वह भी (६) 'बलि' नामका दोष कहा जाता है ।।३७७।।

(७) परावर्त्तित दोष—

द्विधा प्राभृतकं बादर सूक्ष्माभ्यां प्रकीर्त्तितं । बादरं द्विविधं काल, हानिर्वृद्धि द्विभेदतः ।।३७८।।
सूक्ष्मं प्राभृतकं द्वेधोक्तं काल हानिवृद्धितः । अमीषां विस्तरेणैतान् भेदान् श्रृणु ब्रुवेऽधुना ।।

अर्थ—प्राभृत दोष के २ भेद होते हैं एक बादर और दूसरा सूक्ष्म । कालकी

हानि और वृद्धि के भेद से सूक्ष्म प्राभृतके भी २ भेद हैं। अब आगे इन्हीं सब भेदों का स्वरूप विस्तार के साथ कहते हैं तुम सुनो ।।३७८-३७९।।

परावृत्य दिनं पक्षं, मासं वर्षं च दीयते। वारं यद्दिवसाद्यैस्तत्, स्थूलं प्राभृतकं द्विधा ।।३८०।।
वेलां पूर्वाह्ण मध्यान्हा, पराह्वानां विहाय यत्। ददाति हानि वृद्धिभ्यां, सूक्ष्मं प्राभृतकं च तत् ।।

अर्थ—जो दान आज देना हो; उसे कल वा परसों देना अथवा जो दान कल परसों देना हो उसको किसी मुनि के आने पर आज ही देना 'दिवस परावृत्य' नामका 'स्थूल प्राभृत' दोष है। जो दान शुक्ल पक्ष में देना हो, उसे कृष्ण पक्ष में देना अथवा जो कृष्ण पक्ष में देना हो; उसको शुक्ल पक्ष में देना 'पक्ष परावृत्य' नामका स्थूल प्राभृत दोष है। इसीप्रकार जो दान चैत में देना हो उसे वैशाख में देना अथवा वैशाख में देना हो उसे चैतमें ही देना 'मास परावृत्य' नामका स्थूल प्राभृत दोष है। जो दान अगले वर्ष में देना हो, उसे इसी वर्ष में देना तथा इसी वर्ष में देना हो उसे आगे के वर्ष में देना वर्ष-प्राभृत नामका दोष है। जो दान शामको देना चाहिये उसको किसी संयमी के आ जाने पर सवेरे ही देना अथवा सवेरे देना चाहिये उसको शाम को देना या दोपहर को देना; दोपहर के देने योग्य दान को सवेरे या शामको देना, इसप्रकार किसी संयमी के आने पर सवेरे, दोपहर, शाम को देने योग्य दान को बदल कर देना, 'सूक्ष्म प्राभृत' नामका दोष है ।।३८०-३८१।।

इमं प्रावर्त्तितं दोषं हिंसा संक्लेश कारणम्। त्यजन्तु सर्वथा सर्वं, बहुभेदं शिवार्थिनः ।।३८२।।

अर्थ—इसप्रकार काल की मर्यादा के बदलने में हिंसा अधिक होती है और परिणामों में संक्लेशता बढ़ती है इसलिये मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को अनेक प्रकार का यह 'प्राभृत' नामका दोष सर्वथा छोड़ देना चाहिये ।।३८२।।

(८) प्राविष्कार दोष—

प्राविष्कारो द्विधा संक्रमणप्रकाशनाद्भुवि। भाजनानां तथा भोजनादीनां चाघकारकः ।।३८३।।

अर्थ—'प्राविष्कार' नाम के दोष के २ भेद हैं जो कि 'संक्रमण' करने और 'प्रकाश' करनेसे उत्पन्न होते हैं आहार और बर्त्तनों को बदलने, स्थानांतर करने अथवा प्रकाशित करने में पाप उत्पन्न होता है, इसलिये इसको दोष माना है ।।३८३।।

आहारभाजनादीना, मन्यस्माच्चप्रदेशतः। अन्यत्र नयनं भस्मादिना मार्जनं य यत् ।।३८४।।
प्रदीपज्वालनं मंड, पादैः प्रद्योतनं हि सः। प्राविष्करो खिलो दोषः, पापरंभादि वर्धकः ।।३८५।।

अर्थ—आहार और बर्त्तनों को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में ले जाना, अथवा बर्त्तनों को भस्म से मांजना अथवा दीपक जलाकर मंडप को प्रकाशित करना या घर में प्रकाश करना 'प्राविष्कार' नामका दोष है। यह दोष पाप और आरंभ को बढ़ाने वाला है इसलिये इसका त्याग कर देना चाहिये ॥३८४-३८५॥

(९) क्रीत दोष—

स्वकीयं परकीयं वा, द्रव्यं चेतनेतरम् । दत्त्वा प्रगृह्य चाहारं पात्रेभ्यो दीयते तथा ॥३८६॥
स्वमंत्रं परमंत्रं वा, दत्त्वा दायाशनं च यत् । तत् सर्वं क्रीत दोषत्वं, जानीहिक्लेश पापदं ॥३८७॥

अर्थ—अपने वा दूसरों के गाय, भैंस आदि चेतन पदार्थ अथवा रुपया पैसा आदि अचेतन पदार्थों को देकर, आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना 'क्रीतदोष' है अथवा अपनी विद्या वा मंत्रको देकर आहार लेना और फिर उसे मुनियों को देना 'क्रीत दोष' है। यह दोष भी क्लेश और पापको उत्पन्न करनेवाला है ॥३८६-३८७॥

(१०) प्रामिच्छ दोष—

ऋणेनानीय दाता, यत्परान्नं परगेहतः। भक्त्या ददाति पात्राय, दोषः 'प्रामिच्छ' एव सः ॥

अर्थ—जो दाता दूसरे के घरसे, कर्ज के रूप में दाल, चावल, रोटी आदि लाता है और उसे भक्ति पूर्वक मुनियों को देता है उसके (१०) 'प्रामिच्छ' नामका दोष लगता है ॥३८८॥

(११) परिवर्त्तक दोष—

स्वान्नं दत्त्वा न्यगेहादानीयान्नं च यत् । यतिभ्यो दीयतेभक्त्या, स दोषः 'परिवर्त्तितः' ॥३८९॥

अर्थ—जो दाता अपने भात या रोटी को देकर दूसरे के घर से मुनियों को देने के निमित्त श्रेष्ठ भात रोटी लेकर भक्ति पूर्वक मुनियों को देता है उसको (११) 'परिवर्त्तक' नामका दोष लगता है ॥३८९॥

(१२) अभिघट दोष—

द्विधाभिघटमत्रोक्तं, देश सर्व प्रभेदतः। तद्देशाभिघटं द्वेधा, योग्यायोग्यप्रकारतः ॥३९०॥

अर्थ—(१२) 'अभिघट' दोष के २ भेद हैं एक 'देशाभिघट' और दूसरा 'सर्वाभिघट' उसमें जो देशाभिघट के २ भेद हैं—एक योग्य और दूसरा अयोग्य ।३९०।

द्वित्र्यादि सप्तगेहेभ्यः, पंक्तिक्रमेण वस्तु यत् । आगतं चान्नपानादि, तद्योग्यं योगिनां मतं ॥

अर्थ—जो अन्न, पान पंक्ति रूपमें रहने वाले दो तीन आदि सात घरों से आया है वह मुनियों के लिये 'योग्य' माना जाता है ।।३९१।।

यस्मात् कस्माद् गृहात्, पंक्त्या बिना वाष्टमगेहतः । आहारादि यदानीतं, ग्रहणायोग्यमेवतत् ।।

अर्थ—जो अन्न, पान बिना पंक्ति रूप से बने हुये जिस किसी घर से लाया गया है अथवा आठवें, नौवें घर से लाया गया है; वह मुनियों के ग्रहण करने के 'अयोग्य' समझा जाता है ।।३९२।।

नोट—मूल में ३९३ श्लोक छपना रह गया है उसका अर्थ
मात्र नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये ।।३९३।।

अर्थ—जो अन्न, पान अपने गांव से आया है अथवा दूसरे गांव से आया है या अपने देश से आया है या दूसरे देश से आया है ऐसे अन्न पानको देना 'सर्वाभिघट' नामका दोष कहलाता है ।।३९३।।

चतुर्विधं परिज्ञेयं, स्वपाटकान्यपाटकात् । ओदनादि यदानीतं, स्वग्रामाभिघटं हि तत् ।।३९४।।

अर्थ—इस प्रकार 'सर्वाभिघट' दोष के ४ भेद हैं (१) स्वग्रामाभिघट (२) परग्रामाभिघट (३) स्वदेशाभिघट (४) परदेशाभिघट । एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में लाना (१) 'स्वग्रामाभिघट' है और पर ग्राम से अपने ग्राम में लाना (२) 'परग्रामाभिघट' है । अपने देश से गांव में लाना (३) 'स्वदेशाभिघट' है और परदेश से गांव में लाना 'परदेशाभिघट' है ।।३९४।।

एवं सर्वोऽपि संत्याज्यो, दोषोऽभिघटसंज्ञकः । संयतैः संयमार्थं हि, यातायाताभिबाधनात् ।।३९५।।

अर्थ—इन सब दोषों में आने जाने में जीवों को बाधा होती है इसलिये संयमियों को अपना संयम पालन करने के लिये सब तरह के (१२) 'अभिघट' दोषों का त्याग कर देना चाहिये ।।३९५।।

(१३) उद्भिन्न दोष—

घृतादि भाजनं कर्दं, मादिना मुद्रितं व्रतम् । उद्भिद्य यच्चदेयं स, उद्भिन्नदोषनामकः ।।३९६।।

अर्थ—जो घी, गुड़, शक्कर का पात्र, किसी से ढका हो या कीचड़ आदि के जंतुओं से आच्छादित हो रहा हो, उसको उघाड़ कर मुनियोंको देना (१३) 'उद्भिन्न' नाम का दोष कहलाता है । ढके हुये में भी चींटी आदि चढ सकती है इसलिये यह

दोष माना है ।।३९६।।

(१४) मालारोहण दोष—

नि:श्रेण्यादिकमारुह्य, द्वितीयगृहभूमितः । आनीतं खलु यद्देयं, स मालारोहणो मलः ।।३९७।।

अर्थ—जो अन्न, पान नसैनी पर चढ़कर या उतर कर ऊंची या नीची दूसरे की भूमिपर से लाकर, मुनियों को दिया जाता है उसमें 'मालारोहण' दोष लगता है। इसमें दाता का अपाय होता है ।।३९७।।

(१५) आच्छेद्य दोष—

संयतानागमान् दृष्ट्वा, राजचौर्यादिजाद्भयात् । जनैर्यद्दीयते दानमाच्छेद्य दोष एव सः ।।३९८।।

अर्थ—मुनियों के आगमन को देखकर राजा या चोरों के भय से जो लोगों के द्वारा मुनियों को दान दिया जाता है उसको 'आच्छेद्य' दोष कहते हैं (यदि दान न दोगे तो हम तुम्हारा धन लूट लेंगे या तुम्हें निकाल देंगे। इसप्रकार के डर से डर कर दान देना 'आच्छेद्य' दोष है) ।।३९८।।

(१६) अनीशार्थ नामक दोष—

सारक्षेणेश्वरेणैवानीश्वरेणैवा, नीश्वरेण च दीयते । व्यक्ताव्यक्तेन दानं यद्दोषोऽनीशार्थं एव सः ।।

अर्थ—व्यक्त और अव्यक्त के भेद से ईश्वर के अर्थात् स्वामी वा प्रभु के २ भेद हैं तथा (१) व्यक्त और (२) अव्यक्त ईश्वर और (१) व्यक्त या अव्यक्त 'अनीश्वर' यदि किसी के निषेध करने पर भी दान दे तो उसके 'अनीशार्थं' नामका दोष लगता है ।।३९९।।

ऐसा क्यों इसका कारण—

एकोदानं ददात्यन्यो, निषेधयति यद्भुवि । इत्यादि सोखिलो ज्ञेयो, दोषोऽनीशार्थं संज्ञकः ।।

अर्थ—इसमें एक दान देता है और दूसरा निषेध करता है; इसप्रकार के दान में 'अनीशार्थं' नामका दोष लगता है ।।४००।।

सभी १६ उद्गम दोषों के त्याग की आवश्यकता—

षोडशैव परित्याज्याः, सद्भिःक्लेशापकारिणः । (आगे की पंक्ति नहीं है) ।।४०१।।

अर्थ—इसप्रकार ये 'उद्गम' नाम के १६ दोष हैं। ये दाता और पात्र दोनों के आश्रित हैं और क्लेश तथा पाप उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये सज्जनों को इन

सब दोषों का त्याग कर देना चाहिये ।।४०१।।

१६ उत्पादन दोष—

धात्रीदूतो निमित्ताख्यो, दोष आजीवनाह्वयः । वनीपक वचो दोषः, चिकित्सादोष एव च ।।
क्रोधो मानो तथा माया, लोभश्च पूर्वसंस्तुतिः । पश्चात्संस्तुति दोषोऽथ विद्यामंत्रसमाह्वयः ।।
चूर्णयोगाभिधो मूल, कर्मंते षोडशा शुभाः । ज्ञेया पात्राश्रिता दोषा, उत्पादन समाह्वयाः ।।४०४।।

अर्थ—आगे सोलह उत्पादन दोषों को कहते हैं—ये दाता और पात्र दोनों के आश्रित होते हैं उनके नाम नीचे लिखे अनुसार हैं—(१) धात्री (२) दूत (३) निमित्त (४) आजीवन (५) वनीपक वचन (६) चिकित्सा (७) क्रोध (८) मान (९) माया (१०) लोभ (११) पूर्वसंस्तुति (१२) पश्चात्संस्तुति (१३) विद्या (१४) मंत्र (१५) चूर्ण योग और (१६) मूलकर्म ।।४०२-४०३-४०४।।

(१) धात्री दोष—

मज्जनं मंडनं क्रीडनं, क्षीरपानकारणम् । तथा स्वापविधिं, बालकानां युक्तोपदेशनैः ।।४०५।।
गृहिणामुपदिश्योत्पाद्यान्नं चात्रीव यद्भुवि । संयतै गृंह्यते निंद्यं, धात्रीदोषः सचोच्यते ।।

अर्थ—जो मुनि गृहस्थों को युक्ति पूर्वक धाय के समान बच्चों को स्नान कराने, वस्त्राभूषण पहनाने, क्रीड़ा कराने, दूध पिलाने और सुलाने आदि की विधिका उपदेश देकर निंद्य रीतिसे अन्न उत्पन्न कर ग्रहण करते हैं उनके निंदनीय (१) 'धात्री' नामका दोष उत्पन्न होता है ।।४०५-४०६।।

(२) दूतकर्म दोष—

स्वापरग्रामदेशादिभ्योऽत्र सागारिणां क्वचित् । आनीय शुभसन्देशं, निवेद्य तेन गेहिभिः ।।
जातहर्षैः प्रदत्तं यदन्नदानमयुक्तिजम् । भुज्यते साधुभिः, दूतः दोषः स दूत कर्मकृत् ।।४०८।।

अर्थ—जो मुनि अपने देश से या दूसरे देश से तथा अपने या दूसरे के ग्रामसे गृहस्थोंके शुभ समाचार लाता है तथा जहां जाता है वहां के गृहस्थों से उन समाचारों को कहता है, उन समाचारों को सुनकर हर्षित हुये उन गृहस्थों के द्वारा दिये हुए दान को स्वीकार करता है उस साधु के (२) दूतकर्म करने वाला 'दूत' नामका दोष लगता है ।।४०७-४०८।।

(३) निमित्त नामका दोष—

व्यंजनांगे स्वरच्छिन्नो, भौमान्तरीक्ष संज्ञको । लक्षणं च ततः स्वप्नं, निमित्तमष्टधेति वै ।।

एतैरष्टनिमित्तोप देशैरुत्पाद्य साधुभिः। भिक्षाया गृह्यते लोके, निमित्त दोष एव च ॥४१०॥

अर्थ—(१) व्यंजन (२) अंग (३) स्वर (४) छिन्न (५) भौम (६) अंतरीक्ष (७) लक्षण और (८) स्वप्न ये ८ प्रकारके निमित्त माने हैं। इन ८ प्रकार के निमित्तों का उपदेश देकर जो साधु भिक्षा ग्रहण करता है उसके (३) निमित्त नाम का दोष लगता है। (इस दोष से रसास्वादन की लोलुपता और दीनता का दोष लगता है।) ॥४०९-४१०॥

(४) आजीवन दोष—

जातिं कुलं तपः शिल्प, कर्मनिर्दिश्य चात्मनः। करोत्याजीवनं योऽत्र, स आजीवन दोषभाक् ॥

अर्थ—जो मुनि अपनी जाति, कुल, तप और शिल्पकर्म या हाथ की कलाओं का उपदेश देकर या जाति कुल को बतला कर अपनी आजीविका करता है उसको (४) आजीवन नामका दोष लगता है ॥४११॥

(५) वनीपक वचन दोष—

पाखंडिकृपणादीना, मतिथीनां च दानतः। पुण्यं भवेन्न चात्रेति, पृष्ठो दात्रो मुनिः क्वचित् ॥
पुण्यं भवेदिदं चोक्त्वा, ह्यनुकूलं वचोऽशुभं। दातुर्गृह्णाति दानं यो, दोषो वनीपकोऽपि सः ॥

अर्थ—यदि कोई गृहस्थ किसी मुनि से यह पूछे कि पाखंडियों को, कृपण या कोढ़ी आदि को अथवा भिक्षुक ब्राह्मणों को दान देने में पुण्य होता है या नहीं। इसके उत्तर में वह मुनि उस दाता के अनुकूल यह कह दे कि हां, पुण्य होता है। इसप्रकार अशुभ वचन कह कर उसी दाता के द्वारा दिये हुये दानको ग्रहण करता है उसके (५) वनीपक नामका दोष लगता है ॥४१२-४१३॥

(६) चिकित्सा दोष—

(संस्कृत श्लोक नहीं है।) ॥४१४॥

अर्थ—चिकित्सा शास्त्रों में ८ प्रकार की चिकित्सा बतलाई है; उनके द्वारा मनुष्यों का उपकार कर जो मुनि उन्हीं के द्वारा दिये हुये अन्नको ग्रहण करता है उसके चिकित्सा नामका दोष लगता है ॥४१४॥

(७) क्रोध और (८) मान दोष—

क्रोधेनोत्पाद्यते भिक्षा या, क्रोधदोष एव सः। मानेनोत्पाद्यतेऽन्नं मानदोष स एव हि ॥४१५॥

अर्थ—क्रोध दिखला कर जो भिक्षा उत्पन्न की जाती है; उसमें (७) 'क्रोध' नामका दोष उत्पन्न होता है । अपना अभिमान दिखला कर जो भिक्षा उत्पन्न की जाती है उसमें (८) मान नामका दोष लगता है ।।४१५।।

(९) माया नामक दोष—

माया कौटिल्यभावं च, कृत्वाहारादिकं भुवि । उत्पाद्य भुज्यते यैस्तेषां मायादोष एव हि ।।

अर्थ—मायाचारी या कुटिल परिणामों को धारण कर जो आहार उत्पन्न कर ग्रहण किया जाता है उसमें (९) माया नामका दोष लगता है ।।४१६।।

(१०) लोभ दोष—

लोभं प्रदिश्य भिक्षां यः, उत्पादयति भूतले । स्वात्मनो लोभिनस्तस्य, लोभदोषोऽशुभप्रदः ।।

अर्थ—जो मुनि अपना कोई लोभ दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न कर ग्रहण करता है उस लोभी मुनि के पाप उत्पन्न करनेवाला 'लोभ' दोष लगता है ।।४१७।।

प्रत्येक के उदाहरण (७) क्रोध दोष—

पत्तने हस्तिकल्पाख्ये कश्चित्साधुः, कुमार्गगः । भिक्षामुत्पादयामास, क्रोधेन गृहनायकात् ।।

अर्थ—हस्तिकल्प नाम के नगर में किसी कुमार्गगामी साधु ने किसी गृहस्थ से अपना 'क्रोध' दिखला कर भिक्षा उत्पन्न की थी ।।४१८।।

(८) अभिमान दोष का उदाहरण—

वेणातटपुरेऽन्यो भिक्षामुत्पादितवान् मुनिः । मानेन स्वस्य दुर्मार्गं, गतो मानी गृहस्थतः ।।४१९।।

अर्थ—वेष्णातट नामके नगर में कुमार्गमें चलने वाले किसी अभिमानी मुनि ने अपना अभिमान दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न की थी ।।४१९।।

(९) माया दोष का उदाहरण—

वाराणस्यां तथा कश्चित् सलोभः संयतोबुधः । मायया स्वस्य चाहार, माविश्चक्रे ति निंदितं ।।

अर्थ—वाराणसी नगरी में किसी बुद्धिमान् लोभी मुनि ने अपनी मायाचारी प्रगट कर निंदनीय आहार उत्पन्न किया था ।।४२०।।

(१०) लोभ दोष का उदाहरण—

तथान्यः संयतः कश्चिद्राशियानाभिधे पुरे । लोभं प्रदर्श्य भिक्षां, पुंसामुत्पादितवान् क्वचित् ।।

अर्थ—इसीप्रकार राशियाना नामके नगर में किसी अन्य साधु ने लोगों को अपना लोभ दिखलाकर भिक्षा उत्पन्न की थी ।।४२१।।

चारों द्रव्यलिंगी मुनियों की कथा का सार—

क्रोधादि कारिणामेषां चतुर्णां द्रव्य लिंगनाम् । चतस्रो हि कथाज्ञेयाः प्रसिद्धा श्री जिनागमे ।।

अर्थ—क्रोधादि चारों कषायोंको प्रगट करनेवाले इन चारों द्रव्यलिंगी मुनियों की चारों प्रसिद्ध कथायें श्री जिनागम से जान लेनी चाहिये ।।४२२।।

(११) पूर्वसंस्तुति दोष—

ब्रूयते यद्यशोदान, ग्रहणात् पूर्वमूर्जितम् । दातुरग्रे सुदानाय, स दोषः पूर्वसंस्तुतिः ।।४२३।।

अर्थ—जो मुनि दान ग्रहण करने के पहले श्रेष्ठ दान देने के ही अभिप्राय से उसी दाताके सामने उसका श्रेष्ठ यश वर्णन करता है उसके (११) पूर्वसंस्तुति नाम का दोष प्रगट होता है ।।४२३।।

(१२) पश्चात्संस्तुति दोष—

गृहीत्वा पुरतोदानं, पश्चाद्दानादिजान् गुणान् ।
दातुः स्तौति गिराय यः, स पश्चात् संस्तुति दोष भाक् ।।४२४।।

अर्थ—जो मुनि दान लेकर पीछे से अपनी वाणी के द्वारा, दाता के दिये हुए उस दानके गुणों की प्रशंसा करता है उसके 'पश्चात् संस्तुति' नामका दोष लगता है ।।४२४।।

(१३) विद्या नामका दोष—

विद्यां साधयितुं सारं, ते दास्यामीति यो मुनिः । आशयोत्पादयेद्भिक्षां, विद्यादोषोऽत्र तस्य च ।।

अर्थ—जो मुनि दाता को यह आशा दिलाता है कि "मैं तुम्हे सिद्ध करने के लिये एक अच्छी विद्या दूंगा" इसप्रकार आशा दिलाकर जो भिक्षा उत्पन्न करता है उसके (१३) विद्या नामका दोष लगता है ।।४२५।।

(१४) मंत्र नामका दोष—

गृहिणां सिद्धसन्मंत्र, दानाशाकरणादिना । उत्पाद्य गृह्यतेन्नं यन्मंत्रदोषः सकथ्यते ।।४२६।।

अर्थ—जो मुनि किसी गृहस्थ को किसी सिद्ध किये हुये मंत्रको देनेकी आशा दिलाकर आहार ग्रहण करता है उसके (१४) 'मंत्र' नामका दोष लगता है ।।४२६।।

(१५) चूर्ण नामका दोष—

नेत्रांजनवपुः संस्कार, हेतु चूर्णदानतः । या भिक्षोत्पाद्यते लोके, चूर्णदोषो हि सोऽघदः ॥४२७॥

अर्थ—जो मुनि नेत्रों का अंजन अथवा शरीर का संस्कार करनेवाला कोई चूर्ण देकर, लोक में भिक्षा उत्पन्न करता है उसके (१५) 'चूर्ण' नामका दोष लगता है ॥४२७॥

(१६) मूल नामका दोष—

दानाय क्रियते यद्धि, वशीकरण मंजसा । अवशानां जनानां च, माया वाक्यादि जल्पनैः ॥४२८॥
योजनं विप्रयुक्तानां, तथानुष्ठीयते भुवि । यत्तत्सर्वं भवेन्मूल, कर्मदोषोऽशुभप्रदः ॥४२९॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने वश नहीं है उनको मायाचारी के वचन कहकर अथवा और किसी तरह से दान देने के लिये वश कर लेना अथवा मनुष्य कितने ही योजन दूर रहते हैं; और दान नहीं देते; दानसे अलग रहते हैं, उनको अपने दान के लिये लगा देना, पाप उत्पन्न करने वाला (१६) 'मूल कर्म' नाम का दोष कहलाता है ॥४२८-४२९॥

उपसंहार—

एते पात्राश्रिता दोषाः, षोडशोत्पादनाह्वयाः । यतिभिर्यत्नतो हेयाः, अधः कर्मांश दोषदाः ॥

अर्थ—ये १६ 'उत्पादन दोष' कहलाते हैं और पात्रोंके आश्रित रहते हैं तथा इन दोषों में 'अधःकर्म' नामके दोषका भाव अवश्य रहता है इसलिये मुनिको यत्नपूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥४३०॥

दश अशन दोषों के नाम—

शंकितो मृषितो दोषो, निक्षिप्तः पिहिताभिधः । दोषोऽथ व्यवहाराख्यो, दायकोन्मिश्रसंज्ञकौ ॥
तथा परिणतो लिप्तः, परित्यजन नामकः । दशैतेऽशनदोषाहि, यत्नात्त्याज्या मुमुक्षुभिः ॥

अर्थ—आगे १० अशन दोषों को कहते हैं । (१) शंकित (२) मृषित (३) निक्षिप्त (४) पिहित (५) व्यवहार (६) दायक (७) उन्मिश्र (८) परिणत (९) लिप्त और (१०) परित्यजन ये दस अशन के दोष हैं । मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को यत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥४३१-४३२॥

(१) शंकित नामक दोष—

एतच्चतुर्विधाहारं, किमधः कर्मणोद्भवम् । न वेति शंकया भुंक्ते, यः स शंकितदोषवान् ॥

अर्थ—यह ४ प्रकार का आहार अधःकर्म से उत्पन्न हुआ है अथवा नहीं इस प्रकार की शंका रखता हुआ भी उस आहार को ग्रहण करता है उसके (१) 'शंकित' नामका दोष लगता है ।।४३३।।

(२) मृषित नामका दोष—

कडछुकेन हस्तेन, स्निग्धेन भाजनेन च । यद्देयं गृह्यते लोके, दोषो मृषित एव सः ।।४३४।।

अर्थ—(२) जो साधु चिकने बर्त्तन से या चिकने हाथ से अथवा चिकनी करछली से दिये हुये आहार को ग्रहण कर लेता है उसके (२) 'मृषित' नामका दोष लगता है । चिकनी करछली आदि में सम्मूर्छन जीवों की संभावना रहती है इसीलिये यह दोष है ।।४३४।।

(३) निक्षिप्त नामक दोष—

पृथ्व्यादिषु सचित्तेषु, तेजोऽन्तेषु त्रसेषु च । हरितेषु च बीजेषु, चेतना लक्षणात्मसु ।।४३५।।
यद्देयं वस्तु निक्षिप्तं, साधुभ्यां दीयते जनैः । सचित्त दोषदो निंद्यो, दोषो निक्षिप्त एव सः ।।

अर्थ—जो देने योग्य पदार्थ सचित्त पृथ्वी, सचित्त जल, सचित्त अग्नि, सचित्त हरित, सचित्त बीज अथवा त्रस जीवों पर रक्खे हों ऐसे पदार्थों को जो लोग दान देते हैं उनके 'सचित्त' दोषको उत्पन्न करनेवाला निंद्य (३) 'निक्षिप्त' नामका दोष लगता है ।।४३५-४३६।।

(४) पिहित नामक दोष—

सचित्तेनाप्यचित्तेन, गुरुकेण च वावृतम् । दीयते मुनये दानं, यद्दोषः पिहितोऽत्रसः ।।४३७।।

अर्थ—जो देने योग्य पदार्थ किसी सचित्त पदार्थ से ढके हों अर्थात् भारी अचित्त पदार्थ से ढके हों ऐसे पदार्थों को मुनियों के लिये देना (४) 'पिहित' नामका दोष कहलाता है ।।४३७।।

(५) व्यवहार नामक दोष—

दानाय व्यवसायं चेल, भाजनादिकात्मनाम् । कृत्वा विधीयते दानं, यतस्यात् सः व्यवहारजः ।।

अर्थ—दान देने के लिये जो वस्त्र बर्त्तन आदि को झटपट बेचकर आहार तैयार करता है उसके (५) व्यवहार नामका दोष लगता है ।।४३८।।

(६) दायक दूषण—

सूती शौंडी तथा रोगी, मृतकश्च नपुंसकः । पिशाचो नग्न एवाज्ञ, उच्चारः पतितस्ततः ।।
वातोंगी रुधिराक्तांगः, वेश्यादासी तथार्जिका । अतिबालातिवृद्धा, रामागाभ्यंगणकारिणी ।।
उत्सृष्टा गर्भिणी चांधलिका, ह्यंतरितांगना । उपविष्टा तथोच्चस्था, नीचप्रदेशसंस्थिता ।।
एवंविधो नरः स्त्री वा, यदि दानं ददाति च । तदा दायक दोषः स्यान्मुनेस्तत्सेविनो शुभः ।।

अर्थ—जो बच्चों को खिलाने वाला हो; जो मद्यपान का लंपटी हो; रोगी हो; जो किसी मृतक के साथ श्मशान में जाकर आया हो; अथवा जिसके घर कोई मर गया हो; जो नपुंसक हो; जिसे वात की व्याधि हो गई हो; जो वस्त्र न पहने हो; नग्न हो; जो मल मूत्र करके आया हो; जो मूर्छित हो; पतित हो; जो वमन करके आया हो, जिसके शरीर पर रुधिर लगा हो; जो वेश्या हो; दासी हो; अर्जिका हो या लाल वस्त्र पहनने वाली हो, जो स्नान, उबटन करने वाली हो, जो अत्यंत बालक, स्त्री या मुग्धा हो, जो अत्यन्त वृद्धा हो; जो खाकर आई हो, जो ५ महिने से अधिक गर्भिणी हो; अंधी हो; दीवाल के बाहर रहनेवाली हो, जो बैठी हो; किसी ऊंची जगह पर बैठी हो; ऐसी चाहे कोई स्त्री हो या पुरुष हो; ऐसा पुरुष या स्त्री दान देवे और मुनि लेवे तो उनके (६) 'दायक' दोष उत्पन्न होता है ।।४३९-४४२।।

पुनः दायक दोष—

वन्हौ संधुक्षणं प्रज्वालनमुत्कर्षणं तथा । प्रच्छादनं च विंध्यापनं, निर्वातं च घट्टनम् ।।४४३।।
इत्याद्यग्निकार्यं च, कृत्वारंभं हि या गता । तस्या हस्तेन न ग्रांह्यं, दानं दायकदोषदम् ।।४४४।।

अर्थ—जो स्त्री या पुरुष अग्निको जलाकर आया हो; अग्नि फूंककर आया हो; अग्नि में अधिक लकड़ी डालकर आया हो; अग्निको भस्म से दबाकर आया हो या बुझाकर आया हो या अग्निसे लकड़ियों को अलग करके आया हो अथवा अग्निको मिट्टी आदि से रगड़कर आया हो, इसप्रकार जो अग्निके कार्य को करके आया हो और दान देने के प्रारंभ में ही आ गया हो उसके हाथ से दान नहीं लेना चाहिये । क्योंकि उसमें भी दायक दोष उत्पन्न होता है ।।४४३-४४४।।

पुनः दायक दोष—

लेपनं मार्जनं स्नानादिकं कर्मं विधाय च । स्तनपानं पिबन्तं बालकं निक्षिप्य याऽऽ गता ।।४४५।।
इत्याद्य पर सावद्य, कर्म कुत्वात्र दातृभिः । दानं यद्दीयते सर्वो, दोषः स दायकाभिधः ।।४४६।।

अर्थ—जो स्त्री लीप कर आई हो; दीवाल आदि झाड़कर आई हो; किसी को स्नान करा कर आई हो, स्तन पान करते हुए, बालक को छोड़कर आई हो तथा इसी प्रकार के पापरूप कार्यों को करके जो स्त्री वा पुरुष आया हो ऐसे दाता के द्वारा जो दान दिया जाता है उस सबमें दायक नामका दोष प्रकट होता है । ऐसे दाता के हाथ से मुनियों को दान कभी नहीं लेना चाहिये ।।४४५-४४६।।

(७) उन्मिश्र दोष—

पृथ्व्यांबुना च बीजेन, हरितेन त्रसांगिभिः । यो देयो मिश्र आहारो, दोषश्चोन्मिश्र एव सः ।।

अर्थ – जिस आहार में सचित्त पृथ्वी, जल, बीज, हरित बनस्पति और त्रस जीव मिले हों ऐसे आहार को लेना (७) 'उन्मिश्र' दोष है ।।४४७।।

(८) परिणत दोष—

तिलोदकं तथा तंडु, लोदकं चणकोदकम् । तुषोदकं चिरान्नीरं, तप्तं शीतत्वमागतं ।।४४८।।
विभीतक हरीत क्यादिकचूर्णैस्तथाविधम् । स्वात्मीय रसवर्णादिभिश्चापरिणतं जलं ।।४४९।।
न ग्राह्यं संयतैर्जातु सदा ग्राह्याणि तानि च । परीक्ष्य चक्षुषा सर्वाण्यहो परिणतानि च ।।४५०।।

अर्थ—तिलों के धोने का पानी, चावलों के धोने का पानी, चनों के धोने का पानी, चावलों की भूसी के धोने का पानी तथा जो पानी बहुत देर पहले गरम किया हो और ठंडा हो गया हो तथा हरड़, बहेडा के चूर्णसे अपने रस वर्णको बदल न सका हो ये सब प्रकार के जल संयमियों को कभी ग्रहण नहीं करने चाहिये । जिस जलका वर्ण या रस किसी चूर्ण आदि से बदल गया हो ऐसा जल आंखसे अच्छी तरह देखकर परीक्षा कर संयमियों को ग्रहण करना चाहिये ।।४४८-४५०।।

किस तरह का जल ग्राह्य है—

संतप्त वा जलं ग्राह्यं, कृतादिदोष दूरगम् । तथा परिणतं द्रव्यं, नानावर्णं मुमुक्षुभिः ।।४५१।।

अर्थ—अथवा मोक्षकी इच्छा करनेवाले संयमियोंको कृत, कारित, अनुमोदना आदिके दोषों से रहित गरम जल ग्रहण करना चाहिये अथवा अनेक वर्णके द्रव्यों से (हरड, इलायची आदि के चूर्ण से) जिसका रूप, रस बदल गया हो; ऐसा जल ग्रहण करना चाहिये ।।४५१।।

अपरिणत दोष—

योत्रापरिणतान्येव तानि गृह्णाति मूढधीः । तस्या परिणतो दोषो जायते सत्त्वघातकः ।।४५२।।

अर्थ—जिस जलका रूप रस नहीं बदला है; किसी चूर्णके मिलाने पर भी रूप, रस नहीं बदला है या गर्म करनेसे स्पर्श नहीं बदला है ऐसा जल जो अज्ञानी मुनि ग्रहण करता है उसके अनेक जीवोंकी हिंसा करनेवाला 'अपरिणत' नामका दोष उत्पन्न होता है ।।४५२।।

यही बात मूलाचार ग्रंथमें लिखी है यथा—(तिल तंडुल उसणोदय, चणोदय तुसोदयं अविध्दुत्थं । अण्णं तहाविहं वा, अपरिणदं णेव गेहिज्जो) अर्थात् तिल वा चावलों का धोया जल ठंडा हुआ गरम जल, चना तुष आदि का धोया जल जिसका वर्ण रस गंध न बदला हो, तथा हरड, बहेडा आदि के चूर्ण से जिसका वर्ण रस न बदला हो; ऐसा जल कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ।

(९) लिप्त नामका दोष—

आमपिष्ठेन चूर्णेना, पक्वशाकेन चाम्बुना । खडिकाहारतालादि, द्रव्यैरार्द्रकरेण च ।।४५३।।
भाजनेनात्र देयं, यदन्नादि यतये जनैः । लिप्तदोष स एव स्यात् सूक्ष्मजंत्वादि घातकः ।।४५४।।

अर्थ—(१) कच्चे चावलोंके चूर्णसे (२) बिना पके शाकसे (३) अप्रासुक जलसे (४) खड़ी सेलखड़ी हरताल आदि द्रव्योंसे स्पर्श किये हुये, लगे हुये द्रव्यको दान में देना अथवा गीले हाथ या गीले बर्त्तन से आहार देना 'लिप्त नामका दोष' कहलाता है । ऐसे आहार में सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है ।।४५३-४५४।।

(१०) परित्यजन दोष—

दीयमानं यमाहारं, घृततत्क्रोदकादिभिः । वरं परिगलन्तं सच्छिद्रपाणिपुटेन च ।।४५५।।
स्रवंतं यदि गृह्णाति, संयतोसंयमप्रदः । तदा स कथ्यते दोष, 'परित्यजन' संज्ञकः ।।४५६।।

अर्थ—जो दाता घी, दूध, छाछ या जलका आहार देता हो और वह अपने हाथों से अधिक रूपमें टपकता हो ऐसे असंयम उत्पन्न करनेवाले आहार को जो मुनि ग्रहण करता है उसके 'परित्यजन' नामका दोष लगता है ।।४५५-४५६।।

१० अशन दोषों का परिणाम—

एतेऽशनाह्वया दोषा, हिंसारंभाघकारिणः । सर्वथा मुनिभिर्हेया, दशैव यत्नतोऽनिशम् ।।४५७।।

अर्थ—ये दश अशन नामके दोष कहलाते हैं तथा हिंसा, आरंभ और पापके कारण कहलाते हैं । इसलिये मुनियों को यत्न पूर्वक इनका सर्वथा सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ।।४५७।।

संयोजन नामक दोष—

संयोजयति यो भक्तं, शीतमुष्णेन वारिणा। शीतोदकेन वोष्णान्नं, तस्य संयोजनो मलः ॥

अर्थ—जो मुनि ठंडे भोजन को गरम जल में मिलाकर खाता है अथवा गरम भोजन को ठंडे जलमें मिलाकर खाता है उसके 'संयोजन' नामका दोष लगता है। ॥४५८॥

परिमित भोजन के लाभ—

उदरस्यार्धं मन्नेन, तृतीयांशं जलादिभिः। पूरयेद्यश्चतुर्थांशं, धत्ते रिक्तं सदायमी ॥४५९॥
प्रमाणभूतमाहारस्तस्य निद्राजयो भवेत्। शुभध्यानं च सिद्धांत, पठनं कर्म निर्जरा ॥४६०॥

अर्थ—मुनियों को अपना आधा पेट अन्नसे भरना चाहिये; एक भाग जलसे भरना चाहिये; और एक भाग खाली रखना चाहिये। इसप्रकार प्रमाण के अनुसार जो मुनि आहार लेता है उसकी (१) निद्राका विजय होता है; (२) शुभध्यान होता है; (३) सिद्धांत शास्त्रों का पठन-पाठन होता है और (४) कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥४५९-४६०॥

'अप्रमाण' नामक दोष—

अस्मात् प्रमाणतोऽन्नादि, मतिमात्रं भजेन्मुनिः। यस्तस्यात्रा प्रमाणाख्य, दोषो रोगोऽसमाधिता ॥

अर्थ—जो मुनि इस प्रमाणसे अधिक आहार ग्रहण करता है उसके 'अप्रमाण' नामका दोष लगता है। अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और ध्यान का नाश हो जाता है। ॥४६१॥

सगृध्या मूर्छितो यः प्रभुंक्तेऽन्नाहारमंजसा। मंदबुद्धि र्भवेत्तस्यांगार दोषोऽशुभार्णवः ॥४६२॥

अर्थ—जो मंद बुद्धि मुनि अपनी लंपटता से मूर्छित होकर आहार को ग्रहण करता है उसके पापोंका सागर ऐसा 'अंगार' नामका दोष प्रकट होता है ॥४६२॥

'धूम' नामक दोष—

सरसान्नाद्यलाभेन, निंदन् दातृन्, गिराशनम्। भुनक्ति योऽधमो निद्यं, 'धूमदोषं' लभेत सः ॥

अर्थ—जो अधम मुनि सरस आहार के न मिलने से, अपने वचनों से दाता की निंदा करता हुआ आहार ग्रहण करता है उसके निंदनीय 'धूम' नामका दोष प्रगट होता है ॥४६३॥

सब कुल ४६ दोष हैं—

पिंडीकृता अमी सर्वे, षट् चत्वारिंशदेवहि। यत्नेन परिहर्त्तव्या, दोषा दोषकरा बुधैः ।।४६४।।

अर्थ—ये सब दोष मिलकर ४६ होते हैं तथा सब अन्य अनेक दोष उत्पन्न करने वाले हैं; इसलिये बुद्धिमानों को यत्नपूर्वक इनका त्याग करना चाहिये ।।४६४।।

६ कारण से भोजन का त्याग व ग्रहण—

कारणैष्षड्भिराहारं, गृह्णन् धर्मं चरेद्यतिः। त्यजन् षट्कारणैश्चान्नं, तरां संयममाचरेत् ।।४६५।।

अर्थ—मुनियों को उचित है कि ये ६ कारणों से आहार को ग्रहण करते हुये धर्म का पालन करें तथा ६ कारणों से आहार को छोड़कर संयम का पालन करें ।।४६५।।

आहार ग्रहण करने के ६ कारण—

क्षुद्वेदनीयोपशान्त्यर्थं, वैयावृत्याय योगिनाम्। षडावश्यक पूर्णाय, सर्वसंयमसिद्धये ।।४६६।।
प्राणार्थं च क्षमामुख्या, दशसद्धर्महेतवे। एतैः षट्कारणै र्योगी गृह्णीयादशनं भुवि ।।४६७।।

अर्थ—(१) क्षुधा वेदनीय को शांत करने के लिये (२) मुनियों की वैयावृत्य करने के लिये (३) छहों आवश्यकों को पूर्ण रीतिसे पालन करने के लिये (४) सब तरह के संयमों का पालन करने के लिये (५) प्राणों की रक्षा करने के लिये (६) उत्तम क्षमा आदि १० धर्मों को पालन करने के लिये मुनियों को आहार ग्रहण करना चाहिये। मुनियों को आहार ग्रहण करने के ये ६ कारण हैं ।।४६६-४६७।।

आहार ग्रहण करने का मुख्य लक्ष्य—

तीव्रक्षुद्वेदनाक्रान्तो, व्रतं पालयितुं क्षमः। नाहं मत्वेति वृत्ताय, भुंजे भक्तं न शर्मणे ।।४६८।।

अर्थ—तीव्र क्षुधा की वेदना से पीड़ित हुआ मैं चारित्र का पालन नहीं कर सकता अतएव चारित्र पालन करनेके लिये मैं आहार लेता हूं; मैं सुखके लिये आहार नहीं लेता ।।४६८।।

वैयावृत्य करने में प्रधान कारण—

आहारेण बिना नाहं, कर्त्तुं शक्नोमि योगिनाम्। वैयावृत्यमिहातोऽन्नं, भुंजे तत्सिद्धये क्वचित् ।।

अर्थ—मैं बिना आहार के मुनियों की वैयावृत्य नहीं कर सकता; अतएव वैयावृत्य करने के लिये ही मैं आहार लेता हूं ।।४६९।।

निर्बलता की पूर्त्ति हेतु—

विनाहारं षडावश्यक, व्युत्सर्गान् बलातिगः । नाहं धर्त्तुं समर्थोऽस्माद्, भिक्षां तद्धेतवे श्रये ।।

अर्थ—मैं निर्मल हूं और बिना आहार के छहों आवश्यकों को तथा 'व्युत्सर्ग' को पालन नहीं कर सकता; अतएव आवश्यक पालन करने के लिये मैं आहार लेता हूं ।।४७०।।

दया पालन करने के लिये—

दयां कर्त्तुं न शक्तोऽहं, क्षुधाक्रान्तोगिराशिषु । अतः संयमसिध्यर्थं गृह्णाम्यन्नं न चान्यथा ।।

अर्थ—भूखसे पीड़ित हुआ मैं जीवों की दया पालन नहीं कर सकता अतएव संयम पालन करने के लिये ही मैं अन्न ग्रहण करता हूं अन्यथा नहीं ।।४७१।।

प्राणों की रक्षा के लिये—

न तिष्ठन्ति दश प्राणाः, अन्नादृतेय हेतवे । तस्मान्मे प्राणरक्षायै, सेवेन्नं पारणे क्वचित् ।।

अर्थ—बिना अन्नके मेरे प्राण ठहर नहीं सकते अतएव प्राणों की रक्षा करने के लिये मैं कभी २ पारणा के दिन आहार ग्रहण करता हूं ।।४७२।।

१० लक्षण धर्म पालन हेतु—

दशलाक्षणिकं धर्मं, नाहमाचरितुं क्षमः । अतो धर्माय गृह्णामि, शुद्धान्नं नान्यहेतुना ।।४७३।।

अर्थ—बिना आहार के दश लाक्षणिक धर्मको पालन नहीं कर सकता अतएव धर्म पालन करने के लिये मैं शुद्ध अन्न ग्रहण करता हूं । मैं किसी अन्य हेतु से आहार नहीं लेता ।।४७३।।

आत्मा को जानने वाला अन्य निमित्त आहार नहीं लेता—

मत्वेति कारणैः षड्भि, रेतैः गृह्णन् शुभाशनम् । कर्म बध्नाति नात्मज्ञः, क्षिपेन्नित्यं पुरातनम् ।।

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला जो मुनि इन ६ कारणों को समझ कर शुद्ध आहार ग्रहण करता है; वह कर्मों का बंध नहीं कर सकता; किंतु प्राचीन अनेक कर्मों की निर्जरा करता है ।।४७४।।

क्षुधावेदना के होने पर भी आहार त्याग करना—

दुर्व्याधौ च समुत्पन्ने, ह्युपसर्गे चतुर्विधे । ब्रह्मचर्याक्षशान्त्यर्थं, सर्वजीवदयाप्तये ।।४७५।।
तपसे किल संन्यास, सिद्धयेऽशनमात्मवान् । त्यजेन्मनो वचः कायैः, सत्सु क्षुद्वेदनादिषु ।।४७६।।

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले मुनियों को किसी (१) दुष्ट व्याधि के उत्पन्न हो जाने पर, (२) चारों प्रकार के उपसर्ग आ जाने पर (३) ब्रह्मचर्य की रक्षा और (४) इंद्रियों को शांत करने के लिये, (५) समस्त जीवों की दया पालन करने के लिये, (६) तपश्चरण पालन करने के लिये और समाधि मरण धारण करने के लिये, क्षुधा वेदना के होनेपर भी मन, वचन, कायसे आहार का त्याग कर देना चाहिये ।।४७५-४७६।।

कर्म नष्ट करने के लिये आहार का त्याग—

दुर्व्याधौ सति मे हानि, र्दृश्यते संयमादिषु । अतो रुक्कर्मनाशाय, करोमि प्रवरं तपः ।।४७७।।

अर्थ—आहार त्याग करते समय मुनियों को विचार करना चाहिये कि इस दुष्ट व्याधि के होने से मेरे संयम में हानि दिखाई देती है; अतएव रोग उत्पन्न करने वाले कर्मको नाश करने के लिये मैं आहार का त्याग कर श्रेष्ठ तपश्चरण करता हूं। ।।४७७।।

मुक्ति के लिये आहार का भी त्याग—

जाते सत्युपसर्गेऽस्मिन्, प्राणनाशकरे कर्म । जीवितव्यमतोत्राहं, त्यजाम्यन्नं शिवाप्तये ।।४७८।।

अर्थ—यह उपसर्ग प्राणों का नाश करनेवाला है इसके होनेपर मेरा जीवन कभी नहीं टिक सकता अतएव मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस अन्न का ही त्याग करता हूं ।।४७८।।

अन्न के ग्रहण करने से मोक्ष में बाधा—

प्रयांत्युत्कटतामन्नात्, स्मरादीन्द्रिय शत्रवः । तस्मात्तेषां वशार्थं, चाहारं जहामि मुक्तये ।।४७९।।

अर्थ—अन्नके सेवन करने से कामदेव और इन्द्रियरूपी शत्रु अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं अतएव उनको वश करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये मैं इस अन्न का ही त्याग करता हूं ।।४७९।।

अनेक जीवों की रक्षा के लिये आहार त्याग—

अद्याहार प्रभुक्तेन, म्रियंते जंतुराशयः । ततस्तेषां च रक्षायै, भक्तं त्यजामि सिद्धये ।।४८०।।

अर्थ—आज आहार के सेवन करने से अनेक जीवों का समूह मृत्यु को प्राप्त होता है अतएव उन जीवों की रक्षा करने के लिये और सिद्ध अवस्था प्राप्त करने के

लिये मैं इस आहार का ही त्याग करता हूं ।।४८०।।

तपश्चरण की शुद्धि के लिये आहार का त्याग—

बिनात्र तपसा जातु, न च कर्मक्षयः शुभम् । तस्मात्तपो विशुध्यर्थं, माहारं वर्जयाम्यहम् ।।४८१।।

अर्थ— इस संसार में बिना तपश्चरण के कर्मोंका नाश कभी नहीं होता और न कल्याण ही होता है । अतएव अपने तपश्चरंण को विशुद्ध रखने के लिये मैं इस आहारका ही त्याग कर देता हूं ।।४८१।।

समाधिमरण में आहार त्याग की उपयोगिता—

संजातं विकलत्वं च, मेऽक्षाणां रुक् ज्वरादिभिः । अतः संन्यास संसिध्यै, त्यजाम्यशन मंजसा ।।

अर्थ—ज्वर आदि अनेक रोगों के उत्पन्न होने से, मेरी इंद्रियां सब विकल हो गई हैं; अतएव समाधिमरण धारण करने के लिये मैं इस आहार का ही त्याग कर देता हूं ।।४८२।।

उपसंहार आहार सम्बन्धी विषय का—

विज्ञायेति त्यजेदेतैः, कारणैः षड्विधैर्मुनिः । आहारं सकलं मुक्त्यै, यत्नाद्रत्नत्रयं भजेत् ।।४८३।।

अर्थ—इन ६ प्रकार के कारणों को समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये सब तरह के आहार का त्याग कर देना चाहिये और यत्नपूर्वक रत्नत्रय का सेवन करना चाहिये ।।४८३।।

मुनि निम्न कार्यों के लिये कभी आहार ग्रहण नहीं करें—

बलायुर्वृद्धि सुस्वादु, शरीरोपचयाय च । तेजः क्रांति सुखाद्यर्थं, जातु भुंक्ते न संयमी ।।४८४।।

अर्थ—संयमी मुनि बल और आयुकी वृद्धिके लिये, स्वाद चखने या शरीर की वृद्धिके लिये, अथवा तेज, कांति और सुख बढ़ाने के लिए कभी आहार ग्रहण नहीं करें ।।४८४।।

वेला, तेला करने के बाद आहार क्यों—

सिद्धांतपाठसंसिध्यै, प्रशस्तध्यान हेतवे । पंचानां समयानां च, पालनाय सुवृद्धये ।।४८५।।
आतापनादि योगाय, धर्मोपदेशनाय च । भुंक्तेऽशनं क्वचिद् योगी, षष्ठाष्टमादि पारणे ।।४८६।।

अर्थ—वे मुनिराज, सिद्धांत ग्रंथों के पठन-पाठन करने के लिये, प्रशस्त ध्यान धारण करने के लिये, पांचों प्रकार के संयमों का पालन करने के लिये अथवा संयमों

की वृद्धि के लिये अथवा आतापन आदि योग धारण करने के लिये अथवा धर्मोपदेश देने के लिए कभी २ वेला तेला करने के बाद पारणा के दिन आहार ग्रहण करते हैं ।।४८५-४८६।।

मुनिराज कैसे शुद्ध भोजन को करते हैं ?

नवकोटि विशुद्धं, चाशनं संयोजनातिगम् । दोषैस्त्यक्तं, द्विचत्वारिंशत् प्रमैः प्रासुकं शुभम् ।।
प्रमाणसहितं दत्तं विधिना ग्रहनायकैः । विगतांगारधूमे च, सुषट्कारणसंयुतम् ।।४८८।।

अर्थ—ये मुनिराज, तपश्चरण पालन करने के लिए, प्राणियों की रक्षा करने के लिए, मोक्ष प्राप्त करने और कर्मों का नाश करने के लिए आहार ग्रहण करते हैं तथा वह आहार भी (१) मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनाकी विशुद्धता पूर्वक होना चाहिए (२) संयोजन दोषसे रहित होना चाहिए (३) ४२ दोषोंसे रहित होना चाहिए (४) प्रासुक और शुभ होना चाहिए (५) प्रमाण सहित होना चाहिए अर्थात् (६) प्रमाण से अधिक नहीं होना चाहिए (७) घर के स्वामी के द्वारा विधि पूर्वक देना चाहिए (८) अंगार और धूम दोषोंसे रहित होना चाहिये (९) श्रेष्ठ छहों कारणों से सहित होना चाहिए और १४ मलोंसे रहित होना चाहिए । ऐसे आहार को वे मुनिराज पारणा के दिन ग्रहण करते हैं ।।४८७-४८८।।

ये १४ मल आहार में वर्जनीय हैं—

तपसे प्राणरक्षायै, मोक्षाय पारणाहनि । क्वचिद् गृह्णातिमुक्त्यर्थं चतुर्दशमलोज्झितं ।।४८९।।
नखरोममलोजन्तु, रस्थि कुंडः कणरततः । पूयं च रुधिरं चर्म, मांसं बीजं फलं तथा ।।४९०।।
कंदो मूल ममी ज्ञेया, मलाश्चतुर्दशाशुभाः । आहारेऽत्र मुमुक्षूणां, परीषह विधायिनः ।।४९१।।

अर्थ—नख, रोम अर्थात् बाल, जंतु अर्थात् जीव रहित शरीर, हड्डी, कुंड अर्थात् चावल आदि के भीतर के सूक्ष्म अवयव, कण अर्थात् जो गेहूं आदि के बाहरी अवयव, पीव, रुधिर, चर्म, मांस, बीज, फल, कंद, मूल ये १४ अशुभ मल कहलाते हैं ये १४ प्रकार के मल, मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियों के आहार में परिषह उत्पन्न करनेवाले हैं ।।४८९-४९१।।

मलों के विशेष भेद—

एषां मध्येऽत्र केचित्स्यु, मंला महान्त एव च । केचिन्स्वल्पमला केचित्, मध्यमादोषभेदतः ।।

अर्थ—इनमें से कितने ही मल बहुत बड़े हैं, कितने ही छोटे मल कहलाते हैं

और कितने ही मध्यम कहलाते हैं। दोषके भेदसे इनके अनेक भेद हो जाते हैं ।।४६२।।

महामल के भेद—

चर्मास्थि रुधिरं मांसं, नखः पूयमिमेमलाः। महान्तोऽशन त्यागेऽपि, प्रायश्चित्त विधायिनः ।।

अर्थ—(१) चमड़ा (२) हड्डी (३) रुधिर (४) मांस (५) नख और (६) पीव ये 'महामल' कहलाते हैं; आहार में इनके निकल आने पर आहार का भी त्याग करना पड़ता है और प्रायश्चित्त भी लेना पड़ता है ।।४६३।।

किस दोष में आहार का सर्वथा त्याग—

द्वीन्द्रियादि वपुर्बाला वाहार त्याग कारिणौ। कणः कुंडः फलं बीजं, कंदो मूलं दलाम्रमी ।।
अल्पास्त्यजनयोग्याश्च, तुच्छदोष विधायिनः। यदि त्यक्तुं न शक्यन्ते, त्याज्यं तर्ह्यशनं बुधैः ।।

अर्थ—दो इंद्रिय, तेइंद्रिय आदि विकलत्रयों का शरीर और बाल के निकल आने पर, आहार का त्याग कर देना चाहिए तथा कण, कुंड, फल, बीज, कंद, मूल, दल ये 'अल्पमल' कहलाते हैं इनको आहार में से निकाल कर अलग कर देना चाहिए क्योंकि ये बहुत थोड़ा दोष उत्पन्न करनेवाले हैं। यदि आहार में से ये अलग न हो सकें तो फिर बुद्धिमानों को आहार का ही त्याग कर देना चाहिए ।।४६४-४६५।।

मुनि के लेने योग्य द्रव्य—

प्राणिनः प्रगता यस्याद् द्रव्यात्तद्द्रव्यमुत्तमम्। शुद्धं च प्रासुकं योग्यं मुनीनां कथितं जिनैः ।।

अर्थ—जिस द्रव्यमें कोई प्राणी न हो उसको उत्तम द्रव्य कहते हैं ऐसा उत्तम शुद्ध और प्रासुक द्रव्य ही भगवान जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिये योग्य द्रव्य कहा है। ।।४६६।।

मुनि के न लेने योग्य द्रव्य—

तद्द्रव्यं यदि चात्मार्थं कृतं वा कारितं क्वचित्। योगैरनुमतं निद्यमशुद्धं नोचितं सताम् ।।

अर्थ—यदि ऐसा द्रव्य अपने लिये बनाया गया हो वा बनवाया गया हो अथवा मन-वचन-कायसे उसकी अनुमोदना की गई हो तो वह द्रव्य निंद्य और अशुद्ध कहलाता है। सज्जनों को ऐसा द्रव्य कभी नहीं लेना चाहिये ।।४६७।।

सत्यपि प्रासुके द्रव्ये योऽत्राधःकर्मणा यतिः। योगैः परिणतः प्रोक्तः स कर्मबंधकोनिशम् ।।४६८।।

अर्थ—यदि वह द्रव्य प्रासुक हो और वह मुनि अपने मन-वचन-कायसे अधः

कर्म रूप परिणत हो जाय अर्थात् उसे अपने लिये बनाया हुआ समझले तो फिर वह मुनि सदा कर्म बंध ही करता रहता है ॥४९८॥

मुनि गंवेषमाणो यः, शुद्धाहारमतंद्रितः । शुद्ध एव स योग्याद्यैः सत्यधः कर्मणि क्वचित् ॥

अर्थ—यदि वह मुनि मन-वचन-कायसे शुद्ध होकर तथा आलस को छोड़कर शुद्ध आहारको ढूंढता है तो फिर कहीं पर अध कर्म होनेपर भी वह साधु शुद्ध ही कहा जाता है। शुद्ध आहार को ढूंढने से अधःकर्म से उत्पन्न हुआ अन्न भी उस साधु को कर्म बंध करनेवाला नहीं हो सकता ॥४९९॥

भोजन वेला का काल—

विज्ञेयोशन कालोत्र संत्यज्य घटिकात्रयम् । मध्ये च योगिनां भानूदयास्तमन कालयोः ॥५००॥

अर्थ—आगे भोजन का समय बतलाते हैं। सूर्योदय से तीन घड़ी बाद और सूर्य के अस्त होने के तीन घड़ी पहले तक आहार का समय है इसमें भी मध्य वा दोपहर के समय की सामायिक काल की कम से कम तीन घड़ी छोड़ देनी चाहिये। ॥५००॥

तस्यैवाशन कालस्य मध्ये प्रोत्कृष्ठतो जिनैः । भिक्षा कालो मतो योग्यो मुहूर्तकप्रमाणकः ॥

अर्थ—बाकी का जो आहार का समय है उसमें आहार का समय भगवान जिनेन्द्रदेव ने एक मुहूर्त उत्कृष्ट काल बतलाया है ॥५०१॥

योगीनां द्वि मुहूर्त प्रमाणो मध्यम एवं च । जघन्यं त्रिमुहूर्त प्रमो भिक्षा काल एव हि ॥५०२॥

अर्थ—दो मुहूर्त मध्यम काल बतलाया है और तीन मुहूर्त जघन्य काल बतलाया है। [यह काल की मर्यादा सिद्ध भक्तिसे लेकर भोजन के अन्त तक समझनी चाहिये] ॥५०२॥

घटिकाद्वयहीने मध्याह्नकाले प्रयत्नतः । स्वाध्याय मपि संहृत्य कृत्वा श्री देव वन्दनाम् ॥५०३॥

अर्थ—जब मध्याह्न काल में (सामायिक के समय में) दो घड़ीं बाकी रह जाय तब प्रयत्न पूर्वक स्वाध्याय को समाप्त कर देना चाहिये और फिर देव वन्दना करना चाहिये ॥५०३॥

भिक्षा को निकलने कीं विधि—

भिक्षा वेलां परिज्ञाय कुंडिका पिच्छिके यतिः । गृहीत्वा काय संस्थित्यै निर्याति स्वाश्रमाच्छनैः ॥

अर्थ—तदनंतर भिक्षा का समय जानकर मुनियों को पीछी कमंडलु लेकर शरीर को स्थिर रखने के लिये अर्थात् आहारके लिये अपने आश्रमसे धीरे २ निकलना चाहिये ।।५०४।।

गुप्तिश्च समितीः सर्वा व्रत मूल गुणान् परान् । रक्षंश्चरति मार्गे स मनो वाक्काय कर्मभिः ।।

अर्थ—समस्त गुप्ति, समिति, व्रत और मूलगुणों की मन-वचन-कायके द्वारा अच्छी तरह रक्षा करते हुए उन मुनियों को मार्ग में चलना चाहिये ।।५०५।।

भावयंस्त्रिकसंवेगं देहभोग भवादिषु । जिनाज्ञा पालयन् सम्यगनवस्थां निजेच्छया ।।५०६।।
मिथ्यात्वाराधनामात्मनाशं दूरात्परित्यजन् । न कुर्वंश्चमनाक् यत्नात्सुसंयमविराधनाम् ।।५०७।।
नाति द्रुतं न मंदं न विलंवितं पथि व्रजेत् । न तिष्ठेत्केनचित्सार्द्धं न कुर्याज्जल्पनं यमी ।।५०८।।

अर्थ—उस समय उन मुनियों को संसार शरीर और भोगों से विरक्त होकर तीनों प्रकार का संवेग धारण करना चाहिये, भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा को अच्छी तरह पालन करना चाहिये अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति का, मिथ्यात्व की आराधना का और आत्माके नाश होनेका, अकल्याण होने का दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये तथा यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करते हुए संयम की विराधना किंचित मात्र भी नहीं करनी चाहिये । मार्ग में न धीरे चलना चाहिये न जल्दी चलना चाहिये; न ठहरना चाहिये; न खड़े होना चाहिये और न किसी के साथ बातचीत करनी चाहिये । इसप्रकार अपनी इच्छानुसार चर्या करनी चाहिये ।।५०६-५०८।।

इदं च धनितो गेह मिदं हि निर्धनस्य भो । इति जातु न संकल्प हृदि धत्ते जितेन्द्रिय ।।५०९।।

अर्थ—उन जितेन्द्रिय मुनियोंको "यह किसी धनीका घर हैं अथवा यह किसी निर्धन का घर हैं" ऐसा संकल्प अपने हृदयमें कभी नहीं करना चाहिये ।।५०९।।

पंक्ति भेद नहीं—

गृहपंक्त्या क्रमेणासौ, प्रविशेच्छ्रावकालयं । अन्ये भिक्षाचरा यावदायांति तावदेव हि ।।५१०।।

अर्थ—उन मुनियों को घरों की पंक्ति के अनुकूल क्रमसे ही श्रावकों के घर प्रवेश करना चाहिये और वहीं तक जाना चाहिये जहां तक अन्य साधारण भिक्षुक जाते हों ।।५१०।।

प्रतिग्रहण सम्बन्धी व्यवस्था—

अप्रतिग्राहतिस्तस्मान्निर्गच्छेद्द्रुतमात्मवान् । विधिना वा प्रतिग्राहितस्तिष्ठेद् योग्यभूतले ।।

अर्थ—यदि वहां पर किसी ने प्रतिग्रहण न किया हो तो आत्मा के स्वरूप को जानने वाले उन मुनियों को वहां से शीघ्र ही निकल जाना चाहिये। यदि किसीने विधि पूर्वक प्रतिग्रहण कर लिया हो तो उनको अपने योग्य पृथ्वी पर खड़ें हो जाना चाहिये ॥५११॥

पृथ्वी निर्जीव है इसे सर्वप्रथम निरीक्षण करना चाहिये—

स्वांघ्रिभोजनदातृणां स्थित्यै निरीक्ष्य सद्धराम्। त्रसजीवादि संत्यक्तां, कार्यस्थित्यर्थमात्मवान्॥

अर्थ—तदनंतर आत्मा के स्वरूप को जानने वाले उन मुनियों को आहार करने के लिये उस पृथ्वीको देखना चाहिये कि वहांपर अपने खड़े होनेको और दाताओं के खड़े होनेको स्थान है या नहीं और वह पृथ्वी त्रस जीवोंसे रहित है या नहीं ।५१२।

पैरों में ४ अंगुल का अन्तर—

पादयोरंतरं कृत्वा, चतुरंगुलसंमितम्। निश्छिद्रं पाणिपात्रं विधाय, तिष्ठेत्सुसंयतः ॥५१३॥

अर्थ—फिर उन मुनियों को अपने दोनों पैरों में ४ अंगुल का अन्तर रखकर खड़ा होना चाहिये और अपने दोनों करपात्रोंको छिद्र रहित बना लेना चाहिये ।५१३।

सिद्धभक्ति पूर्वक आहार ग्रहण—

सिद्धभक्तिं ततः कुर्यात्, निष्पापं प्रासुकाशनम्। विधिना दीयमानं स, प्रतीच्छेत् क्षुद्विहानये॥

अर्थ—तदनंतर उन मुनियों को सिद्ध भक्ति करनी चाहिए और फिर क्षुधा वेदना को दूर करने के लिए विधि पूर्वक दिए हुए पाप रहित प्रासुक आहार को ग्रहण करना चाहिए ॥५१४॥

खड़े होकर पंच प्रकार की वृत्ति सहित भोजन लेना चाहिये—

यथागतं तदन्नं स, सरसं वा रसातिगम्। स्वादं त्यक्त्वा भजेद् गोचारादिपंचविधं स्थितः॥

अर्थ—दाताके द्वारा दिया हुआ जो अन्न सरस हो या नीरस हो उन मुनियों को अपना स्वाद छोड़कर ग्रहण कर लेना चाहिए। उन मुनियोंको खड़े होकर आहार लेना चाहिए और गोचर आदि ५ प्रकार की वृत्ति पूर्वक आहार ग्रहण करना चाहिए ॥५१५॥

५ प्रकार की वृत्तियों के नाम—

गोचारः प्रथमो भेदो, परोक्षमृक्षणाह्वयः। तृतीय उदराग्निप्रशमनाख्यश्चतुर्थकः ॥५१६॥

भ्रमराहारनामाथ, श्वभ्रपूरणसंज्ञकः । एतैः पंचविधैरत्र, भेदैर्भुंक्तेशनं यतिः ।।५१७।।

अर्थ—(१) गोचार (२) अक्षमृक्षण (३) उदराग्निप्रशमन (४) भ्रमराहार और (५) श्वभ्रपूरण इसप्रकार पांच प्रकार की वृत्ति रखकर मुनि आहार ग्रहण करते हैं ।।५१६-५१७।।

(१) गोचारवृत्ति का स्पष्टीकरण—

यथोपनाथमानं तृणादिकं दिव्ययोषिता । गौश्चास्यवहरत्यत्र, न तदंगं निरीक्ष्यते ।।५१८।।
तथालंकारधारिण्या, दिव्यनार्योपढौकितम् । पिण्डं गृह्णाति सद्योगीः, तस्यारूपं न पश्यति ।।

अर्थ—जिसप्रकार कोई सुन्दर स्त्री किसी गायको घास (भुस) डालने आती है तो वह गाय उस घास (भुस) को ही खाने लगती है वह गाय उस सुन्दर स्त्री के शरीरको नहीं देखती इसीप्रकार वस्त्राभूषणों को धारण करनेवाली किसी दिव्य सुन्दर स्त्री के द्वारा दिये हुये आहारको श्रेष्ठ मुनिराज ग्रहण कर लेते हैं परन्तु उसके रूपको नहीं देखते ।।५१८-५१९।।

गोचारवृत्ति का स्वरूप पुनः

अथवा गौर्यथा नानातृणनीरादि संचयम् । न सर्वमीहते किंतु, यथालब्धं भजेत्सदा ।।५२०।।
तथान्नरस सुस्वाद, व्यंजनादि समीहते । नैकीकृतं मुनिः किंतु, यथालब्धं भुनक्ति तत् ।।५२१।।

अर्थ—अथवा जिस प्रकार गाय अनेक प्रकार के घास भुसको वा पानी को चाहती नहीं है किन्तु जो सामने आ जाता है उसी को खा लेती है उसी प्रकार मुनिराज भी अन्न रस स्वादिष्ट व्यंजन आदि किसी की इच्छा नहीं करते; किंतु जो कुछ दाता देता है उसे इकट्ठा कर खा लेते हैं । इसको 'गोचारवृत्ति' कहते हैं ।।५२०-५२१।।

(२) 'अक्षमृक्षण' वृत्ति का स्वरूप—

स्निग्धेन केनचिद् यद्व, दक्षलेपं विधाय भोः । नयेद् देशांतरं वैश्यः, शकटीं रत्नपूरिताम् ।।५२२।।
गुणरत्नभृतां तद्वच्छरीरं, शकटीं मुनिः । स्वल्पाक्षमृक्षणेनास्मात्, प्रापयेच्छिवपत्तनम् ।।५२३।।

अर्थ—जिस प्रकार कोई वैश्य, रत्नों से भरी हुई गाड़ी को, पहियो की धुरी में, थोड़ी सी चिकनाई लगाकर देशांतर में ले जाता है; उसी प्रकार मुनिराज भी गुण रत्नोंसे भरी हुई इस शरीर रूपी गाड़ी को चिकनाई के समान, थोड़ा सा आहार देकर इस आत्माको मोक्ष नगर तक पहुंचा देते हैं । इसको 'अक्षमृक्षण' वृत्ति कहते हैं । ।।५२२-५२३।।

(३) 'उदराग्निप्रशमन' वृत्ति का स्वरूप—

समुत्थितं यथा वन्हि, भांडागारे भृते वणिक् । रत्नाद्यैः शमयेच्छीघ्रं, शुच्यशुच्यादिवारिणा ॥
तथोत्थितं क्षुधावन्हि, मुदरे शमयेद्यमी । सरसेतर भक्तेन, दृगादि रत्न हेतवे ॥५२५॥

अर्थ—जिसप्रकार कोई वैश्य, रत्नादिकसे भरे हुये भंडागार में (भंडारे में) अग्नि के लग जानेपर तथा उसकी ज्वाला बढ़ जाने पर शीघ्र शुद्ध वा अशुद्ध पानी से उसे बुझा देता है; उसीप्रकार मुनिराज भी सम्यग्दर्शन आदि रत्नों की रक्षा करने के लिये अपने पेट में बढ़ी हुई क्षुधा रूपी वन्हिको सरस वा नीरस आहार लेकर, शीघ्र ही बुझा देते हैं इसको 'उदराग्निप्रशमन' वृत्ति कहते हैं ॥५२४-५२५॥

(४) 'श्वभ्रपूरण' वृत्ति का स्वरूप—

यथा स्वगेहमध्यस्थं, गृही गर्त्तं प्रपूरयेत् । येन केनोपनीतेन, कतवारेण नान्यथा ॥५२६॥
तथोदरगतं श्वभ्रं, पूरयेत्संयमी क्वचित् । यादृक् तादृक् विधान्नेन, न च मिष्टाशनादिना ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई गृहस्थ, अपने घरके मध्यके गड्ढे को किसी भी कूड़े कर्कटसे भर देता है, उसके लिये अच्छी मिट्टी की तजबीज नहीं करता; उसीप्रकार मुनिराज भी अपने पेट के गड्ढे को जैसा कुछ मिल गया उसी अन्नसे भर लेते हैं; उसको भरने के लिये मिष्ट भोजन की तलाश नहीं करते इसको 'श्वभ्रपूरण वृत्ति' कहते हैं ॥५२६-५२७॥

(५) भ्रामरी वृत्ति का स्वरूप—

भ्रमरोत्र यथा पद्माद्, गंधं गृह्णाति तद्भवम् । घ्राणेन न मनाक् तस्य, बाधां जनयति स्फुटं ॥
तथा हरित चाहारं, दत्तं दातृजनैर्यतिः । न मनाक् पीडयेद् दातृन्, जात्वलाभाल्पलाभतः ॥५२९॥

अर्थ—जिसप्रकार भ्रमर, अपनी नासिकाके द्वारा कमल से गंधको ग्रहण कर लेता है और उस कमल को किंचित् मात्र भी बाधा नहीं देता; उसीप्रकार मुनिराज भी दाता के द्वारा दिये हुये आहार को ग्रहण कर लेते हैं परंतु चाहे उन्हें आहार मिले वा न मिले; अथवा थोड़ा ही मिले तो भी वे मुनिराज किसी भी दाता को रंचमात्र भी पीड़ा नहीं देते हैं। इसको 'भ्रामरी वृत्ति' कहते हैं ॥५२८-५२९॥

५ प्रकार पूर्वक आहार को ग्रहण करना तथा ३२ अन्तरायों को छोड़ना—

इति पंचविधाहारं, भजन् योगी क्वचित् त्यजेत् । द्वात्रिंशदंतरायाणा मन्तरायागते सति ॥

अर्थ—इसप्रकार वे मुनिराज, पांच प्रकारके आहार को ग्रहण करते हैं यदि

Ganesh Varṇi Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

उस समय बत्तीस अंतरायों में से कोई अंतराय आ जाय तो उस आहार को भी छोड़ देते हैं ।।५३०।।

बत्तीस अन्तरायों के नाम—

काकोऽमेध्यं तथा छर्दि, रोधनं रुधिरं ततः । अश्रुपाताभिधो जान्वधः परामर्शसंज्ञकः ।।५३१।।
अंतरायस्ततो जान, परिव्यतिक्रमाह्वयः । नाभ्यधो निर्गमनाख्यः, स्वप्रत्याख्यान सेवनात् ।।५३२।।
तथा जीववधः काकादि, पिंडहरणाभिधः । पिंडस्य पतनं हस्तात् पाणौ जन्तुवधस्ततः ।।५३३।।
मांसादि दर्शनं चोप, सर्गः पादद्वयान्तरे । व्रजेत् पंचेन्द्रियो जीवः, संपातो भाजनस्य च ।।५३४।।
उच्चारः प्रस्रवणं चा, भोज्यगेहप्रवेशनम् । मूर्च्छाया पतनं चोपवेशनं दष्टनामकः ।।५३५।।
भूमिसंस्पर्शनामाथ, निष्ठीवनं समाह्वयः । उदरात्संयतस्यैव, कृमिनिर्गमनं ततः ।।५३६।।
अदत्तं ग्रहणं शस्त्रै, प्रहारो ग्राम दाहकः । पादेन ग्रहणं किंचित, वस्तुभूमेः करेण च ।।५३७।।
अंतराया इमे ज्ञेया, द्वात्रिंशत्संख्यका मुनेः । अलाभहेतवोऽन्नादौ, वक्ष्यमाणाः पृथक्-पृथक् ।।५३८।।

अर्थ—निम्नलिखित ३२ अंतराय हैं—(१) काक (२) अमेध्य (३) छर्दि (४) रोधन (५) रुधिर (६) अश्रुपात (७) जान्वधः परामर्श (८) जानूपरि व्यतिक्रम (९) नाभ्यधो निर्गमन (१०) प्रत्याख्यात सेवन (११) जीववध (१२) काकादि पिंडहरण (१३) हस्तात् पिंडपतन (१४) पाणिपात्रे जंतुवध (१५) मांस-दर्शन (१६) उपसर्ग (१७) पादान्तर पंचेंद्रिय जीवगमन (१८) भाजनसंपात (१९) उच्चार (२०) प्रस्रवण (२१) अभोज्य गृह प्रवेश (२२) मूर्च्छापतन (२३) उपवेशन (२४) दंष्ट (२५) भूमिस्पर्श (२६) निष्ठीवन (२७) उदर-कृमि-निर्गमन (२८) अदत्तग्रहण (२९) शस्त्रप्रहार (३०) ग्रामदाह (३१) पादेन ग्रहण (३२) हस्तेन ग्रहण । इसप्रकार मुनियोंके उपरिलिखित ३२ अंतराय हैं और आहार के लोभसे बाधा डालने वाले हैं । आगे इन सबका स्वरूप अलग २ लिखते हैं ।।५३१-५३८।।

(१) काक नामक अन्तराय—

स्थितस्य गच्छतो वो, परि व्युत्सर्गं प्रकुर्वते । काकाद्या पक्षिणोऽयं स, काकान्तरायनामकः ।।

अर्थ—मुनिराज चाहे आहार के लिये चल रहे हों अथवा बैठे हों उस समय यदि कोई कौआ या बाज आदि पक्षी उनके ऊपर बीट कर दे, तो उन मुनिके (१) 'काक नामका' अंतराय होता है ।।५३९।।

(२) अमेध्य व (३) छर्दि अन्तराय—

गच्छन् मार्गे स्वपादेना, मेध्यं यदि यतिः स्पृशेत् । जायते वमनं स्वस्थ, योगिनोऽघविपाकतः ।।

अर्थ—यदि मार्ग में चलते हुए मुनि के पैर में, विष्ठा लग जाय, या विष्ठा का स्पर्श हो जाय तो उनके (२) 'अमेध्य' नामका अन्तराय होता है; यदि मुनि के पापकर्मके उदय से वमन हो जाय तो (३) 'छर्दि' नामका अंतराय होता है ।।५४०।।

(४) रोधन व (५) रुधिर अन्तराय का स्वरूप—

यदि कश्चित् करोत्येव, यमिनो धरणादिकम् । आत्मनो वा परस्यासौ, रुधिरं यदि पश्यति ।।

अर्थ—यदि मार्ग में चलते हुए मुनि को रोक ले तो (४) 'रोधन' नामका अन्तराय होता है । यदि वे मुनि अपने शरीर से निकले हुए अथवा दूसरे के शरीर से निकले हुए रुधिर को देखलें तो उनके (५) रुधिर नामक अन्तराय होता है ।।५४१।।

(६) अश्रुपात नामक अन्तराय—

दुःख: शोकादिभि: स्वात्मनोऽश्रुयातो भवेद्यदि: । अत्यक्रंदः परेषां वा, सन्नानां मरणादिभि: ।।

अर्थ—यदि दुःख वा शोकादिक के द्वारा मुनि के आंसू निकल आवें अथवा किसी आसन्न (नजदीकी) पुरुष के मरण हो जाने से रोने वाले दूसरों के आंसुओं को मुनि देख लेवें तो उनके (६) 'अश्रुपात' नामका अन्तराय होता है ।।५४२।।

(७) जान्वधः परामर्श तथा (८) जानूपरिव्यतिक्रम अन्तराय—

यदि जानोरधो भागे, करोति स्पर्शनं मुनिः । व्यतिक्रमं विधत्ते च, जानोरुपरि कारणात् ।।५४३।।

अर्थ—यदि वे मुनि जंघा के नीचे के भाग को स्पर्श करलें तो उनके (७) 'जान्वधः परामर्श' नामका अंतराय होता है । यदि वे मुनि किसी कारणसे जंघाके ऊपर व्यतिक्रम करलें; जंघा से ऊंची सीढ़ी पर इतनी ऊंची एक ही डंडा या सीढ़ी पर चढ़े तो उनके (८) 'जानूपरिव्यतिक्रम' नामका अंतराय होता है ।।५४३।।

(९) नाभ्यधो निर्गमन तथा (१०) प्रत्याख्यात सेवन अन्तराय—

नाभेरधः शिर. कृत्वा, कुर्यान्निर्गमनं यतिः । मुनेर्नियमितस्यैव, वस्तुनो भक्षणं भवेत् ।।५४४।।

अर्थ—यदि मुनि नाभि से नीचे अपना सिर करके निकले तो उनके (९) 'नाभ्यधो निर्गमन' अंतराय होता है । यदि वे मुनि त्याग किये हुये पदार्थ को भक्षण करलें तो उनके (१०) 'प्रत्याख्यात सेवन' नामका अंतराय होता है ।।५४४।।

(११) जीववध व (१२) काकादि पिंडहरण अन्तराय—

आत्मनः पुरतोऽन्येन, क्रियतेंऽगिवधो यदि । काकाद्याः पाणितः पिंड, योगिनोपहरन्ति च ।।

अर्थ—यदि कोई मनुष्य अपने सामने ही किसी जीवको मार डालें तो उन मुनियों को 'जीववध' नामका ११वां अंतराय होता है। यदि काक आदि पक्षी मुनिके हाथसे आहार के पिंड को अपहरण कर लें तो (१२) 'पिंडहरण' नामका अन्तराय होता है ।।५४५।।

(१३) हस्तात् पिंडपतन तथा (१४) पाणिपात्रे जंतुवध अन्तराय का लक्षण—

ग्रासमात्रं पतेद्हस्तात्, भुंजानस्य यतेर्यदि। म्रियते स्वयमागत्य, पाणौ जंतुश्च पापतः ।।५४६।।

अर्थ— यदि आहार करते हुये, मुनि के हाथ से एक ग्रास के समान आहार गिर जाय तो उनके (१३) 'पिंडपतन' नामका अंतराय होता है। यदि पाप कर्मके उदय से कोई जीव स्वयं आकर मुनिके हाथपर मर जाय तो उनके 'पाणिपात्रे जंतुवध' नामका १४वां अंतराय होता है ।।५४६।।

(१५) मांसदर्शन व (१६) उपसर्ग नामक अन्तराय—

पश्येद् यदि प्रमादेन, मांसादीन् संयतोऽशुभान्। योगिनो यदि जायेतोपसर्गो, नृसुरादिजः ।।५४७।।

अर्थ—यदि मुनि अपने प्रमादसे मांसादिक अशुभ पदार्थों को देखलें तो 'मांस दर्शन' नामका १५वां अंतराय होता है; यदि उन मुनि के ऊपर कोई मनुष्य देव या तिर्यंच उपसर्ग करे तो उनके 'उपसर्ग' नामका १६वां अंतराय होता है ।।५४७।।

(१७) पादान्तर पंचेन्द्रिय जीव गमन तथा (१८) भाजन संपात नामक अन्तराय—

पादयोरन्तरे गच्छे, ज्जीवः पंचेन्द्रियो मुनेः। पारिवेषकहस्तादेः, र्भाजनं च पतेद्यदि ।।५४८।।

अर्थ—यदि मुनिके दोनों पैरों के मध्यमें से कोई चूहा आदि पंचेंद्रिय जीव निकल जाय तो उनके 'पादान्तर पंचेंद्रिय जीव गमन' नामक १७वां अंतराय होता है। यदि दान देने वाले के हाथ से कोई बर्त्तन गिर जाय तो उन मुनिके आहार में (१८) 'भाजनसंपात' नामका अंतराय होता है ।।५४८।।

(१९) उच्चार (२०) प्रसूवण (२१) अभोज्य गृह प्रवेश अन्तरायों का वर्णन—

स्रवेदुच्चार एवोदरच्च, मूत्रादिकं यतेः। प्रवेशो यदि जायेत, चांडालादि गृहस्य च ।।५४९।।

अर्थ—यदि मुनि के उदर से मल निकल आवे तो (१९) 'उच्चार' नामका अंतराय होता है। यदि मूत्र निकल पड़े तो (२०) 'प्रस्रवण' नामका अंतराय होता है यदि आहार के लिये फिरते हुए मुनि किसी चांडालादिक के घरमें प्रवेश कर जांय तो उनके (२१) 'अभोज्य गृह प्रवेश' नामक अंतराय होता है ।।५४९।।

(२२) मूर्छापतन (२३) उपवेशन (२४) दंष्ट अन्तराय—

मूर्च्छादिना पतेद्योगी, कुर्याद्यु पवेशनम् । श्वादिभि र्यदि दंष्टः स्या, न्मुनिः स्वपापकर्मणा ।।

अर्थ—यदि आहार करते हुए मुनि मूर्च्छा आदि के कारण से गिर जांय तो उनके (२२) 'मूर्छापतन' नामक अन्तराय होता है। यदि आहार करते हुये मुनि बैठ जांय तो उनके (२३) 'उपवेशन' नामका अन्तराय होता है। यदि पाप कर्मके उदयसे कुत्ता आदि कोई जानवर काट ले तो उन मुनि के 'दंष्ट' नामक २४वां अन्तराय होता है ।।५५०।।

(२५) भूमिस्पर्शन तथा (२६) निष्ठीवन नामक अन्तराय—

सिद्धभक्तौ कृतायां, स्वहस्तेनासौ धरां स्पृशेत् । निष्ठीवनं विधत्ते वा, क्षिपेत् श्लेष्मादिकं यमी ।।

अर्थ—यदि मुनि सिद्धभक्ति करने के बाद अपने हाथ से पृथ्वी का स्पर्श कर लें तो उनके 'भूमि स्पर्शन' नामक २५वां अन्तराय होता है यदि वे मुनि सिद्धभक्ति के बाद थूक दें अथवा कफ थूक दें तो उनके 'निष्ठीवन' नामका २६वां अन्तराय होता है ।।५५१।।

(२७) उदर कृमि निर्गमन तथा (२८) अदत्त ग्रहण अन्तराय—

निर्गच्छति स्वयं चास्योदरादेव कृमिर्बहिः । किंचिल्लोभेन गृह्णाति सोदतं पर वस्तु च ।।५५२।।

अर्थ—यदि मुनि के उदर से अपने आप कोई कीड़ा बाहर निकल आवें तो 'उदर कृमि निर्गमन' नामका २७वां अन्तराय होता है। यदि वे मुनि किसी लोभ के कारण बिना दिये हुये किसी पर पदार्थ को ग्रहण करलें तो उनके 'अदत्तग्रहण' नामका २८वां अन्तराय होता है ।।५५२।।

(२९) शस्त्र प्रहार व (३०) ग्रामदाह तथा (३१) पादेन ग्रहण नामक अन्तराय का स्वरूप—

खड्गादिभिः प्रहारः स्यात्स्वात्मनो वा परांगिनाम् ।
जायते गृह दाहश्च किंचिद् गृह्णाति सोंघ्रिणा ।।५५३।।

अर्थ—यदि कोई मनुष्य उन मुनि पर तलवार आदि शस्त्रका प्रहार करे वा उनके सामने अन्य किसी मनुष्य पर प्रहार करे तो उन मुनि के 'शस्त्र प्रहार' नामका अन्तराय होता है। यदि आहार के समय उसी गांव के किसी घर में अग्नि लग जाय तो 'ग्रामदाह' नामका अन्तराय होता है। यदि वे मुनि अपने पैरसे कोई वस्तु उठाकर ग्रहण करलें तो उनके 'पादेन ग्रहण' नामका अन्तराय होता है ।।५५३।।

(३२) हस्तेन ग्रहण नामक अन्तराय—

यद्यादत्ते करेणासौ किंचिद्वस्तु महीतलात् । द्वात्रिंशत्संख्यका एते अन्तराया मतामुनेः ।।५५४।।

अर्थ—यदि वे मुनि अपने हाथ से पृथ्वीपर से कोई वस्तु उठा लें तो उनके 'हस्तेनग्रहण' नामका अन्तराय होता है । इसप्रकार मुनियों के आहार को निषेध करने वाले ये बत्तीस अन्तराय माने हैं ।।५५४।।

अन्य बहुत अन्तरायों का सामान्य उल्लेख—

अन्येपि बहवः सन्ति भोजनालाभकारिणः । चांडाल स्पर्श साधर्मिक मृत्यादय एव भोः ।।५५५।।

अर्थ—इनके सिवाय चांडाल का स्पर्श हो जाना किसी साधर्मी की मृत्यु हो जाना आदि और भी भोजन में बाधा डालने वाले बहुत से अन्तराय हैं ।।५५५।।

अन्तरायों में से किसी भी अन्तराय के आने पर भोजन का त्याग—

एषामन्यतमः कश्चिदंतरायः स्वकर्मणा । यद्यायाति तदाहारमर्द्धभुक्तं त्यजेद्यमी ।।५५६।।

अर्थ—अपने कर्मके उदय से इन अन्तरायों में से यदि कोई भी अन्तराय आ जाय तो मुनियोंको उसके बाद आहारका त्यागकर देना चाहिये, आधे खाये हुए आहार का भी त्याग कर देना चाहिये ।।५५६।।

भोजन करके अपने स्थान पर आगमन—

ततोसौ संयतो ह्येनानन्तरायान् प्रपालयन् । स्वादुं त्यक्त्वा चरीं कृत्वा प्रयाति स्वाश्रमं द्रुतम ।।

अर्थ—तदनंतर उन मुनियों को इन अन्तरायों का पालन करते हुए स्वादको छोड़कर चर्या करनी चाहिये और चर्या करके शीघ्र ही अपने आश्रम में आ जाना चाहिये ।।५५७।।

ग्लानि आदि का निषेध—

न तत्रोपविशेद् योगी ग्लान्यादिकारणं विना । जल्पनं हसनं वा न कुर्याद् योषिज्जनादिभिः ।।

अर्थ—मुनियों को वहांपर ग्लानि आदि किसी कारण के बिना बैठना नहीं चाहिये । तथा स्त्री वा पुरुषों के साथ बात चीत वा हँसी कभी नहीं करनी चाहिये । ।।५५८।।

गुरू के समीप चारों आहारों का प्रत्याख्यान—

किंतु स्वगुरुमासाद्य नत्वा भक्त्या चतुर्विधम् । प्रत्याख्यानं स गृह्णीयात्स्वशक्त्या कर्महानये ।।

अर्थ—किंतु अपने गुरु के पास आकर भक्ति पूर्वक उनको नमस्कार करना चाहिये और कर्मों को नाश करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये ।।५५९।।

निंदा और गर्हा पूर्वक गोचारी प्रतिक्रमण की आवश्यकता—

ततोतीचार शुद्धयर्थं निंदा गर्हादिपूर्वकम् । मुनिः कुर्याद्धि गोचारी प्रतिक्रमणमंजसा ।।५६०।।

अर्थ—तदनंतर उन मुनियोंको उस चर्यामें लगे हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिये निंदा और गर्हा पूर्वक गोचारी प्रतिक्रमण (आहारमें लगे हुए दोषोंकी क्षमापणा) करना चाहिये ।।५६०।।

कर्म नष्ट करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय आवश्यक—

पुनः कर्मक्षयायासौ शास्त्राभ्यासं निरन्तरम् । ध्यानं वा परमं सारं प्रशस्तं परमेष्ठिनाम् ।।५६१।।

अर्थ—इसके बाद उन मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिये निरन्तर शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये और परमेष्ठियों का सारभूत सर्वोत्कृष्ट प्रशस्त ध्यान धारण करना चाहिये ।।५६१।।

समस्त संकल्प विकल्पों का त्याग—

करोति तत्त्वचिंतां च भावनां स्वपरात्मनः । निर्विकल्पं मनः कृत्वा संवेग धर्मवासितम् ।।५६२।।

अर्थ—उन मुनियों को अपने मनके समस्त संकल्प विकल्पों का त्याग कर देना चाहिये तथा मन को संवेग और धर्म में स्थिर कर तत्त्वोंका चिंतवन तथा अपने आत्मा की भावनाओं का और अन्य आत्माओं की भावना का चिंतवन करते रहना चाहिये ।।५६२।।

दिन में सोने का त्याग तथा विकथाओं का परित्याग—

न दिवाशयनं कुर्याद् विकथां नाघकारिणीम् । लाभालाभादि पृष्टोपि वदेज्जातु न संयमी ।।

अर्थ—मुनियों को न तो दिन में कभी सोना चाहिये, न पाप उत्पन्न करनें वाली विकथायें कहनी चाहिये तथा पूछने पर भी किसी के लाभ वा अलाभ को नहीं बतलाना चाहिये ।।५६३।।

धर्मध्यान के विना एक घड़ी भी व्यर्थ नहीं व्यतीत करना चाहिए—

बहुनोक्तेन किं साध्यं धर्मध्यानं विना यतिः । एकां कालकलां जातु गमयेन्नाति दुर्लभाम् ।।

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि मुनियों को बिना धर्मध्यान के अत्यंत दुर्लभ ऐसी काल को एक घड़ी भी नहीं बितानी चाहिये ।।५६४।।

विकथाओं के कहने से निरन्तर पापों का संचय—

यतो येनपराहारं गृहीत्वा कुर्वंते शठाः । चतुर्धा विकथां तेषां वृथा दीक्षाघसंचयात् ।।५६५।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो अज्ञानी मुनि दूसरे का आहार ग्रहण करके भी चारों प्रकार की विकथा में लगे रहते हैं उनकी दीक्षा भी व्यर्थ है, क्योंकि विकथाओं के कहने से उनके निरंतर पापों का संचय होता रहता है ।।५६५।।

रत्नत्रय के बिना केवल भार वहन—

वा ते प्रमादिनो नूनं पराहारादि भक्षणात् । विना रत्नत्रयं दीना भवन्ति भार वाहकाः ।।५६६।।

अर्थ—अथवा यों कहना चाहिये कि दूसरों का आहार खा-खाकर वे प्रमादी बन गए हैं और रत्नत्रयके बिना वे दीन केवल भार वहन करनेवाले वा बोझा ढोने वाले हैं ।।५६६।।

प्रमाद कभी नहीं करना चाहिये—

इति मत्वा न कर्तव्यः प्रमादो विकथादिजः । किंतु स्वर्मुक्ति संसिध्यै स्थातव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।।

अर्थ—यही समझ कर विकथादिकों से उत्पन्न हुआ प्रमाद मुनियों को कभी नहीं करना चाहिये किंतु मोक्षकी इच्छा करनेवाले उन मुनियों को स्वर्ग और मोक्षकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये ।।५६७।।

भोजन शुद्धि सब धर्मोंकी खानि है—

इत्येषाशन शुद्धिश्चानुष्ठेया यत्नतोन्वहम् । विश्वधर्मखनी सारा वृत्तमूला गुणाकरा ।।५६८।।

अर्थ— इसप्रकार कही हुई यह भोजन शुद्धि मुनियों को प्रयत्न पूर्वक प्रतिदिन करनी चाहिये । क्योंकि यह भोजन शुद्धि समस्त धर्मोंकी खानि है, सारभूत है, चारित्र की जड़ है और गुणोंकी खानि है ।।५६८।।

अधःकर्मजन्य आहार को ग्रहण करने का फल—

यतो वहूपवासाश्च योगा आतपनादयः । अधः कर्म भुजां व्यर्थाःस्युः षडंगि विघातनात् ।।५६९।।

अर्थ—जो मुनि अधःकर्म जन्य आहारको ग्रहण करते हैं उनके छहों प्रकारके

जीवों के घात करने का पाप लगता है अतएव उनके अनेक उपवास और आतापन आदि योग सब व्यर्थ हो जाते हैं ।।५६९।।

मुनियों को शुद्ध करनेवाली सारभूत भिक्षा शुद्धि—

यथात्र व्यवहाराख्या शुद्धिः सागारिणां परा । भिक्षा शुद्धि स्तथा सारा योगिनां शुद्धिकारिणी ।।

अर्थ—जिस प्रकार गृहस्थों की उत्कृष्टि शुद्धि व्यवहार शुद्धि कहलाती है उसीप्रकार मुनियोंको शुद्धि करनेवाली सारभूत भिक्षा शुद्धि समझनी चाहिये ।।५७०।।

सदोष आहार का निषेध—

वरं प्रत्यह माहारं निरवद्यं तपस्विनाम् । न च पक्षोपवासादौ सदोषं पारणं क्वचित् ।।५७१।।

अर्थ—मुनियों को निर्दोष आहार प्रतिदिन कर लेना अच्छा परंतु पन्द्रह दिन वा महिने भरका उपवास करके पारणा के दिन सदोष आहार करना अच्छा नहीं ।।५७१।।

भिक्षाकी शुद्धि प्रयत्न पूर्वक आवश्यक—

विज्ञायेति प्रयत्नेन भिक्षाशुद्धिः शिवंकरा । गुणरत्नखनी नित्यं विधेया भव भीरुभिः ।।५७२।।

अर्थ—यही समझकर संसारसे भयभीत रहनेवाले मुनियोंको गुणरूपी रत्नोंकी खानि और मोक्ष प्रदान करनेवाली भिक्षाकी शुद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिये ।।५७२।।

एषणा शुद्धि को धारण करने का फल—

सकल चरणमूलां दुःख दावाम्बु वृष्टि जिन मुनिगण सेव्यां स्वाक्ष कर्मारि शस्त्रीम् ।
परम सुगुण खानिं स्वर्गमोक्ष द्रुधात्रीं भजत परमयत्नादेषणा शुद्धिमार्याः ।।५७३।।

अर्थ—इसप्रकार यह एषणा शुद्धि समस्त चारित्रकी मूलकारण है, दुःखरूपी दावानल अग्निके लिये पानी की वर्षा है, भगवान जिनेन्द्रदेव और समस्त मुनिगण इसकी सेवा करते हैं इसको पालन करते हैं, अपनी इन्द्रियां और कर्मरूपी शत्रुको नाश करने के लिये यह भिक्षा शुद्धि एक अमोघ शस्त्र है, सर्वोत्कृष्ट श्रेष्ठ गुणोंकी खानि है और स्वर्ग मोक्षरूपी वृक्षको बढ़ाने के लिये धायके समान है । अतएव मुनियोंको परम प्रयत्न पूर्वक इस एषणा शुद्धिको धारण करना चाहिये ।।५७३।।

आदान निक्षेपण समिति का स्वरूप—

ज्ञानसंयमशौचोप करणानां प्रयत्नतः । यत्संस्तरादि वस्तूनां ग्रहणं क्रियते बुधैः ।।५७४।।

निक्षेपणं निरीक्ष्यो च्चैश्चक्षुर्भ्यां प्रतिलेख्यवै । मृदु पिच्छिकयादान निक्षेपा समितिश्च सा ।।

अर्थ—बुद्धिमान मुनि ज्ञानके उपकरणों को, संयमके उपकरणों को, शौचके उपकरणों को और सोने बैठने के साधनों को नेत्रों से अच्छी तरह देखकर तथा कोमल पीछीसे शोध कर प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करते हैं और प्रयत्न पूर्वक ही रखते हैं उनकी इस क्रिया को आदान निक्षेपण समिति कहते हैं ।।५७४-५७५।।

पुस्तक आदि ज्ञानोपकरण को पीछी से देखकर रखना—

पुस्तकाद्युपधीन् साधुः कार्यार्थं चक्षुषा मुहुः । विलोक्य प्रतिलेख्यात्रगृह्णीयात्स्थापयेत्तथा ।।

अर्थ—साधुओं को पुस्तक आदि ज्ञान के समस्त साधन अपने कार्यके लिये नेत्रोंसे अच्छी तरह देखकर तथा पीछी से शोध कर ग्रहण करना चाहिये और इसी प्रकार देख शोध कर रखना चाहिये ।।५७६।।

संस्तर आदि को हिलाने का निषेध—

संस्तरं फलकं वान्योपधिं रात्रौ न चालयेत् । सति कार्येपि योगीन्द्रो जीवबाधाधिशंकया ।।५७७।।

अर्थ—मुनियों को आवश्यक कार्य होनेपर भी अनेक जीवोंकी बाधाके डरसे रात्रि में अपने सोने बैठने के पाट को वा अन्य संस्तरको कभी हिलाना व चलाना नहीं चाहिये ।।५७७।।

नहीं हिलाने का कारण—

यतो रात्रौ न दृश्यन्ते सूक्ष्माः स्थूलाश्चजंतवः । तस्मात्तच्चाननेनाशु ध्रुवं तेषां विराधना ।।

अर्थ—क्योंकि रात्रिमें सूक्ष्म वा स्थूल कोई भी जीव दिखाई नहीं देते अतएव उस पाट व संस्तर के हिलाने चलाने में बहुत शीघ्र उन जीवों की विराधना हो जाती है ।।५७८।।

दिन में भी अन्धकार युक्त स्थान में उपकरणों को रखने का निषेध—

दिवसे वा प्रदेशे वह्वंधकारान्विते बुधैः । अदृष्टिगोचरे कार्यं वस्तूनां स्थापनादि न ।।५७९।।

अर्थ—यदि दिन भी हो और जिस किसी अंधेरे स्थानमें बहुत अन्धेरा हो कुछ दिखाई न देता हो उसमें भी किसी पदार्थको नहीं रखना चाहिये ।।५७९।।

हिलने डुलने वाले आसनों पर बैठने का निषेध—

पट्टके फलके न्यत्र वाचले शयनासनम् । जीवबाधाकरं जातु न कर्तव्यं व्रतार्थिभिः ।।५८०।।

अर्थ—व्रती मुनियों को हिलने डुलने वाले तख्ते पर वा पाट पर न कभी सोना चाहिये और न बैठना चाहिये क्योंकि ऐसे आसन पर सोने बैठने से अनेक जीवों की बाधा हो जाती है ।।५८०।।

निंदनीय अप्रतिलेखन, दुष्प्रतिलेखन एवं सहसा प्रतिलेखन का निषेध—

धर्मोपकरणादीनां निंद्यमप्रतिलेखनम् । आदान स्थापना काले· तथा दुष्प्रति लेखनम् ।।५८१।।
महासंयम संसिध्यै सहसा प्रतिलेखनम् । अयत्न मनसा जातु न कार्यं संयतैः क्वचित् । ५८२।।

अर्थ—मुनियों को धर्मोपकरणों के उठाने वा रखने में निंदनीय अप्रतिलेखन (पीछी से शुद्ध नहीं करना नहीं देखना आदि) कभी नहीं करना चाहिये तथा दुष्प्रतिलेखन (अच्छी तरह न देखना न अच्छी तरह पीछीसे शोधना यों ही इधर उधर पीछी मार देना) भी नहीं करना चाहिये तथा महा संयमकी सिद्धि के लिये सहसा प्रतिलेखन (जल्दी जल्दी देख शोध लेना) भी नहीं करना चाहिये और बिना प्रयत्न तथा बिना मनके भी कभी प्रतिलेखन नहीं करना चाहिये ।।५८१-५८२।।

धर्मोपकरणों का बार-बार संशोधन—

किंतु कुर्यात्प्रयत्नेन ग्रहण स्थापनादिकम् । शनैः स प्रतिलेख्येक्ष्य स्वोपधीनां मुहुर्मुहुः ।।५८३।।

अर्थ—किंतु धर्मोपकरणों का ग्रहण और स्थापन प्रयत्न पूर्वक बार बार देख कर और बार बार पीछी से शोधकर धीरे धीरे करना चाहिये ।।५८३।।

आदान निक्षेपण समिति पालन का फल—

इमां ये समितिं सारां निष्प्रमादा भजंति वै । तेषां माद्यं व्रतं पूर्णं व्रतानां मूलकारणम् ।।५८४।।

अर्थ—जो मुनिराज प्रमाद रहित होकर इस आदान निक्षेपण नामकी सारभूत समिति को पालन करते हैं उनके समस्त व्रतोंका मूल कारण ऐसा पहला अहिंसा महाव्रत पूर्ण रीतिसे पालन होता है ।।५८४।।

ऐसा नहीं करने से स्थूल तथा सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा—

विनेमां समितिं योत्र शिथिला विहरन्ति भोः । घ्नन्ति स्थूलांगि राशीस्ते का कथा सूक्ष्मदेहिंनाम् ।।

अर्थ—इस आदान निक्षेपण समिति को पालन किये बिना जो शिथिलाचारी मुनि विहार करते हैं वे अवश्य ही अनेक स्थूल जीवों के समूह का नाश करते हैं फिर भला सूक्ष्म जीवों की तो बात ही क्या है अर्थात् सूक्ष्म जीवों का तो बहुतों का नाश होता है ।।५८५।।

आदान निक्षेपण समिति का पालन करने का फल—

मत्वेति मुनयो नित्यं पालयन्तु दयाप्तये । इमां सुसमितिं यत्नाद्दर्शन प्रति लेखनैः ॥५८६॥
वृषभमुनि निषेव्यां स्वर्गसोपानपंक्ति शिवशुभगति वीथीं निर्जरा संवरस्य ।
भुवि सकल विधीनां हेतुभूतां मुनीन्द्राः प्रभजत समितिं चादान निक्षेपणाख्याम् ॥५८७॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को जीवोंकी दया पालन करने के लिये अच्छी तरह देखकर और अच्छी तरह पीछी से शोध कर प्रयत्न पूर्वक इस आदान निक्षेपण समिति को पालन करना चाहिये । इस आदान निक्षेपण समिति को सर्वोत्कृष्ट मुनि भी पालन करते हैं, यह स्वर्गके लिये सीढ़ियों की पंक्ति है, मोक्षका मार्ग है तथा शुभ-गतियों का मार्ग है और कर्मोंकी निर्जरा की तथा संवर की समस्त विधियों का कारण है । अतएव हे मुनिराजों ! आप लोग भी इस आदान निक्षेपण समितिका पालन करो ॥५८६-५८७॥

प्रतिष्ठापना समिति का स्वरूप—

एकान्ते निर्जने दूरे संवृते दृष्टयगोचरे । विलादि रहितेऽचित्तेऽविरोधे जन्तुवर्जिते ॥५८८॥
प्रदेशे क्रियते यत्स्वोच्चार प्रस्रवणादिकम् । दृष्टिपूर्वं प्रतिष्ठापनिका सा समितिर्मता ॥५८९॥

अर्थ—मुनि लोग जो मल मूत्र करते हैं वह ऐसे स्थान में करते हैं जो एकांत हो, निर्जन हो, दूर हो, ढका हो अर्थात् आंड़ में हो, दृष्टिके अगोचर हो, जिसमें बिल आदि न हो, जो अचित्त हो, विरोध रहित हो अर्थात् जहां किसी की रोक टोक न हो और जिसमें जीव जंतु न हों ऐसे स्थान में देख शोध कर वे मुनिराज मल मूत्रादिक करते हैं इसको प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं ॥५८८-५८९॥

प्रासुक भूमि देखकर मल-मूत्रका क्षेपण आवश्यक—

मलमूत्रादिकं सर्वं श्लेष्मनिष्ठीवनादि च । प्रासुकं भूतलं वीक्ष्य प्रतिलेख्य क्षिपेद्यमी ॥५९०॥

अर्थ—मुनियों को प्रासुक भूमि देखकर और पीछी से शुद्ध कर फिर उस पर मल मूत्र कफ थूक नाक का मल आदि डालना चाहिये ॥५९०॥

दिन हो चाहे रात्रि; मल-मूत्र का क्षेपण दृष्टि के अगोचर नहीं करना चाहिये—

क्षपायां दिवसे वात्र प्रदेशे दृष्टिगोचरे । कायोद्भवं मलं सर्वं क्षिपेज्जातु न संयमी ॥५९१॥

अर्थ—चाहे दिन हो और चाहे रात हो जो प्रदेश दृष्टिके गोचर नहीं होता जो स्थान दिखाई नहीं देता उस स्थान पर मुनियों को अपने शरीर का कोई भी मल

नहीं डालना चाहिये ।।५९१।।

कफ आदि मल पर बालू रेत का क्षेपंण—

श्लेष्मादिकं परिक्षिप्य धरादौ वालुकादिभिः । छादयन्तु बुधा यत्नाज्जन्तुपातादिशंकया ।।५९२।।

अर्थ—बुद्धिमान संयमियों को चाहिये कि वे पृथ्वीपर कफ वा नाक का मैल डाल कर उसके ऊपर बालू डाल दें जिससे कि उसमें किसी जीवके पड़ कर मर जाने की शंका न रहे ।।५९२।।

देख शोध कर उठाने रखने से ही कर्मों का संवर हो सकता है—

किमत्र बहुनोक्तेन सर्वसन्तर्मलोज्झनम् । अवष्टम्भं च कुंडयादौ वपुःकंडूयनादिकम् ।।५९३।।
अन्यद्वा त्यजनं किंचिल्लोकन प्रतिलेखनैः । विना जातु न कर्तव्यं संवराय मुमुक्षुभिः ।।५९४।।

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले संयमियों को जो कुछ करना हो दूर वा समीप में मल मूत्र कफ आदि का त्याग करना हो किसी दीवाल से शरीर खुजलाना हो अथवा और कोई पदार्थ रखना हो इत्यादि सब काम बिना देखे और बिना शोधे बिना पीछी से शुद्ध किये कभी नहीं करने चाहिये क्योंकि देख शोध कर उठाने रखने से ही कर्मों का संवर हो सकता है अन्यथा नहीं ।।५९३-५९४।।

ऐसा नहीं करने से स्थावर जीवों का घात तो होता ही है—

यतो येन्तर्मलं मूढा क्षिपन्ति यत्नतो विना । त्रसांस्ते मारयन्त्यत्र का वार्ता स्थावरांगिनाम् ।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो अज्ञानी संयमी बिना यत्नाचार के मल मूत्रका त्याग करते हैं वे अवश्य ही त्रस जीवोंका घात करते हैं फिर भला स्थावर कायके जीवोंकी तो बात ही क्या है अर्थात् उनका घात तो होता ही है ।।५९५।।

सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठापन समिति का पालन—

मत्वेति सर्वं यत्नेनात्रेमां समितिमूर्जिताम् । पालयन्तु विदो योगशुध्या दृक्प्रतिलेखनैः ।।५९६।।

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान संयमियों को मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक पूर्ण प्रयत्न के साथ नेत्रोंसे अच्छी तरह देखकर तथा पीछी से शोध कर इस सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठापन समिति का पालन करते रहना चाहिये ।।५९६।।

इसका फल उपसंहारात्मक—

जिनवर मुख जातां धर्मरत्नादि खानिं गणधर मुनि सेव्यां स्वर्गसोपानमालाम् ।

शिवमुख फलवल्लीं मुक्तिकामा भजंतु समिति मपमलां यत्नात्प्रतिष्ठापनाख्याम् ।।५९७।।

अर्थ—यह प्रतिष्ठापन समिति भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई है, धर्मरूपी रत्नोंकी खानि है, समस्त गणधर देव और श्रेष्ठ मुनि इसकी सेवा करते हैं, इसको पालते हैं, यह स्वर्गके लिये सीढ़ियों की पंक्ति है, मोक्ष सुखरूपी फलों की बेल है और समस्त दोषोंसे रहित है ऐसी यह प्रतिष्ठापना समिति मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक पालन करनी चाहिये ।।५९७।।

पांचों समितियों का महाफल—

एता। पंच शुभाकराः सुसमितीः स्वर्मोक्षसौख्यप्रदाः अंतातीत गुणाकरा भुवि महा सर्वव्रतांवाः पराः ।
ये यत्नेन सुपालयंति निपुणास्तेषां च पंचैवस्युः संपूर्णानि महाव्रतानि सुधियां स्वमुंक्तिशर्मादय। ।।

अर्थ—ये ऊपर कही हुई पांचों समितियां कल्याण करनेवाली हैं, स्वर्ग मोक्ष के सुख देनेवाली हैं अनंत गुणों की खानि हैं और समस्त महाव्रतों की जननी हैं । जो बुद्धिमान मुनि प्रयत्न पूर्वक इन उत्कृष्ट समितियों का पालन करते हैं उन चतुर पुरुषों के पांचों महाव्रत पूर्णता को प्राप्त होते हैं तथा स्वर्ग मोक्षके पूर्ण सुख और कल्याण प्राप्त होते हैं ।।५९८।।

पांचों समितियों के पालन नहीं करने का फल—

आसां ये शिथिलाः प्रपालन विधौ निद्यं प्रमादं सदा कुर्वंत्यत्र दयादयो व्रतगुणास्तेषां प्रणश्यंति भोः ।
तन्नाशाच्च महाघमात्महतकं तत्पाकतो दुर्गतौ घोरं स्यादसुखं ह्यमुत्र परमं चांतातिगासंसृतिः ।।

अर्थ—जो मुनि इन पांचों समितियों के पालन करने में शिथिलता करते हैं तथा निंदनीय प्रमाद करते हैं उनके दया आदि व्रत और गुण सब नष्ट हो जाते हैं । व्रतोंके नष्ट होने से आत्मा का घात करनेवाला महापाप उत्पन्न होता है, उस महापाप के उदय से परलोक में दुर्गतियां प्राप्त होती हैं उन दुर्गतियों में महा घोर दुःख उत्पन्न होते हैं और अनंत संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है ।।५९९।।

करुणा आदि गुणों को धारण करने के लिये पांचों समितियों का पालन अत्यन्त आवश्यक—

मत्वेतीह बुधाः प्रयत्नमनसा स्वर्मोक्षसंसिद्धये,
कारुण्यादिगुणाय मुक्तिजननी। कृत्स्नव्रताम्बाः शुभाः ।
तीर्थेशादिविभूतिदाश्च समितीः पंचैव पापातिगाः,
दृग्रत्नादि खनीः भवारिमथनीः संपालयंतूत्तमाः ।।६००।।

अर्थ—ये पांचों समितियां मोक्ष की जननी हैं, समस्त व्रतों को माता है,

कल्याण करनेवाली है तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि की उत्तम विभूतियों को देनेवाली हैं समस्त पापों से रहित हैं सम्यग्दर्शनादिक रत्नोंकी खानि है और संसाररूपी शत्रुओं को नाश करनेवाली है यही समझकर बुद्धिमान मुनियों को स्वर्ग मोक्ष की सिद्धि करने के लिये और करुणा आदि गुणोंको धारण करने के लिये अपने मनमें अत्यन्त प्रयत्न कर के इन पांचों उत्तम समितियों का पालन करते रहना चाहिये ॥६००॥

पांचों समितियों के पालन कर्त्ता—(१) आचार्य (२) उपाध्याय एवं सर्व साधुओं के प्रति आचार्य
द्वारा अन्तिम नमस्कार—

ये पालयन्ति निपुणाः समितीः समस्ताः आचार्य पाठक सुसाधुमुनीन्द्र वर्गाः ।
बाह्यान्तरोपविधि रक्तमनोंग वाक्या स्तेषां गुणाय चरणान् प्रणमामि नित्यम् ।।६०१॥

इति मूलाचार प्रदीपकाख्ये भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते अष्टाविंशति
मूलगुण व्याख्याने पंचसमिति वर्णनो नाम द्वितीयोधिकारः ।

अर्थ—जो आचार्य उपाध्याय साधु वा मुनीन्द्र वर्ग अपने मन-वचन-कायसे बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों का त्याग कर इन समस्त समितियों का पालन करते हैं उन समस्त चतुर आचार्य उपाध्याय साधुओं के गुण प्राप्त करने के लिये उनके चरण कमलों को मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥६०१॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीपक नामके महाग्रन्थमें अट्ठाईस मूलगुणों के व्याख्यानमें पांचों समितियों का वर्णन करनेवाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ।

तृतीयोधिकारः ।

❖

मंगलाचरण (तृतीय अध्याय का)

निर्जिताक्षफलाप्तांश्च जिनेन्द्रान् सिद्धिमाश्रितान्। हतपंचाक्षमातंगान् साधुसिंहान् स्तुवेखिलान् ॥

अर्थ— जिन्होंने इन्द्रियों को जीतने का केवलज्ञानरूपी फल प्राप्त कर लिया है ऐसे जिनेन्द्रदेव की मैं स्तुति करता हूं तथा जिन्होंने आत्म सिद्धि प्राप्त कर ली हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की स्तुति करता हूं और पांचों इन्द्रियों रूपी हाथियों को मारने के लिये सिंह के समान समस्त साधुओं की मैं स्तुति करता हूं ॥६०२॥

मोक्ष सुखके लिये पांचों इन्द्रियों का निरोध—

अथपंचाक्षरोधादीन् वक्ष्येमूलगुणान् परान् । विश्वर्द्धि गुणमूलांश्च स्वान्येषां सिद्धिशर्मणे ॥

अर्थ—अब आगे पांचों इन्द्रियों के निरोध करने रूप श्रेष्ठ मूलगुणों को कहते हैं ये गुण अपने और दूसरों के समस्त ऋद्धियों और गुणों के मूल हैं इसलिये मोक्ष सुख के लिये उनका निरूपण करता हूं ॥६०३॥

पांचों इन्द्रियों के नाम—

चक्षुः श्रोत्रेंद्रियं घ्राणं जिह्वास्पर्शं इमानि वै । पंचेन्द्रियाणि जंतूनां सर्वानर्थं कराण्यहो ॥६०४॥

अर्थ—चक्षुः श्रोत्र घ्राण जिह्वा और स्पर्शन ये पांच इन्द्रियां हैं और जीवों के समस्त अनर्थों को करनेवाली हैं ॥६०४॥

-पंचेन्द्रियों का निर्मल निरोध—

अमीषां गच्छतां स्वस्व विषयेषु निरोधनम् । विधीयतेत्र यत्पंचेन्द्रियरोधाहि ते मलाः ॥६०५॥

अर्थ—ये इन्द्रियां अपने अपने विषय ग्रहण करने के लिये जाती हैं उनको विषयों के प्रति न जाने देना उनका निरोध करना पंचेन्द्रियों का निर्मल निरोध कहलाता है ॥६०५॥

चक्षु निरोध नामक गुण कर्मों के आस्रव को रोकने वाला है—

सचित्ताचित्त मिश्राणां रूपाणां स्त्रीनरात्मनाम् । गौरादिवर्ण भेदानां दिव्यसंस्थान धारिणाम् ॥
कलानृत्यादि युक्तानां रागाद्यैश्चानिरीक्षणम् । मुनीनां यत्स विज्ञेयश्चक्षुरोधो निरास्रव ॥

अर्थ—कोई रूप सचित्त होता है कोई अचित्त होता है और कोई मिश्र होता है तथा स्त्री पुरुषों के रूप गौर वर्ण भी होते हैं तथा अन्य वर्ण भी होते हैं। दिव्य संस्थान को धारण करनेवाले तथा कला नृत्य आदि से सुशोभित स्त्री पुरुषोंके रूपको राग पूर्वक न देखना मुनियों का चक्षुनिरोध नामका गुण कहलाता है। यह गुण भी आस्रवको रोकनेवाला है ॥६०६-६०७॥

किन २ को नहीं देखना चाहिये—

नाना स्त्रीरूपसंस्थान सुशृंगार मुखादिकान् । बहून् नाटकभेदाश्च कला विज्ञान कौतुकान् ॥
अनेक चित्र कर्माद्यान् रागोत्पत्ति करानपि । क्रीडा विनोद दास्यादीन् पश्येज्जातु न संयमी ॥

अर्थ—संयमी मुनियों को अनेक प्रकारकी स्त्रियोंके रूप, संस्थान, शृंगार वा मुख आदि अंगों को नहीं देखना चाहिये। अनेक प्रकारके नाटक कला, विज्ञान, कौतुक, राग उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके चित्र कर्म, क्रीड़ा, विनोद, हास्य कर्म आदि कभी नहीं देखने चाहिये ॥६०८-६०९॥

चित्त को मोहित करनेवाले पदार्थों को नहीं देखना चाहिये—

द्रव्यकांचन रत्नादींश्चित्त व्यामोह कारिणः । नेपथ्य पट्टकूलाद्यान् न च पश्यन्ति योगिनः ॥

अर्थ—चित्तको मोहित करनेवाले धन, सुवर्ण, रत्न, परदे के भीतरके पदार्थ, वस्त्र वा वस्त्रके किनारे आदि मुनियों को कभी नहीं देखना चाहिये ॥६१०॥

भोगोपभोगके पवित्र और अपवित्र पदार्थों को भी कभी नहीं देखना चाहिये—

भोगोपभोग वस्तूनि संज्ञा वृद्धि कारिण च। पवित्राण्यपवित्राणि नालोकयेद्यमी क्वचित् ॥६११॥

अर्थ—मुनियोंको आहार भय मैथुन परिग्रह बढ़ाने वाले भोगोपभोगके पवित्र वा अपवित्र पदार्थों को भी कभी नहीं देखना चाहिये ॥६११॥

रौद्रध्यान उत्पन्न करनेवाले संग्रामों को नहीं देखना चाहिये—

भूपसामन्त सैन्यादीन् रौद्रध्यान विधायिनः । कलि संग्रामं सर्वांश्च विलोकयंति नात्मवान् ॥

अर्थ—आत्मज्ञ पुरुषों की रौद्रध्यान उत्पन्न करने वाले राजा सामंत और उनकी सेना को भी कभी नहीं देखना चाहिये तथा कलयुगके समस्त संग्रामों के देखने का भी त्याग कर देना चाहिये ॥६१२॥

मिथ्यात्व वर्धक स्थानों को नहीं देखना चाहिये—

कुदेव लिंगो पाषंडि मठविम्बानि भूतले । कुतीर्थाणि कुशास्त्राणि षंडनायतनानि च ॥६१३॥

मिथ्यात्ववर्द्धकान्येव स्थानानि प्रचुरान्यपि । पश्येज्जातु न सद्दृष्टि दृंग्रत्न मलशंकया ।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुषों को कुदेव, कुलिंगी, पाखंडी, उनके मठ, उनके प्रतिबिंब, कुतीर्थ, कुशास्त्र, छहों अनायतन आदि कभी नहीं देखने चाहिये । क्योंकि ये बहुतसें स्थान मिथ्यात्वको बढ़ाने वाले हैं । इसलिये सम्यग्दर्शन रूपी रत्नमें मल उत्पन्न होने की शंका से डर कर ऐसे स्थान कभी नहीं देखने चाहिये ।।६१३-६१४।।

राग उत्पन्न करनेवाले बहुत से स्थानों को नहीं देखना चाहिये—

धामशालप्रतोल्यादीन् स्थानान् रोग करान् वहून् । अन्यांश्च पत्तानादीन् स पश्येज्जातु न शुद्धये ।।

अर्थ—मुनियों को अपने आत्माकी शुद्धि रखने के लिये धाम, कोट, गलियाँ वा राग उत्पन्न करनेवाले नगर आदि बहुत से स्थानों को कभी नहीं देखना चाहिये ।। ।।६१५।।

यदि बिना इच्छा के ये पदार्थ दृष्टिगत हों तो दृष्टि नीची करलें—

ताननीहतवृत्यात्र क्वचिद्दृष्टचाघशंकया । रागभीत्याथवा योगी सहसाधोमुखो भवेत् ।।६१६।।

अर्थ—यदि अपनी इच्छाके बिना इन पदार्थों में कभी मुनियों की दृष्टि पड़ जाय तो पाप की शंका से अथवा रागके डरसे उनको उसी समय अपनी दृष्टि नीची कर लेनी चाहिये अपना मुख नीचा कर लेना चाहिये ।।६१६।।

राग रहित देखने से कर्म बंधन नहीं—

रागवुध्या न पश्येद्धि एतांल्लोके चरन्नपि । कर्मभिर्वध्यते नाहो किंतुस्यान्मुक्त एव सः ।।६१७।।

अर्थ—यद्यपि मुनि इस संसारमें सब जगह विहार करते हैं तथापि वे राग बुद्धि से इन पदार्थों को कभी नहीं देखते । ऐसे मुनि कर्मोंसे कभी नहीं बंधते किंतु मुक्त होते हैं उनके आस्रव नहीं होता किंतु निर्जरा होती है ।।६१७।।

राग सहित देखने से ब्रह्मचर्य का नाश—

रागवुध्यात्र यः पश्येदिमां तस्य प्रतिक्षणम् । क्वचिद्रागः क्वचिद्द्वेषो जायते मानसेऽन्वहम् ।।
ताभ्यां घोरतरं पापं पापाच्चातिगः भवः । भवेऽनन्तं महादुखं चतुर्गतिभवं ध्रुवम् ।।६१९।।
तथाऽजितेन्द्रियाणां दुर्द्धियां चंचलात्मनाम् । कथं ब्रह्मव्रतं तिष्ठेत्ताद्विनाक्व व्रतं तपः ।।६२०।।

अर्थ—जो मुनि इन पदार्थोंको राग बुद्धिसे देखता हैं उसके प्रति क्षणमें कहीं राग उत्पन्न होता है, और कहीं मनमें द्वेष उत्पन्न होता है । उन राग द्वेषसे प्रतिदिन घोर पाप उत्पन्न होते रहते हैं उन पापों से अनंत भवों में जन्म मरण करना पड़ता हैं

तथा चारों गतियोंमें उत्पन्न होनेवाले महा दुःख भोगने पड़ते हैं। इसके सिवाय दुर्बुद्धि को धारण करनेवाले जो पुरुष अपनी इन्द्रियोंको नहीं जीतते हैं उनका मन सदा चंचल बना रहता है। ऐसी अवस्थामें उनका ब्रह्मचर्य व्रत कभी नहीं टिक सकता तथा बिना ब्रह्मचर्य के व्रत और तपश्चरण भी नहीं ठहर सकते ॥६१८-६२०॥

राग घटाने के लिये चक्षु इन्द्रिय का निरोध—

मत्वेति विश्वयत्नेन चक्षुरोधं सुधीधनाः। रागहान्यै प्रकुर्वंतु ब्रह्मभंगादिशंकया ॥६२१॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को अपना राग घटाने के लिये तथा ब्रह्मचर्य व्रतके भंग होनेकी आशंका से पूर्ण प्रयत्न के साथ चक्षु इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये ॥६२१॥

मोक्षार्थी के लिये चक्षु इन्द्रिय का निरोध अत्यन्त आवश्यक है—

सर्वानर्थकरं च रागजनकं चक्षुर्भ्रमद्भूतले। रोधित्वाशु बुधा निरोधनगुणै र्मोक्षार्थसंसिद्धये।
स्वर्मुक्तैक विधं कुकर्महतकं धर्माकरं यत्नतः कुर्वीध्वं सकलं गुणाम्वुधिमिमं चक्षुर्निरोधं सदा ॥

अर्थ—समस्त संसार में परिभ्रमण करते हुए ये चक्षु समस्त अनर्थों को करने वाले हैं और राग को बढ़ाने वाले हैं। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को मोक्षरूपी पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिये अपनी इन्द्रियों को रोकने रूप गुणसे चक्षु इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये। और चक्षुर्निरोध नामके गुण को सदा के लिये धारण करना चाहिये। यह चक्षुर्निरोध नामका गुण स्वर्गमोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाला है धर्मका खजाना है और गुणों का समुद्र है। इसलिये प्रयत्न पूर्वक इसका पालन करना चाहिये ॥६२२॥

सातों प्रकार के शब्दों को राग सहित नहीं सुनना—
श्रोत्र इंद्रिय निरोध है—

षड्जर्षभौ च गांधारो धैवतो मध्यमः स्वरः। पंचमाख्यो निषाद सप्त शब्दाजीवजा इमे ॥६२३॥
एतेषां जीवशब्दानां वीणाद्यचेतनात्मनाम्। रागेणाश्रवणं यतः श्रोत्ररोधोघहानिकृत् ॥६२४॥

अर्थ—षड्ज, ऋषभ, गांधार, धैवत, मध्यम, पंचम और निषाद ये जीवों से उत्पन्न होनेवाले सात प्रकारके स्वर हैं। जीवों से उत्पन्न हुए इन शब्दों को तथा वीणा आदि अचेतन पदार्थों से उत्पन्न हुए शब्दों को राग पूर्वक सुनना श्रोत्र निरोध नामके गुण को हानि पहुंचाने वाला है ॥६२३-६२४॥

राग सहित गीतादि के श्रवण का निषेध—

सरागगीतगानाद्या रागकामाग्निदीपिकाः । वीणामृदंगवाद्याश्च न श्रोतव्या जितेन्द्रियैः ।।६२५।।

अर्थ—राग पूर्वक होनेवाले गीत गान वा वीणा मृदंग आदि बाजे राग और कामरूपी अग्नि को बढ़ाने वाले हैं। इसलिये जितेन्द्रिय पुरुषों को कभी नहीं सुनने चाहिये ।।६२५।।

राग वर्धक शास्त्रों के श्रवण का निषेध—

शृंगार युद्ध हास्यादि पोषकाणि ह्यनेकशः । कलि कौतूहलोत्पाद कानि शास्त्राणि जातुचित् ।।
मिथ्यामताघदृब्धानि महापापा कराणि च । धूर्तैः प्रज्वलितान्यत्र न श्रूयन्ते दृगन्वितैः ।।६२७।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष शृंगार युद्ध हास्य आदि को पुष्टं करनेवाले तथा कलियुग का कौतूहल बढ़ाने वाले (परस्पर युद्ध कराने वाले) अनेक प्रकारके शास्त्रों को कभी नहीं सुनते हैं। जो शास्त्र मिथ्यामत रूपी पाप से भरे हुये हैं जो महा पाप उत्पन्न करनेवाले हैं और धूर्तों के द्वारा बनाये गये हैं ऐसे शास्त्र भी कभी नहीं सुनते हैं।।६२६-६२७।।

विकथाओं को सुनने का त्याग—

असत्याः कुकथा मिथ्यामार्गजा विकथादयः । वृथास्तवान्यनिंदाद्या न श्रोतव्याः बुधैः क्वचित् ।।

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों को असत्य कुकथाएं, मिथ्यामतों की विकथाएं, व्यर्थ की स्तुति और दूसरों की निंदा कभी नहीं सुननी चाहिये ।।६२८।।

कुकाव्य के श्रवण का निषेध—

कुकाव्यं दुर्गतोपेतं न श्रोतव्यमघाकरम् । मुक्त्वा जिनोजितं काव्यं दक्षैः प्रज्ञाविवृद्धये ।।६२९।।

अर्थ—इसी प्रकार मिथ्यामत से भरा हुआ और पाप उत्पन्न करनेवाला जो कुकाव्य कभी नहीं सुनना चाहिये। बुद्धिमानों को अपनी बुद्धि बढ़ाने के लिये भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए काव्य ही पढ़ने चाहिये अन्य नहीं ।।६२९।।

अच्छे काव्यों के पढ़ने से बुद्धि श्रेष्ठ होती है—

यतो जिनेन्द्रकाव्येणानघो धर्मोघसंवरः । ताभ्यां स्याच्च महाप्रज्ञा सतां विश्वार्थदर्शिनी ।।६३०।।

अर्थ—क्योंकि भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए काव्य के पढ़ने से पाप रहित निर्मल धर्मकी वृद्धि होती है और पापों का संवर होता है। तथा धर्म और संवर से सज्जन पुरुषोंके समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न होती है ।।६३०।।

मिथ्या काव्यों के सुनने से बुद्धि विपरीत हो जाती है—

कुकाव्यश्रवणेनाघमघान्सति विपर्ययः। तेन पातो दृगादिभ्यस्ततोऽशर्मासतां महत् ॥६३१॥

अर्थ—मिथ्या काव्यों के सुनने से पाप होता है, पाप से बुद्धि विपरीत हो जाती है, बुद्धिके विपरीत होने से सम्यग्दर्शन छूट जाता है और सम्यग्दर्शनके छूट जाने से उन दुष्टों को महा दुःख उत्पन्न होता है ॥६३१॥

जो मुनि रागद्वेष वर्धक शब्दों को नहीं सुनते हैं उनके कर्मबंध नहीं होता—

इत्यादीन् परान् शब्दान् ये शृण्वन्ति न योगिनः। चरन्तस्तेन बध्यन्ते पापैर्जातु महीतले ॥६३२॥

अर्थ—इसप्रकार जो मुनि सर्वत्र विहार करते हुए भी दूसरे के शब्दोंको नहीं सुनते हैं वे इस संसार में कभी पापों से नही बंधते हैं ॥६३२॥

(मिथ्या) रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले वचनों के सुनने से वचनातीत महादुःख होता है—

शब्दान् रागादि हेतूंस्तान् ये शृण्वन्त्यत्र रागिणः। रागद्वेषौ परौतेषां प्रजायेतेऽन्वहं तराम् ॥
ताभ्यां स्युर्दुष्टसंकल्पास्तैस्यात्पापं दुरुत्तरम्। पापेन संसृतौ दुःखं तें लभन्ते वचोतिगम् ॥६३४॥

अर्थ—जो रागी पुरुष इस संसार में रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले शब्द सुनते हैं उनके रात दिन रागद्वेष उत्पन्न होता रहता है। तथा रागद्वेष उत्पन्न होने से दुष्ट संकल्प उत्पन्न होते हैं, उन दुष्ट संकल्पों से अत्यंत घोर पाप उत्पन्न होता है और पापों से इस संसार में वचनातीत महा दुःख प्राप्त होते हैं ॥६३३-६३४॥

अपने पाप शांत करने के लिये श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध आवश्यक है—

विज्ञायेत्येनसां शान्त्यै सर्वयत्नेन धीधनाः। श्रोत्ररोधं प्रकुर्वन्तु त्यक्त्वा चापल्य मंजसा ।।६३५॥

अर्थ—यही समझ कर बुद्धिमान पुरुषों को अपने पाप शांत करने के लिये अपनी चंचलता छोड़कर पूर्ण प्रयत्न के साथ शीघ्र ही श्रोत्र इंद्रिय का निरोध करना चाहिये ॥६३५॥

समस्त सुखों का निधान एवं समस्त सिद्धांत का कारण श्रोत्रेन्द्रिय का निरोध—

विविधसकलशब्दान् रागहेतून् विमुच्य जिनवरमुखजातान् धर्मशब्दान् गृहीत्वा ।
निखिलसुखनिधानं सर्वसिद्धांतहेतुं कुरुत परमयत्नाच्छ्रोत्ररोधं यतीन्द्राः ॥६३६॥

अर्थ—मुनिराजों को रागद्वेष को उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकार के शब्दों के सुनने का त्याग कर देना चाहिये और भगवान जिनेन्द्रदेवके मुख से प्रगट हुये धर्म रूप

शब्दों को सुनना चाहिये । तथा परम प्रयत्न के साथ समस्त सुखों का निधान और समस्त सिद्धांत का कारण ऐसा श्रोत्र इन्द्रिय का निरोध करना चाहिये ।।६३६।।

घ्राणेन्द्रिय निरोध का स्वरूप—

निसर्गवासितानां च चेतनाचेतनात्मनाम् । द्रव्यादीनां सुसौरभ्याणां रागादि विधायिनाम् ।।
गंधो न घ्रायते योऽत्र रागादिर्भिविरागिभिः । द्वेषेण वेतराणां स घ्राणरोधो जिनैर्मतः ।।६३८।।

अर्थ—वीतरागी पुरुष स्वभाव से सुगंधित चेतन वा अचेतन सुगंधित और राग बढ़ाने वाले द्रव्योंको राग पूर्वक कभी नहीं सूंघते हैं इसीप्रकार दुर्गंध युक्त पदार्थों को द्वेष पूर्वक नहीं सूंघते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव घ्राण इन्द्रिय का निरोध कहते हैं ।।६३७-६३८।।

भोजन करते समय भी सुगंधित पदार्थों को नहीं सूंघना चाहिये—

पुष्पकर्पूरकस्तूरी श्रीखण्डाद्या अनेकशः । सुगंधयः शुभद्रव्या घ्रातव्या नाक्ष निर्जितैः ।।६३९।।

अर्थ—इन्द्रियों को जीतने वाले संयमियों को पुष्प कपूर कस्तूरी चंदन आदि अनेक प्रकार के सुगंधित और शुभ द्रव्य कभी नहीं सूंघने चाहिये ।।६३९।।

घ्राणेन्द्रिय को प्रिय लगने वाले पदार्थों का निषेध—

घृतपक्वान्नपानाद्या घ्राणेन्द्रियसुखप्रदाः । भोजनावसरे जातु न घ्राणीया यतीश्वरैः ।।६४०।।

अर्थ—मुनिराजों को भोजन के समय में भी घ्राण इन्द्रिय को सुख देनेवाले घी में पके हुए अन्न पान आदि पदार्थ भी कभी नहीं सूंघने चाहिये ।।६४०।।

दुर्गंधमय पदार्थों को सूंघकर द्वेष नहीं करना चाहिये—

दुर्गंधं वा समाघ्राय द्वेषः कार्यो न संयतैः । पूतिगंधो यतः कायः स्वस्यैव विद्यतेऽशुभः ।।६४१।।

अर्थ—मुनियोंको दुर्गंधमय पदार्थों को सूंघकर द्वेष भी नहीं करना चाहिये । क्योंकि अपना शरीर ही अत्यंत शुभ और अत्यंत दुर्गंधमय है ।।६४१।।

घ्राणेन्द्रिय को प्रिय लगने वाले पदार्थों के असेवन से कर्मबंध नहीं होता—

मत्वेति ये न कुर्वन्ति सुगंधेतर वस्तुषु । रागद्वेषौ न तेषां न कर्मबंधोऽत्रतत्कृतः ।।६४२।।

अर्थ—यही समझ कर जो मुनि सुगंधित वा दुर्गंध युक्त पदार्थों में रागद्वेष नहीं करते उनके घ्राण इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाला कर्म बंध कभी नहीं होता ।।६४२।।

सुगंध को राग पूर्वक तथा दुर्गंध को द्वेष पूर्वक त्याग का उपदेश—

रागद्वेषेण गृह्णन्ति गंधौ येऽत्र शमेतरौ । भवेत्पापार्जनं तेषां पापं दुःखं च दुर्गतौ ।।६४३।।

अर्थ—जो मुनि सुगंधको राग पूर्वक ग्रहण करते हैं और दुर्गंध को द्वेष पूर्वक ग्रहण करते हैं उनके पाप का बंध होता है और पाप से दुर्गतियों में महा दुःख प्राप्त होते हैं ।।६४३।।

प्रयत्न पूर्वक उक्त पदार्थों में रागद्वेष का त्याग—

विवित्वेति पदार्थज्ञाः प्राप्य गंधौ शुभाशुभौ । क्वचिदीहां विनायत्ना द्रागद्वेषौ त्यजन्तुभोः ।।

अर्थ—यही समझकर पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले मुनियों को बिना इच्छा के प्राप्त हुई सुगंध और दुर्गंध को सूंघकर कभी रागद्वेष नहीं करना चाहिये। प्रयत्न पूर्वक रागद्वेष का त्याग कर देना चाहिये ।।६४४।।

कर्मरूपो शत्रुका नाश करने के लिये घ्राणेन्द्रिय का निरोध—

रागद्वेषकरं निसर्गचपलं घ्राणेन्द्रियं पापदं वैराग्येण निरुध्य धर्मजनकं रागादिनाशंकरम् ।
स्वर्मोक्षैकनिबंधनं शुभतमं कर्मारि विध्वंसकं कुर्वीध्वं शिवशर्मणेप्यनुदिनं स्वघ्राणरोधं बुधाः ।।

अर्थ— बुद्धिमान मुनियों को मोक्ष प्राप्त करनें के लियें अपने वैराग्य से राग द्वेष को उत्पन्न करनेवाले और स्वभाव से चपल और पाप बढ़ाने वाले ऐसे घ्राणेन्द्रिय का निरोध करना चाहियें, तथा धर्मको प्रगट करनेवाले, रागद्वेष को नाश करनेंवाले स्वर्ग मोक्ष का कारण अत्यन्त शुभ और कर्मरूपी शत्रुको नाश करनेंवाले ऐसा घ्राण इन्द्रिय का निरोध प्रतिदिन करते रहना चाहिये ।।६४५।।

जिह्वा इंद्रिय निरोध का स्वरूप—

अन्नादिचतुराहारे रसे तिक्तादि षड्विधे । मनोज्ञें प्रासुके लब्धे सति जिह्वासुखप्रदे ।।६४६।।
या निराक्रियते कांक्षा गृद्धिश्च निर्जितेन्द्रियैः । आत्मध्यान सुधातृप्तैः जिह्वारोधः सकथ्यते ।।

अर्थ—जो मुनि आत्मध्यान रूपी अमृत से तृप्त हो रहे हैं और इन्द्रियों को जीतने वाले हैं ऐसे मुनिराज खट्टे मीठे आदि छहों रसों से परिपूर्ण जिह्वा इन्द्रिय को सुख देनेवाले अत्यन्त मनोज्ञ और प्रासुक अन्नादिक चारों प्रकार का आहार प्राप्त होने पर जो अपनी आकांक्षा रोक लेते हैं उसमें गृद्धता धारण नहीं करते उसको जिह्वा इन्द्रिय का निरोध कहते हैं ।।६४६-६४७।।

चारों प्रकार के आहार में राग का अभाव—

अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यं जिह्वा सुखप्रदम् । शुद्धं चात्र क्वचित्प्राप्य रागः कार्यो न संयतैः ।।

अर्थ—जिह्वा इन्द्रिय को सुख देनेवाला अन्न पान खाद्य स्वाद्य आदि चारों

प्रकारका शुद्ध आहार प्राप्त होनेपर मुनियोंको कभी राग नहीं करना चाहिये ।।६४८।।

मनोज्ञ और अमनोज्ञ पदार्थों के सेवन में रागद्वेष का अभाव—

तिक्तं च कटुकं चाम्लं कषायं मधुरं रसम् । मनोज्ञं वेतरं प्राप्य रागद्वेषौ त्यजेद् यतिः ।।६४९।।

अर्थ—तिक्त कटुक कषायला खट्टा और मीठा ये रस हैं ये रस मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकारके होते हैं इनको पाकर मुनियों को राग द्वेषका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।।६४९।।

भिक्षा-वृत्ति से प्राप्त भोजन में रागद्वेष का निषेध—

सरसं वारसैस्त्यक्तं क्षारं वा क्षारवर्जितम् । उष्णं वा शीतलं भद्रं रसनाक्ष सुखावहम् ।।६५०।।
अनिष्टं वा यथालब्धमाहारं भिक्षयानघम् । आहारन्ति तनुस्थित्यै त्यक्तरागादियोगिनः ।।६५१।।

अर्थ—राग द्वेषका सर्वथा त्याग करनेवाले मुनि अपना शरीर स्थिर रखने के लिये सरस वा नीरस, लवण सहित वा लवण रहित, उष्ण वा शीतल रसना इन्द्रिय को सुख देने वाला वा अनिष्ट जैसा भिक्षा वृत्तिसे आहार मिल जाता है उसो निर्दोष आहार को वे ग्रहण कर लेते हैं ।।६५०-६५१।।

प्रासुक आहार से कर्म बंधका अभाव—

श्लोक नं० ६५२ मूल प्रति में ही नहीं है ।

अर्थ—वे मुनिराज पारणा के दिन इसप्रकार का जो प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं उससे उनके कर्मों का बंध नहीं होता किंतु उससे ही उनके कर्मों की निर्जरा होती है ।।६५२।।

रागद्वेष पूर्वक आहार का निषेध—

एवं ये प्रासुकाहारं भुंजन्ति पारणे क्वचित् । तेषां न तत्कृतो बंधः कुतः संवरनिर्जरे ।।६५३।।

अर्थ—इस संसार में जो मूर्ख यति रागद्वेष पूर्वक आहार लेते हैं उनके पद-पद पर कर्मोंका बंध होता है फिर भला उनके संवर और निर्जरा किस प्रकार हो सकते हैं अर्थात् कभी नहीं होते ।।६५३।।

जिह्वा इन्द्रिय राक्षसी के समान है—

जिह्वा विनिर्जिता येन सर्वभक्षण राक्षसी । तस्य समीहितं सिद्धं यांति सर्वेन्द्रिया वशम् ।।

अर्थ—यह जिह्वा इन्द्रिय सर्व भक्षण करने के लिये राक्षसी के समान है ।

ऐसी इस जिह्वा इन्द्रिय को जो जीत लेता है उसके समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं और वह समस्त इन्द्रियों को वश करनेवाला समझा जाता है ।।६५४।।

जिह्वा इन्द्रिय रूपी सर्पिणी पर विजय आवश्यक—

जिह्वाहीमक्षमोयोत्र जेतुं दीनोक्ष वंचितः । स्मराद्यरीन् कथं हन्ति दुर्द्धरान् सोतिदुर्जयान् ।।

अर्थ—इन्द्रियों से ठगा हुआ जो दीन मनुष्य जिह्वा इन्द्रिय रूपी सर्पिणी को जीतने में असमर्थ है वह अत्यन्त दुर्जय और दुर्धर ऐसे कामादिक शत्रुओं को कैसे मार सकता है ।।६५५।।

इसकी लंपटता से कामादि को वृद्धि—

यतो जिह्वाक्षलांपट्यात्कामाद्या इन्द्रियारयः। प्रयांत्युत्कटतां नूनं धर्मसाम्राज्य घातिनः ।।६५६।।

अर्थ—क्योंकि जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता से धर्मके साम्राज्य को नष्ट करने वाले काम आदि इंन्द्रिय शत्रु अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेते हैं ।।६५६।।

मिष्ट रस की इच्छा करनेवाला मुनि निन्द्य है—

भिक्षाचरत्वमासाद्य योर्द्धदग्धशवा कृतिः । मिष्टं स ईहते नग्नः कथं लोके न लज्जते ।।६५७।।

अर्थ—आधे जले हुए मुर्दे की आकृति को धारण करनेवाला जो नग्न मुनि भिक्षा भोजन का नियम लेकर भी मिष्ट रसकी इच्छा करता है वह लोक में लज्जित क्यों नहीं होता ।।६५७।।

द्रव्य देकर लाये हुए पदार्थ में भी क्रोध का निषेध—

क्रीतान्नं यदि चेद्द्रव्यैरानीतं स्याद्विरूपकम् । तर्ह्यत्र श्लाघ्यते रोषः संयतैश्च कृतोभुवि ।।

अर्थ—यदि द्रव्य देकर खरीद कर लाया हुआ अन्न बिगड़ा हुआ हो तो क्रोध करना भी अच्छा लगता है परन्तु इस संसार में मुनियों को ऐसा समय वा कारण कब मिलता है ? अर्थात् कभी नहीं ।।६५८।।

भिक्षा वृत्ति से प्राप्त भोजन में क्रोध का अवसर नहीं—

नोचेदेवं मुधालब्धं भिक्षयान्नं शुभाशुभम् । तर्ह्यादरेण भोक्तव्यं रोषस्यावसरः क्वभोः ।।६५९।।

अर्थ—यदि ऐसा नहीं है तो फिर भिक्षा वृत्ति से शुभ वा अशुभ (इष्ट वा अनिष्ट) अन्नको ग्रहण करना व्यर्थ है । फिर तो आदर पूर्वक भोजन करना चाहिये । ऐसी अवस्था में भी क्रोध का अवसर कभी नहीं आ सकता ।।६५९।।

रसों का त्याग पूर्वक रसना इन्द्रिय का जय—

मत्वेति मुनयो यत्नात् दुर्द्धरं रसनेन्द्रियम् । जयंत्वत्रैनसां मूलं रसत्यागतपोयमैः ।।६६०।।

अर्थ—यही समझकर मुनियों को रसों का त्याग कर तथा तपश्चरण और यम नियम धारण कर बड़े प्रयत्न के साथ समस्त पापों की मूलकारण और अत्यन्त दुर्धर ऐसी रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिये ।।६६०।।

जिह्वा इन्द्रिय का निरोध अत्यन्त आवश्यक क्यों ?

कृत्स्नानर्थपरंपरार्पणपरं पंचाक्षशत्रोर्गृहं कर्मारण्यजलं निहत्य विषमं जिह्वेन्द्रियारिं खलम् ।
घोरै स्तीव्रतरैस्तपोभिरखिलं जिह्वानिरोधं गुणं सेवध्वं यतयो भवारि मथनं शेषाक्षविध्वंसकम् ।।

अर्थ—यह जिह्वा इन्द्रिय रूपी शत्रु अत्यंत दुष्ट है, समस्त अनर्थों की परंपरा को देनेवाला है, पांचों इंद्रिय रूपी शत्रुओं का घर है, कर्मरूपी वनको बढ़ाने के लिये जल के समान है और अत्यंत विषम है । इसलिये मुनियों को अत्यंत घोर और अत्यंत तीव्र तपश्चरणके द्वारा इस जिह्वा इंद्रिय को अपने वशमें कर लेना चाहिये और जन्म मरण रूप संसार शत्रुको नाश करनेवाला तथा समस्त इंद्रियों को निरोध करने वाला ऐसा जिह्वानिरोध नामका गुण सदा पालन करते रहना चाहिये ।।६६१।।

स्पर्शन इन्द्रिय निरोध का स्वरूप—

कर्कशो मृदुशीतोष्णाः स्निग्धरूक्षो गुरुर्लघुः । जीवाजीव भवा एते ह्याष्टौ स्पर्शाः शुभाशुभाः ।।
अमीषां स्पर्शने योत्राभिलाषो हि निवार्यते । स्पर्शनेन्द्रियरोधः स केवलं योगिनां महान् ।।६६३।।

अर्थ—कठोर, कोमल, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष तथा हलका भारी ये जीव अजीव से होनेवाले आठ स्पर्श हैं । ये आठों ही स्पर्श शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं । मुनिराज जो इन आठों प्रकारके स्पर्शों में अपनी अभिलाषाका त्याग कर देते हैं उसको स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध कहते हैं यह स्पर्शनेन्द्रिय का निरोध मुनियों के लिये सर्वोत्कृष्ट ।।६६२-६६३।।

स्पर्श इन्द्रिय को प्रिय पदार्थों को कांटे के समान समझकर इनके सेवन का निषेध—

स्त्रीमर्त्य कोमलांगेषु गद्यकातूलिकादिषु । मृदुष्वासनशय्यादि संस्तरेष्वघ कारिषु ।।६६४।।
पट्टकूलादिवस्त्रेषु स्पर्शनं ब्रह्मनाशकृत् । व्रतिभिर्जातु कार्यं न कालाहिकंटकेष्विव ।।६६५।।

अर्थ—स्त्री वा पुरुष को कोमल शरीर के स्पर्श करना रुई के कोमल गद्दोंका स्पर्श करना, पाप उत्पन्न करनेवाले कोमल शय्या आसन आदि बिछोनों पर सोना वा

कोमल रेशमी वस्त्रों का स्पर्श करना आदि सब ब्रह्मचर्यको नाश करनेवाला है इसलिये व्रती पुरुषों को काले सर्प वा कांटों के समान समझकर कभी इनका स्पर्श नहीं करना चाहिये ।।६६४-६६५।।

कोमल गद्दों पर बैठने का निषेध—

कोमले गद्यकादौ ये कुर्वंन्ति शयनासनम् । स्पर्शनेन्द्रियलांपटचात्तेषां ब्रह्मव्रतं कुतः ।।६६६।।

अर्थ—जो पुरुष कोमल गद्दों पर बैठते हैं वा सोते हैं उनके स्पर्श इंद्रिय की लंपटता होने के कारण ब्रह्मचर्य व्रत कभी नहीं ठहर सकता ।।६६६।।

ब्रह्मचर्य के पालन हेतु कठिन तखते पर सोना चाहिये—

मत्वेति कोमले रम्ये शर्मदे शयनासने । ब्रह्मव्रतार्थिभिर्जातु न कार्यं शयनासनम् ।।६६७।।
किंतु शिलाश्मभूम्यादौ कठिने फलकादिषु । शयनं चासनं कार्यं निद्राहान्यै सुब्रह्मणे ।।६६८।।

अर्थ—यही समझ कर ब्रह्मचर्य व्रतको इच्छा करने वाले पुरुषों को कोमल मनोहर और सुख देनेवाले आसन पर कभी नहीं बैठना चाहिये और न ऐसी शय्या पर सोना चाहिये किंतु अपना ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये तथा निद्रा को दूर करने के लिये शिला पत्थर भूमि वा कठिन तखते पर सोना चाहिये और उसी पर बैठना चाहिये ।।६६७-६६८।।

ग्रीष्म ऋतु में शीत स्पर्श से राग छोड़ देना चाहिए—

यद्यनोहित वृत्यात्र वायुः स्पृशति शीतलः । ग्रीष्मे वपुस्तथाप्याशु रागस्त्याज्योऽशुभप्रदः ।।६६९।।

अर्थ—यदि ग्रीष्म ऋतुमें मुनियों के शरीर को बिना उनकी इच्छाके अनायास शीतल वायु स्पर्श करे तो मुनियों को उसी समय उस शीत स्पर्श से अपना अशुभ उत्पन्न करनेवाला राग छोड़ देना चाहिये ।।६६९।।

शीत ऋतु में शीत स्पर्श से द्वेष छोड़ देना चाहिए—

शीतकाले थवा शीतो मरुत्स्पृशति योगिनम् । तत्रापि न मनाग्द्वेषं करोति मुनिपुंगवः ।।६७०।।

अर्थ—यदि किसी मुनिके शरीर को शीत ऋतुमें शीतल वायु स्पर्श कर ले तो भी उंन मुनिराज को अपने हृदय में किंचित् भी द्वेष नहीं करना चाहिये ।।६७०।।

बहुत से पदार्थ स्पर्श करने में सुख एवं दुःख देनेवाले हैं उनमें राग और द्वेष नहीं करना चाहिए—

इत्याद्या बहुधा स्पर्शाः सुख दुःख विधायिनः । ये तानासाद्य योगीन्द्रा रागद्वेषौ न कुर्वंते ।।

अर्थ—इसप्रकार बहुत से स्पर्श सुख देनेवाले हैं और बहुत से स्पर्श दुःख देने वाले हैं उनको पाकर मुनियों को रागद्वेष कभी नहीं करने चाहिये ।।६७१।।

पदार्थों में राग-द्वेष छोड़ देने से कर्मों का बंध नहीं होता—

रागद्वेषपरित्यागा त्तेषां संवर निर्जरे । स्पर्शेषु सत्स्वपीहाहो न बंधः कर्मणां क्वचित् ।।६७२।।

अर्थ—रागद्वेषका परित्याग करने से स्पर्श होते हुए भी मुनियों के कर्मों का बंध कभी नहीं होता किंतु उनके कर्मों का संवर और निर्जरा ही होती है ।।६७२।।

स्पर्श-जन्य आनन्द अनुभव करने से दुर्गति का बंध होता है—

स्पर्शषु तेषु ये मूढा रागद्वेषौ वितन्वते । तेषां पापास्रवस्तस्माद्‌दुर्गतौ भ्रमणं चिरम् ।।६७३।।

अर्थ—जो मूर्ख पुरुष उन स्पर्शों में रागद्वेष करते हैं उनके महा पाप का आस्रव होता है और उस पापास्रवसे वे चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं ।।६७३।।

इसमें रागद्वेष नहीं करना चाहिए—

विज्ञायेति न कर्तव्यौ रागद्वेषौ सुसंयतैः । सर्वेषु स्पर्शभेदेषु सुख दुःखादि कारिषु ।।६७४।।

अर्थ—यही समझकर श्रेष्ठ मुनियों को सुख वा दुःख देनेवाले अनेक प्रकारके स्पर्शों में कभी राग वा द्वेष नहीं करना चाहिये ।।६७४।।

इस स्पर्शनेन्द्रिय, कामेंद्रिय को जीतना परमावश्यक है—

विश्वानिष्टकरं भवारिजनकं कामेन्द्रियस्पर्शनं जित्वाश्मादिभवैरतीव कठिनैः शय्यासनै दुंष्करैः ।
स्वर्मोक्षैककरं सुसौख्यजलधिं कर्माद्रिवज्रं परं कृत्स्नाक्षारिवशीकरं प्रकुरुत स्पर्शाक्षरोधं बुधाः ।।

अर्थ—यह कामेन्द्रिय वा स्पर्शनेन्द्रिय समस्त अनिष्टों को करनेवाली है और संसार रूप शत्रुको उत्पन्न करनेवाली है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को पत्थर शिला आदि कठिन वा दुष्कर शय्या आसन आदि के द्वारा इस कामेन्द्रिय वा स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना चाहिये तथा स्वर्ग मोक्षको देनेवाला, अनंत सुखका समुद्र, कर्मरूपी पर्वतको चूर करने के लिये वज्रके समान और समस्त इंद्रिय रूपी शत्रुओं को वश करनेवाला ऐसा स्पर्शन इंद्रिय का निरोध अवश्य करना चाहिये ।।६७५।।

पांचों इन्द्रियों में स्पर्शन और रसना इन्द्रिय को जीतना ही सबसे कठिन है—

येषां मध्ये जनैर्ज्ञेयौ रसस्पर्शनाह्वयौ । द्वौहि कामेन्द्रियौ नृणां महानर्थविधायिनौ ।।६७६।।

अर्थ—इन पांचों इंद्रियों में से स्पर्शन इंद्रिय और रसना वा जिह्वा इंद्रिय ये दोनों इंद्रियां कामेन्द्रिय कहलाती हैं और मनुष्यों के लिये अनेक महा अनर्थ उत्पन्न करनेवाली हैं ।।६७६।।

घ्राणेंद्रिय, चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय ये ३ भोगेन्द्रिय हैं—

श्रोत्रं घ्राणेन्द्रियं चक्षुरिमाणि त्रीणि संसृतौ। भोगेन्द्रियाणि जंतूनां स्तोकानर्थकराण्यपि ।।

अर्थ—इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय ये तीन इन्द्रियां भोगेन्द्रिय कहलाती हैं और जीवों को थोड़ा ही अनर्थ करती हैं ।।६७७।।

पांचों इन्द्रियां चोर हैं—

इमे पंचेन्द्रियाश्चौरा धर्मरत्नापहारिणः । जिताः संयमबाणैर्यै सुखिनस्तेन चापरे ।।६७८।।

अर्थ—ये पांचों इन्द्रियां चोर हैं और धर्मरूपी रत्नको चुराने वाली हैं । जिन संयमियों ने अपने संयम बाणों से इनको जीत लिया है इस संसार में वे ही सुखी हैं अन्य नहीं ।।६७८।।

ये इन्द्रिय रूपी हाथी बड़े प्रबल हैं—

धावन्तो विषयारण्ये दुर्दांतेन्द्रियदन्तिनः । त्रिवैराग्यांकुशेनात्र यैधृतास्तेविदावराः ।।६७९।।

अर्थ—ये इन्द्रियरूपी हाथी बड़े ही प्रबल हैं और विषय रूपी वनमें दौड़ लगा रहे हैं । जो लोग संसार शरीर और भोगों के वैराग्यरूपी अंकुश से इन इन्द्रिय रूपी हाथियों को वशमें कर लेते हैं उन्हें ही सबसे उत्तम ज्ञानी समझना चाहिये ।।६७९।।

यें चोर बड़े ही क्रूर हैं—

पंचाक्षतस्कराः क्रूरास्तपः सुभट ताडिताः । विघटंते सतां मोक्षमार्गं विघ्नविधायिनः ।।६८०।।

अर्थ—ये पंचेन्द्रियरूपी चोर बड़े ही क्रूर हैं और सज्जन पुरुषों को मोक्षमार्ग में विघ्न करनेवाले हैं ऐसे ये चोर तपश्चरणरूपी योद्धाओं से ताड़ित होनेपर भी इधर उधर भागते हैं ।।६८०।।

पालतू सर्प के समान ये इन्द्रियां स्वामी को ही मार डालती हैं—

यथात्र पोषिता नागा नयन्ति स्वामिनो बलात् । यमान्तं च तथा पंचेन्द्रिया श्वभ्रं हि सप्तमम् ।।

अर्थ—जिस प्रकार पालन पोषण किये हुये पालतू सर्प अपने स्वामी को ही जबर्दस्ती यम मंदिर तक पहुंचा देते हैं मार डालते हैं उसी प्रकार ये पांचों इन्द्रियां भी

इस जोवको सातवें नरक तक पहुंचा देती हैं ।।६८१।।

ये इन्द्रियरूपी शत्रु प्रबल शत्रुओं से भी अधिक भयंकर हैं—

अरिभ्योऽपि महादुष्टा अदान्तेन्द्रियशत्रवाः । इहामुत्र मनुष्याणां कृत्स्न दुःखनिबंधनाः ।।६८२।।
यतोत्रैवारायः किंचिद्दुःखं च ददते न वा । इहामुत्र नृणां घोरं ददत्येवाक्षशत्रवः ।।६८३।।

अर्थ—ये इन्द्रियरूपी प्रबल शत्रु शत्रुओं से भी महादुष्ट हैं। तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकों में मनुष्यों को सब तरह के दुःख देनेवाले हैं। इसका भी कारण यह है कि शत्रु इसी लोक में थोड़ा सा दुःख देते हैं अथवा नहीं भी देते हैं किंतु इन्द्रिय रूपी शत्रु मनुष्योंको इस लोक में भी दुःख देते हैं और परलोक में भी महादुःख देते हैं ।।६८२-६८३।।

ये इन्द्रिय शत्रु इस लोक और परलोक दोनों में दुःख देते हैं—
ये रोग से भी अधिक दुःखदायी हैं—

रागेभ्योऽपि महादुःखकराः पंचाक्ष दुर्जनाः । लालिताः स्त्रीनराणां च निंद्या दुर्गतिदायिनः ।।
जनयंति यतोरोगा अल्पासातं क्वचित् नृणाम् । कोटी कोटाब्धि पर्यन्तं दुःखं खानि च दुर्गतौ ।।

अर्थ—स्त्री और पुरुषों के द्वारा लालन-पालन किये गये ये पांचों इन्द्रियरूपी दुर्जन रोग से भी अधिक महा दुःख देनेवाले हैं, निंदनीय हैं और दुर्गति को देने वाले हैं। क्योंकि रोग तो मनुष्यों को कहीं-कहीं पर थोड़ा सा दुःख देते हैं परंतु ये इन्द्रियां दुर्गतियों में डालकर कोड़ाकोड़ी सागर पर्यंत महा दुःख देते हैं ।।६८४-६८५।।

ये इन्द्रियां कालकूट विष से भी अधिक भयंकर हैं—

कालकूटविषं मन्ये सुखं वैषयिकं नृणाम् । अक्षजं विषमं घोरदुःखतापनिबंधनम् ।।६८६।।
कालकूटं यतो भुक्तं स्वासून् हरति केवलम् । सुखं चेन्द्रियजं पुंसां दत्तेनेकविधासुखम् ।।६८७।।

अर्थ—ये मनुष्यों के इन्द्रिय जन्य विषय संबंधी सुख अत्यंत विषय हैं तथा घोर दुःख और संताप को देनेवाले हैं इसीलिये हम इनको कालकूट विषके समान ही मानते हैं। इसका भी कारण यह है कि भक्षण किया हुआ विष केवल अपने प्राणों को हरण कर लेता है परंतु इन्द्रिय जन्य सुख मनुष्यों को अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। ।।६८६-६८७।।

स्पर्शन तथा रसना दोनों ४ अंगुल प्रमाण ही हैं फिर भी महान् अनर्थकारी हैं—

चतुरंगुलमानेयं जिह्वा दुःखाशुभांविका । तावन्मात्रोप्यजय्योहो दुष्ट कामेन्द्रियः खलः ।।६८८।।

अर्थ—यह जिह्वा इन्द्रिय चार अंगुल प्रमाण है तथापि अनेक दुःख और दुर्गतियों को देनेवाली है। इसी प्रकार अत्यंत दुष्ट कामेन्द्रिय भी चार अंगुल प्रमाण है और अत्यंत अजेय है ॥६८८॥

इन दोनों इन्द्रियों के द्वारा प्राणी बहुत दुःख भोगते हैं—

ऐभिरष्टांगुलोत्पन्नै र्दोषै र्जीवाः कदर्थिताः । प्रकुर्वन्ति महापापं लभन्ते दुःखमुल्वणम् ॥६८९॥

अर्थ—इन आठ अंगुल प्रमाण दोनों इन्द्रियों से उत्पन्न हुए दोषों के द्वारा कदर्थित हुए दुःखी हुए जीव महा पाप उत्पन्न करते हैं और फिर घोर दुःखों को भोगते हैं ॥६८९॥

जो इन दोनों को जीत लेते हैं उनके सब इन्द्रियां वश में हो जाती हैं—

इदं कामेन्द्रियं युग्मं निर्जितं यैस्तपो यमैः । तेषां शेषेन्द्रियाण्याशु वशं यान्ति हृदा समम् ॥६९०॥

अर्थ—जो जीव अपने तप और संयमके द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय और जिह्वा इंद्रिय इन दोनों कामेन्द्रियों को जीत लेते हैं उनकी बाकी की समस्त इंद्रियां भी हृदय के साथ-साथ बहुत शीघ्र वशमें हो जाती हैं ॥६९०॥

रस त्याग द्वारा ये दोनों इन्द्रियां जीती जा सकती हैं—

विज्ञायेति रसत्यागतपोभिरतिदुष्करैः । जयन्तु मुनयो त्रेदं स्वाक्षयुग्मं शिवाप्तये ॥६९१॥

अर्थ—यही समझ कर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अत्यंत कठिन ऐसे रस त्याग नामके तपश्चरण से ये दोनों इन्द्रियां वशमें करनी चाहिये ॥६९१॥

ये पांचों इन्द्रियां बड़ी ठग हैं तथा अंतरंग शत्रु हैं—

पंचेन्द्रियठगा एते वैरिणोभ्यंन्तरंगजाः । सम्यग्दृग्ज्ञानवृत्तादि रत्नान्यपहरन्ति नुः ॥६९२॥

अर्थ—ये पांचों इंद्रियां बड़ी ठग हैं और इस जीवकी अंतरंग शत्रु हैं। तथा मनुष्योंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नोंको चुरा लेती हैं ॥६९२॥

ये इन्द्रिय रूपी मोक्षफल देनेवाले अमृत फलको नष्ट कर देतीं है—

तथाक्षदंतिनोऽदांता धर्मकल्पद्रुमं क्षणात् । पुंसामुन्मूलयंत्यत्रादत्तमुक्ति. सुधाफलम् ॥६९३॥

अर्थ—किसी के वश न होनेवाले ये इन्द्रिय रूपी हाथी मोक्षरूपी अमृतफलको देनेवाले ऐसे मनुष्यों के धर्मरूपी कल्पवृक्ष को क्षण भरमें जड़ मूलसे उखाड़ कर फेंक देते हैं ॥६९३॥

ये इन्द्रिय रूपी घोड़े कुमार्ग में ले जानेवाले हैं—

पोषिता स्वेच्छयात्रैतेक्षाश्वा उत्पथगामिनः। उन्मार्गे पातयंत्याशु नरान् मुक्तिपथात् शुभात् ।।

अर्थ—अपनी इच्छानुसार पालन पोषण किये हुये ये इंद्रियरूपी घोड़े कुमार्गगामी हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को मोक्षके शुभ मार्गसे हटा कर शीघ्र ही कुमार्ग में पटक देते हैं ।।६९४।।

भूत, भविष्यत, वर्त्तमान काल में इनके द्वारा ही जीव नरकों में जाते हैं—

ये केचन गताः श्वभ्रं यान्ति यास्यान्ति भूतले। केवलं ते जना नूनमिन्द्रियैर्व्याकुलीकृताः ।।

अर्थ—इस संसार में अब तक जितने जीव नरक गये हैं वा अब जा रहे हैं वा आगे जायेंगे वे मनुष्य केवल इंद्रियों से व्याकुल होकर ही गए हैं वा जायेंगे ओर तरह से नहीं ।।६९५।।

ग्यारह अंगके पाठी रुद्र भी इनके कारण ही नरक गए—

रुद्राद्या मुनयो त्राहो दशपूर्वधरा विदः। खधूर्तैर्वंचिता हत्वा चारित्रं नरकं ययुः ।।६९६।।

अर्थ—देखो ग्यारह अंग और दश पूर्व के जानकार रुद्र आदि कितने ही मुनि इस संसार में इंद्रियों से ठगे गए और अपने चारित्र को नष्ट कर नरक में जा पहुंचे। ।।६९६।।

पांचों इन्द्रियों में एक-एक के सेवन से भी निम्न प्राणियों ने अपने प्राण खो दिए—

स्पर्शनाक्षेण मातंगा मत्स्या जिह्वेन्द्रियेण च। घ्राणेन भ्रमराश्चक्षुषा पतंगा मृगास्तथा ।।
कर्णेन्द्रियेण चैकेन क्षयं यान्त्यत्र लोलुपाः। केवलं विषयाशक्त्या किंचित्सौख्यं श्रयन्ति न ।।

अर्थ—देखो केवल स्पर्शन इन्द्रियके वश होकर हाथी अपने प्राण खो देता है, जिह्वा इन्द्रिय के वश होकर मछलियां प्राण खो देती हैं, घ्राण इन्द्रिय के वश होकर भ्रमर अपने प्राण खोता है, चक्षु इन्द्रिय के वश होकर पतंगा अपने प्राण खोते हैं और कर्ण इन्द्रिय के वश होकर हिरण अपने प्राण खोते हैं। विषयों में आसक्त और इन्द्रिय लोलुपी ये जीव कुछ भी सुख न पाकर अपने प्राण खो देते हैं ।।६९७-६९८।।

जो पांचों ही इन्द्रियों का सेवन करते हैं वे नरकगामी क्यों नहीं होंगे ?

एकैकाक्षारिणात्राहो प्रणष्टाः पशवो यदि। ततः पंचाक्षलोला ये श्वभ्रनाथाः कथं न ते ।।६९९।।

अर्थ—देखो एक-एक इंद्रिय रूपी शत्रु के वश होने से ये पशु सब नष्ट हो

जाते हैं फिर भला जो पांचों इंद्रियों के लोलुपी हैं वे नरक के स्वामी क्यों नहीं होंगे ? अर्थात् वे अवश्य नरक में जायेंगे ।।६९९।।

चक्री, अर्धचक्री भी इन्हीं इन्द्रियों के कारण नरक में पहुंचे हैं—

अन्येऽपि बहवो येद्ध चक्रि चक्रयादयो भुवि । राजानो विषयाशक्त्यां गताःश्वभ्रं च सप्तमम् ।।

अर्थ—और भी बहुतसे चक्रवर्ती अर्द्ध चक्रवर्ती राजा विषयों में आसक्त होने के कारण सातवें नरक में पहुंचे हैं ।।७००।।

इनके भोगों की कथा कौन कह सकता है ?

भुक्त्वा जन्मादिमृत्यन्तं भोगान्पंचेन्द्रियोद्भवान् । तेषां को गदितुं शक्तः कथां भोगभवां बुधः ।।

अर्थ—जो जीव जन्म से लेकर मरण पर्यंत पंचेन्द्रिय के भोगों को अनुभव करते हैं उनके भोगोंसे उत्पन्न होने वाली कथा को भला कौन बुद्धिमान् कह सकता है अर्थात् कोई नहीं ।।७०१।।

वैराग्य रूपी रस्सी से इन्द्रिय रूपी पशुओं को बांधना चाहिए—

मत्वेति ज्ञानिनः शीघ्रं पंचेन्द्रियमृगान् चलान् । बध्नंतु दृढवैराग्यपाशेन शिवशर्मणे ।।७०२।।

अर्थ—यही समझकर ज्ञानी पुरुषों को अपना मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये शीघ्र ही वैराग्य रूपी रस्सी से पंचेन्द्रिय रूपी चंचल पशुओं को दृढ़ता के साथ बांधना चाहिये ।।७०२।।

संयम रूपी शस्त्रों से इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतना चाहिए—

इन्द्रियारतयो धीरै र्यैजिताः संयमायुधैः । तैश्च दुर्मोह कर्माद्या हता मुक्तिः करे कृताः ।।७०३।।

अर्थ—जो धीर वीर पुरुष अपने संयम रूपी शस्त्रों से इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेते हैं वे ही पुरुष मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर डालते हैं तथा उन्हींके हाथ में मोक्ष प्राप्त हो जाती है ।।७०३।।

इनको नहीं जीतने वाले मोहनीय कर्म को कैसे जीत सकेंगे—

अक्षारीनपि यें जेतुमक्षयाः क्लीवतां गताः । मोह दुष्कर्मशत्रूंस्ते हनिष्यन्ति कथं भुवि ।।७०४।।

अर्थ—जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओंको भी जीतने में असमर्थ हैं उन्हें नपुंसक ही समझना चाहिये । ऐसे पुरुष भला इस संसार में मोहनीय कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे नाश कर सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं ।।७०४।।

रत्नत्रय का अपहरण करनेवाले इन्द्रियों को नहीं जीत सकते उनकी दीक्षा भी व्यर्थ है—

गृहस्त्रीश्र्यादिकां त्यक्त्वा दीक्षात्र गृह्यते बुधैः । जयाप स्वाक्षशत्रूणां रत्नत्रयापहारिणाम् ।।
अतोऽनिर्जितखारीणां वृथा दीक्षातपः फलम् । व्यर्थो गृह परित्यागो इहामुत्र सुखं न च ।।७०६।।

अर्थ—बुद्धिमान लोग रत्नत्रय को अपहरण करनेवाले इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीतने के लिये ही घर स्त्री और धन आदि का त्याग कर दीक्षा ग्रहण करते हैं। इसलिये जो पुरुष इन्द्रियरूपी शत्रुओंको नहीं जीत सकते उनकी दीक्षा और तपश्चरण वा तपश्चरणका फल आदि सब व्यर्थ है, तथा उनका घरका त्याग भी व्यर्थ है। ऐसे पुरुषों को इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख नहीं मिल सकता ।।७०५-७०६।।

इन्द्रियों को जीतना ही परम तप है—

यतोक्षविजयः पुंसां तपः स्यात्परमं भुवि । अतः किं सत्तपस्तेषां येषां भो नाक्षनिर्जयः ।।७०७।।

अर्थ—इंद्रियों को दमन करना जीतना इस संसार में मनुष्यों का परम तप कहलाता है इसलिये कहना चाहिये कि जो इन्द्रियों को नहीं जीत सकते हैं उनके श्रेष्ठ तप कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता ।।७०७।।

इन्द्रिय विजेताओं को ही ऋद्धियां एवं सिद्धियां प्राप्त होती हैं—

किमत्र बहुनोक्तेन तेषां सिद्धिर्महात्मनाम् । ऋद्धयः सुतपांसि स्युर्जिता यैःस्वाक्षशत्रवः ।।७०८।।

अर्थ—बहुत कहने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि जिन्होंने अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लिया है उन्हीं महात्माओंके ऋद्धियां तपश्चरण और सिद्धियां प्राप्त होती हैं ।।७०८।।

इन्द्रिय लंपटता के कारण परलोक में दुर्गति—

अनिर्जिताक्ष हीनानां नेह लोकोपकीर्तितः । परलोको न लांपटचात् किंतु दुर्गतिरेव च ।।७०९।।

अर्थ— अपनी इन्द्रियों को न जीतने के कारण जो हीन हो रहे हैं उनके न तो इस लोकमें कीर्ति होती है और न परलोक ही उनका सुधरता है किंतु इन्द्रिय लंपटता होने के कारण परलोक में उनकी दुर्गति ही होती है ।।७०९।।

इंद्रिय सुख और मोक्ष दोनों एक साथ प्राप्त नहीं किए जा सकते—

यथात्रगमने स्यातां पंथानौ द्वौ न देहिनाम् । तथाक्षसुख मोक्षौ च वृथाजन्मद्विकांक्षिणाम् ।।

अर्थ—जिस प्रकार चलते समय मनुष्य भिन्न-भिन्न दो मार्गों में ही नहीं चल

सकता उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रिय सुख और मोक्ष दोनों की प्राप्ति चाहते हैं उनका जन्म व्यर्थ ही समझना चाहिये ।।७१०।।

चारित्र और तप रूपी भयंकर तलवार से इन्द्रिय शत्रुओं को जीत लेना चाहिए—

ज्ञात्वेति बहुयत्नेन दक्षाः स्वार्थसिद्धये । खारीन् जयन्तु चारित्रतपखड्गैः भयंकरैः ।।७११।।

अर्थ—यही समझकर चतुर लोगों को अपने समस्त पदार्थों की सिद्धि करने के लिये चारित्र और तप रूपी भयंकर तलवार से बड़े प्रयत्न के साथ इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत लेना चाहिये ।।७११।।

वे ही मुनिराज धन्य हैं जो इन्द्रिय शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं—

धन्यास्ते भुवने त्रये च महित्तां वंद्या स्तुता योगिनो,
ये चारित्ररणावनौ सुविषमे स्थित्वापि कृत्वार्जितम् ।
उग्रोग्रं सुतपो धनुर्गुणयुतं सम्यग्दृगाद्यैः शरैः,
तीक्ष्णैर्घ्नन्ति खलान् त्रिलोक जयिनः पंचाक्षशत्रून् द्रुतम् ।।७१२।।

अर्थ—इस संसार में जो मुनिराज अत्यंत विषम ऐसे चारित्ररूपी रणांगनमें ठहर कर तथा उग्र-उग्र श्रेष्ठ तपश्चरण रूपी प्रत्यंचा सहित धनुष को चढ़ा कर सम्यग्दर्शन आदि तीक्ष्ण बाणों से अत्यंत दुष्ट और तीनों लोकों को जीतने वाले ऐसे पांचों इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को शीघ्र ही मार डालते हैं वशमें कर लेते हैं वे ही मुनि धन्य हैं तीनों लोकों में पूज्य हैं वे ही वंदनीय हैं और वे ही स्तुति करने योग्य हैं ।।७१२।।

यम और नियमों से इन्द्रिय-जन्य करना चाहिए—

विश्वार्च्यान् विश्ववंद्यान् जिनमुनिवृषभैः स्वीकृतान् धर्ममूलान्,
पापाघ्नान् मुक्तिकर्तॄन् शिवसुख जलधीन् स्वर्गसोपान भूतान् ।
ज्ञानध्यानाग्निहेतून् सकलगुणनिधीन् चित्तमातंगसिंहान्,
सेवध्वंमुक्ति कामाः यमनियमचयैः कृत्स्नपंचाक्षरोधान् ।।७१३।।

अर्थ—समस्त पांचों इन्द्रियों का निरोध तीनों लोकों में पूज्य है, सबके द्वारा वंदनीय है, भगवान तीर्थंकर और गणधर आदि श्रेष्ठ मुनियों ने भी इसको स्वीकार किया है, यह पंचेन्द्रियों का निरोध पापों को नाश करनेवाला है, धर्मका मूल है, मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है; मोक्ष के अनंत सुखका समुद्र है, स्वर्ग की सीढ़ी है, ज्ञान और ध्यान का कारण है समस्त गुणों का निधि है और मन रूपी हाथी को वश करने के

लिये सिंहके समान है। इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषों को अपने यम और नियमों के समूह से इस पंचेन्द्रियों के निरोध को अवश्य धारण करना चाहिये ॥७१३॥

६ आवश्यक मूलगुणों का वर्णन—

अथ मूलगुणान् वक्ष्ये षडावश्यकसंज्ञकान् । धर्मं शुक्लोत्तमध्यानहेतून् सिद्धांतजान् सताम् ॥

अर्थ—अब आगे छह आवश्यक नामके मूलगुणों को कहते हैं। ये छह आवश्यक धर्म और शुक्ल नामके उत्तम ध्यान के कारण हैं और सिद्धांत शास्त्रों में कहे हुए हैं ॥७१४॥

६ आवश्यकों के नाम—

सामायिकं स्तवो वंदना प्रतिक्रमणं ततः । प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः इमान्यावश्यकानि षट् ॥७१५॥

अर्थ—सामायिक स्तव वंदना प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह मुनियों के आवश्यक कहलाते हैं ॥७१५॥

(१) सामायिक आवश्यक का स्वरूप—

जीविते मरणे लाभालाभे दृषदि सन्मणौ । संयोगे विप्रयोगे च रिपौ बंधौ खलाखले ॥७१६॥
तृणे च कांचने सौख्ये दुःखे वस्तौ शुभाशुभे । क्रियते समभावो य स्तद्धि सामायिकं मतम् ॥

अर्थ—जीने मरने में, लाभ अलाभ में, पत्थर मणि में, संयोग वियोग में, शत्रु बंधु में, दुष्ट सज्जन में, तृण सुवर्ण में, सुख दुःख में और शुभ अशुभ पदार्थों में समान परिणाम रखना सामायिक कहलाता है ॥७१६-७१७॥

सामायिक के ६ भेद—

नामाथ स्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालः शुभाश्रितः । भाव सामायिकोत्रैषो निक्षेपः षड्विधो भवेत् ॥

अर्थ—यह सामायिक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेद से छह प्रकार है ॥७१८॥

नाम सामायिक का स्वरूप—

क्रूर वीभत्सनामान्यशुभानि द्वेषदानि च । रागकर्तृणि नामानि मनोहरशुभानि वै ॥७१९॥
श्रुत्वा यद्वर्जनं राग द्वेषादीनां विधीयते । नाम सामायिकाख्यं तत्सतां प्रोक्तं गणाधिपैः ॥७२०॥

अर्थ—द्वेष उत्पन्न करनेवाले क्रूर वीभत्स और अशुभ नामों को सुनकर द्वेष नहीं करना तथा राग उत्पन्न करनेवाले मनोहर और शुभ नामों को सुनकर राग नहीं

करना शुभ अशुभ नामों में रागद्वेषका त्याग कर देना उसको गणधर देवोंने सज्जनोंके नाम सामायिक कहा है ।।७१९-७२०।।

स्थापना सामायिक का स्वरूप—

स्थापनाः प्रतिमा दिव्यरूपा मनोक्षशर्मदाः । नेत्रानिष्ठाः कुरूपाश्च वेतालाकृतिधारिणीः ।।
विलोक्य क्रियते राग द्वेषदो यंद्विसर्जनम् । शान्ति शर्मदं स्थापनासामायिकमेवतत् ।।७२२।।

अर्थ—स्थापना निक्षेप के द्वारा स्थापित मन और इन्द्रियों को सुख देनेवाली प्रतिमाओं को देखकर राग नहीं करना तथा नेत्रोंको अनिष्ट, कुरूप, वेतालकी आकृति के समान प्रतिमाओंको देखकर द्वेष नहीं करना शांति और कल्याण करनेवाला स्थापना सामायिक है ।।७२१-७२२।।

द्रव्य सामायिक का स्वरूप—

सुवर्णरूप्यमाणिक्यामुक्ताफलांशुकादिषु । द्रव्येषु भोगवस्त्रादौ मृतिकाकंटकादिषु ।।७२३।।
रागद्वेषादिकांस्त्यक्त्वा सतां यत्समदर्शनम् । द्रव्यसामायिकं तच्च द्रव्योत्पन्नाघनाशनम् ।।७२४।।

अर्थ—सोना, चांदी, माणिक, मोती, वस्त्र आदि भोगोपभोग के पदार्थों में अथवा मिट्टी कांटे आदि पदार्थों में रागद्वेष का त्याग कर देना तथा समस्त पदार्थों में समता धारण कर समान परिणाम रखना द्रव्य सामायिक है । यह सामायिक द्रव्यों से उत्पन्न हुए समस्त पापों को नाश करनेवाला है ।।७२३-७२४।।

क्षेत्र सामायिक का स्वरूप—

सौधारामनदीकूलपुरादीनि शुभानि च । क्षेत्राणि दाव बीभत्सकंटकाद्याश्रितान्यपि ।।७२५।।
अशुभान्याप्य रागद्वेषयोरभाव एव यः । क्षेत्रसमायिकं तद्धि क्षेत्रप्रास्त्रवरोधकम् ।।७२६।।

अर्थ—राजभवन, बगीचा, नदी का किनारा और नगर आदि शुभ क्षेत्रों को पाकर राग नहीं करना तथा कांटों से भरे हुए कंकड़ पत्थरों से भरे हुए दावाग्नि से जले हुए वन आदि अशुभ क्षेत्रको पाकर द्वेष नहीं करना क्षेत्र सामायिक है । यह क्षेत्र सामायिक क्षेत्रसे उत्पन्न होनेवाले आस्रव को रोकने वाला है ।।७२५-७२६।।

काल सामायिक का स्वरूप—

साम्यरूपान् शुभान् कालान् शीतोष्णादिच्युतान् क्वचित् ।
षड्ऋतूंश्च तमः पक्षशीतोष्णाद्यान् कुदुःखदान् ।।७२७।।
संस्पर्शः त्यज्यते यद्धि रागद्वेष द्वयं बुधैः । कालसामायिकं कालकृतदोषादिहंतृ यत् ।।७२८।।

अर्थ—कोई समय शीत उष्णता से रहित समान रूप तथा शुभ होता है। कहीं पर छहों ऋतुओं का परिवर्तन होता रहा है, कहीं शीतता अधिक होती है, कहीं उष्णता अधिक होती है किसी समय अंधेरा ही रहता है। इसप्रकार के सुख दुःख देने वाले समयों में रागद्वेष नहीं करना रागद्वेष का सर्वथा त्याग कर देना सो बुद्धिमानों के द्वारा काल सामायिक कहलाता है यह काल सामायिक काल से उत्पन्न होने वाले समस्त पापों का नाश करनेवाला है ॥७२७-७२८॥

भाव सामायिक का स्वरूप—

सर्वजीवेषु मैत्र्यादियुक्तोशुभापरान्मुखः । शुभो रागादिनिर्मुक्तो धर्मध्यानादितत्परः ॥७२९॥
शुद्धः समगुणापन्नो भावो यो धमितां महान् । भावसामायिकं तद्धि चित्तोत्थदोषवारकम् ॥७३०॥

अर्थ—समस्त जीवों में मैत्री प्रमोद कारुण्य आदि भावों को धारण करना, अशुभ परिणामोंसे सदा पराङ्मुख रहना, रागादिक शुभ परिणामोंका भी त्याग करना धर्मध्यानमें सदा तत्पर रहना, समता गुणसे सुशोभित शुद्ध परिणामों का धारण करना आदि रूपसे जो बुद्धिमानों के उत्कृष्ट परिणाम होते हैं उसको भाव सामायिक कहते हैं। यह भाव सामायिक मनसे उत्पन्न होनेवाले समस्त दोषों को दूर करनेवाला है। ॥७२९-७३०॥

६ प्रकार का सामायिक उत्कृष्ट है—

एतैः षड्भिश्चनिक्षेपैरुपायैर्ज्ञानिनां परम् । सामयिकं शुभध्यान कारणं जायतेतराम् ॥७३१॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुषों के ऊपर लिखे अनुसार छह प्रकारके उपायरूप निक्षेपोंसे उत्कृष्ट सामायिक होता है तथा वह शुभ ध्यानका कारण होता है ॥७३१॥

A आत्मामें लीन होना सर्वोत्कृष्ट सामायिक—

दर्शनज्ञानचरित्रतपोभिः सह चात्मनः । ऐक्यं गमन मत्यर्थं यत्तत्सामायिकं महत् ॥७३२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपश्चरणके साथ-साथ आत्मा की एकता हो जाना आत्मामें अत्यंत लीन हो जाना सर्वोत्कृष्ट सामायिक कहलाता है ॥७३२॥

B सर्वोत्कृष्ट सामायिक का स्वरूप—

निर्जिताखिल घोरोपसर्गतीव्रपरीषहैः । व्रतैः समितिगुप्ताद्यैः सर्वैश्च नियमैर्यमैः ॥७३३॥
सुभावनाखिलैः सारैः शुभध्यानैरलंकृतः । यः सर्वत्र समारूढः सोऽत्र सामायिकी महान् ॥७३४॥

अर्थ—जो महापुरुष समस्त घोर उपसर्ग और तीव्र परिषहोंको जीत लेता है, जो व्रत, समिति, गुप्ति, समस्त यम, नियम, सारभूत समस्त भावनायें और शुभ ध्यान से सुशोभित रहता है जो सर्वत्र निश्चल बना रहता है वह उत्कृष्ट सामायिक करने वाला कहा जाता है ।।७३३-७३४।।

परम ज्ञानी की सामायिक—

समवायं स्वरूपं च यो जानाति स बुद्धिमान् । द्रव्याणां तद्गुणानां च पर्यायाणा जिनागमे ।।
हेयोपादेयतत्त्वं च कारणं बंध मोक्षयोः । तस्य सामायिकं विद्धि परमं ज्ञानिनो भुवि ।।७३६।।

अर्थ—जो बुद्धिमान पुरुष स्वपर पदार्थों के संबंध के स्वरूप को जानता है जिनागमके अनुसार द्रव्य गुण और पर्यायोंके स्वरूपको उनके संबंध के स्वरूपको जानता है, हेय और उपादेय तत्त्वों को जानता है और बंध मोक्षके कारणों को जानता है उस परम ज्ञानी के सामायिक होता है ।।७३५-७३६।।

उत्तम सामायिक करनेवाले का स्वामी—

विरतः सर्वसावद्यान्निर्जिताक्षमना महान् । महातपा स्त्रिगुप्तो यः सामायिकी स उत्तमः ।।

अर्थ—जिसने समस्त पापों का त्याग कर दिया है, जिसने इन्द्रिय और मन को जीत लिया है, जो उत्कृष्ट है, महा तपस्वी है और तीनों गुप्तियों को पालन करने वाला है वह उत्तम पुरुष सामायिक करनेवाला कहा जाता है ।।७३७।।

उसी पुरुष के श्रेष्ठ सामायिक ठहर सकता है—

यस्य सन्निहितोवात्मा संयमे नियमे गुणे । शमे तपसि तस्यैव तिष्ठेत्सामायिकं परम् ।।७३८।।

अर्थ—जिस महा पुरुष का आत्मा संयम में, नियम में, गुणों में, समता में और तपश्चरण में लगा हुआ है उसी पुरुषके श्रेष्ठ सामायिक ठहर सकता है ।।७३८।।

कैसे भाव रखने वाले सज्जन के सामायिक होता है ?

यः समः सर्वभूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च । सादृश्यः स्वात्मनो भावस्तच्च सामायिकं सताम् ।।७३९।।

अर्थ—जो पुरुष समस्त त्रस स्थावर जीवों में समता धारण करता है समस्त जीवों को अपने आत्माके समान मानता है । इसप्रकार के भाव रखने वाले सज्जन के सामायिक होता है ।।७३९।।

किसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक होता है ?

रागद्वेषाक्षमोहाद्या विकृतिं जनयन्ति न । शमाद्यैर्दमिता यस्य तस्य सामायिकं महत् ।।७४०।।

अर्थ—जिस पुरुष के रागद्वेष इन्द्रियां और मोह आदिक किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जिसके समता वा शांत परिणामों से रागद्वेषादिक सब शांत हो गये हैं उसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक होता है ।।७४०।।

किसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक माना जाता है ?

कषायाः क्रोधमानाद्याश्चत्वारो येन निर्जिताः । क्षमामृद्वार्जवासंगगुणैस्तच्छक्तिघातकैः ।।७४१।।
हास्याद्याः षट् त्रिवेदाश्च वैराग्यब्रह्म संयमैः । अन्ये दोषाच्च तस्यात्र परं सामायिकं मतम् ।।

अर्थ—जिस महा पुरुष ने क्रोधादिक की शक्तिको घात करनेवाले क्षमा मार्दव आर्जव और आकिंचन्य गुणोंसे क्रोध-मान-माया-लोभ इन चारों कषायों को जीत लिया है तथा वैराग्य ब्रह्मचर्य और संयम से तीनों वेद और हास्यादिक नोकषाय जीत लिये हैं तथा जिसने और भी समस्त दोष जीत लिये हैं उसके सर्वोत्कृष्ट सामायिक माना जाता है ।।७४१-७४२।।

किसके शुभ सामायिक होता है—

आहाराद्याश्चतुः संज्ञाः लेश्यास्तिस्रोऽशुभाभुवि । न यान्ति विकृतिं यस्य तस्य सामायिकं शुभम् ।।

अर्थ—जिस पुरुष के आहार आदिक चारों संज्ञायें तथा तीनों अशुभ लेश्याएं कभी विकार भावको प्राप्त नहीं होतीं उसीके शुभ सामायिक माना जाता है ।।७४३।।

किसके उत्कृष्ट सामायिक होता है—

यस्य पंचेन्द्रियादान्तास्तपोभिःस्पर्शनादयः । शक्ताःकर्तुं विकारं न तस्य सामायिकं महत् ।।७४४।।

अर्थ—जिसके तपश्चरण के बल से स्पर्शनादिक पांचों इन्द्रियां शांत हो गई हैं और कभी भी विकार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकतीं उसी के उत्कृष्ट सामायिक होता है ।।७४४।।

अशुभध्यानों को छोड़कर शुभध्यान वाला ही श्रेष्ठ सामायिक करता है—

दुर्ध्यानान्यार्त्त रौद्राणि योष्टौ नित्यं परित्यजेत् । प्रशस्तध्यानमालंब्य तस्य सामायिकं परम् ।।

अर्थ—जो पुरुष धर्मध्यान वा शुक्लध्यानको धारण कर चारों प्रकारके आर्तध्यान और चारों प्रकार के रौद्रध्यानों का त्याग कर देता है उसी के श्रेष्ठ सामायिक कहा जाता है ।।७४५।।

मनको जीतने वाले के उत्तम सामायिक होता है—

ध्यानं चतुर्विधं धर्म्यं शुक्लं ध्यायति योन्वहम् । जित्वा मनो बलात्तस्य तिष्ठेत्सामायिकोत्तमम् ।।

अर्थ—जो पुरुष अपनी शक्ति से मनको जीतकर चारों प्रकार के धर्मध्यानको और चारों प्रकार के शुक्लध्यान को प्रतिदिन धारण करता है उसीके उत्तम सामायिक होता है ।।७४६।।

योगियों को प्रतिदिन परम सामायिक करना चाहिये—

सर्वत्र समताभावं कारणाय जिनैर्मतः। योगिनां परमो नित्यं सामायिकाख्यसंयमः ।।७४७।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने योगियोंके लिये सर्वत्र समता भाव धारण करने के लिये प्रतिदिन परम सामायिक करना और प्रतिदिन इन्द्रिय संयम पालन करना ही बतलाया है ।।७४७।।

गृहस्थों के सामायिक का महत्त्व—

सर्वसावद्ययोगादिविवर्जनार्थं शुभाप्तये । सामायिकं गृहस्थानां प्रोक्तं धर्मशमाय च ।।७४८।।

अर्थ—गृहस्थों को समस्त पापरूप योगों का त्याग करने के लिये, शुभ की प्राप्ति के लिये तथा धर्म और कल्याण की प्राप्ति के लिये एक सामायिक ही बतलाया है ।।७४८।।

श्रावकों का शुभ सामायिक—

मत्वेति श्रावकैः नित्यं कार्यं सामायिकं शुभम्। दिनमध्ये त्रिवारं च धर्मध्यानाय शर्मणे ।।७४९।।

अर्थ—यही समझकर श्रावकों को धर्मध्यान की प्राप्ति और आत्मकल्याण करने के लिये प्रतिदिन दिनमें तीन बार शुभ सामायिक करना चाहिये ।।७४९।।

कौन गृहस्थ भावलिंगी मुनि के समान माना जाता है ?

यतः कुर्वन् गृही नूनं शुद्धं सामायिकं परम् । सर्वत्र समतापन्नो भावलिंगी यतिर्भवेत् ।।७५०।।

अर्थ—क्योंकि सर्वत्र समता भाव धारण करता हुआ और शुद्ध उत्कृष्ट सामायिक करता हुआ गृहस्थ अवश्य ही भावलिंगी मुनि के समान माना जाता है ।।७५०।।

भावलिंगी गृहस्थ की कथा—

अरण्ये श्रावकः कश्चित् धीरस्त्यक्तवपुर्महान् । निष्कंपं ध्यानमालंब्य व्यधात्सामायिकं परम् ।।
शरेण केनचिद्विद्धो मृगस्तस्य पदान्तरे । प्रविश्यार्तः कियत्कालं स्थित्वा वेदनया मृतः ।।७५२।।
तथापि न मनागेषो चलत्सामायिकात्सुधीः । अस्यागमे कथा ज्ञेया गृहिणो भावलिंगिनः ।।७५३।।

अर्थ—कोई एक धीरवीर महा-श्रावक अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर

किसी वनमें अचल और ध्यानमें लीन होकर उत्कृष्ट सामायिक करने के लिये खड़ा था। उसी समय किसी के बाणसे घायल हुआ कोई हिरण उस श्रावकके दोनों पैरों के बीच में आ पड़ा। उस समय वह हिरण अत्यंत दुःखी होकर चिल्ला रहा था और उसी वेदना से वह थोड़ी ही देर में वहीं मर गया तथापि वह बुद्धिमान श्रावक अपने सामायिकसे रंचमात्र भी चलायमान नहीं हुआ। इस भावलिंगी गृहस्थकी कथा शास्त्रों में लिखी है वहां से जान लेनी चाहिये ।।७५१-७५३।।

२२ तीर्थंकरों ने 'छेदोपस्थापना' का उपदेश क्यों नहीं दिया—

अजितांद्याश्च पार्श्वान्ता द्वाविंशति जिनेश्वराः। दिशन्ति मुक्तये वाण्या सामायिकैकसंयमम् ।।
छेदोपस्थापनं नैव यतोमीषां महाधियः स्वभावेन सुशिष्योः स्युः निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः ।।७५५।।

अर्थ—भगवान अजितनाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों ने अपनी दिव्यध्वनि से मोक्ष प्राप्त करने के लिये एक सामायिक नामके संयम का ही उपदेश दिया है। इन बाईस तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना नामके संयम का उपदेश नहीं दिया है। इसका भी कारण यह है कि इन बाईस तीर्थंकरों के श्रेष्ठ शिष्य स्वभाव से ही महा बुद्धिमान थे, प्रमाद रहित थे और जितेन्द्रिय थे ।।७५४-७५५।।

प्रथम तीर्थंकर तथा अंतिम तीर्थंकर का उपदेश—

सामायिकं च छेदोपस्थापनं संयमं परम्। आहतुर्ध्वनिना मुक्त्यै ह्याद्यान्तिमजिनाधियौ ।।७५६।।

अर्थ—प्रथम तीर्थंकर भगवान वृषभदेव ने तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी ने अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के लिये सामायिक और छेदोपस्थापना इन दोनों संयमों का उपदेश दिया है ।।७५६।।

इसका कारण—

यतः श्री वृषभेशस्य सुशिष्या ऋजुवुद्धयः। सन्मतेः काल दोषेण सदोषामंदबुद्धयः ।।७५७।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान वृषभदेव के शिष्य सरल बुद्धिको धारण करनेवाले थे और भगवान महावीर स्वामी के शिष्य कालदोष से सदोष थे और मंद बुद्धि को धारण करनेवाले थे ।।७५७।।

उसी कारण का और अधिक विस्तार—

ऋजुमंदस्वभावास्ते योग्यायोग्यंव्यतिक्रमम्। व्यक्तं सव नजानन्ति विस्तरोक्त्याविनाभुवि ।।
तस्माच्चकारणात्तौद्वावूचतुःश्रीजिनाधिपौ। अनुग्रहाय शिष्याणां संयमौ द्वौ शिवाप्तये ।।७५९।।

अर्थ—स्वभाव से ही सरल बुद्धि और मंदबुद्धि को धारण करने के कारण वे लोग बिना विस्तार से बतलाये योग्य अयोग्य मुनियों के पूर्ण चारित्रको व्यक्तरीति से नहीं जानते थे। इसी कारण से भगवान वृषभदेव और भगवान महावीर स्वामीने उन शिष्यों का अनुग्रह करने के लिये मोक्षकी प्राप्ति के लिये दोनों प्रकारके संयम बतलाये हैं ॥७५८-७५९॥

सामायिक में सब अन्तर्भूत हैं—

आख्यातुंकिलविज्ञातुंपृथग्भावयितुं तथा । महाव्रतानि पंचैवगुप्तित्रयःसमितीस्तथा ॥७६०॥
तेपि सर्वे जिनेशानां शिष्याःशुद्धिशिवाप्तये । चरन्तिसर्वदोत्कृष्टं शुद्धंसामायिकं शुभम् ॥७६१॥

अर्थ—कहने समझने और अलग-अलग पालन करने के लिये महाव्रत पांच, गुप्तियां तीन हैं और समितियां पांच हैं। भगवान जिनेन्द्रदेवके शिष्य आत्म शुद्धि और मोक्ष प्राप्त करने के लिये इनका पालन करते हैं तथापि वे शुभ शुद्ध और सर्वोत्कृष्ट सामायिक को अवश्य करते हैं क्योंकि सामायिक में सब अन्तर्भूत हैं ॥७६०-७६१॥

सामायिक का बल—

सामायिकवलाद्योगीक्षणार्द्धेनक्षिपेच्चयत् । कर्मजालं महत्तन्न तपसा वर्षकोटिभिः ॥७६२॥

अर्थ—मुनिराज इस सामायिक के बलसे आधे क्षणमें जितने कर्मों को नष्ट कर डालते हैं उतने महा कर्म करोड़ों वर्षों के तपश्चरण से भी नष्ट नहीं हो सकते ॥७६२॥

यह परम संवर का हेतु है—

सामायिकवलेनासौ करोति संवरंपरम् । कर्मणां विधिनाध्यानी महतीं मुनिर्जरा ॥७६३॥

अर्थ—ध्यान करनेवाला योगी इस सामायिक के बलसे परम संवर करता है और विधि पूर्वक कर्मों की महा निर्जरा करता है ॥७६३॥

सामायिक की सामर्थ्य से ध्यान धारणादि—

सामायिकस्य सामर्थ्याद्विधत्ते मुनिपुंगवः । ध्यानानि ते प्रजायेते केवलज्ञानदर्शने ॥७६४॥

अर्थ—मुनिराज इस सामायिक की सामर्थ्य से ध्यान धारण करते हैं और ध्यानसे केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करते हैं ॥७६४॥

पांचों इन्द्रियों व मनको वशमें करने के लिये यह सामायिक रस्सी के [illegible] है—

सामायिकं जिनाःप्राहुःपंचाक्षमृगबंधने । पाशंचशृंखलातुल्यं मनोमर्कट [illegible] ॥७६५॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने पांचों इन्द्रियरूपी पशुओंको बांधने के लिये इस सामायिक को रस्सी के समान बतलाया है और मनरूपी बंदर को रोकने के लिये इसी सामायिक को सांकल के समान बतलाया है ॥७६५॥

यह सामायिक सर्पको कीलने के लिये महामंत्र भी है—

सामायिकमहामंत्रं संसाररोगकीलने। बुधा जगुश्च साधूनां कर्मारण्येनलोपमम् ॥७६६॥

अर्थ—विद्वान लोग संसाररूपी सर्पको कीलने के लिये (वशमें करने के लिये) इस सामायिक को महामंत्र बतलाते हैं तथा साधुओं के कर्मरूपी वनको जलाने के लिए अग्नि के समान कहते हैं ॥७६६॥

सामायिक रूपी अमृत पानका फल—

सामायिक सुधापानं ये कुर्वन्ति निरन्तरम् । सुखनिस्तेचिरेणस्युर्जन्ममृत्युविषातिगाः ॥७६७॥

अर्थ—जो मुनि इस सामायिक रूपी अमृत पानको निरन्तर करते रहते हैं वे जन्म मरणरूपी विषय से छूट कर सदा के लिये सुखी हो जाते हैं ॥७६७॥

सामायिक के संस्कारों का फल—

संचीयते परंधर्मं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् । शुद्धं च क्षीयते पापं सामायिकात्तचेतसाम् ॥७६८॥

अर्थ—जिनके हृदयमें सामायिक की वासना भरी हुई है उनके पाप सब नष्ट हो जाते हैं, और अत्यन्त शुद्ध तथा स्वर्ग मोक्ष को वश करनेवाला परम धर्म संचित होता है ॥७६८॥

मोक्ष लक्ष्मी स्वयं झुकती है—

मुक्तिश्रीःस्वपमागत्यासक्त्यासामायिकात्मनः । वृणोत्यहो श्रियासार्द्धं काकथादेवयोषिताम् ॥

अर्थ—सामायिक करनेवाले पुरुषों को मोक्षरूपी लक्ष्मी समस्त लक्ष्मियों के साथ आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है फिर भला देवियों की तो बात ही क्या है ॥७६९॥

सामायिक के प्रताप से श्रावक की समृद्धि—

सामायिकेन सागरा हिंसादिपंचपातकान्। हत्वोपार्ज्य परं धर्मं यान्ति स्वर्गंचषोडशम् ॥७७०॥

अर्थ—इस सामायिक के प्रभाव से श्रावक भी हिंसादिक पांचों पापोंको नष्ट कर और परम धर्मको संचित कर सोलहवें स्वर्ग तक पहुंचते हैं ॥७७०॥

अभव्य जीव भी इसके प्रताप से ऊर्ध्व ग्रैवेयक तक क्यों जाता है ?

द्रव्यसामायिकेनात्राभव्योजिनेन्द्रवेषधृत् । महातपाःसुशास्त्रज्ञःऊर्ध्वग्रैवेयकं व्रजेत् ।।७७१।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव के भेषको धारण करनेवाला (मुनि लिंग धारण करनेवाला) महा तपस्वी और अनेक शास्त्रों का जानकार अभव्य जीव भी इस द्रव्य सामायिक के प्रभाव से ऊर्ध्व ग्रैवेयक तक पहुंचता है ।।७७१।।

भरत चक्रवर्ती का दृष्टांत—

वह्वारम्भोद्भवं पापं क्षिपित्वा प्रत्यहं महत् । शुद्धसामायिकेनैव निंदयागर्हणेनच ।।७७२।।
शिप्तकर्मादिमश्चक्री भरतेशोनुसंयमम् । गृहीत्वा ध्यानमालंब्य शुक्लं कर्मवनानलम् ।।७७३।।
घटिकाद्वयमात्रेण हत्वा घातिचतुष्टयम् । सार्द्धं देवार्चनैर्दिव्यं प्रापानन्तचतुष्टयम् ।।७७४।।

अर्थ—देखो प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरत महारंभसे उत्पन्न हुए प्रतिदिन के महापापों को शुद्ध सामायिक के द्वारा ही नष्ट करते थे, तथा निंदा गर्हा के द्वारा बहुत से कर्मों को नष्ट करते थे । तदनंतर उन्होंने संयम धारण कर कर्मरूपी वन को जलाने के लिये अग्निके समान ऐसे शुक्ल ध्यानको धारण किया था और दो ही घड़ीमें चारों घातिया कर्मों को नष्ट कर देव और इन्द्रों के द्वारा होनेवाली पूजाके साथ साथ दिव्य अनंत चतुष्टय प्राप्त कर लिया था ।।७७२-७७४।।

योगियों के लिये, सामायिक से बढ़कर और कोई उपयुक्त साधन नहीं—

बहुनोक्तेन किं साध्यं नकिंचित्शिवसिद्धये । सामायिकेन संदृशं विद्यते योगिनांक्वचित् ।।७७५।।

अर्थ—बहुत कहनें से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि योगियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस सामायिक के समान और कोई पदार्थ किसी स्थान में भी नहीं है ।।७७५।।

बुद्धिमानों को प्रयत्न पूर्वक सदा परम शुद्ध सामायिक करना चाहिये—

ज्ञात्वेत्यस्यात्रमाहात्म्यमुत्थाय बुधसत्तमाः । योगशुद्धि विधाय प्रतिलेख्यांगं धरातलम् ।।७७६।।
स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य कालेकाले शिवाप्तये । कुर्वन्तु सर्वदा यत्नात् शुद्धं सामायिकं परम् ।।

अर्थ—इसप्रकार इस सामायिक के माहात्म्य को समझ कर श्रेष्ठ बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये उठकर खड़ा होना चाहिये तथा मन वचन कायको शुद्ध कर, अपने शरीर और पृथ्वी को देख शोधकर अपने दोनों हाथ जोड़कर सामायिक के प्रति समय पर प्रयत्नपूर्वक सदा परम शुद्ध सामायिक करना चाहिये ।।७७६-७७७।।

अपने कर्मों का नाश करने के लिए शुद्ध सामायिक करो—

अखिलगुणसमुद्रं मुक्तिसौधाग्रमार्गं निरुपमसुखहेतुं धर्मबीजं विशुद्धम् ।
दुरित तिमिरभानुं धीधनाः कर्महान्यै कुरुत हृदयशुद्धया शुद्धसामायिकं भोः ।।७७८।।

अर्थ— यह सामायिक समस्त गुणों का समुद्र है, मोक्षरूपी राजभवनका मुख्य मार्ग है, मोक्षरूपी अनुपम सुखका कारण है, धर्मका बीज है, अत्यन्त विशुद्ध है, और पापरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्यके समान है । इसलिये हे बुद्धिमान् लोगों अपने कर्मों को नाश करने के लिये शुद्ध हृदयसे शुद्ध सामायिक धारण करो । प्रतिदिन नियम पूर्वक इसको करते रहो ।।७७८।।

दूसरे स्तव का स्वरूप—

इमां सामायिकस्यादौ निर्युक्ति प्रतिपाद्यवै । समासेन ततो वक्ष्ये निर्युक्त सत्स्तवस्य च ।।७७९।।

अर्थ—इसप्रकार पहले सामायिक का स्वरूप कहा अब आगे संक्षेप से दूसरे स्तव वा स्तुति नामके आवश्यक का स्वरूप कहते हैं ।।७७९।।

चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति को स्तवन आवश्यक कहते हैं—

चतुर्विशति तीर्थेषां त्रिजगत्स्वामिनां च यत् । सार्थै र्नामादिभिः षड्भिःसारैर्लोकोत्तमैर्गुणैः ।।
स्तवनंक्रियते दक्षैः प्रणामं भक्तिपूर्वकम् । भावार्चनं महद्धयानं सस्तवः शिवशर्मदः ।।७८१।।

अर्थ—भगवान चौबीस तीर्थंकर तीनों लोकों के स्वामी हैं उनके सार्थक नामों के द्वारा वा सारभूत लोकोत्तम गुणों के द्वारा प्रणाम और भक्ति पूर्वक छह प्रकार से जो चतुर पुरुषोंके द्वारा स्तवन किया जाता है उनकी भावपूजा की जाती है वा उनका महा ध्यान किया जाता है उसको मोक्ष सुख देनेवाला स्तवन कहते हैं ।।७८०-७८१।।

स्तवन भी छह प्रकार का है—

स नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालो जिनोद्भवः । भावस्थेति निक्षेपःस्तवस्यषड्विधः स्मृतः ।।७८२।।

अर्थ—वह स्तवन भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्रकाल भावके भेदसे छह प्रकार है । यह छह प्रकार का स्तवन का निक्षेप है और भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है ।।७८२।।

स्तवन का फल—

तीर्थेशनाममात्रोच्चरणेनचसतां द्रुतम् । विघ्नजालानि पापानि प्रलीयन्ते रुजादयः ।।७८३।।

अर्थ—चौबीसों तीर्थंकरों के नाम मात्रके उच्चारण करने से सज्जनों के सब

विघ्न नष्ट हो जाते हैं पाप नष्ट हो जाते हैं और रोगादिक सब नष्ट हो जाते हैं। ।।७८३।।

तीर्थंकरों का नाम उच्चारण करने का महाफल—

जायते च परं पुण्यं जिनचक्र्यादिभूतिदम् । धर्माद्यर्थाश्च सिद्ध्यन्ति ढौकन्तेत्रिजगच्छ्रियः ।।

अर्थ—इसके सिवाय तीर्थंकरों का नाम उच्चारण करने से तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि की विभूति को देनेवाला पुण्य प्राप्त होता है, धर्मादिक चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों की लक्ष्मियां प्राप्त हो जाती हैं ।।७८४।।

नाम स्तवन का स्वरूप—

इत्यादि नाममहात्म्य वर्णनैर्या विधीयते । स्तुति नामभिश्चाष्टाग्रसहस्रप्रणामकैः ।।७८५।।
वर्तमानचतुर्विंशति तीर्थेश्वर नामभिः । स्तवः सकथ्यते सद्भिर्धर्ममूलोऽशुभान्तकः ।।७८६।।

अर्थ—इसप्रकार भगवान के नामों का माहात्म्य वर्णन कर जो स्तुति की जाती है अथवा एक हजार आठ नाम पढ़कर जो स्तुति की जाती है उनको एक हजार आठ प्रणाम किये जाते हैं अथवा वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों के नाम पढ़कर जो स्तुति की जाती है उसको धर्मका मूल और शुभ देनेवाला नाम स्तवन कहते हैं ।।७८५-७८६।।

स्थापना स्तवन का स्वरूप—

कृत्रिमाकृत्रिमाणां च मूर्तीनां तीर्थंकारिणाम् । पूजास्तुतिनमस्कारैः क्षीयन्ते विघ्नराशयः ।।
सतां सम्पद्यते पुण्यं परं शर्मैककारणम् । विश्वाभ्युदयकल्याणा जायन्ते च पदेपदे ।।७८८।।
इत्यादिस्थापनास्तुत्या तीर्थेषांस्तवनंचयत् । शिवाय क्रियते विद्भिःसस्थापनाभिधःस्तवः ।।

अर्थ—इस संसार में तीर्थंकरों की जो कृत्रिम वा अकृत्रिम प्रतिमायें हैं उनकी पूजा स्तुति वा नमस्कार करने से सज्जनों के समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं। परम कल्याणोंका कारण ऐसा पुण्य प्राप्त होता है और क्षण क्षणमें सब तरहके अभ्युदय और कल्याण प्राप्त होते हैं इसप्रकार विद्वान् लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्थापना निक्षेप से स्थापित की हुई तीर्थंकर की प्रतिमा को स्तुति करते हैं उसको स्थापना स्तव कहते हैं ।।७८७-७८९।।

द्रव्य स्तवन का स्वरूप—

दिव्यौदारिकदेहानां कोटीनेभ्योखिलार्हताम् । विश्वनेत्रप्रियाणां सौम्यानामधिकतेजसाम् ।।
श्वेतपीतादिसद्वर्णं स्तवनं यत्सुकान्तिभिः । निष्पाद्यते च शास्त्रज्ञैः सद्द्रव्यस्तव एवहि ।।७९१।।

अर्थ—भगवान तीर्थंकर परमदेव दिव्य औदारिक शरीरको धारण करनेवाले हैं संसार भरके समस्त नेत्रों को प्रिय हैं अत्यंत सौम्य हैं और करोड़ों सूर्योंसे भी अधिक तेज को धारण करते हैं ऐसे तीर्थंकरों के अत्यंत मनोहर श्वेत पीत आदि शरीर के रूप का वर्णन कर उनकी स्तुति करना अथवा अनेक शास्त्रों को जानने वाले जो ज्ञानी पुरुष इसप्रकार की स्तुति करते हैं उसको द्रव्य स्तवन कहते हैं ।।७९०-७९१।।

क्षेत्र स्तवन का स्वरूप—

कैलाशचलसम्मेदोर्जयतादिशभात्मनाम् । निर्वाणक्षेत्रभूमीनामर्हतांगुणवर्णनैः ।।७९२।।
पूजास्तुति नमस्कारैर्यन्माहात्म्यप्रशंसनम् । क्षेत्रस्तवः सविज्ञेयःपुण्यनिर्वाणहेतुकृत् ।।७९३।।

अर्थ—भगवान अरहंतदेवके गुणों का वर्णन कर कैलाश पर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनार आदि अरहंतों के शुभ निर्वाण भूमियों की पूजा स्तुति करना उनको नमस्कार करना और उनका माहात्म्य प्रगट करना क्षेत्र स्तवन कहलाता है । यह क्षेत्र स्तवन भी पुण्य और निर्वाण का कारण है ।।७९२-७९३।।

काल स्तवन का स्वरूप—

पंच कल्याणकैःसारैः स्वर्गावतरणादिभिः । देवेन्द्रादिकृतैर्भूत्यामहापुण्य निबंधनैः ।।७९४।।
स्तुतिर्याक्रियते तज्ज्ञैः कल्याणगुणभाषणैः । सर्वेषां तीर्थकर्तॄणां कालःस्तवः स एव च ।।७९५।।

अर्थ—विद्वान् लोग जो समस्त तीर्थंकरों के स्वर्गावतार आदि पांचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते हैं इन्द्रादिक देवों ने जिस विभूतिके साथ कल्याणोत्सव मनाया है उसका वर्णन करते हैं उन कल्याणोत्सवों को महा पुण्य का कारण बतलाते हैं और सारभूत कहते हैं इसप्रकार जो पांचों कल्याणों के गुणों का वर्णन करते हैं उसको कालस्तवन कहते हैं ।।७९४-७९५।।

गुणों को देनेवाला भाव स्तवन का स्वरूप—

केवलज्ञानदृष्ट्याद्या गुणा अनन्तातिगाः पराः । विद्यन्तेयेर्हतां स्तोतुं तान्क्षमोमादृशःकथम् ।।
इत्यादि सद्गुणानांच भाषणं यद्विधीयते । तद्गुणाय बुधैर्भावस्तवःसतद्गुणप्रदः ।।७९७।।

अर्थ—"भगवान अरहंतदेव के केवलज्ञान केवलदर्शन आदि अनंत गुण हैं उन सबकी स्तुति करने के लिये मेरे समान बुद्धिहीन पुरुष कभी समर्थ नहीं हो सकते" इस प्रकार विद्वान लोग उन गुणों की प्राप्ति के लिये जो अरहंतदेव के गुणों का निरूपण करते हैं वह उन गुणों को देनेवाला भावस्तवन कहलाता है ।।७९६-७९७।।

वे भगवान् मेरे लिये रत्नत्रय की प्राप्ति करें—

लोकोद्योतकरालोके विश्वतत्त्वप्रकाशकाः । धर्मतीर्थंकराः सर्वज्ञान तीर्थविधायिनः ।।७९८।।
अर्हन्तो मुक्तिभर्तारःपंचकल्याणभागिनः । शरण्या भवभीतानामनन्तगुणसागराः ।।७९९।।
मंत्रमूर्तिमया ध्येयाः कीर्तनीयाःजगत्सताम् । वंदनीया महान्तश्च पूज्यालोकोत्तमाःपराः ।।८००।।
दिव्यश्रीभूषितानित्या निस्पृहाःस्तवनावपि । देवीनिकरमध्यस्थाः परब्रह्मव्रतांकिता ।।८०१।।
विश्वभव्यहितायुक्ताः सार्थवाहाःशिवाध्वनि ।।८०२।।
मुक्ति भुक्त्यादिदातारो धर्मार्थकाममोक्षदा। । विश्वविघ्नाद्यहन्तारो भाक्तिकानां न संशयः ।।
इत्याद्यन्यगुणौघैर्ये पूर्णा जिनवरा भुवि । ते मे बोधिं समाधिंचदिशन्तु कीर्तिता नुताः ।।८०४।।

अर्थ—भगवान अरहंतदेव इस लोकमें समस्त लोक का उद्योत करनेवाले हैं, समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाले हैं, धर्मके तीर्थंकर हैं, समस्त ज्ञान और तीर्थोंकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, मोक्षके स्वामी हैं, गर्भादिक पंच कल्याणों को प्राप्त हुए हैं, संसार से भयभीत हुये मनुष्यों को शरणभूत हैं, अनंतगुणों के समुद्र हैं, समस्त मंत्रों की मूर्तिस्वरूप हैं, तथा समस्त जगत के सज्जनों को ध्यान करने योग्य और स्तुति करने योग्य हैं। वे भगवान वंदनीय हैं, महान् हैं, पूज्य हैं, लोकोत्तम हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं। वे भगवान सदा ही दिव्य विभूतियों से विभूषित रहते हैं, अपने शरीर से भी निस्पृह हैं, अनेक देवियों के मध्यमें विराजमान रहते हुए भी परम ब्रह्मचर्य व्रतसे सुशोभित रहते हैं। वे भगवान आतम क्षमा आदि उत्तम गुणोंसे सदा सुशोभित रहते हैं कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करनेवाले हैं, समस्त भव्य जीवों का हित करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष मार्गमें वे सदा सहायक रहते हैं। वे भगवान भक्त पुरुषों को भक्ति और मुक्ति दोनों के देनेवाले हैं, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों को देनेवाले हैं तथा समस्त विघ्नों और पापों को नाश करनेवाले हैं। इसप्रकार वे भगवान अनेक गुणों के समूहों से परिपूर्ण हैं। उन भगवान की मैंने यह स्तुति की है तथा उनको नमस्कार किया है इसलिये वे भगवान मेरे लिये रत्नत्रय की प्राप्ति करें और समाधि की प्राप्ति करें ।।७९८-८०४।।

तीर्थंकर तीर्थ कहलाते हैं—

सम्यग्दर्शनसद्ज्ञान चारित्राण्यत्र यानि च । परमार्थेन तीर्थानि दुष्कर्ममलनाशनात् ।।८०५।।
तेषां ये च प्रणेतारो महद्भिस्तैरलं कृताः । तन्मया वा जगन्नाथास्तेऽत्रतीर्थाभवन्त्यहो ।।८०६।।

अर्थ—वास्तव में देखा जाय तो अशुभ कर्मों का नाश रत्नत्रयसे ही होता है,

इसलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये ही वास्तव में तीर्थ हैं। इन रत्नत्रय स्वरूप तीर्थों की प्रवृत्ति वे तीर्थंकर ही करते हैं अथवा वे तीर्थंकर रत्नत्रयरूप महा तीर्थों से सुशोभित रहते हैं अथवा वे तीर्थंकर रत्नत्रयमय ही हैं ऐसे तीनों लोकों के स्वामी वे तीर्थंकर तीर्थ कहलाते हैं ।।८०५-८०६।।

भगवान को 'जिन' क्यों कहते हैं ?

जितमोहारिसन्तानाः सतांमोहं जयन्ति ये । ते जिनाःघातिहन्तारःउच्यन्ते तेनहेतुना ।।८०७।।

अर्थ—उन भगवान ने मोहरूपी शत्रुकी समस्त सन्तान जीत ली है अथवा वे भगवान सज्जन पुरुषों के मोहको भी जीत लेते हैं तथा वे भगवान घातिया कर्मों को नाश करनेवाले हैं इसलिये उनको जिन कहते हैं ।।८०७।।

भगवान 'अर्हन्' क्यों कहलाते हैं ?

सर्वान् स्तुतिनमस्कारान् सत्कारादीन्नृनाकिनाम् । पंचकल्याणकार्चां च गमनं मुक्तिधामनि ।।
अन्यद्वा मानसन्मानं येत्रार्हन्ति जिनेश्वराः । अर्हन्तस्तेऽत्र कथ्यन्ते ह्यमुनाहेतुनाखिलाः ।।८०९।।

अर्थ— अथवा वे भगवान जिनेन्द्रदेव मनुष्य और इन्द्रोंके द्वारा की जानेवाली समस्त स्तुतियों के समस्त नमस्कारों के योग्य हैं, पंचकल्याणकों में होनेवाली पूजा के योग्य हैं, मुक्ति स्थानमें गमन करने योग्य हैं तथा और भी संसार में जितना मान सन्मान है सबके वे योग्य हैं इन्हीं सब हेतुओं से वे भगवान अर्हन् कहलाते हैं। ।।८०८-८०९।।

वे मुनियों के द्वारा भी वंदनीय हैं ?

कथ्यन्ते त्रिजगन्नाथैःकीर्तनीया न भूतले । वद्याश्चमुनिभिःयैःसंन्मुक्तिमार्ग.प्रदर्शितः ।।८१०।।

अर्थ—जिन तीर्थंकर परमदेव ने श्रेष्ठ मोक्षका मार्ग दिखलाया है वे भगवान इस संसार में तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा ही प्रशंसनीय नहीं हैं किन्तु मुनियोंके द्वारा भी वंदनीय गिने जाते हैं ।।८१०।।

भगवान केवलदर्शी तथा सर्वदर्शी क्यों कहलाते हैं ?

लोकालोकं समस्तं ये जानन्तिकेवलेन च । प्रपश्यन्ति दृशा तस्मात्स्युस्तेकेवलिनोऽखिलाः ।।

अर्थ—वे भगवान केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोक अलोक को जानते हैं इसलिये उनको केवली कहते हैं तथा केवल दर्शन के द्वारा वे समस्त लोक अलोक को देखते हैं इसलिये उनको केवलदर्शी वा सर्वदर्शी कहते हैं ।।८११।।

वे भगवान तीनों लोकों में 'सर्वोत्तम' कहलाते हैं—

मोहदृग्ज्ञानचारित्रावरणैर्घातिकर्मभिः । मुक्ता ये तीर्थंकर्तारःउत्तमास्ते जगत्रये ।।८१२।।

अर्थ—वे तीर्थंकर परमदेव मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और चरित्रावरण (चारित्र मोहनीय वा अंतराय) इन घातिया कर्मोंसे रहित हैं इसलिये वे भगवान तीनों लोकों में सर्वोत्तम कहलाते हैं ।।८१२।।

वे भगवान मेरे लिये समाधि को प्रदान करें—

एवं गुणविशिष्टाये तीर्थनाथाजगत्स्तुताः । तेमे दिशन्तु बोधिं च समाधिं च स्वगुणान् परान् ।।

अर्थ—इसप्रकार अनेक गुणों से सुशोभित और तीनों लोकोंके द्वारा स्तवन किये गये वे भगवान तीर्थंकर परमदेव मेरे लिये रत्नत्रय तथा समाधि को प्रदान करें तथा अपने अन्य गुणों को भी प्रदान करें ।।८१३।।

उक्त प्रार्थना को निदान नहीं समझना चाहिये—

नस्यादेतन्निदानंहि किन्त्वसत्यमृषाह्वयम् । एषाभाषा जिनेन्द्रेण प्रणीता कार्यसिद्धये ।.८१४।।

अर्थ—भगवान की इसप्रकार की स्तुति करने को "रत्नत्रय समाधि प्रदान करें" इसप्रकार कहने को निदान नहीं समझना चाहिये किंतु भगवान जिनेन्द्रदेव ने कार्य सिद्धि के लिये ऐसी भाषा को अनुभय भाषा कहा है ।।८१४।।

भगवान के कृतकृत्यपना—

यतस्तैर्यच्चदातव्यं सर्वंदृग्विद्व्रतादिकम् । हितं धर्मोपदेशादि तद्दत्तं तैर्जिनैःसताम् ।।८१५।।
अधुनावीतमोहास्तेकृतकृत्याजिनाधिपः । नांकिचिद्ददते लोके विश्वचिंतमातिगा नृणाम् ।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान जिनेन्द्रदेवको भव्य जीवोंके लिये सम्यग्दर्शन, आत्माकी शुद्धता, व्रत हित धर्मोपदेश आदि जो कुछ देना था वह सब कुछ वे भगवान भव्य सज्जनों को दे चुके । इस समय तो वे भगवान वीतराग हैं कृतकृत्य हैं जिनेन्द्र हैं और समस्त चिंताओं से रहित हैं इसलिये वे अब इस संसारमें मनुष्यों को कुछ नहीं देते ।।८१५-८१६।।

भक्त पुरुषों की यह प्रार्थना सफल ही होती है—

अथवा प्रार्थनात्रैषा भक्तिरागभरांकिता । सफला भक्तिकानां सद्धर्मार्जनाद्भविष्यति ।।८१७।।

अर्थ—अथवा यों समझना चाहिये कि भगवान की ऐसी स्तुति करना हमें

रत्नत्रय देवें आदि कहना भक्ति और उनके गुणों के प्रति होनेवाले अनुरागसे भरी हुई प्रार्थना है और श्रेष्ठ धर्मको पालन करने से भक्त पुरुषों की वह प्रार्थना सफल ही होती है ।।८१७।।

भक्त लोगों के मनोरथ सब सिद्ध हो जाते हैं—

यतोभक्त्यार्हंतां पुंसां क्षीयन्तेक्लेशराशयः । सर्वं मनोरथासिद्धिमिहामुत्र व्रजन्ति च ।।८१८।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान अरहंतदेव की भक्ति करने से मनुष्योंके समस्त क्लेशों का समूह नष्ट हो जाता है तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकों के मनोरथ सब सिद्ध हो जाते हैं ।।८१८।।

प्रशस्त अनुराग रत्नत्रय धर्मको करनेवाला है—

अर्हत्सुवीतदोषेष्वाचार्योपाध्यायसाधुषु । धर्मे रत्नत्रयेनर्घ्ये जिनवाक्ये च धर्मिषु ।।८१९।।
यतो जायतेरागः स्वभावेनयो गुणोद्भवः । सप्रशस्तो मत.सद्भिर्दृष्टिज्ञानादिधर्मकृत् ।।८२०।।

अर्थ—वीतराग भगवान अरहंतदेव में, आचार्य उपाध्याय साधुओं में, रत्नत्रय रूप सर्वोत्कृष्ट धर्म में, जिन वचनों में और धर्मात्माओं में उनके गुणों से उत्पन्न हुआ जो स्वाभाविक अनुराग है उसको सज्जन पुरुष प्रशस्त अनुराग कहते हैं वह प्रशस्त अनुराग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्मको उत्पन्न करनेवाला है। ।।८१९-८२०।।

मत्वेति श्रीजिनादीनां भक्तिरागादयोखिलाः । विश्वार्थसाधका निसं कर्तव्या भक्तिकैः पराः ।।

अर्थ—यही समझकर भक्त पुरुषों को समस्त अर्थों को सिद्धि करनेवाली भगवान जिनेन्द्रदेव की भक्ति और उनके गुणों में उत्कृष्ट अनुराग सदा करते रहना चाहिये ।।८२१।।

भगवान २४ तीर्थंकरों की स्तुति प्रतिदिन करनी चाहिये—

स्तवं कुर्वंतु तद्वच्चतुर्विंशतिजिनेशानाम् । सर्वाभ्युदयसंसिद्ध्यै नित्यंप्रति मुनीश्वराः ।।८२२।।

अर्थ—इसलिये मुनिराजों को अपने समस्त कल्याणोंकी सिद्धि करने के लिये भगवान चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति प्रतिदिन सदा करनी चाहिये ।।८२२।।

स्तुति करने की विधि—

प्रतिलेख्य धरांगादींश्चित्तशुद्धिं विधाय च। स्वकरौ संपटौ कृत्य स्थित्वा कृत्वा स्थिरौ क्रमौ ।।
ऋजू चांतरितौ शक्त्या चतुर्भिरंगुलैर्मुदा । मधुरेण स्वरेणैव शुद्धव्यक्ताक्षरव्रजैः ।।८२४।।

अर्थ—मुनियों को सबसे पहले अपना शरीर और पृथ्वी को शुद्ध कर लेना चाहिये, मनको शुद्ध कर लेना चाहिये फिर अपने हाथ जोड़कर दोनों पैरों को स्थिर रखकर खड़े होना चाहिये। उस समय उनके दोनों पैरोंमें चार अंगुल का अन्तर होना चाहिये और दोनों पैर सीधे रहने चाहिये। फिर प्रसन्न चित्त होकर मधुर स्वरसे शुद्ध और व्यक्त अक्षरों का उच्चारण करते हुए अपनी शक्तिके अनुसार चौबीसों तीर्थंकरों की स्तुति करनी चाहिये ॥८२३-८२४॥

स्तुति का फल—

यतोर्हद्गुणराशीनां स्तवनेन बुधोत्तमैः। लभ्यन्ते तत्समा सर्वेगुणाःस्वर्मोक्षदायिनः ॥८२५॥

अर्थ—इसका कारण यह है कि भगवान अरहंतदेवके गुणोंके समूह की स्तुति करने से उत्तम बुद्धिमान पुरुषों को उन गुणों के समान ही स्वर्ग मोक्ष देनेवाले समस्त गुण प्राप्त हो जाते हैं ॥८२५॥

स्तवन करने वालों को प्रशंसनीय पद प्राप्त होते हैं—

कीर्तनेनाखिला कीर्तिस्त्रैलोक्ये च भ्रमेत्सताम्। इन्द्रचक्रि जिनादीनां कीर्तनीयं पदं भवेत् ॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव के गुण कीर्तन करने से सज्जनों की समस्त शुभ कीर्ति तीनों लोकों में भर जाती है तथा इन्द्र चक्रवर्ती और तीर्थंकर के प्रशंसनीय पद प्राप्त हो जाते हैं ॥८२६॥

अरहंतदेवकी भक्ति करने से तीनों लोकमें उच्च पद की प्राप्ति—

सम्पद्यतेऽर्हतां भक्त्या सौभाग्यभोगसम्पदः। पूजया त्रिजगल्लोके श्रेष्ठपूज्यपदानि च ॥८२७॥

अर्थ—भगवान अरहंतदेव की भक्ति करने से समस्त सौभाग्य और भोग संपदाएँ प्राप्त होती हैं तथा अरहंतदेव की पूजा करने से तीनों लोकों में श्रेष्ठ और पूज्य पद प्राप्त होते हैं ॥८२७॥

भगवान के ध्यान से मुक्ति स्त्री की प्राप्ति—

जिनानांध्यानयोगेन तीर्थंकरादिभूतयः। जायन्ते मुक्तिनार्यामा का वार्ता परसंम्पदाम् ॥८२८॥

अर्थ—भगवान अरहंतदेवका ध्यान करने से मुक्ति स्त्रीके साथ-साथ तीर्थंकर की समस्त विभूतियां प्राप्त होती हैं फिर भला अन्य सम्पदाओं की तो बात ही क्या है ॥८२८॥

सूर्य की प्रभा से अंधकार नष्ट होने का दृष्टांत—

गुणग्रहणमात्रेण जिनेन्द्राणां क्षयं क्षणात् । यान्ति विघ्नाश्चरोगाद्या यथैनेन तमांसि भो ।।

अर्थ—जिस प्रकार सूर्यकी प्रभासे अंधकार सब नष्ट हो जाता है उसीप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के गुणों को ग्रहण करने से क्षणभर में ही समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं और समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं ।।८२९।।

भगवान के गुणों में अनुरागादि करना चाहिये—

ज्ञात्वेति यतयो नित्यं तद्गुणाय जिनेशिनाम् । प्रयत्नेनप्रकुर्वंतुरागभक्तिःस्तवादिकान् ।।८३०।।

अर्थ—यही समझकर मुनियों को भगवान अरहंतदेव के गुण प्राप्त करने के लिये बड़े प्रयत्न के साथ भगवान अरहंतदेव के गुणों में अनुराग, उनकी भक्ति और उनकी स्तुति आदि करनी चाहिये ।।८३०।।

तीर्थंकरों के समस्त गुणों की प्राप्ति होती है—

जिनवरगुणहेतुं दोषदुर्ध्यान शत्रुं सकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानमूलम् ।
परविमलगुणौघैस्तद्गुणग्रामसिद्ध्यै कुरुत बुधजनानित्यं स्तवं तीर्थभाजाम् ।।८३१।।

अर्थ—भगवान तीर्थंकर परमदेव का स्तवन उनके गुणोंकी प्राप्ति का कारण है, समस्त दोष और अशुभ ध्यानों को नाश करनेवाला है समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञानका मूल कारण है । इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को तीर्थंकरों के समस्त श्रेष्ठ गुणों को सिद्ध करने के लिये उनके निर्मल गुणोंका वर्णन कर उनकी स्तुति सदा करते रहना चाहिये ।।८३१।।

वंदना नामक आवश्यक का स्वरूप—

विश्वेषां तीर्थंकर्तॄणां निर्देश्येमं स्तवं ततः । हितायस्वान्ययोर्वक्ष्ये वंदनां मुक्तिमातृकाम् ।।८३२।।

अर्थ—इसप्रकार समस्त तीर्थंकरोंकी स्तुति का स्वरूप कहा अब आगे अपना और दूसरों का कल्याण करने के लिये मोक्ष की जननी ऐसी वंदना का स्वरूप कहते हैं ।।८३२।।

वन्दना आवश्यक का विशेष विवरण—

एकतीर्थंकृतःसिद्धाचार्यपाठकयोगिनाम् । साधूनां च सुनामार्चाध्यानभक्त्यादिभिश्च यत् ।।
गुणग्रामैनमःस्तोत्रं कृतकर्मविधीयते । प्रत्यहं गुणिभिर्मुक्त्यै वंदनावश्यकंहि तत् ।।८३४।।

अर्थ—गुणी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये किसी एक तीर्थंकर की सिद्ध,

आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का नाम उच्चारण करते हैं ध्यान और भक्तिके द्वारा तथा उनके गुण वर्णन करके प्रतिदिन उनकी पूजा करते हैं उनको नमस्कार करते हैं उनकी स्तुति करते हैं और कृतिकर्म करते हैं उसको वंदना नाम का आवश्यक गुण कहते हैं ।।८३३-८३४।।

इसके छह भेदों का उल्लेख—

नामाथस्थापना द्रव्यंक्षेत्रं कालः शुभान्वितः । भाव:षडतिनिक्षेपा वंदनायाजिनैर्मता ।।८३५।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने उस वंदना के भी नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्रकाल और भावरूप निक्षेपों के द्वारा छह भेद बतलाये हैं ।।८३५।।

नाम वन्दमा का स्वरूप—

एकार्हतो च सिद्धानां सूरीणां पाठकात्मनाम् । साधूनां च मुदानामोच्चरणंर्नामसम्भवैः ।।८३६।।
गुणग्रामैःसदा स्तोत्रंक्रियते यच्छिवाप्तये । सा नामवंदनाज्ञेया नुतिपूर्वा जगद्धिता ।।८३७।।

अर्थ—किसी एक तीर्थंकर का, सिद्धों का आचार्यों का उपाध्यायों का और साधुओंका प्रसन्नता पूर्वक नाम उच्चारण करना उनके नाम में होनेवाले गुणोंका वर्णन करना वा मोक्ष प्राप्त करने के लिये उनकी स्तुति करना नाम वंदना कहलाती है । यह नाम वंदना नमस्कार पूर्वक ही होती है और संसार भर का हित करनेवाली है । ।।८३६-८३७।।

स्थापना वंदना नामका आवश्यक का स्वरूप—

एकार्हाद्दिहिसर्वेषां भक्तिभावभरांकितैः । स्तूयन्ते प्रतिमा यत्रपुण्यादिफलभाषणैः ।।८३८।।
तद्भक्त्यार्चा प्रणामादीनांधर्मार्थादिसाधनम् । स्थापनाख्यं जिनैःप्रोक्तं वंदनावश्यकंहि तत् ।।

अर्थ—अलग अलग तीर्थंकरों की अलग अलग प्रतिमाओं की अत्यन्त भक्ति और अनुराग के साथ स्तुति करना इसप्रकार सब तीर्थंकरों की प्रतिमाओं की स्तुति करना तथा भक्तिपूर्वक उनकी पूजा, उनको प्रणाम आदि करने से जो पुण्य प्राप्त होता है उसका निरूपण करना स्थापना वंदना नामका आवश्यक गुण है यह गुण धर्म अर्थ आदि समस्त पुरुषार्थों को सिद्धि करनेवाला है । ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है । ।।८३८-८३९।।

द्रव्य वंदना का लक्षण—

अमीषां यच्छरीराणां दिव्यवर्णादिवर्णनैः । स्तवनं यद्बुधैर्भक्त्या साद्रव्यवंदना शुभा ।।८४०।।

अर्थ—बुद्धिमान लोग भक्तिपूर्वक जो पांचों परमेष्ठियों के शरीर का दिव्य वर्णन करते हैं तथा उस वर्णनके द्वारा जो लोग उनकी स्तुति करते हैं उसको शुभद्रव्य वंदना कहते हैं ।।८४०।।

क्षेत्र वन्दना का स्वरूप—

क्षेत्राण्यधिष्ठितान्येव तैःसर्वे यत्नयोगिभिः । स्तूयन्ते पुण्यकर्तृणि क्षेत्राख्या वंदनाहिसा ।।८४१।।

अर्थ—उन पांचों परमेष्ठियों के द्वारा जो क्षेत्र अधिष्ठित किया गया है रोका गया है उस पुण्य बढ़ानेवाले क्षेत्रकी स्तुति करना उसको क्षेत्र वंदना कहते हैं ।।८४१।।

काल वन्दना का स्वरूप—

तैरेकजिनसिद्धाद्यै :कालोयोऽधिष्ठितःशुभः । स्तूयन्तेसद्गुणोच्चारैः सा कलवन्दनोर्जिता ।।

अर्थ—एक तोर्थंकर, एक सिद्ध एक साधु आदि के द्वारा जो शुभ काल अधिष्ठित किया गया है उसके गुणों को उच्चारण कर उसकी स्तुति करना काल वंदना है ।।८४२।।

भाव वन्दना का स्वरूप—

एकार्हंदशरीराचार्योपाध्यायमहात्मनाम् । साधूनां शुद्धभावेनभावग्रहणपूर्वकम् ।।८४३।।
स्तवनं यद्विचारज्ञैः क्रियतेगुणभाषणैः । साभाववंदना ज्ञेया शुभभावप्रवर्द्धिनी ।।८४४।।

अर्थ—किसी एक अरहंत एक सिद्ध एक आचार्य एक महात्मा उपाध्याय और एक साधु की शुद्ध भाव पूर्वक विचारवान पुरुषोंके द्वारा स्तुति की जाती है उनके भाव ग्रहण कर उनके गुणों के वर्णन द्वारा जो स्तुति की जाती है उसको भाव वंदना कहते हैं । यह भाववंदना अनेक शुभ भावों को बढ़ाने वाली है ।।८४३-८४४।।

वन्दना आवश्यक के ४ कृतिकर्म—

प्रथमं कृतिकर्माथ चितिकर्म द्वितीयकम् । पूजाकर्म तृतीयं च विनयकर्मचतुर्थकम् ।।८४५।।

अर्थ—वंदना में पहला कृति कर्म दूसरा चिति कर्म तीसरा पूजा कर्म और चौथा विनय कर्म किया जाता है ।।८४५।।

कृतिकर्म किसे कहते हैं ?

कृत्यतेछिद्यतेयेनाक्षरव्रजेन योगिभिः । सर्वमष्टविधं कर्मकृतिकर्मतदुच्यते ।।८४६।।

अर्थ—योगी लोग स्तुति के जिन अक्षरों से आठों प्रकार के कर्मों को छिन्न-

भिन्न कर डालते हैं काट डालते हैं उसको कृतिकर्म कहते हैं ॥८४६॥

चितिकर्म का लक्षण—

पापारिनाशनोपायो येनसंचीययेतराम् । तीर्थंकृत्वादिसत्पुण्यं चितिकर्म तदेव च ॥८४७॥

अर्थ—स्तुति के जिन अक्षरों से पापरूप शत्रुके नाश करने का उपाय किया जाता है, अथवा तीर्थंकर की विभूति को देनेवाला पुण्य संचय किया जाता है उसको चितिकर्म कहते हैं ॥८४७॥

पूजाकर्म का स्वरूप—

पूज्यन्तेयेनसर्वेऽत्रार्हदाद्याःपरमेष्ठिनः । विश्वाभ्युदयकर्तारस्तत्पूजाकर्म कथ्यते ॥८४८॥

अर्थ—जिन अक्षरों के समुदाय से समस्त कल्याणों को करनेवाले समस्त विभूतियों को देनेवाले अरहंत आदि पांचों परमेष्ठियों की पूजा की जाती है उसको पूजा कर्म कहते हैं ॥८४८॥

विनय कर्म का स्वरूप—

विनीयन्तेऽष्टकर्माणि येनान्तमुदयादिना । तस्याद्विनयकर्मात्र समस्तकार्यसाधकम् ॥८४९॥

अर्थ—स्तुति के जिन अक्षरों से आठों कर्मों को उदय उदीर्णा में लाकर नष्ट कर दिया जाता है उसको समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाला विनयकर्म कहते हैं ॥८४९॥

इस विनय कर्म से आठों कर्म नष्ट होते हैं—

यस्माद्विनाशयत्याशु यःकर्माष्टकमंजसा । तस्माद्विलीनसंसारास्तमाहुर्विनयं परम् । ८५०॥

अर्थ—इस विनय से आठों कर्म बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जाते हैं इसीलिये संसार को नाश करनेवाले भगवान अरहंतदेव इसको विनय कहते हैं ॥८५०॥

यही विनय मोक्षका कारण है—

पूर्वंविश्वैर्जिनाधीशैः सर्वासु कर्मभूमिषु । सतां सुमुक्तिलाभाय विनयःप्रतिपादितः ॥८५१॥

अर्थ—पहले जितने भी तीर्थंकर हुये हैं उन सबने समस्त कर्म भूमियों में सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये मोक्ष का कारण एक विनय ही बतलाया है। ॥८५१॥

विनय के ५ भेद—

लोकानुवृत्तिनामार्थनिमित्तः कामहेतुकः । भयाख्यो मोक्षसंज्ञःपंचधेतिविनयोमतः ॥८५२॥

अर्थ—इस विनयके पांच भेद हैं लोकानुवृत्ति, अर्थ निमित्तक, कामहेतुक भय और मोक्ष संज्ञक ॥८५२॥

लौकिक कार्य सिद्ध करनेवाला (१) लोकानुवृत्ति नामक विनय—

अभ्युत्थान नमस्कारासनदानादिभिः परैः । भाषानुवृत्ति छंदोनुवृत्तिसद्भोजनादिकैः ॥८५३॥
लोकात्मीकरणार्थं यो विनयःक्रियते जनैः । लोकानुवृत्तिनामासविनयः कार्यसाधकः ॥८५४॥

अर्थ—दूसरे को देखकर खड़ा होना, उसको नमस्कार करना, उसको आसन देना, उसके अनुकूल भाषण करना, उसके अनुकूल चलना, उनको भोजन देना आदि लोगों को अपना बनाने के लिये जो विनय किया जाता है उसको लौकिक कार्य सिद्ध करनेवाला लोकानुवृत्ति नामका विनय कहते हैं ॥८५३-८५४॥

अर्थ विनय तथा काम विनय का लक्षण—

अर्थाय यः कृतोलोके विनयः सोऽर्थ संज्ञकः । काभाय कामिभिर्यश्चसकामविनयोऽशुभः ॥८५५॥

अर्थ—इस लोकमें धन कमाने के लिये जो विनय किया जाता है उसको अर्थ विनय कहते हैं कामी पुरुषों के द्वारा जो काम सेवन के लिये विनय किया जाता है उसको अशुभ काम विनय कहते हैं ॥८५५॥

भय विनय एवं मोक्ष विनय का स्वरूप—

भयेनविनयोयोनुष्ठीयते स भयाह्वयः । मोक्षार्थंविनयो योऽत्र समोक्षविसयो महान् ॥८५६॥

अर्थ—भयसे जो विनय किया जाता है वह भय विनय है और मोक्षके लिये जो विनय किया जाता है वह महान् मोक्ष विनय है ॥८५६॥

मुनियों को किस प्रकार के विनय का निषेध—

त्याज्या लोकानुवृत्याद्याश्चत्वारो विनयाः सदा । मोक्षाख्यः पंचमः कार्यें विनयोमुनिभिःपरः ॥

अर्थ—मुनियों को लोकानुवृत्ति आदि चारों प्रकार का विनय सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये और पांचवां सर्वोत्कृष्ट मोक्ष नाम का विनय धारण करना चाहिये ॥८५७॥

मोक्ष विनय के ५ भेद—

दृग्विद्वृत्ततपोभेदैरुपचारेण पंचधा । मोक्षाख्यो विनयो ज्ञेयोमुक्तिहेतु गुणप्रदः ॥८५८॥

अर्थ—यह मोक्ष विनय मोक्षका कारण है और अनेक गुणों को देनेवाला है

तथा दर्शन विनयं, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय ये पांच उसके भेद हैं ।।८५८।।

दर्शन विनय का लक्षण—

यथाविश्वे पदार्था येऽत्रोपदिष्टा जिनोत्तमैः । तेषां तथैव श्रद्धानं यद्दृष्टिविनयोहि सः ।।८५९।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने समस्त पदार्थों का स्वरूप जैसा बतलाया है उनका उसी रूपसे श्रद्धान करना दर्शन विनय कहलाती है ।।८५९।।

दर्शन विनय का फल—

सम्यक्त्वविनयेनात्र सम्यक्त्वं चन्द्रनिर्मलम् । सोपानं प्रथमंमुक्तिश्रीसौधलभ्यते महत् ।।८६०।।

अर्थ—इसप्रकार सम्यग्दर्शनका विनय करने से चन्द्रमाके समान निर्मल और मुक्तिलक्ष्मीके राजभवनकी पहली सीढ़ी ऐसा महान् सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है ।।८६०।।

ज्ञान विनय का लक्षण—

कलाद्यष्टविधाचारैः पठनं पाठनं च यत् । योगशुद्धचासुशास्त्राणां स ज्ञानविनयोऽद्भुतः ।।

अर्थ—मन-वचन-कायको शुद्धकर कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार, शब्दार्थाचार, विनयाचार, उपाधनाचार, मानाचार, अनिह्नवाचार इन आठों आचारों के साथ साथ श्रेष्ठ शास्त्रों का पठन-पाठन करना सर्वोत्तम ज्ञानविनय कहलाता है ।।८६१।।

ज्ञान विनय का फल केवलज्ञान है—

सद्ज्ञानविनयेनाहो जायते ज्ञान लोचनम् । त्रिजगद्दर्पणंसार्द्धं सर्वैविद्यादिभिः सताम् ।।८६२।।

अर्थ—इस श्रेष्ठ ज्ञानविनयसे सज्जन पुरुषों के समस्त विद्याओं के साथ-साथ दर्पण के समान तीनों लोकों के स्वरूप को दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है । ।।८६२।।

चारित्र विनय का स्वरूप—

त्रयोदशविधेः वृत्तपालने वृत्तशालिभिः । उत्साहो योऽनुरागश्च चारित्रविनयोऽत्रसः ।।८६३।।

अर्थ—चारित्र पालन करनेवालों का तेरह प्रकार के चारित्र पालन करने में जो उत्साह वा अनुराग है उसको चारित्र विनय कहते हैं ।।८६३।।

इसका फल यथाख्यात चारित्र है—

चारित्रविनयेनात्र केवलज्ञान कारणम् । विश्वसौख्याकरं वृत्तं यथाख्यातं नृणां भवेत् ।।८६४।।

अर्थ—चारित्र विनयको धारण करने से केवलज्ञान का कारण और समस्त सुखों को उत्पन्न करनेवाला ऐसा यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होता है ।।८६४।।

तप विनय का स्वरूप—

द्विषद्भेदतपोयोगाचरणे च तपस्विषु । भक्तिरागोद्यमः शक्त्या यस्तपः विनयोऽत्र सः ।।८६५।।

अर्थ—बारह प्रकारके तपश्चरण को पालन करने में तथा तपस्वियोंमें शक्तिपूर्वक अनुराग धारण करना तपो विनय कहलाता है ।।८६५।।

तप विनय का फल

स्युस्तपोविनयेनाहो घोरवीर तपांसि च । घातिकर्मारिहंतॄणि योगिनां विश्वसम्पदः ।।८६६।।

अर्थ—तपो विनय धारण करने से मुनियों के घातिया कर्मों को नाश करने वाले घोर वीर तपश्चरण प्रगट होते हैं और संसार को समस्त संपदाऐं प्राप्त होती हैं ।।८६६।।

उपचार विनय का स्वरूप—

यत्प्रत्यक्षपरोक्षेणाचार्याद्यखिलयोगिनाम् । आज्ञादिपालनं चौपचारिको विनयोऽत्र सः ।।८६७।।

अर्थ—आचार्य आदि समस्त योगियों की प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूपसे आज्ञा का पालन करना औपचारिक विनय है ।।८६७।।

उपचार विनय का फल—

अनेन विनयोनाशु संपाद्यन्तेखिलागुणाः । ज्ञानविज्ञानविद्याद्यामोक्षदा यमिनां पराः ।।८६८।।

अर्थ—मुनियों के इस उपचार विनय से सर्वोत्कृष्ट और मोक्ष देनेवाले ज्ञान विज्ञान विद्या आदि समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं ।।८६८।।

मोक्ष विनय से मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति—

मोक्षार्थं विनयं मोक्षाभिधं येप्रकुर्वंतेऽन्वहम् । इमं तेषांजगल्लक्ष्म्यासमं मुक्तिप्रजायते ।।८६९।।

अर्थ—जो पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन इस मोक्ष विनय को धारण करते हैं उनको संसार की समस्त विभूतियों के साथ साथ मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त होती है ।।८६९।।

मोक्ष विनय प्रतिदिन आवश्यक—

मत्वेति विनयं दक्षा इमंसर्वंप्रयत्नतः । त्रिशुद्धया प्रत्यहं सारं कुर्वन्तु शिवशर्मणे ।।८७०।।

अर्थ—यही समझकर चतुर पुरुषों को मन-वचन-कायको शुद्धकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्नपूर्वक प्रतिदिन यह सारभूत मोक्ष विनय धारण करना चाहिये। ।।८७०।।

शुभज्ञान प्राप्ति के लिये कुछ प्रश्न—

अत्रान्तरे सुमेधावी शिष्यः पृच्छति सादरः। प्रणम्य स्वगुरुं मूर्ध्ना कांश्चित्प्रश्नान्शुभाप्तये।।

अर्थ—इसी बीच में किसी चतुर शिष्य ने अपने गुरुके आगे मस्तक झुकाकर आदर के साथ शुभ ज्ञानकी प्राप्ति के लिये कुछ प्रश्न पूछे ।।८७१।।

कृतिकर्म का विशेष स्वरूप—

भगवन् कृतिकर्मात्र कीदृशं वा कियद्विधम्। कैस्तेषां तद्विकर्तव्यं विधिना केनवाखिलम् ।।८७२।।
अवस्थाविषये कस्मिन् कतिवारान्शुभप्रदान्। कृतिकर्मण एवास्य किंयत्यवनतानि वै ।।८७३।।
कियन्ति च शिरांसि स्युरावर्तानिकियंति च। कति दोषैर्विमुक्तं वा कर्तव्यं कृतिकर्मतत् ।।८७४।।

अर्थ—वह पूछने लगा कि हे भगवन् यहां पर कृतिकर्म से क्या अभिप्राय है, वह कितने तरह का होता है, उनका विधान किन-किनके लिये है वा किनको करना चाहिये, किस विधिसे करना चाहिये, किस अवस्था में कितने बार यह शुभप्रद कृतिकर्म करना चाहिये, कितने नमस्कार करने चाहिये, कितनी शिरोनति करनी चाहिये, कितने आवर्त करने चाहिये, और कितने दोषों से रहित यह कृतिकर्म करना चाहिये। ।।८७२-८७४।।

गुरु का उत्तर—

इमां सत्प्रश्नमालां मेऽनुग्रहायसमादिश। ततःप्राह गुर्रुविश्व हितोद्युक्तं इदं वचः ।।८७५।।

अर्थ—हे प्रभो! मेरा अनुग्रह करने के लिये इन सब प्रश्नों का उत्तर दीजिये। यह सुनकर सब जीवों का हित करनेवाले गुरु नीचे लिखे अनुसार कहने लगे ।।८७५।।

कृतिकर्म का स्वरूप सुनने के लिये प्रेरणा—

शृणु धीमन् विधाय त्वं स्ववशे हृदयं निजम्। जिनागम बलाद्वक्ष्ये कृतिकर्मविधीन्परान् ।।८७६।।

अर्थ—कि हे बुद्धिमान्! तू अपने मनको वशमें कर सुन। मैं जिनागम के अनुसार कृतिकर्म की उत्कृष्ट विधियों को कहता हूं ।।८७६।।

कृतिकर्म के २ भेद—

नित्यनैमित्तिकाभ्यां तत्कृतिकर्म द्विधोच्यते । एकैकं बहुभेदं च कर्मघ्नं शिवकारणम् ।।८७७।।

अर्थ— उस कृतिकर्म के दो भेद हैं एक प्रतिदिन होने वाला कृतिकर्म और दूसरा किसी निमित्तसे होनेवाला कृतिकर्म । इनमें भी एक एक कृतिकर्म के अनेक भेद हैं जो कर्मोंको नाश करनेवाले हैं और मोक्ष के कारण हैं ।।८७७।।

नित्यकर्म पापों का नाश करनेवाला है—

त्रिकालवंदना योग सत्प्रतिक्रमणादिकम् । प्रत्यहं क्रियते यत्तन्नित्यकर्माघनाशकम् ।।८७८।।

अर्थ—जो प्रतिदिन त्रिकाल वंदना की जाती है, योग धारण किया जाता है वा श्रेष्ठ प्रतिक्रमण किया जाता है उसको नित्यकर्म कहते हैं । यह नित्यकर्म भी पापों को नाश करनेवाला है ।।८७८।।

नैमित्तिक कृतिकर्म का स्वरूप—

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां पक्षपर्वदिनादिषु । विधीयते क्रियाकर्म यत्तन्नैमित्तिकं परम् ।।८७९।।

अर्थ—अष्टमी के दिन चतुर्दशी के दिन पक्ष पूरा होनेपर वा अन्य किसी पर्व के दिन जो क्रिया कर्म किया जाता है उसको नैमित्तिक कृतिकर्म कहते हैं ।।८७९।।

कौनसी भक्तियें करनी आवश्यक हैं—

त्रिकालवंदनायां च विधेया भक्तिकैः सदा । चैत्यभक्तिस्ततः पंचगुरुभक्तिर्विधानतः ।।८८०।।

अर्थ—त्रिकाल वंदना में भक्त पुरुषों को विधि पूर्वक सदा चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति बोलनी चाहिये ।।८८०।।

चतुर्दशी के दिन की भक्तियां—

चतुर्दशीदिने सिद्धचैत्यश्रुताख्य भक्तयः । भक्तिः पंचगुरूणां श्रीशांतिभक्तिस्ततोतिमा ।।८८१।।

अर्थ—चतुर्दशी के दिन सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलनी चाहिये ।।८८१।।

अष्टमी की भक्तियां—

अष्टमीदिवसे सिद्धश्रुतचारित्र भक्तयः । चैत्यभक्ति स्ततः पंचगुरुशांति समाह्वये ।।८८२।।

अर्थ—अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलनी चाहिये ।।८८२।।

पाक्षिक वंदना में आवश्यक भक्तियां—

पाक्षिके दिवसे सिद्धचारित्रशान्तिभक्तयः । श्रीसिद्धप्रतिमायां श्रीसिद्धिभक्तिर्विधीयते ।।८८३।।

अर्थ—पाक्षिक वंदनामें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा सिद्ध प्रतिमा के सामने सिद्धभक्ति पढ़नी चाहिये ।।८८३।।

अपूर्व चैत्य एवं चैत्यालय में कौनसी भक्ति करनी चाहिये—

अपूर्वचैत्यचैत्यालये सिद्धचैत्यसंज्ञके । भक्ति चारित्रसत्पंचगुरुश्रीशांतिनामिकाः ।।८८४।।

अर्थ—अपूर्व चैत्य वा अपूर्व चैत्यालय में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, चारित्रभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ।।८८४।।

नंदीश्वर के तीनों पर्वों में कौनसी भक्ति करें—

नन्दीश्वरत्रये सिद्धचैत्यभक्ति स्वभक्तिः । विधातव्ये ततःपंचगुरुशान्त्यविधे परे ।।८८५।।

अर्थ—नंदीश्वरके तीनों पर्वोंमें सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, नंदीश्वरभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ।।८८५।।

भगवान् के जन्म कल्याणक के दिन कौनसी भक्ति करनी चाहिये—

जिनेन्द्रप्रतिमायाश्च तीर्थेशजन्मनो बुधैः । सिद्ध चारित्रशान्त्याख्या दातव्या सत्क्रयो मुदा ।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके सामने तथा तीर्थंकरके जन्म कल्याणक के दिन बुद्धिमानोंको सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ।।८८६।।

अभिषेक की वंदना में कौनसी भक्ति पढ़ें ?

कर्तव्या अभिषेकस्य वंदनाया सुभक्तयः । सिद्धचैत्यमहापंचगुरुशांतिजिनेशिनाम् ।।८८७।।

अर्थ—अभिषेक की वंदना में सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ।।८८७।।

भगवान की चल-अचल प्रतिष्ठा में कौनसी भक्ति पढ़ें ?

जिनेन्द्रप्रतिविम्बानां स्थिरानां वा चलात्मनाम् । प्रतिष्ठायां भवेत्सिद्धशांति भक्त्याह्वयः द्वयम् ।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव की चल और अचल प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति ये दो भक्ति पढ़नी चाहिये ।।८८८।।

स्थिर प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन कौन-कौनसी भक्ति पढ़ें—

स्थिरार्हत्प्रतिमायां च चतुर्थस्नपनाहनि । सिद्धभक्तिश्च चारित्रभक्तिरालोचनायुता ।।८८९।।

चैत्यभक्तिर्महा पंचगुरुभक्तिः प्रयत्नतः। शांतिभक्ति विधातव्या विधिना विधिहानये ।।८९०।।

अर्थ—स्थिर प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, आलोचना, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरुभक्ति और शांतिभक्ति विधिपूर्वक कर्मों को नाश करने के लिये प्रयत्नपूर्वक पढ़नी चाहिये ।।८८९-८९०।।

चल प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन कौनसी भक्ति पढ़ें ?

चलार्हत्प्रतिमायाश्च मुदाकार्याबुधोत्तमैः । सिद्धचैत्यमहापंचगुरुशान्तिसुभक्तयः ।।८९१ ।

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों को चल अरहंत प्रतिमा के चतुर्थ अभिषेक के दिन प्रसन्नतापूर्वक सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचमहागुरुभक्ति, शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये । ।।८९१।।

सामान्य मुनियों की वंदना कैसे करें ?

महत्तपः पदारूढसामान्यर्षे प्रवंदना । सिद्धभक्ति विधायोच्चैर्भक्त्या कार्यान्यसंयतैः ।।८९२।।

अर्थ—जो सामान्य मुनि उग्र-उग्र तपश्चरण करनेवाले हैं उनकी वंदना करने के लिये अन्य मुनियों को भक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति पढ़कर वंदना करनी चाहिये ।।८९२।।

सिद्धांत के जानकार मुनियों की वंदना कैसे करें ?

सिद्धांतवेदिनां सिद्धश्रुतभक्तिद्वयं भवेत् । आचार्याणां हि सिद्धाचार्यभक्ति भवतो नुतौ ।।८९३।।

अर्थ—सिद्धांत के जानने वाले मुनियों की वंदना करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये । तथा आचार्यों की वंदना करने के लिये सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति पढ़कर नमस्कार करना चाहिये ।।८९३।।

यदि आचार्य सिद्धांत के जानकार हों तो भक्ति कैसे करें ?

सिद्धांतवेदि सूरीणां वंदनायां सुशिष्यकैः । कर्तव्या विधिना सिद्धश्रुताचार्याख्यभक्तयः ।।८९४।।

अर्थ—यदि वे आचार्य सिद्धांतके जानकार हों तो उनके शिष्योंको विधिपूर्वक सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये ।।८९४।।

प्रतिमा योग धारण करनेवालों की भक्ति कैसे करें ?

मुनेर्लंघीयसोपि प्रतिमायोगस्थितस्य वै । महत्तरतपसो भक्त्याप्रणामे परसंयतैः ।।८९५।।
ध्यात्वा युक्तितः सिद्धयोगशांत्याख्यभक्तयः । तथा प्रदक्षिणा कार्या योगभक्त्यातिभाक्तिकैः ।।

अर्थ—यदि कोई मुनि छोटे हों किंतु प्रतिमा योग धारण कर खड़े हों तो

उनके लिये तथा बड़े मुनियों के लिये अन्य मुनियों को नमस्कार करते समय युक्तिपूर्वक सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। तथा भक्त पुरुषों को योगभक्ति पढ़कर उनकी प्रदक्षिणा देनी चाहिये ।।८९५-८९६।।

भगवान् के दीक्षा कल्याणक के समय कौनसी भक्ति करें ?

जिननिष्क्रमणेसिद्धचारित्र योगभक्तय: । योगशांत्याह्वयेभक्ति योगभक्त्या प्रदक्षिणा ।।८९७।।

अर्थ—भगवान के दीक्षा कल्याणक के समय सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा योगभक्ति पढ़कर प्रदक्षिणा देनी चाहिये । ।।८९७।।

सिद्धांत के जानकार आचार्य के मरण के समय कौनसी भक्ति करें ?

जिन निर्वाण सत्क्षेत्रे भक्ति सिद्धश्रुताभिधे । चारित्रयोगनिर्वाण शांतिभक्तिप्रदक्षिणा ।।८९८।।

अर्थ—तीर्थंकरों के निर्वाण क्षेत्रमें जाकर सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा प्रदक्षिणा भी देनी चाहिये । (प्रदक्षिणा योगभक्ति से दी जाती है) ।।८९८।।

भगवान् के ज्ञान कल्याण के समय कौनसी भक्ति पढ़ें ?

ज्ञानोत्पत्तौ महासिद्धश्रुतचारित्रभक्तय: । शांतिभक्तिस्तथायोग भक्त्या कार्या प्रदक्षिणा ।।८९९।।

अर्थ—भगवानके ज्ञान कल्याणकके समय महा सिद्धिभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये तथा योगभक्ति पढ़ कर प्रदक्षिणा देनी चाहिये । ।।८९९।।

भगवान् वर्धमान स्वामी के निर्वाण कल्याण के दिन कौनसी भक्ति पढ़ें ?

श्रीवर्द्धमाननिर्वाणदिने कार्या क्रियाविधौ । सिद्धनिर्वाण सत्पंचगुरुशांत्याख्य भक्तय: ।।९००।।

अर्थ—भगवान वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण के दिन कृतिकर्म की विधि करते समय सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ।।९००।।

सामान्य ऋषि के मरण हो जानेपर कौनसी भक्ति पढ़ें ?

सामान्यर्षौ मृतंगस्य निषद्यास्थानकस्य वा । विधेया: सिद्धयोगश्रीशांतिभक्तय एवं हि ।।९०१।।

अर्थ—किसी सामान्य ऋषि के मरण हो जाने पर उनके शरीर के लिये तथा उनके निषद्या स्थान के लिये सिद्धभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी

चाहिये ॥९०१॥

सिद्धांत के जानकार ऋषि के मरण हो जानेपर कौनसी भक्ति करें ?

सिद्धांतवेदिसाधूनां कर्तव्या मरणे बुधैः । श्रीसिद्धश्रुतयोगश्रीशांतिभक्तिसमाह्वयः ॥९०२॥

अर्थ—सिद्धांतके जानकार साधुओं के मरण होनेपर बुद्धिमानों को सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९०२॥

उत्तरगुण के धारण समाधि मरण पर कौनसी भक्ति की जाय—

उत्तराख्यमहायोगधारिणां योगिनांमृतौ । सिद्धचारित्र सद्योगश्रीशांतिभक्तयोऽमलाः ॥९०३॥

अर्थ—उत्तरगुण धारण करनेवाले महायोगी मुनियों के मरण होनेपर सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और निर्मल शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९०३॥

महामुनि के मरण पर कौनसी भक्ति करें—

तथोत्तरमहायोगधारिसिद्धांतवेदिनाम् । श्रीसिद्धश्रुतचारित्रयोगश्रीशांतिभक्तयः ॥९०४॥

अर्थ—यदि उत्तरगुणों को धारण करनेवाले महामुनि सिद्धांतके जानकार हों और उनका मरण हो जाय तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९०४॥

आचार्य के मरण पर कौनसी भक्ति करें—

आचार्येऽत्र मृतेंगस्य निषद्यायाः किलाथवा । दातव्याःसिद्धयोगाचार्यश्रीशांतिभक्तयः ॥९०५॥

अर्थ—आचार्य के मरण होनेपर उनके शरीर के लिये और निषद्या के लिये सिद्धभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९०५॥

सिद्धांत के जानकार आचार्य के मरण पर कौनसी भक्ति पढ़ें ?

सिद्धांत वेदिसूरीणां विधेयाः शिष्यकैर्मुदा । श्रीसिद्धश्रुतयोगाश्चाचार्यश्रीशांतिभक्तयः ॥९०६॥

अर्थ—यदि सिद्धांतके जानकार आचार्य का मरण हो जाय तो उनके शरीर और निषद्या के लिये शिष्यों को सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९०६॥

उत्तरगुणों के पालन करनेवाले आचार्य के मरण पर कौनसी भक्ति पढ़ें ?

उत्तराभिधसद्योगिनांसूरीणां मृतेसति । सिद्धचारित्रसद्योगाचार्यश्रीशांतिभक्तयः ॥९०७॥

अर्थ—इसीप्रकार उत्तरगुणों को धारण करनेवाले आचार्यों के मरण होनेपर

सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये। ॥६०७॥

यदि आचार्य सिद्धांत पाठी हों और उत्तर गुणों के पालन कर्त्ता हों तो उनके मरण होनेपर कौनसी भक्ति पढ़ें—

सिद्धांतोत्तर सद्योगादयसूरेः सिद्धपूर्विकाः । श्रुतचारित्रसद्योगाचार्यश्रीशांतिभक्तयः ॥६०८॥

अर्थ—यदि आचार्य सिद्धांतवेत्ता भी हों और उत्तरगुणों को धारण करनेवाले भी हों और उनका मरण हो जाय तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६०८॥

आठों प्रकार के निषद्या स्थानों की भक्ति करें—

इमाष्टौ च क्रियाःकार्याः शिष्यैर्वापरसंयतैः । शरीरस्य निषद्यास्थानस्य वा शुभकारणाः ॥६०९॥

अर्थ— ये आठ क्रियायें (आठ प्रकार के साधुओं के मरण होनेपर पढ़ी जाने वाली भक्तियों का पढ़ना) उनके शिष्यों को भी करनी चाहिये तथा अन्य मुनियों को भी करनी चाहिये। तथा ये शुभ क्रियाएँ उनके शरीरकी भी करनी चाहिये और उनके निषद्या[1] स्थान की भी करनी चाहिये ॥६०९॥

श्रुतभक्ति पर्व पर भक्ति विधान—

प्रथमं श्रुतपंचम्यांभक्तिसिद्धश्रुताह्वये । श्रीश्रुताचार्यभक्तिः च कृत्यास्वाध्यायऊर्जितः ॥६१०॥
ग्राह्यस्तत्त्वार्थसूत्राणि पठित्वानुबुधैश्च तम् । निष्ठाप्य श्रुतभक्त्यन्ते शांतिभक्तिर्विधीयते ॥

अर्थ—श्रुत पंचमीके दिन पहले तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये। फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर उत्तम स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिये फिर तत्त्वार्थसूत्र को पढ़कर बुद्धिमानों को श्रुतभक्ति पढ़कर उस स्वाध्याय को पूर्ण करना चाहिये और फिर शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६१०-६११॥

समाधिमरण के प्रारम्भ पर क्या क्रिया—

सन्यासारंभकाले भक्ति सिद्धश्रुतसंज्ञिके । कृत्वा गृहीतसंन्याससंवेगांकितमानसः ॥६१२॥
श्रुताचार्याभिधे भक्ति दत्वास्वाध्यायमद्भुतम् । गृहीत्वा श्रुतभक्त्यन्ते युक्त्या निष्ठापयेन्मुदा ॥

अर्थ—समाधिमरणके प्रारंभ कालमें सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये

---

[1] —समाधिस्थान।

फिर मनमें परम वैराग्य धारण करते हुए सन्यास ग्रहण करना चाहिये । फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर उत्तम स्वाध्याय को ग्रहण करना चाहिये और अंतमें श्रुतभक्ति पढ़कर उस स्वाध्याय को समाप्त करना चाहिये ॥६१२-६१३॥

सन्यास धारण करने पर क्या करें—

स्वाध्यायग्रहणे ज्ञेयाः संन्यासस्थ महामुनेः । महाश्रुतमहाचार्यमहाश्रुताख्य भक्तयः ॥६१४॥

अर्थ—सन्यास धारण करनेवाले महामुनि को स्वाध्याय ग्रहण करते समय महा श्रुतभक्ति, महा आचार्यभक्ति और महाश्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६१४॥

प्रतिदिन तीनों कालों में प्रतिक्रमणादि भक्ति—

सत्प्रतिक्रमणे कार्या त्रिकालगोचरेन्वहम् । सिद्धभक्तिस्ततो भक्तिः प्रतिक्रमणसंज्ञका ॥६१५॥
निष्ठितकरणाद्यंत वीरभक्तिश्चसंयतैः । चतुर्विशतितीर्थंकरभक्तिर्मलहानये ॥६१६॥

अर्थ—प्रतिदिन तीनों कालों में होनेवाले प्रतिक्रमणमें सिद्धभक्ति प्रतिक्रमण के अंतमें वीरभक्ति और दोष दूर करने के लिये चतुर्विशति तीर्थंकर भक्ति करनी चाहिये ॥६१५-६१६॥

चारित्र को शुद्ध करनेवाली भक्तियों का पाठ करें—

पाक्षिकाख्ये च चातुर्मासिकसंज्ञेऽधघातके । सत्प्रतिक्रमणेसारे सांवत्सरिकनामनि ॥६१७॥
आदौ श्रीसिद्धचारित्रप्रतिक्रमण भक्तयः । श्रीनिष्ठितकरणादि वीरभक्तिसमाह्वयः ॥६१८॥
चतुर्विशतितीर्थंकरभक्तिः शुभदायिनी । चारित्रालोचनाचार्यभक्तिश्चारित्रशुद्धिदा ॥६१९॥
वृहदालोचनाचार्यभक्तिर्मलविनाशिनी । क्षुल्लकालोचनाचार्यभक्तिः शुद्धिकरांतिमा ॥६२०॥

अर्थ—पापों को नाश करनेवाले पाक्षिक प्रतिक्रमणमें चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में और सारभूत वार्षिक प्रतिक्रमण में पहले सिद्धभक्ति और चारित्रभक्ति करनी चाहिये फिर प्रतिक्रमण भक्ति पढ़नी चाहिये प्रतिक्रमण समाप्त होने पर वीरभक्ति और शुभ देनेवाली चतुर्विशति तीर्थंकर भक्ति पढ़नी चाहिये फिर चारित्रको शुद्ध करनेवाली चारित्रालोचना आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये । तदनंतर दोष दूर करनेवाली वृहत् आलोचना और आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये अंत में शुद्धि करनेवाली लघु आलोचना और लघु आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये ॥६१७-६२०॥

आचार्य भक्ति दोष हरण करनेवाली है—

चारित्रालोचनाचार्य भक्तिर्भक्तिविधायिनी । वृहदालोचनाचार्यं भक्तिर्दोषापहारिणी ॥६२१॥

अर्थ—इन भक्तियों में से चारित्रालोचना और आचार्यभक्ति भक्ति उत्पन्न करनेवाली हैं तथा वृहत् आलोचना और आचार्यभक्ति दोषों को दूर करनेवाली हैं। ॥९२१॥

अन्य प्रतिक्रमणों में भक्ति का विधान—

एतद्भक्तिद्वयमुक्त्वा शेषाः षड्भक्त्योपराः । प्रतिक्रमणशेषेषुकर्तव्या दोषहानये ॥९२२॥

अर्थ— पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण को छोड़कर बाकी के जितने प्रतिक्रमण हैं उन सब में दोष दूर करने के लिए चारित्रालोचना और आचार्यभक्ति को छोड़कर बाकी की छहों भक्ति पढ़नी चाहिए ॥९२२॥

दीक्षा ग्रहण करते समय तथा केशलोच करते समय कौनसी भक्ति करें—

सद्दीक्षाग्रहणे लोचे सिद्धयोगसमाह्वये । भक्ति लोचावसाने च सिद्धभक्तिर्विरागदा ॥९२३॥

अर्थ—दीक्षा ग्रहण करते समय और केशलोंच करते समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़नी चाहिए तथा केशलोंच करने के अनंतर वैराग्य उत्पन्न करनेवाली सिद्धभक्ति पढ़नी चाहिए ॥९२३॥

पारणा के दिन आचार्य भक्ति पढ़नी चाहिये—

श्री सिद्धयोग भक्तीकृत्वाप्रत्याख्यानसूर्जितम् । गृहीत्वाचार्यभक्तिश्चकर्तव्या पारणाहनि ॥९२४॥

अर्थ—सिद्धभक्ति और योगभक्ति पढ़कर उत्तम प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए और पारणा के दिन आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिए ॥९२४॥

प्रत्याख्यान का त्याग—

सिद्धभक्ति विधायोच्चैः प्रत्याख्यानं विमोचयेत् । मध्याह्ने संयमीदातृगेहेंगस्थितये चिदे ॥९२५॥

अर्थ—फिर संयमियों को आत्म कल्याणार्थ शरीर की स्थिति के लिए दाता के घर मध्याह्न के समय सिद्धभक्ति पढ़कर प्रत्याख्यानका त्याग करना चाहिए। ॥९२५॥

स्वाध्याय के आदि में तथा अंतमें किस भक्ति का पाठ करें—

श्रीश्रुताचार्य भक्तिविधाय स्वाध्याय ऊर्जित। । ग्राह्यो निष्ठापने तस्यश्रुतभक्तिर्भवेत्सताम् ॥

अर्थ—सज्जन पुरुषोंको श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर श्रेष्ठ स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और समाप्त करते समय श्रुतभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९२६॥

मध्याह्न की क्रियाओं में भक्ति विधान—

कार्यामंगलमध्याह्नक्रियायांमुनिसत्तमैः । सिद्धश्रीचैत्य सत्पंचगुरुश्रीशांतिभक्तयः ॥९२७॥

अर्थ—मध्याह्नकी मांगलिक क्रियाओं में मुनियों को सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९२७॥

मांगलिक शुभ कार्य में भक्ति विधान—

प्रत्याख्याने शुभेमंगलगोचरसमाह्वये । महासिद्धमहायोगभक्तीकृत्वा चतुर्विधम् ॥९२८॥
प्रत्याख्यानं गृहीत्वैकोपवासादिकगोचरम् । आचार्य शांतिभक्ती चान्तेस्य कुर्वंतु योगिनः ॥९२९॥

अर्थ—किसी मांगलिक शुभ प्रत्याख्यान में महा सिद्धभक्ति और महा योगभक्ति पढ़कर एक वा दो वा अधिक उपवास के लिये चारों प्रकार के आहारका त्याग कर प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये और अन्तमें उन मुनियों को आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९२८-९२९॥

रात्रि के समय योग धारण की विधि—

ग्रहणे रात्रियोगस्य मोचने सुयोगिनः । योगभक्ति प्रकुर्वंतु पापास्रवनिरोधिनीम् ॥९३०॥

अर्थ—रात्रि योग धारण करते समय और उसका त्याग करते समय मुनियों को पापास्रव को रोकनेवाली योगभक्ति पढ़नी चाहिये ॥९३०॥

वर्षायोग धारण व निष्ठापन में कौनसी भक्ति करें—

योगस्य ग्रहणे वर्षाकाले निष्ठापने तथा । श्रीसिद्धयोगभक्ति दत्त्वा ग्राह्यो योगऊर्जितः ॥९३१॥
चतुर्दिक्षु चतस्रोनुचैत्य भक्तयः एवहि । ततो भक्तिद्वयं पंचगुरुशान्त्याह्वयं परम् ॥८३२॥

अर्थ—वर्षाकाल में योग धारण करते समय तथा अंतमें उसका त्याग करते समय सिद्धभक्ति, योगभक्ति पढ़कर योग धारण करना चाहिये वर्षायोग धारण की प्रदक्षिणामें चारों दिशाओं में एक-एक चैत्यभक्ति पढ़नी चाहिये और फिर पंचगुरुभक्ति तथा शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये इसी प्रकार वर्षायोग धारण करना चाहिये और इसी प्रकार उसका विसर्जन करना चाहिये ॥९३१-९३२॥

सिद्धांत-वाचना के समय भक्ति—

सिद्धांतवाचनायां ग्रहणे सिद्धश्रुताभिधे । भक्ति कृत्वा पुनर्दत्वा श्रुताचार्याह्वयेपरे ॥९३३॥
स्वाध्यायं किल गृह्णातु तस्य निष्ठोपने यमी । श्रुतश्रीशांति भक्ति च करोतु बहुभक्तये ॥९३४॥

अर्थ—सिद्धांत वाचनाके ग्रहण करते समय सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पढ़नी

चाहिये, फिर श्रुतिभक्ति, आचार्यभक्ति पढ़कर स्वाध्यायका ग्रहण करना चाहिये और उसको समाप्त करते समय मुनियों को अधिक भक्ति करने के लिये श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति पढ़नी चाहिये ।।६३३-६३४।।

सिद्धांत ग्रन्थों के अधिकार समाप्ति पर विधान—

सिद्धांतार्थाधिकाराणां समाप्तौ मानहेतवे । एकैकं सत्तनूत्सर्गं मुदा कुर्वन्तु संयताः ।।६३५।।

अर्थ—सिद्धांत ग्रंथोंके अधिकार समाप्त होनेपर उनका सन्मान करने के लिये मुनियों को प्रसन्नचित्त होकर एक-एक कायोत्सर्ग करना चाहिये ।।६३५।।

सिद्धांतों ग्रन्थों के अर्थाधिकार समाप्ति करनेपर विधान—

तेषमर्थाधिकाराणां बहुमान्यत्वतश्चिदे । आदौ सिद्धश्रुताचार्यभक्तिः कृत्वाविदाम्वरैः ।।६३६।।

अर्थ—सिद्धांत ग्रंथों के अर्थाधिकारों के प्रारम्भमें अधिक मान देने के लिये सबसे पहले सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति बुद्धिमानों को कर लेनी चाहिये ।।६३६।।

ज्ञानको वृद्धि करनेवाले ६ कायोत्सर्ग—

समाप्तावप्यनेनक्रमणे प्रवर्तते सति । भवन्ति ज्ञानकर्तारः कायोत्सर्गाः षडेव हि ।।६३७।।

अर्थ—इसीप्रकार सिद्धांत ग्रंथोंके अर्थाधिकार समाप्त होनेपर ये ही भक्तियां पढ़नी चाहिये तथा ज्ञानकी वृद्धि करनेवाले छह कायोत्सर्ग करने चाहिये ।।६३७।।

ऐसा शिष्य गुरुकी पदवी के योग्य होता है—

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो महाप्राज्ञो महातपाः । चिरप्रव्रजितो वाग्मी सिद्धांताम्बुधिपारगः ।।६३८।।
दान्तोदियोति निर्लोभोधीरः स्वान्यमतादिवित् । गंभीरस्तत्त्वविद्दक्षो ह्यजह्योमृदुमानसः ।।
धर्मप्रभावना शीलः इत्यादिगुणसागरः । आचार्यपदवीयोग्यः शिष्योगुरोरनुज्ञया ।.६४०।।

अर्थ—जो शिष्य ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न है, महा बुद्धिमान है, महा तपस्वी हैं, चिरकाल का दीक्षित है श्रेष्ठ वक्ता है, सिद्धांत महासागर का पारगामी है, इन्द्रियों को वश करनेवाला है, अत्यन्त निर्लोभ है, धीर वीर है, अपने और दूसरों के मनको अच्छी तरह जानता है, जो गम्भीर है तत्त्वों का वेत्ता है चतुर है, जिसका मन कोमल है जो धर्मकी प्रभावना करने में चतुर है और जिसका मन निश्चल है इसप्रकार जो अनेक गुणों का समुद्र है, ऐसा शिष्य गुरु की आज्ञानुसार आचार्य पदवी के योग्य होता है । ।।६३८-६४०।।

आचार्य का सर्वोत्कृष्ट पद ग्रहण का विधान—

श्रीसिद्धाचार्य भक्ति विधायाचार्यपदंमहत् । गृहीत्वासंघसानिध्ये शांतिर्भक्ति करोतु च ।।९४१।।

अर्थ—ऐसे शिष्य को सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति पढ़कर आचार्य का सर्वोत्कृष्ट पद ग्रहण करना चाहिये और फिर संघ के समीप बैठकर शांतिभक्ति करनी चाहिये ।।९४१।।

ये सब क्रियायें प्रसन्नचित्त होकर करनी चाहिये—

इमा उक्ताः क्रियाः कार्याः सकलायोगिभिर्मुदा। श्रावकैश्च यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तमैः ।।

अर्थ—ये सब ऊपर लिखी हुई क्रियाएं मुनियों को प्रसन्नचित्त होकर करनी चाहिये तथा जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट श्रावकों को यथा योग्य रीति से ये क्रियाएं करनी चाहिये ।।९४२।।

आचार्य आदि श्रेष्ठ मुनियों के लिये कृतिकर्म करना चाहिये—

क्षमादिलक्षणैर्युक्तारत्नत्रयविभूषिताः । निर्ममानिरहंकारा अनालस्या जितेन्द्रियाः ।।९४३।।
दीक्षया लघवो दक्षा विरागा निर्जरार्थिनः। धर्मशीलाः सुसंवेगा विचार चतुराभुवि ।।९४४।।
इत्यादिगुणसम्पन्ना मुनयो ये शिवाप्तये। आचार्यादि वरिष्ठानां कुर्वंतु कृतिकर्म ते ।।९४५।।

अर्थ—जो मुनि उत्तम क्षमा आदि श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित हैं, रत्नत्रय से विभूषित हैं, मोह रहित हैं अहंकार रहित हैं आलस्य रहित हैं जितेन्द्रिय हैं, दीक्षा की अपेक्षा लघु वा छोटे हैं, चतुर हैं वीतराग हैं, कर्मों की निर्जरा करनेवाले हैं धर्मात्मा हैं, संसार से भयभीत हैं, और विचार करने में चतुर हैं। इसप्रकार अनेक गुणों से सुशोभित जो मुनि हैं उनको मोक्ष प्राप्त करने के लिये आचार्य आदि अपने से श्रेष्ठ मुनियों के लिये कृतिकर्म करना चाहिये ।।९४३-९४५।।

अरहंत सिद्धका सत्कृति कर्म करना चाहिए—

पंचकल्याणपूजार्हा अर्हन्तस्त्रिगन्नुताः । सिद्धाः कर्मांगमुक्ताश्च योग्याः सत्कृतिकर्मणाम् ।।

अर्थ—जो पांचों कल्याणकों की पूजाके योग्य हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे भगवान अरहंतदेव तथा समस्त कर्मोंसे रहित भगवान सिद्धपरमेष्ठी सत्कृति कर्मके योग्य हैं।

भावार्थ—मुनियोंको श्रेष्ठ मुनियोंका कृतिकर्म करना चाहिये। और अरहंत सिद्धों का सत्कृति कर्म करना चाहिये ।।९४६।।

आचार्यों का लक्षण—

पंचाचारपरा दक्षाः षट्त्रिंशद्गुणभूषिताः । विश्वोपकारचातुर्या आचार्याः सर्ववंदिताः ॥९४७॥

अर्थ—जो पांचों आचारों के पालन करने में अत्यन्त चतुर हैं, जो छत्तीस गुणों से सुशोभित हैं, जो समस्त जीवों का उपकार करने में चतुर हैं और सब मुनि जिनको नमस्कार करते हैं उनको आचार्य कहते हैं ॥९४७॥

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप—

रत्नत्रयमहाभूषा अंगपूर्वाब्धिपारगाः । उपाध्याया महान्तो ये श्रुतपाठनतत्पराः ॥९४८॥

अर्थ—जो रत्नत्रयसे अत्यंत सुशोभित हैं, जो अंग पूर्वरूपी महासागरके पारगामी हैं, और जो शास्त्रों के पठन-पाठनमें सदा तत्पर रहते हैं ऐसे महा साधुओं को उपाध्याय कहते हैं ॥९४८॥

प्रवर्त्तक तथा स्थविर का लक्षण—

प्रवर्तकाः स्वसंघानां योगक्षेमविधायिनः । मर्यादेशका ये च स्थविराश्चिरदीक्षिताः ॥९४९॥

अर्थ—जो अपने संघमें योग क्षेम करनेवाले हैं उनको प्रवर्तक कहते हैं तथा जो एक देश मर्यादाको पालन करने बतलानेवाले चिरकालके दीक्षित हैं उनको स्थविर कहते हैं ॥९४९॥

ये चारों प्रकार के मुनि जगत्वंद्य होते हैं—

चत्वारस्ते जगद्वंद्या योग्या भवन्ति भूतले । विनयस्य मुनीनां च सर्वेषां कृतिकर्मणाम् ॥९५०॥

अर्थ—ये जगतवंद्य चारों प्रकारके मुनि इस संसारमें अन्य मुनियों की विनय के और समस्त मुनियों के कृतिकर्म के योग्य होते हैं ॥९५०॥

कौन वंद्य नहीं है तथा किनके लिए कृतिकर्म अनावश्यक है—

शैथल्याचारणा मंदसंवेगा द्रव्यलिंगिनः । द्विधासंगार्त्तसंसक्ताः शठाः पंडितमानिनः ॥९५१॥
नरेन्द्रमातृपित्राद्यै दीक्षाविद्यादिदायिनः । गुरवश्चक्रियाहीनाः सर्वे पाषंडिलिंगिनः ॥९५२॥
रागिणो विरताविश्वे कुदेवा भववर्तिनः । एते सतामवंद्या यतोऽयोग्याः कृतिकर्मणाम् ॥९५३॥

अर्थ—जिनका आचरण अत्यन्त शिथिल है, जिनका संवेग मंद है, जो द्रव्य लिंगी हैं, बाह्याभ्यंतर परिग्रह धारण करने के कारण जो आर्तध्यानमें लीन रहते हैं, जो मूर्ख हैं, अपने को पण्डित मानते हैं, जो राजा वा माता-पिताके कहने से दीक्षा वा

विद्या देते हैं, जो गुरु क्रियाहीन हैं, जो जो पाखंडी हैं, रागी हैं, व्रतहीन हैं, जो जो संसार में परिभ्रमण करनेवाले कुदेव हैं वे सब सज्जनों को वंदना करने के अयोग्य हैं तथा कृतिकर्म करने के अयोग्य हैं। उन्हें न वंदना करनी चाहिये और न उनके लिये कृतिकर्म करना चाहिये ।।९५१-९५३।।

पार्श्वस्थ के भेद तथा उनकी अवंद्यता—

पार्श्वस्थाश्च कुशीला हि संसक्ता वेषधारिणः। तथापगतसंज्ञाश्च मृगचारित्रनामकाः ।।९५४।।
एते पंचैवपार्श्वस्था न वंद्याः संयतैः क्वचित्। अमीषां लक्षणं किंचन्निंद्याचारं ब्रुवेऽत्र च ।।९५५।।

अर्थ—जो मुनि पार्श्वस्थ हैं, कुशील हैं, वेषधारी संसक्त हैं, अपगत संज्ञक हैं और मृगचारित्री हैं वे सब पार्श्वस्थ कहलाते हैं। मुनियों को ऐसे पार्श्वस्थों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिये। आगे मैं संक्षेप से इन पार्श्वस्थों का थोड़ा सा लक्षण और निंद्य आचरण कहता हूं ।।९५४-९५५।।

पार्श्वस्थ मुनियों का लक्षण—

वसनिप्रतिबद्धा ये बहुमोहाः कुमार्गगाः। संगोपकरणादीनांकारकाः शुद्धिदूरगाः ।।९५६।।
दूरस्थाः संयतेभ्यो दुष्टाऽसंयतादि सेविनः। अजिताक्षकषायाश्च द्रव्यलिंगधरा भुवि ।।९५७।।
गुणेभ्योदृग्विदादिभ्यः पार्श्वे तिष्ठन्तियोगिनाम्।
ते पार्श्वस्था जिनैः प्रोक्ताः स्तुतिनुत्यादि वर्जिताः ।।९५८।।

अर्थ—जो सदा वसतिकामें निवास करते हैं, जो अत्यन्त मोही हैं कुमार्गगामी हैं, परिग्रह और उपकरण आदि को उत्पन्न करनेवाले हैं, जो शुद्धता से दूर रहते हैं, संयमियोंसे दूर रहते हैं, दुष्ट असंयमियों की सेवा करते हैं जो न तो इंद्रियों को जीतते हैं और न कषायों को जीतते हैं जो संसार में केवल द्रव्य लिंगको धारण करते हैं, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि गुणों के लिये मुनियों के पास रहते हैं उनको भगवान जिनेन्द्रदेव पार्श्वस्थ मुनि कहते हैं ऐसे मुनि स्तुति वा नमस्कार आदि सबसे रहित होते हैं ।।९५६-९५८।।

कुशील मुनि का स्वरूप—

शीलं च कुत्सितं येषां निंद्यमाचरणं सताम्। स्वभावो वा कुशीलास्ते क्रोधादिग्रस्तमानसाः ।।

अर्थ—जिनका शील भी कुत्सित है, जिनके आचरण भी निंद्य हैं, जिनका स्वभाव भी निंद्य है और जिनका मन क्रोधादिक से भरा हुआ है उनको कुशील कहते

हैं ॥६५६॥

इन्हीं का पुनः विवेचन—

व्रतशीलगुणंर्हीना अयशः करणे भुवि। कुशलाः साधुसंगानां कुशीला उदिताः खलाः ॥६६०॥

अर्थ—ये कुशील मुनि व्रत शील और गुणों से रहित होते हैं, साधु और संघ का अपयश करने में जो संसार भरमें कुशल होते हैं तथा जो दुष्ट होते हैं ऐसे मुनियों को कुशील कहते हैं ॥६६०॥

संसक्त मुनियों का स्वरूप—

असक्ता दुर्धियोनिंद्या असंयतगुणेषुये ये। सदाहारादिगृद्धया च वैद्यज्योतिषकारिणः ॥६६१॥
राजादिसेवनो मूर्खा मंत्रतंत्रादितत्पराः। संसक्तास्ते बुधैः प्रोक्ता धृतवेषाश्चलंपटाः ॥६६२॥

अर्थ—जो मुनि चारित्र पालन करने में असमर्थ हैं, विपरीत बुद्धिको धारण करनेवाले हैं, असंयमियों में भी निंद्य हैं, जो आहारादिक की लालसा से ही, वैद्यक वा ज्योतिष का व्यापार करते हैं, राजादिकों की जो सेवा करते हैं, जो मूर्ख हैं, मंत्र तंत्र करने में तत्पर हैं, और जो लंपटी हैं ऐसे भेष धारण करनेवाले मुनियों को बुद्धिमान लोग संसक्त मुनि कहते हैं ॥६६१-६६२॥

अपगत संज्ञक मुनि कौन होते हैं ?

विनष्टाः प्रगताः संज्ञाः सम्यग्ज्ञानादिजाः पराः। येषां ते लिंगनोत्रापपगतसंज्ञा भवन्तिभो ॥

अर्थ—जिनकी सम्यग्ज्ञानादिक संज्ञा सब नष्ट हो गई है चली गई है ऐसे भेषधारी मुनियों को अपगत संज्ञक कहते हैं ॥६६३॥

मृगचारित्र मुनि कौन है ?

जिनवाक्यमजानाना भ्रष्टाः चारित्रवर्जिताः। सांसारिकसुखासक्ताः करणालसमानसाः ॥
मृगस्येव चारित्रं चाचरणं स्वेच्छया भुवि। येषां ते मृगचारित्रा भवेयुः पापकारिणः ॥६६५॥

अर्थ—जो भगवान जिनेन्द्रदेव के वाक्यों को समझते ही नहीं जो भ्रष्ट हैं, चारित्र से रहित हैं, संसार के विषयजन्य सुखोंमें लीन रहते हैं, जिनका मन चारित्रके पालन करने में आलसी रहता है जो इस संसारमें हिरणों के समान अपनी इच्छानुसार चारित्र वा आचरणों को पालन करते हैं उन पापियों को मृगचारित्र नामके मुनि कहते हैं ॥६६४-६६५॥

उक्त पांचों प्रकार के मुनि अवंद्य हैं—

स्वच्छंदचारिणो जैनमार्गदूषणदायिनः । त्यक्त्वाचार्योपदेशांश्चेकाकिनो धृतिर्वाजताः ॥९६६॥
दर्शनज्ञान चारित्र तपेभ्यो विनयाच्छ्रुतात् । दूरीभूताश्च पार्श्वस्था एते पंचैव दुर्भगाः ॥९६७॥
छिद्रादिप्रेक्षिणोज्ञेया गुणियोगिसतां सदा । अवंद्याः सर्वथानिंद्या अयोग्या कृतिकर्मणाम् ॥९६८॥

अर्थ—ये ऊपर लिखे पांचों प्रकार के मुनि स्वच्छन्दचारी होते हैं, जैन धर्ममें दोष लगाने वाले होते हैं, आचार्योंके उपदेश को छोड़कर एकाकी रहते हैं, धैर्यसे सदा रहित होते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप विनय और श्रुतज्ञानसे सर्वथा दूर रहते हैं, भाग्यहीन होते हैं तथा गुणी मुनि और सज्जनों के दोष देखने में ही निपुण होते हैं छिद्रान्वेषी होते हैं। इसीलिये ये अवंदनीय होते हैं सर्वथा निंद्य होते हैं और कृतिकर्म के अयोग्य होते हैं ॥९६६-९६८॥

किसी भी लोभसे उक्त मुनियों की वंदना न करनी चाहिए—

एषां पूर्वोदितानां च जातु कार्या न वंदना । वित्तयाद्या न शास्त्रादिलाभाभीत्याविभिर्बुधैः ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभसे वा किसी भयसे भी ऊपर कहे हुए पार्श्वस्थ आदि मुनियोंकी वंदना कभी नहीं करनी चाहिये और न इनकी विनय करनी चाहिये ॥९६९॥

उक्त मुनियों को वंदना करने से रत्नत्रय की हानि—

अमीषांभ्रष्टवृत्तानां ये कुर्वन्ति स्वकारणात् । विनयादि नुतिस्तेषांक्व बोधिर्निश्चयः कथम् ॥

अर्थ—जो पुरुष अपने किसी भी प्रयोजन से भ्रष्ट चारित्र को धारण करने वाले इन पार्श्वस्थोंकी विनय करता है वा इनको वंदना करता है उनके रत्नत्रय और श्रद्धा वा निश्चय कभी नहीं हो सकता अर्थात् कभी रत्नत्रय नहीं हो सकता ॥९७०॥

सज्जनों की हानि—

यतः पलायते नूनं सम्यक्त्वं सद्गुणैः समम् । ढौकन्ते दोषामिथ्यात्वा नीचसंगनुतेः सताम् ॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि नीच लोगों के संसर्ग से वा उनको नमस्कार करने से सज्जनों का समस्त श्रेष्ठ गुणों के साथ सम्यग्दर्शन दूर भाग जाता है और मिथ्यात्व आदि दोष सब उन सज्जनों में आ मिलते हैं ॥९७१॥

व्रतों को जड़ मूलसे गिराने वाला है—

मत्वेति जातु कार्यो न तेषां संगोयकीर्तिकृत् । व्रतमूलहरो निंद्यः सद्भिः शास्त्रादि लोभतः ॥

अर्थ—यही समझकर सज्जन पुरुषों को किसी शास्त्र आदि के लोभसे भी इन भ्रष्ट मुनियों का संसर्ग नहीं रखना चाहिये क्योंकि इनका संसर्ग अपकीर्ति करने वाला है, व्रतों को जड़ मूलसे हरण करनेवाला है और निंदनीय है ।।६७२।।

पुष्प-माला का दृष्टांत—

पुष्पमालार्हंतो यद्वत्संपर्काद्वंद्यतां व्रजेत् । अस्पर्शतां च लोकेहि मृतकस्य न संशयः ।।६७३।।
तद्वन्महात्मनां संगात्पूज्यतां यांति संयताः । नीचात्मनामिहामुत्र निंद्यतां च पदेपदे ।।६७४।।

अर्थ—देखो जिस प्रकार भगवान अरहंतदेवके संसर्गसे पुष्पमाला भी वंदनीय गिनी जाती है और मृत पुरुष के (मुर्दा के) संसर्ग से वही पुष्पमाला अस्पृश्य छूने अयोग्य मानी जाती है उसी प्रकार संयमी लोग भी महात्माओं के संसर्ग से पूज्यताको प्राप्त होते हैं और नीचों के संसर्ग से इस लोक और परलोक में पद-पद पर निंदनीय हो जाते हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।।६७३-६७४।।

संसर्ग के कारण गुण और दोष—

यथापद्मादियोगेन सुगंधं शीतलं जलम् । भाजनानलसंपर्कात्संतप्तं जायतेतराम् ।।६७५।।
तथात्रोत्तमसंगेनोत्तमोंगी तद्गुणैः समम् । भवेन्नीचप्रसंगेन नीचश्चतद्गुणैः सह ।।६७६।।

अर्थ—देखो कमल आदि के संयोग से जल सुगंधित और शीतल हो जाता है तथा बर्तन और अग्निके संसर्गसे वही जल अत्यन्त गर्म हो जाता है। उसी प्रकार यह पुरुष भी उत्तम पुरुषों के संसर्ग से उनके उत्तम गुणों के साथ-साथ उत्तम बन जाता है और नीच पुरुषों के संसर्ग से उनके नीच गुणों के साथ-साथ नीच हो जाता है। ।।६७५-६७६।।

साहूकार भी खोटी संगति से चोर कहलाता है—

अचौरश्चौरसंसर्गाद्यथा चौरोत्र कथ्यते । साधुश्चासाधुसंसर्गादसाधुर्नान्यथा तथा ।।६७७।।

अर्थ—जिस प्रकार कोई साहूकार भी चोर के संसर्ग से चोर कहलाता है। उसी प्रकार साधु पुरुष भी असाधुओं के संसर्ग से असाधु ही कहलाता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।।६७७।।

निर्गुणी भी गुणी पुरुष की संगति से गुणवान् बन जाता है—

असाधुः प्रोच्यते साधुर्यथात्र साधुसेवया । निर्गुणोंपि तथा लोकेगुणी च गुणिसेवया ।।६७८।।

अर्थ—इस संसार में जिस प्रकार असाधु पुरुष भी साधु की सेवा करने से

साधु कहलाते हैं उसीप्रकार निर्गुणी पुरुष भी गुणी पुरुषों की सेवा करने से इस लोक में गुणी ही कहलाते हैं ।।९७८।।

किमत्र बहुनोक्तेन गुणांश्चदोषांश्च देहिनाम् । संसर्गजनितान् मन्ये सर्वान् बुद्धया न चान्यथा ।।

अर्थ—बहुत कहने से क्या थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि जीवोंके जितने गुण वा दोष हैं वे सब संसर्गजन्य ही माने जाते हैं । न तो वे गुण दोष बुद्धिसे उत्पन्न होते हैं और न किसी अन्य प्रकार से उत्पन्न होते हैं ।।९७९।।

नीच पुरुषों की संगति कभी नहीं करनी चाहिये—

विज्ञायेत्युत्तमानां च संगमुक्त्वा गुणार्थिभिः । क्वचित्संगो न कर्तव्यो नीचानां कार्यकोटिषु ।।

अर्थ—यही समझकर गुण चाहनेवाले पुरुषोंको करोड़ों कार्य होनेपर भी उत्तम पुरुषोंके संसर्गको छोड़कर कभी भी नीच पुरुषोंका संसर्ग नहीं करना चाहिये ।।९८०।।

आदर्श मुनिराज की भक्ति करना चाहिये—

महाव्रतसमित्याद्यैः कलितान् धर्मभूषितान् । बाह्यान्तर्ग्रंथनिर्मुक्तान् युक्तान् सद्गुणसम्पदा ।।
मुमुक्षून् श्रमणान्नित्यं ध्यानाध्ययनतत्परान् । वंदस्व परया भक्त्या त्वं मेधाविन् शिवाप्तये ।।

अर्थ—इसलिये हे बुद्धिमान् ! जो मुनि महाव्रत और समिति आदि से सुशोभित हैं, धर्मसे विभूषित हैं, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहों से रहित हैं, श्रेष्ठ गुणरूपी संपदा से सुशोभित हैं जो ध्यान और अध्ययन करने में सदा तत्पर रहते हैं और मोक्ष की इच्छा करनेवाले हैं ऐसे मुनियों की मोक्ष प्राप्त करने के लिये परम भक्ति पूर्वक वंदना कर ।।९८१-९८२।।

आत्मध्यान में लीन मुनि ही संसार में वंदनीय हैं—

सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रतपोविनय भूषणैः । भूषिता निर्ममानित्यंसर्वत्रांगादिवस्तुषु ।।९८३।।
सतां गुणधराणां च ये दक्षागुणवादिनः । आत्मध्यानरतास्तेत्र वंदनीया न चापरे ।।९८४।।

अर्थ—जो मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तपविनय आदि आभूषणों से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर आदि पदार्थों में भी मोह रहित हैं, जो गुणों को धारण करनेवाले सज्जनों के गुण वर्णन करने में निपुण हैं और जो आत्मध्यानमें लीन हैं ऐसे मुनि ही इस संसार में वंदनीय हैं अन्य नहीं ।।९८३-९८४।।

ध्यान अध्ययन से रहित मुनि को नमस्कारादि नहीं करना चाहिए—

केनचिद्धेतुना व्याकुलचित्ता मुनयोप्यहो । प्रमत्ता निद्रिताः सुप्ता विकथादिरताशयाः ।।९८५।।

आहारं यदि कुर्वाणा नीहारं वा परान्मुखा। नार्हा सतां नमस्कारे ध्यानाध्ययनवर्जिताः ।।

अर्थ—जिन मुनियों का चित्त किसी भी कारणसे व्याकुल हैं, जो प्रमादी हैं, निद्रित हैं, सोए हुए हैं, विकथा आदि करने में लीन हैं, जो आहार वा नीहार कर रहे हैं अथवा जो परान्मुख हैं और जो ध्यान अध्ययनसे रहित हैं ऐसे मुनि सज्जन पुरुषों को कभी नमस्कार करने योग्य नहीं होते ।।९८५-९८६।।

मैं आपको वंदना करना चाहता हूं (आसन शुद्ध) इसप्रकार सूचित करना चाहिए—

पर्यंकाद्यासनस्था ये शुभध्यानपरायणाः । गुर वः शांतरूपाः शुद्धाचार्यादयोखिलाः ।।९८७।।
तेभ्यः स्वस्यान्तरे स्थित्वा हस्तमात्रेमुमुक्षवः । प्रतिलेख्य धरापादगुह्यादींश्च प्रवंदनाम् ।।९८८।।

अर्थ—जो मुनि पर्यंकासन वा अन्य किसी आसन से विराजमान हैं जो गुरु शुभध्यान में तत्पर हैं और अत्यन्त शांत हैं ऐसे शुद्ध आचार्य उपाध्याय वा साधु हैं उनसे एक हाथ दूर बैठकर तथा पृथ्वी, पाद, गुह्य, इंद्रिय आदि का प्रतिलेखन कर (पीछीसे शुद्ध कर) "मैं आपके लिये वंदना करना चाहता हूं" इसप्रकार उनको सूचित कर मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियोंको उनकी वंदना करनी चाहिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये उनका कृतिकर्म करना चाहिये ।।९८७-९८८।।

कल्याण करनेवाली वंदना करनी चाहिए—

भवद्भ्यः कर्तु मिच्छाम इति विज्ञाय संयताः । कुर्वंतु वंदनां तेषां कृतिकर्माणिमुक्तये ।।९८९।।
मायागर्वादिदूरस्थैः शुद्धभावैरनुद्धतैः । जनयद्भिः सुसंवेगं कृतिकर्मविधायिनाम् ।।
आचार्याद्यै र्जगद्वंद्यै स्तैयोग्यमधुरोक्तिभिः । वंदनाभ्युपगंतव्या स्वान्ययो शुभकारिणी ।।९९०।।

अर्थ—जो आचार्यादिक माया अहंकार आदि से रहित हैं, शुद्ध भावों को धारण करनेवाले हैं, उद्धततासे रहित हैं, संवेगको उत्पन्न करनेवाले हैं और जगतवंद्य हैं ऐसे आचार्य उपाध्याय और श्रेष्ठ साधुओं को योग्य और मधुर वचन कहकर कृतिकर्म करने वालों की वह अपना और दूसरों का कल्याण करनेवाली वंदना स्वीकार करनी चाहिये ।।९८९-९९०।।

मुनियों को गुरु वंदना कब आवश्यक है—

प्रश्ने चालोचना काले स्वापराधे सुसंयतैः । गुरूणां वंदना कार्यास्वाध्यायावश्यकादिषु ।।९९१।।

अर्थ—किसी प्रश्नके पूछने पर, आलोचना करते समय, अपना कोई अपराध हो जानेपर और स्वाध्याय आदि आवश्यक कार्यों के करते समय मुनियों को अपने गुरु की वंदना करनी चाहिये ।।९९१।।

शिरोनति के पूर्व कर्म आवश्यक—

एकैकस्मिन् तनूत्सर्गे मूर्ध्नाद्वेवनती पृथक् । आवर्ता द्वादश स्युश्चानुःशिरोनतयो थवा ।।९९२।।

अर्थ—प्रत्येक कायोत्सर्ग में आदि अंत में दो नमस्कार, बारह आवर्त और चारों दिशाओं में चार प्रणाम वा शिरोनति करनी चाहिये ।।९९२।।

१२ आवर्त्तों का क्रम तथा चारों दिशाओं में शुभ प्रणाम—

चतुर्दिक्षु च चत्वारःप्रणामा भ्रमणेशुभाः । एकैकस्मिन् बुधर्ज्ञेया आवर्ता द्वादशैवहि ।।९९३।।

अर्थ—विद्वानों को एक एक प्रदक्षिणा में चारों दिशाओं में चार शुभ प्रणाम करने चाहिये और बारह आवर्त करना चाहिये ।।९९३।।

शुभ भावनाओं को करनेवाला कृतिकर्म करें—

इत्थंचसकलंसारं कृतिकर्मशुभावहम् । मनोवाक्कायसंशुद्धं ग्रंथार्थोभयभूषितम् ।।९९४।।
द्विविधस्थानसंयुक्तं मदातीतं सुयोगिनः । दोषातिगं यथाजातं कुर्वंतुविनयादिभिः ।।९९५।।

अर्थ—इसप्रकार समस्त दोषोंसे रहित, शुभ भावनाओं को धारण करनेवाला, सारभूत यह कृतिकर्म मुनियों को मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक, शब्द अर्थ और शब्दार्थ से विभूषित होकर, तथा मद रहित होकर और दोनों प्रकार के स्थानों से सुशोभित होकर विनयादिक के साथ यथार्थ रीतिसे करना चाहिये ।।९९४-९९५।।

वंदना के ३२ दोष—

दोषश्चानादृतः स्तब्धः प्रविष्ठः परिपीडितः । दोलायताख्यदोषोकुशितः कच्छपरिगितः ।।९९६।।
मत्स्योद्वर्त्तो मनोदुष्टोवेदिकावधएवहि । भयाभिधोविभ्यदेष ऋद्धिगौरवगौरवौ ।।९९७।।
स्तेनितः प्रतिनीताख्यः प्रदुष्टस्तर्जिताभिधः । शब्दोहीलिनदोषस्त्रिवलितः कुंचिताह्वायः ।।
दृष्टोदृष्टाभिधः संघकरमोचनसंज्ञकः । आलब्धाख्योप्पनालब्धो हीन उत्तरचूलिकः ।।९९९।।
मूकाख्यो दर्दुरोदोष तथा च लुलुताख्यकः वंदनाया इमे दोषास्तयाज्याद्वात्रिंशदेवहि ।।१०००।।

अर्थ—इस वंदना के बत्तीस दोष हैं और वे ये हैं—अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगत, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकावद्ध, भय, विभ्दोष, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, दुष्टदोष, तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकर, मोचन, लब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तर, चूलिक, मूक, दर्दुर और चुलुलित । वंदना के ये बत्तीस दोष हैं, वंदना करते समय इन सबका त्याग कर देना चाहिये ।।९९६-१०००।।

अनाहृत नामका दोष—

आदरेणविना यच्च शैथिल्येनप्रमादिभिः क्रियतेत्रक्रियाकर्म दोषः सोनादृताह्वयः ।।१००१।।

अर्थ—आदरके बिना शिथिलता पूर्वक प्रमोद के साथ क्रियाकर्म करना अनादृत नामका दोष है ।।१००१।।

स्तब्ध दोष—

श्रुतविद्यादिगर्वेण प्रोद्धताशयसंयतैः । विधीयते क्रियाकर्म यस्तब्धदोष एव सः ।।१००२।।

अर्थ—श्रुतज्ञान वा विद्या आदि के अहंकारसे उद्धत हुए मुनियों के द्वारा जो क्रियाकर्म किया जाता है उसको स्तब्ध दोष कहते हैं ।।१००२।।

प्रविष्ट दोष—

अत्यासन्नोत्रभूत्वायः पंचानां परमेष्ठिनाम् । क्रियाकर्म विधत्तेसः प्रविष्टदोषमाप्नुयात् ।।१००३।।

अर्थ—जो पांचों परमेष्ठियों के अत्यन्त निकट होकर क्रियाकर्म वा वंदना करता है उसके प्रविष्ट नामका दोष प्राप्त होता है ।।३।।

परिपीड़ित दोष—

करजानुप्रदेशैर्यं संस्पृश्य परिपीड्यवा । करोति वंदनां तस्य दोषास्या त्परिपीड़ितः ।।४।।

अर्थ—जो अपने हाथसे जंघा को स्पर्श करता हुआ वा जंघाको दबाता हुआ वंदना करता है उसको परिपीड़ित नामका दोष लगता है ।।४।।

दोलायित दोष—

यः कृत्वा चलमात्मानं दोलामिवात्रवंदनाम् । संशयित्वाथवा कुर्यात्सदोलायितदोषभाक् ।।५।।

अर्थ—जो मुनि झूलाके समान आत्माको चलायमान करता हुआ अथवा संशय में पड़कर वंदना करता है उसको दोलायित नामका दोष लगता है ।।५।।

अंकुशित नामक दोष—

कृत्वांकुशमिवात्मीये ललाटेंगुष्टमेवयः । भजते वंदनां तस्य दोषोंकुशित नामकः ।।६।।

अर्थ—जो मुनि अंकुश के समान अपने ललाट पर अंगूठे को रखकर वंदना करता है उसको अंकुशित नामका दोष प्रगट होता है ।।६।।

कच्छपरिंगत नामक दोष—

विधाय कच्छपस्येव कटीभागेनचेष्ठितम् । कुरुते वंदनां य सः भजेत्कच्छपरिंगितम् ।।७।।

अर्थ—जो अपनी कमर से कच्छप के समान चेष्टा करता हुआ वंदना करता है उसके कच्छपरिंगत नामका दोष लगता है ।।७।।

मत्स्योद्वर्त्त दोष—

मत्स्यस्येव कटीभारोद्वर्तनं स विधाय या वंदना वा द्विपार्श्वेन मत्स्योद्वर्तः स उच्यते ।।८।।

अर्थ—जो मछलीके समान अपनी कमरको ऊंची निकालकर वंदना करता है अथवा जो दोनों बगलोंसे वंदना करता है उसको मत्स्योद्वर्त नामका दोष लगता है ।।८।।

मनोदुष्ट नामका दोष—

दुष्टो भूत्वा हृदाचार्यादीनां क्लेशयुतेन वा विधत्तेयः क्रियाकर्म समनोदुष्टदोषभाक् ।।९।।

अर्थ—जो मुनि आचार्यों को क्लेश पहुंचा कर वा आचार्यों के प्रति अपने मनमें कुछ दुष्टता धारण कर वंदना करता है उसको मनोदुष्ट नामका दोष लगता है ।।९।।

वेदिकावद्ध दोष—

वेदिकाकारहस्ताभ्यां वध्वा जानुद्वयंस्वयम् । वंदनाकरणं यत्सवेदिकावद्धसंज्ञक्वः ।।१०।।

अर्थ—जो वेदी के आकारके अपने दोनों हाथों से दोनों जंघाओं को बांधकर वंदना करता है उसको वेदिकावद्ध नामका दोष लगता है ।।१०।।

भय नामक दोष—

मृत्वादिभयभीतो यः भयत्रस्तोभयेन वा । करोति वंदनां तस्य भयदोषोत्रजायते ।।११।।

अर्थ—जो मृत्यु आदि के भयसे भयभीत होकर अथवा किसी भयसे त्रस्त होकर वंदना करता है उसको भय नामका दोष लगता है ।।११।।

विभ्य नामक दोष—

परमार्थातिगाज्ञस्य गुर्वादिभ्योत्रविभ्यतः । वंदनाकरणं यत्सविभ्यदोषोऽशुभप्रदः ।।१२।।

अर्थ—जो अज्ञानी मुनि परमार्थ को न जानता हुआ गुरुसे डर कर वंदना करता है उसके अशुभ उत्पन्न करनेवाला विभ्य नामका दोष लगता है ।।१२।।

ऋद्धि गौरव दोष—

चातुर्वर्णसुसंघेभ्योभक्ति कीर्त्यादिहेतवे । वंदनां यो विधते स ऋद्धिगौरवदोषवान् ।।१३।।

अर्थ—जो मुनि चारों प्रकारके संघसे भक्ति वा कीर्ति चाहने के लिये वंदना

करता है उसको ऋद्धि गौरव नामका दोष लगता है ।।१३।।

गौरव नामका दोष—

आविष्कृत्य समाहात्म्यमासनाद्यै। सुखाय वा कुर्याद्यो वंदनां तस्यदोषो गौरवसंज्ञकः ।।१४।।

अर्थ—जो मुनि किसी विशेष आसन आदि के द्वारा अपना माहात्म्य प्रगट कर वंदना करता है अथवा जो अपने किसी सुखके लिये वंदना करता है उसको गौरव नामका दोष लगता है ।।१४।।

स्तेनित नामक दोष—

चौरबुद्धयास्वगुर्वादीनां करोति यः वंदनाम् । चौरयित्वास्वमन्येषां तस्याघःस्तेनिताभिधः ।।१५।।

अर्थ—जो मुनि चोर की बुद्धि रखकर अन्य मुनियों से छिपाकर गुरु आदि की वंदना करता है उसके स्तेनित नामका दोष लगता है ।।१५।।

प्रतिनीत दोष—

प्रतिकूलोत्रयो भूत्वा देवगुर्वादियोगिनाम । वंदनां कुरुते तस्य प्रतिनीताह्वयोमलः ।।१६।।

अर्थ—जो मुनि देव शास्त्र गुरुसे प्रतिकूल होकर वंदना करता है उसके प्रतिनीत नामका दोष लगता है ।।१६।।

दुष्ट नामक दोष—

विधाय कलहाद्यन्यैः सह क्षन्तव्यमाशु यः । अकृत्वा वंदनां कुर्यात्सदुष्टदोषमाप्नुयात् ।।१७।।

अर्थ—जो मुनि किसी से कलह करके बिना उससे क्षमा कराये वंदना करता है उसके दुष्ट नामका दोष लगता है ।।१७।।

तर्जित नामक दोष—

अन्यान्यस्तर्जयन्नंगुल्या वा गुर्वादितर्जितः । श्रयते वंदनां तस्यदोषस्तर्जितसंज्ञकः ।।१८।।

अर्थ—जो मुनि दूसरों को तर्जना करता हुआ वंदना करता है अथवा गुरुके द्वारा तर्जना किया हुआ वंदना करता है उसको तर्जित नामका दोष लगता है ।।१८।।

शब्द नामक दोष—

मौनं त्यक्त्वा ब्रुवाणो यः क्रियाकर्मनिजेच्छया । करोति तस्य जायेत शब्ददोषोघ कारकः ।।१९।।

अर्थ—जो मुनि मौन को छोड़कर अपनी इच्छानुसार बोलता हुआ क्रियाकर्म (वंदना) करता है उसको पाप उत्पन्न करनेवाला शब्द नामका दोष लगता है ।।१९।।

हीलित नामक दोष—

कृत्वापरिभवं वाक्येनाचार्यादिमहात्मनाम् । क्रियाकर्म विधत्ते यः सः स्याद्धीलितदोषभाक् ।।२०।।

अर्थ—जो मुनि किसी वाक्य आदि के द्वारा आचार्य आदि महापुरुषों का तिरस्कार कर वंदना करता है उसको हीलित नामका दोष लगता है ।।२०।।

त्रिवलित दोष—

कृत्वात्रिवलितं कट्यादौ ललाटेथवात्रयः । विदधाति क्रियां तस्यदोषस्त्रिवलिताह्वयः ।।२१।।

अर्थ—जो मुनि अपनी कमर में त्रिवली डालकर अथवा ललाट पर त्रिवली डालकर वंदना करता है उसके त्रिवलित नामका दोष होता है ।।२१।।

कुंचित नामक दोष—

हस्ताभ्यां स्वशिरः स्पर्शन् जानुमध्येविधाय वा यः करोतिक्रियाकर्म तस्य दोषोत्रकुंचितः ।।२२।।

अर्थ—जो मुनि अपने हाथसे मस्तकको स्पर्श करता हुआ अथवा अपने मस्तक को जंघाओं के बीच में रखकर वंदना करता है उसको कुंचित नामका दोष लगता है ।।२२।।

दृष्ट नामक दोष—

आचार्याद्यैश्चदृष्टोयः सम्यक्करोतिवंदनाम् । नान्यथा वा दिशः पश्यन् दृष्टदोषोत्र तस्य वै ।।

अर्थ—आचार्यों वा अन्य किसी के देख लेने पर तो जो अच्छी तरह वंदना करता है और किसी के न देखने पर सब दिशाओं की ओर देखता हुआ वंदना करता है उसके दृष्ट नामका दोष लगता है ।।२३।।

अदृष्ट नामक दोष—

त्यक्त्वा दृष्टिपंथयोत्राचार्यादीनां च वंदनाम् । करोत्यप्रतिलेख्यांगभूमिं सो दृष्टिदोषभाक् ।।२४।।

अर्थ—जो आचार्यों की दृष्टि को बचाकर तथा शरीर भूमि आदि को बिना प्रतिलेखन किये वंदना करता है उसको अदृष्ट नामका दोष लगता है ।।२४।।

संघकर मोचन नामका दोष—अर्थमें (कर) ज्यादा छपा है—

संघस्य करदानार्थं वासंघभक्तिवांच्छया । क्रियते यत्क्रियाकर्म तत्संघकरमोचनम् ।।२५।।

अर्थ—जो मुनि वंदना को संघका कर समझकर क्रियाकर्म वा वंदना करता है अथवा संघसे भक्ति चाहने की इच्छा से वंदना करता है उसको संघकर मोचन नाम

का दोष लगता है ॥२५॥

लब्ध नामका दोष—

लब्धोपकरणादि य सानंदः सर्ववंदनाम् । कुरुते नान्यथा तस्य लब्धदोषः प्रजायते ॥२६॥

अर्थ—जो मुनि किसी उपकरण आदि को पाकर आनन्द के साथ पूर्ण वंदना करता है तथा उपकरण आदि को न पाने से वंदना नहीं करता उसको लब्ध नामका दोष लगता है ॥२६॥

अनालब्ध नामका दोष—

योद्योपकरणं लप्स्येहमत्रेतधियामुनिः । विधत्ते वंदनां तस्यदोषोनालब्धसंज्ञकः ॥२७॥

अर्थ—यहां पर आज मुझे कोई उपकरण अवश्य प्राप्त होगा इस प्रकार की-बुद्धि रख कर जो मुनि वंदना करता है उसके अनालब्ध नाम का दोष लगता है ॥२७॥

हीन नामक अशुभ दोष—

ग्रंथार्थकालहीनां सत्परिणामविवर्जिताम् । तनोति वंदनां तस्य हीनदोषो शुभोभवेत् ॥२८॥

अर्थ—जो मुनि शब्द अर्थ से रहित, काल से रहित और शुभ परिणामों से रहित वंदना करता है उसके हीन नामका अशुभ दोष लगता है ॥२८॥

उत्तरचूलिका दोष—

वंदनां स्तोक कालेन निर्वर्त्यंकार्यसिद्धये । वंदना चूलिकाभूतस्यालोचनात्मकस्य वै ॥२९॥
कालेनमहता कृत्वा निर्वर्तनं करोति यः । वंदनां स्याच्चतस्योत्तर चूलिकाह्वयोमलः ॥३०॥

अर्थ—जो मुनि अपने कार्य की सिद्धिके लिये वंदना को बहुत थोड़े समय में पूर्ण कर लेता है तथा वंदना की चूलिका भूत जो आलोचना है उसके करने में बहुत समय लगाता है उसको उत्तर चूलिका नामका दोष लगता है ॥२९-३०॥

मूक नामका दोष—

मूकवन्मुखमध्येयो वंदनां वितनोति वा । कुर्वन् हस्ताद्यहंकार संज्ञां स मूक दोषवान् ॥३१॥

अर्थ—जो मुनि गूंगेके समान मुखके भीतर ही भीतर वंदना करता है अथवा हाथ आदि के इशारे से अहंकार को सूचित करता हुआ वंदना करता है उसको मूक नामका दोष लगता है ॥३१॥

दर्दुर दोष—

स्वशब्देनाभिभूयान्यशब्दान् बृहद्गलेन वा । वंदनां कुरुते तस्य दोषो दर्दुर नामकः ।।३२।।

अर्थ—जो मुनि अपने ऊंचे गले की आवाज से दूसरे मुनियों के शब्दों को दबाता हुआ, तिरस्कार करता हुआ वंदना करता है उसके दर्दुर नामका दोष लगता है ।।३२।।

चुलुलित दोष—

स्थित्वैकस्मिन् प्रदेशे यः सर्वेषां वंदनांभजेत् । दोषश्चुलुलितस्तस्यपंचमादिस्वरेण वा ।।३३।।

अर्थ—जो मुनि एक ही प्रदेश में बैठकर सब मुनियों की वंदना कर लेता है अथवा जो पंचम स्वर से ऊंचे स्वर से वंदना करता है उसके चुलुलित नामका दोष लगता हैं ।।३३।।

ऐते दोषः सदा त्याज्याः कृतिकर्म मलप्रदाः । द्वात्रिंशत्सर्वयत्नेन षडावश्यकशुद्धये ।।३४।।

अर्थ— मुनियों को अपने छहों आवश्यक शुद्ध रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ इन बत्तीस दोषों का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये क्योंकि ये दोष वंदना में मल उत्पन्न करनेवाले हैं ।।३४।।

अमीषां केनचिद्दोषेण समं कृतिकर्म च । कुर्वन् सर्वंभवेन्निर्जराभागी जातुनोयतिः ।।३५।।

अर्थ—जो मुनि इन दोषों में से किसी भी दोष के साथ वंदना करता है वह पूर्ण निर्जरा का भागी कभी नहीं हो सकता ।।३५।।

उपरिलिखित दोष वंदना में मल उत्पन्न करते हैं—

मत्वेत्यमूंश्च तद्दोषान् सम्यक्त्यक्त्वासुसंयताः । कुर्वन्तु कृतिकर्माणि सर्वाणि निर्जराप्तये ।।३६।।

अर्थ—यही समझकर मुनियों को कर्म की निर्जरा करने के लिये इन समस्त दोषों का त्याग कर कृतिकर्म वा वंदना करनी चाहिये ।।३६।।

उच्च पद प्राप्त करने के लिये वंदना सदा करना चाहिये—

नृसुरजिनयतीनां विश्वसम्पत्तिखानिं वरपदजननीं वा सद्गुणाराम वृष्टिम् ।
अतुलसुखनिधिसद्वंदना धर्ममान्यां प्रभजत शिवकामाः सर्वदोच्चैःपदाप्त्यै ।।३७।।

अर्थ—यह वंदना नामका आवश्यक मनुष्यदेव और जिनेन्द्रदेव की समस्त सम्पत्तियों की खानि है, इन्द्रादिक श्रेष्ठ पदों को देनेवाली है, श्रेष्ठ गुणरूपी बगीचे के

लिये वर्षाके समान है अनुपम सुखों की निधि है और धर्मात्मा लोगों को सदा मान्य है इसलिये मोक्षकी इच्छा करने वालों को उच्च पद प्राप्त करने के लिये यह वंदना सदा करते रहना चाहिये ।।३७।।

उपसंहारात्मक मंगलाचरण—

तीर्थेशान् धर्ममूलान् त्रिभुवनपतिभिः सेव्यमानाङ्घ्रियद्मान्,
सिद्धानन्तातिगान् सद्वसुगुणकलितान् ज्ञानदेहानदेहान् ।
सूरीनाचारदक्षान् स्वपरहितकरान् पाठकान् ज्ञानऋद्धान्,
साधून्सर्वांश्चमूलोत्तरगुणजलधीन्संस्तुवेतद्गुणाप्त्यै ।।१०३८।।

इति मूलाचार प्रदीपाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचते मूलगुण व्यावर्णन पंचेन्द्रियरोध सामायिकस्तवगंदना वर्णनो नाम तृतीयोधिकारः ।

अर्थ—जो तीर्थंकर परमदेव धर्मके मूल हैं और तीनों लोकों के समस्त इन्द्र जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे तीर्थंकरों को मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं । जो अनंतसिद्ध सम्यक्त्व आदि आठों श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित हैं तथा ज्ञान ही जिनका शरीर है और स्वयं शरीर रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को भी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं । जो आचार्य पांचों आचारों को पालन करने में चतुर हैं जो उपाध्याय अपना और दूसरों का हित करने वाले हैं, जो साधु ज्ञान और ऋद्धियों से सुशोभित हैं तथा मूलगुण और उत्तरगुण के समुद्र हैं उन सबकी मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूं ।।१०३८।।

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्त्ति विरचित 'मूलाचार-प्रदीप' की भाषा टीका में, मूलगुणों के वर्णन
में पांचों इन्द्रियों का निरोध तथा सामायिक स्तुति वंदना का निरूपण करने
वाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ।

❖

चतुर्थोधिकारः

मंगलाचरण—

पूर्णावश्यककर्तारो ये पंचपरमेष्ठिनः । गुणानामब्धयस्तेषां वंदेंघ्रींस्तद्गुणाप्तये ।।१०३९।।

अर्थ—जो पांचों परमेष्ठी पूर्ण आवश्यकों के करनेवाले हैं और गुणोंके समुद्र हैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये मैं उनके चरण कमलों को नमस्कार करता हूं। ।।१०३९।।

प्रतिक्रमण का स्वरूप संक्षेप में—

अथ वक्ष्ये समासेन व्रतरत्नमलापहाम् । प्रतिक्रमण निर्युक्तिस्वान्येषां मुक्तिसिद्धये ।।१०४०।।

अर्थ—अब मैं अपने और दूसरों के मोक्ष की सिद्धि के लिये व्रतरूपी रत्नोंके दोषों को दूर करनेवाले प्रतिक्रमण के स्वरूप को संक्षेप से कहता हूं ।।१०४०।।

व्रतों के दोषों को दूर करनेवाला प्रतिक्रमण होता है—

द्रव्यक्षेत्रादिकै र्भावैः कृतापराधशोधनम् । स्वनिंदागर्हणाभ्यां यत्क्रिया तन्नमुमुक्षुभिः ।।४१।।
मनोवाक्काययोगैश्च कृतकारितमाननैः । तत्प्रतिक्रमणं प्रोक्तं व्रतदोषापहं शुभम् ।।४२।।

अर्थ—मोक्षकी इच्छा करनेवाले जो मुनि मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदनासे द्रव्य क्षेत्र वा भावोंसे उत्पन्न हुए अपराधों को शुद्ध करते हैं अथवा अपनी गर्हा निंदा के द्वारा अपराधों को शुद्ध करते हैं उसको व्रतों के दोषों को दूर करनेवाला शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं ।।४१-४२।।

प्रतिक्रमण के भी ६ भेद हैं—

नामाथ स्थापना द्रव्यं क्षेत्रंकालोनिजाश्रितः। भावोमीषड्घानिक्षेपाः स्युःप्रतिक्रमणेशुभाः ।।

अर्थ—यह प्रतिक्रमण भी द्रव्य क्षेत्र काल नाम स्थापना और अपने आश्रित रहनेवाले भावों के द्वारा छह प्रकार का माना जाता है ।।४३।।

नाम प्रतिक्रमण का स्वरूप—

शुभाशुभादि नामौघैर्जातातीचारशोधनम् । निंदाद्यैर्यत्सतां नामप्रतिक्रमणमेवतत् ।।४४।।

अर्थ—शुभ वा अशुभ नामों से उत्पन्न हुए अतीचारों को अपनी निंदा आदि

के द्वारा शुद्ध करना नाम प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४४॥

स्थापना प्रतिक्रमण का लक्षण—

मनोज्ञेतरमूर्तेर्भ्यो जातादोषाद्विवर्जनम् । योगैर्यत्स्थापनाख्यंतत्प्रतिक्रमणमूर्जितम् ॥४५॥

अर्थ—मनोज्ञ वा अमनोज्ञ मूर्तिसे उत्पन्न हुए दोषोंको मन-वचन-कायसे त्याग करना स्थापना नामका श्रेष्ठ प्रतिक्रमण है ॥४५॥

द्रव्य प्रतिक्रमण का स्वरूप—

सावद्यद्रव्यसेवाया उत्पन्नदोषवारणम् । त्रिशुद्धयायत्सतां द्रव्यप्रतिक्रमणमेवतत् ॥४६॥

अर्थ—पापरूप द्रव्योंके सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषोंको मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक निवारण करना द्रव्य प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४६॥

क्षेत्र प्रतिक्रमण का स्वरूप—

सरागक्षेत्रवासोत्थातीचारपरिहायनम् । निंदाद्यैर्यत्सदाक्षेत्रप्रतिक्रमणमेवतत् ॥४७॥

अर्थ—सरागरूप क्षेत्रोंके निवास से उत्पन्न हुए अतीचारों को निंदादिके द्वारा दूर करना उसको क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं ॥४७॥

काल प्रतिक्रमण का स्वरूप—

रजनींदिनवर्षादिकालजव्रतदोषतः । निवृतिर्या हृदाकालप्रतिक्रमणमेवतत् ॥४८॥

अर्थ—रात दिन वर्षा आदि काल जन्य व्रतोंके दोषों को हृदय से निवारण करना काल प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४८॥

भाव प्रतिक्रमण का स्वरूप—

रागदोषाश्रिताद्भावाज्जातस्यातिक्रमस्य या । विरतिः क्रियते भावप्रतिक्रमणमेवतत् ॥४९॥

अर्थ—रागद्वेष आदि के आश्रित रहनेवाले भावोंसे उत्पन्न हुए दोषों को दूर करना भाव प्रतिक्रमण कहलाता है ॥४९॥

उत्तम प्रतिक्रमण का विधान—

एतैः षड्विधनिक्षेपैः सर्वेषांस्वव्रतात्मनाम् । कृतानां कृत्स्नदोषाणां निराकरणमूर्जितम् ॥५०॥
हृदा च वपुषा वचा निंदनैर्गर्हणादिभिः क्रियते मुनिभिर्यत्तत्प्रतिक्रमणमद्भुतम् ॥५१॥

अर्थ—व्रत करनेवाले समस्त व्रतियों के इन छहों निक्षेपों के द्वारा अनेक दोष उत्पन्न होते हैं मुनि लोग जो मन-वचन-कायसे होनेवाली निंदा गर्हाके द्वारा उन समस्त

दोषों को दूर करते हैं उसको उत्तम प्रतिक्रमण कहते हैं ॥५०-५१॥

उत्तम प्रतिक्रमण के ७ भेद—

एकं दैवसिकं रात्रिकमैर्यापथसंज्ञकम् । पाक्षिकं नाम चातुर्मासिकं दोषक्षयंकरम् ॥५२॥
सांवत्सरिकमेवोत्तमार्थं संन्याससंभवम् । सप्तधेति जिनैः प्रोक्तं प्रतिक्रमणनुत्तमम् ॥५३॥

अर्थ—इस प्रतिक्रमण के सात भेद हैं—एक दैवसिक प्रतिक्रमण, दूसरा रात्रिक प्रतिक्रमण, तीसरा ईर्यापथ प्रतिक्रमण, चौथा पाक्षिक प्रतिक्रमण, पांचवां दोषों को क्षय करनेवाला चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, छठा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण और सातवां उत्तम अर्थको देने वाला सन्यास के समय होनेवाला प्रतिक्रमण। इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस उत्तम प्रतिक्रमण के सात भेद बतलाये हैं ॥५२-५३॥

(१) प्रतिक्रमण (२) शुभ प्रतिक्रमण (३) प्रतिक्रमितव्य के भेद—

प्रतिक्रामक आत्मा यः प्रतिक्रमणमेवतत् । यत्प्रतिक्रमितव्यंतत्त्रयं सर्वेंवुन्ने घुना ॥५४॥

अर्थ—इस प्रतिक्रमणके करने में आत्मा प्रतिक्रामक होता है जो किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं और जिसका प्रतिक्रमण किया जाता है उसको प्रतिक्रमितव्य कहते हैं। अब आगे इन तीनों का स्वरूप कहते हैं ॥५४॥

प्रतिक्रामक का स्वरूप—

मुमुक्षुर्यत्नचारीयः पापभीतो महाव्रती । मनोवाक्कायसंशुद्धो निंदागर्हादितत्परः ॥५५॥
द्रव्यैर्नानाविधैः क्षेत्रैः कालैर्भावैर्व्र तात्मनाम् । अतीचारागतस्याशु सन्निराकरणोद्यतः ॥५६॥
निर्मायो निरहंकारो व्रतशुद्धिसमीहकः स प्रतिक्रामको ज्ञेयः उत्तमोमुनिपुंगवः ॥५७॥

अर्थ—जो उत्तम मुनि मोक्ष की इच्छा करनेवाला है, यत्नाचार से अपनी प्रवृत्ति करता है, जो पापों से भयभीत है, महाव्रती है, जिसका मन-वचन-काय अत्यंत शुद्ध है, जो निंदा गर्हा आदि करने में तत्पर है, जो अनेक प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के द्वारा लगे हुए व्रतों के दोषों को निराकरण करने में सदा तत्पर रहता है, जो छल कपट से रहित है, अहंकार से रहित है और जो व्रतों को शुद्ध रखने की सदा इच्छा करता रहता है ऐसा मुनि प्रतिक्रमण करनेवाला प्रतिक्रामक कहलाता है। ॥५५-५७॥

शुभ प्रतिक्रमण का स्वरूप—

सर्वथा कृतदोषाणां यन्निराकरणं त्रिधा । पश्चात्तपाक्षरोच्चारैस्तत्प्रतिक्रमणं शुभम् ॥५८॥

अर्थ—पश्चात्तापके द्वारा तथा अक्षरों का उच्चारण कर जो सर्वथा किए हुए दोषोंका मन-वचन-कायसे निराकरण करना है उसको शुभ प्रतिक्रमण कहते हैं ।।५८।।

द्रव्य प्रतिक्रमितव्य का स्वरूप—

सचित्ताचित्तमिश्रं यत्त्रिधा द्रव्यमनेकधा । वा प्रतिक्रमितव्यंतत्सर्वं तद्दोषहायनैः ।।५९।।

अर्थ—सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेदसे द्रव्यके तीन भेद हैं अथवा द्रव्यके अनेक भेद हैं वे सब द्रव्य दोष दूर करते समय प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं ।।५९।।

क्षेत्र व काल प्रतिक्रम्य का स्वरूप—

सौधादिरम्यक्षेत्रं कालो दिन निशादिकः । यः प्रतिक्रमितव्यः स तज्जातीचारशोधनैः ।।६०।।

अर्थ—राजभवन आदि मनोहर क्षेत्र तथा दिन रात आदि काल भी तज्जन्य (क्षेत्र वा कालसे उत्पन्न होनेवाले) अतिचारों को शुद्ध करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिक्रमितव्य कहलाते हैं ।।६०।।

मोक्ष प्राप्ति के लिये सदाकाल प्रतिक्रमण—

काले कालेथवा नित्यं योगिभिर्व्रतशुद्धये । भो प्रतिक्रमितव्यंस्वदोष हान्य च मुक्तये ।।६१।।

अर्थ—अथवा मुनियोंको अपने दोष दूर करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा व्रतों को शुद्ध रखने के लिये प्रत्येक समय प्रतिक्रमण करते रहना चाहिये अतएव उनके लिये सदा काल प्रतिक्रमितव्य है ।।६१।।

रागद्वेष अथवा मिथ्यात्व के आश्रित भावों का भी त्याग आवश्यक है—

रागद्वेषाश्रितो भावो मिथ्यात्वासंयमादिभाक् । कषायवहुलोयः प्रतिक्रमितव्यः एव सः ।।६२।।

अर्थ—जो भाव रागद्वेष के आश्रित है अथवा मिथ्यात्व असंयम के आश्रित है अथवा जो भाव अधिक कषाय विशिष्ट है वह भी प्रतिक्रमितव्य है उसका भी प्रतिक्रमण वा त्याग करना चाहिये ।।६२।।

पांचों पाप, सब तरह का असंयम समस्त कषायादि त्याज्य हैं—

मिथ्यात्वपंचपापानां सर्वस्यासंयमस्य च । कषायाणां च सर्वेषां योगानामशुभात्मनाम् ।।६३।।
प्रयत्नेन विधातव्यंप्रतिक्रमणमंजसा । तज्जातिव्रतदोषादिनिराकरणशुद्धिभिः ।।६४।।

अर्थ—मुनियों को मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न होनेवाले दोषों को निराकरण करने और व्रतों को शुद्ध रखने के लिये मिथ्यात्व, पांचों पाप, सब तरह का असंयम,

समस्त कषाय और समस्त अशुभ योगों का प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही प्रतिक्रमण करना चाहिये ।।६३-६४।।

समस्त व्रतों की आलोचना—

सिद्धभक्त्यादिकं कृत्वा सन्मार्ज्यांगधरादिकान् । कृतांजलिपुटः शुद्धो मायायानौ विहाय च ।।
शिष्यो व्रत विशुद्धयर्थं गुरुवेज्ञानशालिने । आलोचयेत्समस्तान् व्रतातिचारान् यथोद्भवान् ।।६६।।

अर्थ—शिष्य मुनियों को पृथ्वी और अपने शरीर को पीछी से शुद्धकर तथा सिद्धभक्ति आदि पढ़कर दोनों हाथ जोड़कर मान तथा माया का त्यागकर अंतःकरणसे शुद्ध होकर अत्यंत ज्ञानवान् ऐसे अपने गुरु के सामने अपने व्रतों को अत्यंत शुद्ध करने के लिये जैसे-जैसे उत्पन्न हुए हैं उसी तरह समस्त व्रतों के अतिचारों की आलोचना करनी चाहिये ।।६५-६६।।

आलोचना के भी ७ भेद—

आद्यं दैवसिकं रात्रिकमैर्यापथनामकम् । पाक्षिकाख्यं तथा चातुर्मासिकं च मलापहम् ।।६७।
सांवत्सरिकनामोत्तमार्थं चानशनोद्भवम् । सप्तभेदमिति प्रोक्तं सतामालोचनं जिनैः ।।६८।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस आलोचना के भी सात भेद बतलाये हैं—पहली आलोचना दैवसिक, दूसरी रात्रिक, तीसरी ईर्यापथ, चौथी पाक्षिक, पांचवीं चातुर्मासिक, छठी दोषों को दूर करनेवाली सांवत्सरिक और सातवीं उत्तम अर्थ को देनेवाली औपवासिक (उपवास से उत्पन्न होनेवाली) ।।६७-६८।।

बालक के समान गुरु के समक्ष सब पापों की आलोचना—

यद्धि किंचित्कृतं कर्मकारितं चानुमोदितम् । वपुषा मनसा वाचा व्रतातिचारगोचरम् ।।६९।
प्रकटं संघलोकानां प्रच्छन्नं वा प्रमादजम् । तत्सर्वं बालवत्पापं त्रिशुद्धयालोचयेद्यतिः ।।७०।।

अर्थ—जिन कर्मों से व्रतों में दोष वा अतिचार लग जाय ऐसे कर्म जो मुनिराज मन-वचन-कायसे करते हैं वा कराते हैं वा अनुमोदना करते हैं, चाहे उन्होंने वह कार्य संघ वा लोगों के सामने किया हो चाहे छिपकर किया हो और चाहे प्रमाद से किया हो वह सब पाप उन मुनियोंको मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक बालकके समान गुरुसे कह देना चाहिये और फिर उनकी आलोचना करनी चाहिये ।।६९-७०।।

दोषों को शत्रु के समान समझकर उनका निराकरण—

यस्मिन् क्षेत्रे च कालादौ द्रव्यभावाश्रयेण यः । जातो व्रताद्यतीचारो मायां त्यक्त्वातदेवसः ।।

निहितव्यः प्रयत्नेन निंदा गर्हा शुचादिभिः । गुर्वादिसाक्षिकं दक्षैं र्व्रतघ्नोऽरिरिवोत्थितः ।।७२।।

अर्थ—जिस क्षेत्र में जिस काल में जिन द्रव्यों से और जिन भावों से व्रतोंमें अतिचार उत्पन्न हुआ है वह सब चतुर मुनियों को छलकपट छोड़कर निंदा गर्हा और शोक के साथ गुरु आदि की साक्षी पूर्वक बड़े प्रयत्न से दूर करना चाहिये तथा उस दोष को व्रतों को नाश करनेवाले शत्रुके समान समझकर उनका निराकरण करना चाहिये ।।७१-७२।।

भाव प्रतिक्रमण अंतः शुद्धिका कारण है—

मनसा निंदनं स्वस्य गर्हणं गुरुसाक्षिकम् । पश्चात्तापजशोकेनयदश्रुपतनादि च ।।७३।।
क्रियते मुक्तिमार्गस्थैः सतिव्रताद्यतिक्रमे । प्रतिक्रमणंभावाख्यं तदन्तः शुद्धिकारणम् ।।७४।।

अर्थ—मन से अपनी निंदा करना गर्हा है पश्चात्ताप से उत्पन्न हुए शोक से आंसू गिरना आदि शोक कहलाता है । मोक्षमार्ग में रहनेवाले मुनियों को व्रतों में दोष लगने पर गर्हा निंदा वा शोक के द्वारा प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये । यह भाव प्रतिक्रमण कहलाता है और अंतःकरण की शुद्धि का कारण है ।।७३-७४।।

किसके व्रतोंकी शुद्धि नहीं होती—

यः प्रतिक्रमणं सर्वं द्रव्यभूतं करोति वा । श्रृणोति सूत्रमात्रेण निंदागर्हादि दूरगः । ७५।।
परमार्थातिगस्तस्य शुद्धिर्न जायते मनाक् । व्रतानां न च दोषाणां हानि र्न निर्जराशिवम् । ७६।।

अर्थ—जो मुनि केवल द्रव्य प्रतिक्रमण तो सब तरह का कर लेता है तथा सूत्रमात्रसे उसको सुन भी लेता है परंतु निंदा, गर्हा से दूर रहता है और परमार्थसे भी दूर रहता है उसके व्रतोंकी शुद्धि किंचितमात्र भी नहीं होती है, न उसके दोष दूर होते हैं, न उसकी निर्जरा होती है और न उसको मोक्ष प्राप्त होती है ।।७५-७६।।

कौनसे मुनि प्रतिक्रमण का फल मोक्ष प्राप्त करते हैं ?

यतः संवेगवैराग्यशुद्धभावाश्रितोमुनिः । अनन्यमानसो धीमान्स्वनिंदा गर्हणादिभाक् ।।७७।।
प्रतिक्रमणसूत्रेणविधाय शुद्धिमुल्वणम् व्रतानां तत्फलेनाशुलभतेशाश्वतंपदम् ।।७८।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो बुद्धिमान मुनि संवेग वैराग्य और शुद्ध भावों को धारण करते हैं जो संवेग वैराग्य के सिवाय अन्य किसी काम में अपना मन नहीं लगाते जो अपनी निंदा गर्हा करते रहते हैं और जो प्रतिक्रमण सूत्रके अनुसार अपने व्रतोंकी उत्तम शुद्धि करते हैं वे ही मुनि उस प्रतिक्रमण के फलसे शीघ्र ही मोक्ष

पद प्राप्त करते हैं ।।७७-७८।।

निंदा, गर्हा पूर्वक शुद्ध प्रतिक्रमण आवश्यक है—

मत्वेति धीमता नित्यंनिंदागर्हादिपूर्वके सत्प्रतिक्रमणालोचने कार्ये व्रतशुद्धये ।।७६।।

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को अपने व्रत शुद्ध रखने लिये निंदा गर्हा पूर्वक श्रेष्ठ प्रतिक्रमण और आलोचना प्रतिदिन करनी चाहिये ।।७६।।

श्रेष्ठ प्रतिक्रमण का फल—

सत्प्रतिक्रमणो धर्मो महान् रत्नत्रयात्मकः । शिष्याणां मुक्ति कर्तासीन्नाभेय वीरनाथयोः ।।८०।।

अर्थ—यह श्रेष्ठ प्रतिक्रमण रूप धर्म रत्नत्रयात्मक है और महान् है तथा भगवान वृषभदेव और भगवान वीरनाथके शिष्यों को मोक्षका देनेवाला है ।।८०।।

भगवान् अजितनाथ से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक के मुनियों का प्रतिक्रमण—

तयोर्मध्यजिनेशानांशिष्याणां च प्रमादतः । क्वचिद्यस्मिनव्रते दोषो जायते तस्य शुद्धये ।।८१।।
तावन्मात्रं भवेत्स्तोकं सत्प्रतिक्रमणं शुभम् । न च सर्वं यतस्तोस्युर्निप्रमादा महाधियः ।।८२।।

अर्थ—भगवान अजितनाथ से लेकर भगवान पार्श्वनाथ तकके बाईस तीर्थंकरों के शिष्यों को किसी भी प्रमादसे जिस व्रतमें दोष लगा है उसी की शुद्धिके लिये उतना ही थोड़ा सा शुभ प्रतिक्रमण बतलाता है उनके लिये सब प्रतिक्रमण नहीं बतलाया। क्योंकि मध्यके बाईस तीर्थंकरों के शिष्य बड़े बुद्धिमान् थे और स्वभाव से ही प्रमाद रहित थे ।।८१-८२।।

प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर के कालमें होनेवाले मुनियों का प्रतिक्रमण—

आदि तीर्थंकृतः शिष्याः स्वभावादृजबुद्धयः तस्मात्तेषांमतीचाराः भवेयुर्बहवो व्रते ।।८३।।
श्रीवर्द्धमानतीर्थेशशिष्यास्तुच्छधियस्ततः । कालदोषेण तेषां स्यादतीचार व्रजो व्रते ।।८४।।

अर्थ—प्रथम तीर्थंकर भगवान वृषभदेव के शिष्य स्वभाव से ही सरल बुद्धि वाले थे इसलिये उनके व्रतोंमें भी बहुत से अतिचार लगते थे। तथा अंतिम तीर्थंकर भगवान वर्द्धमान स्वामीके शिष्य तुच्छ बुद्धि वाले होते हैं। अतएव कालदोष के कारण उनके व्रतोंमें भी बहुत से अतिचार लगते हैं ।।८३-८४।।

तीनों समय समस्त प्रतिक्रमण के दंडकों का उच्चारण—

तस्मादतिक्रमस्ते दुःस्वप्नेऽप्यगोचरादिकः । जातः स्वल्पोमहान्चात्र तस्यशुद्धयै स्वशंकिताः ।।
उच्चारयंति सर्वास्तान् प्रतिक्रमणदंडकान् । त्रिकालं नियमेनैव व्रतशुद्धिविधायिनः ।।८६।।

अर्थ—अतएव दुःस्वप्न ईर्यागमन आदि से होनेवाले जितने भी छोटे वा बड़े अतिचार हैं उनको शुद्ध करने के लिये व्रतोंको शुद्ध करनेवाले मुनि अच्छी तरह निःशंकित होकर नियम पूर्वक तीनों समय समस्त प्रतिक्रमण के दंडकों का उच्चारण करते हैं ॥८५-८६॥

कर्मों को नष्ट करने के लिये प्रतिक्रमण आवश्यक है—

विज्ञायेति व्रतादीनां शुद्धयर्थं कर्महानये । कर्तव्यं यत्ततो दक्षैः प्रतिक्रमणमंजसा ॥८७॥

अर्थ—यह समझकर चतुर पुरुषोंको अपने व्रत शुद्ध करने के लिये और कर्मों को नष्ट करने के लिये बहुत शीघ्र प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥८७॥

प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों ही कब करना चाहिये—

यतः कश्चिद्व्रतेदोषादिर्निराक्रियते बुधैः । सत्प्रतिक्रमणेनैव क्वचिदालोचनादिभिः ॥८८॥
तस्मात्तद्वितयं नित्यं विधेयं विधिपूर्वकम् । सर्वदोषापहं यत्नाद् व्रतशुद्धिविधायिभिः ॥८९॥

अर्थ—बुद्धिमान् लोग किसी दोष को तो प्रतिक्रमण से निराकरण करते हैं और किसी दोष को आलोचना आदि से निराकरण करते हैं अतएव यत्नपूर्वक व्रतोंकी शुद्धि करनेवाले मुनियों को विधि पूर्वक समस्त दोषोंको दूर करनेवाले प्रतिक्रमण और आलोचना दोनों ही सदा करने चाहिये ॥८८-८९॥

ऐसा करने से व्रतों के समूह चन्द्रमा की चांदनी के समान निर्मल हो जाते हैं—

यतः सर्वैर्गुणैः सार्द्धं समस्ता व्रतपंक्तयः । चन्द्रज्योत्स्ना इवात्यर्थंनिर्मलाःस्युश्चतद्द्वयात् ॥९०॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि प्रतिदिन प्रतिक्रमण और आलोचना करने से समस्त व्रतों के समूह समस्त गुणों के साथ साथ चन्द्रमाकी चांदनी के समान अत्यंत निर्मल हो जाते हैं ॥९०॥

प्रतिक्रमण और आलोचना करने का विशेष फल—

चित्तशुद्धिश्चजायेत तयाध्यानं शिवप्रदम् । तेनकर्मविनाशश्चतन्नाशे निर्वृतिः सताम् ॥९१॥

अर्थ—इसके सिवाय प्रतिक्रमण और आलोचना करने से चित्तकी शुद्धि होती है तथा चित्त की शुद्धि होने से मोक्ष देनेवाला ध्यान प्रगट होता है उस ध्यानसे समस्त कर्मों का नाश होता है और समस्त कर्मों के नाश होने से सज्जनों को मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥९१॥

प्रमादी और अहंकारी मुनि का प्रतिक्रमण व्यर्थ है—

प्रमादी योऽथवा गर्वीमत्वा निजं तपोमहत् । मूढधीः प्रत्यहं कुर्यान्नप्रतिक्रमणादिकम् ॥६२॥
दोषैर्मलीमसं तस्य व्यर्थंस्यात्तपोखिलम् । दीक्षा च निष्फला पापस्रावा जन्म निरर्थकम् ॥६३॥

अर्थ—जो मुनि अपने तपश्चरण को बहुत बड़ा समझकर प्रमादी तथा अहंकारी हो जाता है और इसीलिये जो मूर्ख प्रतिदिन प्रतिक्रमण आदि नहीं करता उसका समस्त तपश्चरण दोषों से मलिन रहता है और इसीलिये व्यर्थ समझा जाता है । इसी प्रकार पापों का आस्रव करनेवाली उसकी दीक्षा भी निष्फल समझी जाती है और उसका जन्म भी निरर्थक माना जाता है ॥६२-६३॥

अतः आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण आवश्यक है—

मत्वेत्यालोचनायुक्तं सत्प्रतिक्रमणं विदः । कुर्वन्तु सर्वयत्नेन नित्यं युक्त्या शिवाप्तये ॥६४॥

अर्थ—इसलिये चतुर पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्नके साथ युक्ति पूर्वक प्रतिदिन आलोचना पूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिये ॥६४॥

मुनियों को प्रतिक्रमण प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये—

सर्वेषांव्रतगुप्तियोगसमितीनां शुद्धिहेतुं परमन्तातीतगुणात्मनां च शिवदं दोषापहं निर्मलम् ।
पापघ्नं मुनयः कलंकहतकं यत्नात्कुरुध्वं सदा स्वान्तः शुद्धिकरं प्रतिक्रमण नामावश्यकं मुक्तये ॥

अर्थ—यह प्रतिक्रमण नामका आवश्यक अनंत गुणों को धारण करनेवाले समस्त व्रत गुप्ति योग और समितियों को शुद्ध करनेवाला है, सर्वोत्कृष्ट है, मोक्ष देने वाला है, दोषों को दूर करनेवाला है, अत्यंत निर्मल है, पापों को नाश करनेवाला है, कलंक को दूर करनेवाला है और अंतःकरण को शुद्ध करनेवाला है । इसीलिये मुनियों को ऐसा यह प्रतिक्रमण नामका आवश्यक प्रयत्न पूर्वक प्रतिदिन करते रहना चाहिये । ॥६५॥

शुभ प्रत्याख्यान का स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा—

प्रतिक्रमणनिर्युक्तिमिमामुक्त्वा समासतः । सत्प्रत्याख्यान निर्युक्ति प्रवक्ष्यामि ततःशुभाम् ॥६६॥

अर्थ—इसप्रकार हमने संक्षेप से प्रतिक्रमण का स्वरूप कहा अब आगे शुभ प्रत्याख्यान का स्वरूप कहते हैं ॥६६॥

प्रत्याख्यान का स्वरूप—

अयोग्यानां स्वयोग्यानां वस्तूनां तपसेथवा यन्निराकरणं यत्नात्क्रियते नियमेन च ॥६७॥

नामादि षड्विधानां वा कर्मसंवरहेतवे । आगतानामनागतनां तत्प्रत्याख्यानं मतंजिनैः ॥९८॥

अर्थ—जो पदार्थ अपने योग्य हैं अथवा अयोग्य हैं उन पदार्थोंका नियम पूर्वक तपश्चरण के लिये त्याग कर देना प्रत्याख्यान है । अथवा कर्मोंका संवर करने के लिये नामादिक छहों निक्षेपों के द्वारा आगत अथवा अनागत पदार्थोंका त्याग करना भगवान जिनेन्द्रदेव ने प्रत्याख्यान बतलाया है ॥९७-९८॥

प्रत्याख्यान के भी ६ भेद हैं—

नामानुस्थापना द्रव्यं क्षेत्रं कालोऽशुभाश्रितः । भावश्चेत्यत्र निक्षेपः प्रत्याख्यानेऽपि षड्विधः ॥

अर्थ—इस प्रत्याख्यान में भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये छह निक्षेप माने गये हैं, अर्थात् छहों निक्षेपोंसे यह प्रत्याख्यान भी छह प्रकार है ॥९९॥

नाम प्रत्याख्यान का स्वरूप—

पापरागादिहेतूनि क्रूराशुभान्यनेकशः । नामानि बुधनिंद्यानि स्वान्येषां दोषदानि च ॥११००॥
जातुचिद्यत्रनोच्यन्ते हास्याद्यैः स्वपरादिभिः । नियमेनैव तन्नामप्रत्याख्यानं स्मृतं बुधैः ॥११०१॥

अर्थ—इस संसार में अनेक नाम ऐसे हैं जो पाप और रागके कारण हैं, क्रूर हैं, अशुभ हैं, विद्वानों के द्वारा निंदनीय हैं, और अपने तथा दूसरों के लिये दोष उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसे नामों को हंसी आदि के कारण वा अपने पराये की किसी प्रेरणा से भी नियम पूर्वक उच्चारण नहीं करना विद्वानों के द्वारा नाम प्रत्याख्यान कहलाता है। ॥११००-११०१॥

उत्तम स्थापना प्रत्याख्यान का स्वरूप—

मिथ्यादेवादिमूर्तीनां खनीनां सकलैनसाम् । मिथ्यात्वहेतुभूतानां वीक्षणे नियमो त्रयः ॥११०२॥
कृताद्यैं वासरागाणां क्रूराणां गृह्यते निशम् । पापभीतैश्च तत्स्थापनाप्रत्याख्यानमद्भुतम् ॥

अर्थ— पाप के डरसे मुनि लोग समस्त पापों की खानि, मिथ्यात्व बढ़ाने का कारण, क्रूर और सरागी मिथ्या देवों की मूर्तियों के देखने का कृत कारित अनुमोदना से त्यागकर देते हैं उनके न देखने का नियम कर लेते हैं उसको उत्तम स्थापना प्रत्याख्यान कहते हैं ॥११०२-११०३॥

उत्तम द्रव्य प्रत्याख्यान का स्वरूप—

कर्मबंध करा द्रव्या शुभा वा तपसेखिलाः । स्वेन जातु न भोक्तव्या भोजितव्या न चापरैः ॥४॥
मनसा नानुमंतव्या एवं यो नियमो वरः । मुनीशै गृंह्यते द्रव्यप्रत्याख्यानं तदूर्जितम् ॥५॥

अर्थ—जो द्रव्य कर्मबंध को करनेवाले हैं अथवा शुभ हैं ऐसे पदार्थों को तपश्चरण पालन करने के लिये कभी उपभोग नहीं करना और न दूसरों से कभी उपभोग कराना और मनसे उनके उपभोग करने की अनुमोदना भी नहीं करना, इसप्रकार मुनिराज जो नियम कर लेते हैं उसको उत्तम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं ॥४-५॥

क्षेत्र प्रत्याख्यान का लक्षण—

रागबाहुल्यकर्तॄणामसंयमप्रवर्तिनाम् । सेवितानां विटस्त्र्याद्यैः सर्वदोषविधायिनाम् ॥६॥
क्षेत्राणां दुष्टमिथ्यादृग्भूतानां परिहापनम् । नियमाद्यत्सतां क्षेत्रप्रत्याख्यानं तदुच्यते ॥७॥

अर्थ—जो क्षेत्र अत्यंत राग उत्पन्न करनेवाले हैं, असंयमकी प्रवृत्ति करनेवाले हैं, जो व्यभिचारी वा कुट्टिनियों के रहने के स्थान हैं जो समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाले हैं और दुष्ट वा मिथ्यादृष्टियों से भरे हुए हैं ऐसे क्षेत्रोंका नियम पूर्वक त्यागकर देना क्षेत्र प्रत्याख्यान कहलाता है ॥६-७॥

काल प्रत्याख्यान का वर्णन—

यच्चवृष्टितुषारादि व्याप्तकालस्य वर्जनम् । असंयमादि हेतोः कालप्रत्याख्यानमेवतत् ॥८॥

अर्थ—जिस समय वृष्टि पड़ रही हो वा तुषार पड़ रहा हो ऐसे काल का असंयमादि के डर से त्यागकर देना काल प्रत्याख्यान कहलाता है ॥८॥

उत्तम भाव प्रत्याख्यान का वर्णन—

मिथ्यात्वासंयमानां प्रमादानां चाशुभात्मनाम् कषायवेदहास्यादीनां सर्वेषां जितेन्द्रियैः ॥९॥
सर्वथा शुद्धभावेन त्यजनं क्रियते बुधैः नियमाद्यश्च यद्भावप्रत्याख्यानं तदुत्तमम् ॥१०॥

अर्थ—जितेन्द्रिय बुद्धिमान पुरुष अपने पूर्ण शुद्ध भावों से नियम पूर्वक मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, अशुभ, कषाय, वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि का त्यागकर देते हैं उसको उत्तम भाव प्रत्याख्यान कहते हैं ॥९-१०॥

उक्त छहों प्रकार का प्रत्याख्यान आवश्यक—

एतैश्च षड्विधोपायैर्निक्षेपैः षड्विधंशुभैः । प्रत्याख्यानं विधातव्यं प्रत्यहं संयमाप्तये ॥११॥

अर्थ—मुनियों को अपना संयम पालन करने के लिये ऊपर लिखे शुभ छहों प्रकारके निक्षेप रूप उपायोंसे छहों प्रकारका प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिये ॥११॥

प्रत्याख्यापक तथा प्रत्याख्यातव्य का स्वरूप—

प्रत्याख्यापक आत्मात्र यः प्रत्याख्यानमेवयत् । प्रत्याख्यातव्यमन्यच्चदेतेषां विस्तरं ब्रुवे ॥१२॥

अर्थ—यहां पर प्रत्याख्यान करनेवाला आत्मा प्रत्याख्यापक कहलाता है, त्याग करना प्रत्याख्यान है और जिसका त्याग किया जाता है उसको प्रत्याख्यातव्य कहते हैं। आगे संक्षेप से इनका स्वरूप कहते हैं ।।१२।।

प्रत्याख्यान करनेवाले का स्वरूप—

श्रीगुरो जिनदेवस्याज्ञया चरणपालकः। मूलोत्तर गुणान् सर्वान्निर्मली कर्तुमुद्यतः ।।१३।।
जिनसूत्रानुचारी यो दोषागमन भीतिकृत। तयोऽर्थीजितकामाक्षः स प्रत्याख्यापकोमहान् ।।१४।।

अर्थ—जो मुनि श्री गुरुकी आज्ञासे वा भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञासे चारित्र का पालन करता है, समस्त मूलगुण और उत्तरगुणोंको निर्मल करने को जो सदा उद्यत रहता है, जो जिन शास्त्रों के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करता है, जो दोषों के आगमनसे सदा भयभीत रहता है, जो निर्मल तपश्चरण करना चाहता है, जो इन्द्रिय और काम को जीतने वाला है और जो उत्कृष्ट है उसको प्रत्याख्यापक कहते हैं ।।१३-१४।।

१० प्रकार के त्याग को प्रत्याख्यान कहते हैं—

अशनादिपरित्यागंप्रत्याख्यानमनेकधा। मूलोत्तर गुणादौ च दशधानागतादि वा ।।१५।।

अर्थ—भोजन पानका त्याग करना प्रत्याख्यान है वह अनेक प्रकार है, अथवा मूलगुण वा उत्तरगुणों में अनागत आदि जो दश प्रकार का त्याग है उसको भी प्रत्याख्यान कहते हैं ।।१५।।

उनके १० प्रकार के प्रत्याख्यान के नाम मात्र—

अनागतमतिक्रांतं कोटीसहितसंज्ञकम्। अखंडितं च साकारमनाकारसमाह्वयम् ।।१६।।
परिणामगतं नामा परिशेषाभिधानकम्। तथाध्वगतसंज्ञं च प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ।।१७।।

अर्थ—अनागत, अतिक्रांत, कोटीसहित, अखंडित, साकार, अनाकार, परिणामगत, परिशेष, अध्वगत और सहेतुक ये दश प्रकार के प्रत्याख्यान हैं ।।१६-१७।।

(१) अनागत प्रत्याख्यान का स्वरूप—(चतुर्दशी शुद्धरूप)

कर्तव्यमुपवासादि चतुर्दश्यादिके च यत्। क्रियतेत्त्रयोदश्यांभावनागतमेवतत् ।।१८।।

अर्थ—जो उपवास चतुर्दशीके दिन करता है उसका नियम त्रयोदशी के दिन ही कर लेना अनागत प्रत्याख्यान कहलाता है ।।१८।।

(२) अतिक्रांत प्रत्याख्यान का लक्षण—

विधेयमुपवासादि चतुर्दश्यादिके च यत्। ततः प्रतिपदादौ क्रियतेऽतिक्रांतमेवतत् ।।१९।।

अर्थ—जो उपवास चतुर्दशी के दिन करना है, उसका नियम प्रतिपदाके दिन ही कर लेना अतिक्रांत प्रत्याख्यान है ॥१९॥

(३) कोटिसहित प्रत्याख्यान का स्वरूप—

प्रातः स्वाध्यायसंपूर्णे यदि शक्ति र्भविष्यति । उपवासं करिष्यामि तत्कोटिसहितंमतम् ॥२०॥

अर्थ—प्रातःकाल स्वाध्याय पूर्ण होने पर यदि शक्ति होगी तो मैं उपवास करूंगा इसप्रकार के नियम करने को कोटिसहित प्रत्याख्यान कहते हैं ॥२०॥

(४) अखंडित प्रत्याख्यान का लक्षण—

अवश्यं यद्विधातव्यं पक्षमासादिगोचरम् । उपवासादिकं तत्स्यात्प्रत्याख्यानमखंडितम् ॥२१॥

अर्थ—किसी पक्ष वा किसी महीने में जो उपवास अवश्य किया जाता है उसको अखंडित प्रत्याख्यान कहते हैं ॥२१॥

(५) साकार प्रत्याख्यान का वर्णन—

सर्वतोभद्रनक्षत्ररत्नावल्याद्यनेकधा । विधानकरणंयद्बहुधासाकारमत्रतत् ॥२२॥

अर्थ—सर्वतोभद्र, नक्षत्रमाला, रत्नावली आदि अनेक प्रकारके विधान वा व्रत करना साकार प्रत्याख्यान कहलाता है ॥२२॥

(६) अनाकार प्रत्याख्यान का स्वरूप—

निजेच्छयोपवासादि करणं यद्विधिं विना । प्रत्याख्यानमनाकारं कथ्यते तत्तपस्विनाम् ॥२३॥

अर्थ—बिना किसी विधि के अपनी इच्छानुसार उपवास आदि करना तपस्वियों का अनाकार प्रत्याख्यान कहा जाता है ॥२३॥

(७) परिणामगत प्रत्याख्यान का लक्षण—

यत्षष्ठाष्टमपक्षैकमासादि वर्षगोचरम् । करणं स्वोपवासादेःपरिणामगतं हि तत् ॥२४॥

अर्थ—जो दो दिन का; तीन दिन का, एक पक्ष का, एक महीने का वा एक वर्ष का उपवास किया जाता है उसको परिणामगत प्रत्याख्यान कहते हैं ॥२४॥

(८) परिशेष प्रत्याख्यान का लक्षण—

चतुर्विधाखिलाहार वर्जनं यद्विधीयते । यावज्जीवं स्वसंन्यासे परिशेषं तदुच्यते ॥२५॥

अर्थ—अपने सन्यास मरण के समय जीवन पर्यंत तक जो चारों प्रकार के

आहार का त्याग किया जाता है उसको परिशेष प्रत्याख्यान कहते हैं ।।२५।।

(६) अध्वगत प्रत्याख्यान का स्वरूप—

मार्गाटव्याद्रिनद्यादिगमनानां प्रतिज्ञया क्रियतेऽत्रोपवासादि यत्तदध्वगतं स्मृतम् ।।२६।।

अर्थ—किसी मार्ग में, वन में, पर्वत पर वा नदी आदि के गमन करने में जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको अध्वगत प्रत्याख्यान कहते हैं ।।२६।।

(१०) सहेतुक प्रत्याख्यान का स्वरूप—

उपसर्गनिमित्तेऽत्रजातेसति विधीयते उपवासादिकं यत्तत्प्रत्याख्यानं सहेतुकम् ।।२७।।

अर्थ—किसी उपसर्ग आदि के निमित्त मिलने पर जो उपवास आदि की प्रतिज्ञा की जाती है उसको सहेतुक प्रत्याख्यान कहते हैं ।।२७।।

तपश्चरणों की वृद्धि के लिये उपरिलिखित प्रत्याख्यान करना चाहिये—

प्रत्याख्यानविधे:सारान् दशभेदानिमान् सदा । ज्ञात्वा नाना तपोवृध्यैह्य ुपचरन्तु तपोघनाः ।।

अर्थ—ये ऊपर लिखे हुए प्रत्याख्यान विधिके सारभूत दश भेद हैं इन सबको समझकर मुनियों को अपने अनेक प्रकार के तपश्चरणों की वृद्धि के लिये इन प्रत्याख्यानों का पालन करना चाहिये ।।२८।।

त्याग करने योग्य पदार्थ प्रत्याख्यान हैं—

अशनंपानकंखाद्यं स्वाद्यं सर्वं चतुर्विधम् । आहारं विविधं द्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रकम् ।।२९।।
उपधि: श्रमणायोग्यः क्षेत्रं कालादयोऽखिला: इत्याद्यन्यतरं वस्तु प्रत्याख्यातव्यमंजसा ।।३०।।

अर्थ—अन्न, पान, स्वाद्य, खाद्य के भेद से चार प्रकार का आहार है । इनके सिवाय सचित्त अचित्त मिश्र के भेद से अनेक प्रकार के पदार्थ हैं, मुनियों के अयोग्य अनेक प्रकार के उपकरण हैं, अयोग्य क्षेत्र अयोग्य काल आदि सब त्याग करने योग्य प्रत्याख्यान पदार्थ हैं ।।२९-३०।।

किसी द्रव्यसे मिला हुआ सचित्त जल भी अपेय है—

द्रव्यमिश्रितपानेनोपवासो यातिखंडताम् । सचित्तं न जलं पातुं योग्यं तस्मात्त्यजेद्बुधः ।।३१।।

अर्थ—किसी द्रव्यसे मिला हुआ पानी पीने से उपवास खंडित हो जाता है तथा सचित्त जल भी पीने के अयोग्य है । इसलिये बुद्धिमानों को इन सबका त्याग कर देना चाहिये ।।३१।।

किस समय उष्ण जल पेय है—

रागोष्ण कालदाहाद्यैर्यदि त्यक्तुं न शक्यते । नीरं षष्ठाष्टमादौ तद्युष्णं ग्राह्यं क्वचिज्जनैः ।।

अर्थ—रागकी अधिकताके कारण वा उष्ण काल होने के कारण अथवा दाह होने के कारण यदि वेला तेला आदि में पानी का त्याग न हो सके तो लोगों को ऐसे समय में उष्ण जल ग्रहण करना चाहिये ।।३२।।

भोजन के बाद जल अग्राह्य है—

पारणाहनि जातासु रागक्लेशतदिकादिषु । प्राणान्तेपि न चादेयं भोजनानन्तरेजलम् ।।३३।।

अर्थ—पारणाके दिन यदि रोग क्लेश भी उत्पन्न हो जांय और प्राणों के अंत होनेका समय आ जाय तो भी उस दिन भोजनके बाद जल ग्रहण नहीं करना चाहिये ।।३३।।

निम्नलिखित ४ शुद्धि सब जगह रखनी चाहिये—

आद्यं विनयशुद्धाख्यमनुभाषासमाह्वपम् । प्रतिपालनशुद्धाख्यं भावशुद्धयाभिधानकम् ।।३४।।
शुद्धं चतुर्विधंहीदं प्रत्याख्यानं भवापहम् । मुक्तये युक्तिमद्वाक्यैः पृथक् पृथक् ब्रुवेसताम् ।।३५।।

अर्थ—इस प्रत्याख्यान में चार प्रकार की शुद्धि रखना चाहिये पहली विनयशुद्ध, अनुभाषाशुद्ध, प्रतिपालनशुद्ध और भावशुद्ध इसप्रकार चार प्रकार की शुद्धतापूर्वक जो प्रत्याख्यान है वही संसार को नाश करनेवाला है । अब हम सज्जनोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये युक्ति पूर्वक वचनों के द्वारा अलग-अलग इनका स्वरूप कहते हैं । ।।३४-३५।।

(१) विनयशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप—

सिद्धयोगाभिधेभक्ति कृत्वानत्वागुरुक्रमौ । पंचधा विनयेनामा प्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ।।३६।।
गृह्यतेयत्तदन्तेचार्यभक्तिः प्रदीयते । शिष्यैर्विनयशुद्धं तत्प्रत्याख्यानं शिवप्रदम् ।।३७।।

अर्थ—प्रत्याख्यान लेते समय सिद्धभक्ति, योगभक्ति पढ़नी चाहिये फिर गुरुके दोनों चरण कमलों को नमस्कार कर पांच प्रकार की विनय के साथ चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये तथा अंत में आचार्यभक्ति पढ़नी चाहिये । इसप्रकार शिष्यों के द्वारा मोक्ष देनेवाला प्रत्याख्यान ग्रहण किया जाता है उसको विनयशुद्ध प्रत्याख्यान कहते हैं ।।३६-३७।।

(२) अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप—

प्रत्याख्यानाक्षरा: सर्वे गुरुणोच्चरितायथा । व्यंजनस्वरमात्रादिशुद्धया ये तांस्तथैव च ।।३८।।

शिष्योनुभाषतेयत्रप्रत्याख्यानविधौशुभे। अनुभाषणशुद्धाख्यं प्रत्याख्यानं तदुच्यते ।।३९।।

अर्थ—प्रत्याख्यान के समस्त अक्षर जो गुरु ने उच्चारण किये हैं व्यंजन स्वर और मात्राएं जिस प्रकार शुद्ध उच्चारण की हैं उसी प्रकार शिष्य को भी शुभ प्रत्याख्यान लेते समय उच्चारण करना चाहिये। इसप्रकार के प्रत्याख्यान को अनुभाषण शुद्ध नामका प्रत्याख्यान कहते हैं ।।३८-३९।।

(३) अनुपालन शुद्ध प्रत्याख्यान का लक्षण—

महोपसर्गं दुर्व्याध्यश्रमक्लेशादिराशिषु । जातेषु सुखदुःखादिष्वटव्याद्रिवनादिषु ।।४०।।
दुर्भिक्षादिषुसर्वत्राखंडंयत्प्रतिपाल्यते । अनुपालनशुद्धाख्यं तत्प्रत्याख्यानमूर्जितम् ।।४१।।

अर्थ—किसी महा उपसर्ग के आ जानेपर किसी महा व्याधि के हो जानेपर, किसी दुःख वा क्लेश के हो जानेपर अथवा किसी जंगल, वन, पर्वत आदि में किसी सुख-दुःख के उत्पन्न हो जानेपर अथवा दुर्भिक्षके उत्पन्न हो जानेपर सर्वत्र अपने प्रत्याख्यान का पालन करना अनुपालनशुद्ध नामका प्रत्याख्यान कहलाता है ।।४०-४१।।

(४) भावशुद्ध प्रत्याख्यान का स्वरूप—

रागद्वेषमदोन्मादैः कषायारि व्रजैः क्वचित् । कामाद्रेकाख्यधूर्तैश्च परिणामेन योगिनाम् ।।४२।।
न मनाग्दूषितं शुद्धं प्रत्याख्यानं यदुत्तमम् । भावशुद्धाभिधं ज्ञेयं प्रत्याख्यानं तदेव हि ।।४३।।

अर्थ—राग, द्वेष, मद, उन्माद आदि के द्वारा वा कषायरूप शत्रुओं के द्वारा अथवा काम के उद्रेकरूपी धूर्तों के द्वारा मुनियों के परिणामों में किसी प्रकार की अशुद्धता नहीं आती है। उनका उत्तम प्रत्याख्यान शुद्ध बना रहता है उसको भावशुद्ध प्रत्याख्यान कहते हैं ।।४२-४३।।

शरीर की स्थिति के लिये आहार कब ग्रहण करें?

प्रत्याख्यानमिदं सर्वं कृत्वा कायस्थितिं द्रुतम् । ग्राह्यं चतुर्विधं मुक्त्यै गुरोऽन्तेमुदाबुधैः ।।४४।।

अर्थ—बुद्धिमान मुनियों को यह सब प्रत्याख्यान करके उसका नियम पूर्ण होनेपर शरीर स्थिति के लिये आहार ग्रहण करना चाहिये और फिर गुरु के समीप जाकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये फिर चारों प्रकार का प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये ।।४४।।

प्रत्याख्यान की हानि कभी नहीं करनी चाहिये—

क्वचिद्धानिर्न कर्तव्या प्रत्याख्यानस्यसंयतैः । प्राणान्तेपि जगन्निद्या तीव्रैः परीषहादिभिः ।।४५।।

अर्थ—मुनियों को अपनें कंठगत प्राण होनेपर भी तीव्र परिषह आदि के द्वारा जगत भर में निंदा उत्पन्न करनेवाली प्रत्याख्यान की हानि कभी नहीं करनी चाहिये। ।।११४५।।

शिथिलाचार कभी नहीं करना चाहिये—

प्रत्याख्यानस्य भंगेन भंगंयान्तियतोखिलाः । गुणा मूलोत्तराद्याश्च तद्भंगाच्छ्वभ्रकारणम् ।।४६।।
महापापं प्रजायेत तेनदुःखं वचोतिगम् । भ्रमणंशिथिलानांच श्वभ्रादिदुर्गतौचिरम् ।।४७।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि प्रत्याख्यानके भंग होने से मूलगुण, उत्तरगुण आदि सबका भंग हो जाता है तथा मूलगुण, उत्तरगुण के भंग होने से नरक का कारण ऐसा महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से वचनातीत दुःख होता है। तथा इसप्रकार शिथिलाचारको धारण करनेवाले मुनि नरकादिक दुर्गतियों में चिरकाल तक परिभ्रमण करते रहते हैं ।।४६-४७।।

उपद्रव आनेपर भी इसे नहीं छोड़ें—

मत्वेति विश्वयत्नेनपालयन्तु तपोधनाः । प्रत्याख्यानं जगत्सारंसत्सूपद्रवकोटिषु ।।४८।।

अर्थ—यही समझकर मुनियों को करोड़ों उपद्रव आनेपर भी जगत में सारभूत यह प्रत्याख्यान पूर्ण प्रयत्न के साथ पालन करना चाहिये ।।४८।।

प्रत्याख्यान का फल—

सर्वानर्थहरंमनोक्षजयिनं कर्मारिविध्वंसकं स्वर्मोक्षैकनिबंधनंशुभनिधिं तीर्थेश्वरैः सेवितम् ।
अन्तातीतगुणाम्बुधिं सुमुनयः संपालयेताखिलं प्रत्याख्यानवरं सदासुविधिनासर्वार्थसंसिद्धये ।।४६।।

अर्थ—यह प्रत्याख्यान समस्त अनर्थों को हरण करनेवाला है, मन और इंद्रियों को जीतनेवाला है, कर्मरूप शत्रुओं को जीतनेवाला है, स्वर्ग और मोक्षका एक अद्वितीय कारण है, शुभकी निधि है, तीर्थंकर परमदेव भी इसकी सेवा करते हैं और अनंत गुणों का समुद्र है। इसलिये श्रेष्ठ मुनियोंको संपूर्ण पुरुषार्थ सिद्धि करने के लिये विधि पूर्वक सदा पूर्ण प्रत्याख्यान पालन करना चाहिये ।।४६।।

कायोत्सर्ग के वर्णन करने की प्रतिज्ञा—

प्रत्याख्यानस्य निर्युक्ति निरूप्येमांसमासतः । कायोत्सर्गस्य निर्युक्तिमितऊर्ध्वंदिशाम्यहम् ।।५०।।

अर्थ—इसप्रकार संक्षेप से प्रत्याख्यान का स्वरूप कहा अब आगे कायोत्सर्ग का स्वरूप कहते हैं ।।५०।।

कायोत्सर्ग का लक्षण—

त्यक्त्वांगादिममत्वं यद्द्विधासंगंविधीयते लंबमानभुजास्थानं गुणचिंतनपूर्वकम् ।।११५१।।
परमेष्ठिपदादीनामहोरात्रादिगोचरः । कायोत्सर्गः स मन्तव्योनंतवीर्यादि कारकः ।।११५२।।

अर्थ—रात्रि में वा अन्य किसी समय में अपने शरीर से ममत्व का त्यागकर तथा दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर खड़े होकर दोनों भुजाऐं लंबी लटका कर पांचों परमेष्ठियों के गुणों का चिंतवन करना कायोत्सर्ग कहलाता है । यह कायोत्सर्ग अनंत वीर्यको उत्पन्न करनेवाला है ।।११५१-११५२।।

कायोत्सर्ग के भी ६ भेद हैं—

नामाख्यस्थापना द्रव्यंक्षेत्रं कालोशुभाश्रितः । भावएषोस्यनिक्षेपः कायोत्सर्गस्यषड्विधः ।।५३।।

अर्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और शुभ भावके भेदसे छहों निक्षेपों से यह कायोत्सर्ग भी छह प्रकार है ।।५३।।

नाम कायोत्सर्ग का लक्षण—

सरागक्रूरनिंदादिनामोत्थदोषशुद्धये । कायोत्सर्गोत्र यो नाम कायोत्सर्गाह्वयोहि सः ।।५४।।

अर्थ—किसी सारंगी, क्रूर और निंद्य आदि नामसे उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको नाम कायोत्सर्ग कहते हैं ।।५४।।

स्थापना कायोत्सर्ग का लक्षण—

कुत्सितस्थापनाद्वारागतातीचारशांतये । कायोत्सर्गः कृतोयः स स्थापनासंज्ञ एवहि ।।५५।।

अर्थ—किसी कुत्सित स्थापना के आये हुए अतीचारों को शांत करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता हैं उसको स्थापना कायोत्सर्ग कहते हैं ।।५५।।

द्रव्य कायोत्सर्ग का लक्षण—

सावद्यद्रव्यसेवाद्यैर्जातदोषस्यहानये । क्रियते यस्तनूत्सर्गो द्रव्यव्युत्सर्ग एव सः ।।५६।।

अर्थ—पापरूप द्रव्योंके सेवन करने से उत्पन्न हुए दोषोंको दूर करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको द्रव्य कायोत्सर्ग कहते हैं ।।५६।।

क्षेत्र कायोत्सर्ग का लक्षण—

सरागक्रूरमिथ्यात्वाद्यक्षेत्रजंमलात्मनाम् । विशुद्धयै यस्तनूत्सर्गः क्षेत्रव्युत्सर्ग एव सः ।।५७।।

अर्थ—सारंगी, क्रूर और मिथ्यात्व से दूषित क्षेत्रसे उत्पन्न हुए दोषों को दूर

करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको क्षेत्र कायोत्सर्ग कहते हैं ।।५७।।

काल कायोत्सर्ग का लक्षण—

ऋत्वहोरात्रवर्षादि व्याप्तकालोद्भवस्य यः । दोषस्यहानये कायोत्सर्गः स कालसंज्ञकः ।।५८।।

अर्थ—ऋतु दिन रात और वर्षाऋतु आदि किसी भी काल से उत्पन्न हुए दोषों को नाश करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसको काल कायोत्सर्ग कहते हैं ।।५८।।

भाव कायोत्संर्ग का स्वरूप—

मिथ्यासंयमकोपादियुक्तदुर्भावजस्य यः । दोषस्यशुद्धये कायोत्सर्गः सभावनामकः ।।५९।।

अर्थ—मिथ्यात्व, असंयम और क्रोधादिक दुर्भावोंसे उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने के लिये जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह शुभभाव कायोत्सर्ग कहलाता है ।।५९।।

छहों प्रकार के कायोत्सर्गों को करें—

अमीभिःषड्विधैःसारैं निक्षेपैमुंनिसत्तमैः कायोत्सर्गः सदाकार्यो जातदोषविशुद्धये ।।६०।।

अर्थ—उत्तम मुनियों को उत्पन्न हुए दोषों को विशुद्ध करने के लिये सारभूत इन छहों निक्षेपों से होनेवाला कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिये ।।६०।।

कायोत्सर्गादि के कथन की प्रतिज्ञा—

कायोत्सर्गश्च कायोत्सर्गीकायोत्सर्गकारणम् । अमीषां त्रितयानांहि प्रत्येकं लक्षणं ब्रुवे ।।६१।।

अर्थ—अब आगे कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गी और कायोत्सर्ग के कारणों का अलग-अलग लक्षण कहते हैं ।।६१।।

कायोत्सर्ग का स्वरूप—

वाह्यान्तः सकलैः संगैः समं कायस्य धीधनैः । क्रियते यः परित्यागः कायोत्सर्गः समुक्तये ।।६२।।

अर्थ—जहांपर बुद्धिमानों के द्वारा बाह्य और आभ्यंतर समस्त परिग्रहों के साथ-साथ शरीर का भी त्याग कर दिया जाता है परिग्रह और शरीरके ममत्व सर्वथा त्याग कर दिया जाता है उसको कायोत्सर्ग कहते हैं । ऐसा कायोत्सर्ग मोक्ष देनेवाला होता है ।।६२।।

कायोत्सर्ग के ४ भेद हैं—

आलंवितभुजः पादांतश्चतुःस्वांगुलाश्रितः । सर्वांग चलनातीतः कथ्यतेत्र चतुर्विधः ।।६३।।

अर्थ—उस कायोत्सर्ग में भुजाऐं लंबायमान होती हैं दोनों पैरोंमें चार अंगुल का अंतर रहता है और समस्त शरीर का हलन-चलन बंद कर दिया जाता है। ऐसा यह कायोत्सर्ग चार चार प्रकार का होता है ॥६३॥

चारों के नाम—

उत्थितोत्थितनामोत्थितोपविष्टसमाह्वयः । उपविष्टोत्थिताख्यकिलासीनासीनसंज्ञकः ॥६४॥

अर्थ—पहला उत्थितोत्थित, दूसरा उत्थितोपविष्ट, तीसरा उपविष्ठोत्थित और चौथा उपविष्टोपविष्ट अथवा आसीनासीन ये चार कायोत्सर्ग के भेद हैं ॥६४॥

इनमें २ अशुभ कायोत्सर्ग नहीं करने चाहिये—

एतैः शुभाशुभैर्भेदैः कायोत्सगश्चतुर्विधः । द्विधा त्याजोद्विधा ग्राह्यस्तेषां मध्येसयोगिभिः ॥६५॥

अर्थ—इन चारों प्रकार के कायोत्सर्ग में दो शुभ हैं और दो अशुभ हैं। मुनियोंको दोनों अशुभ कायोत्सर्गों का त्यागकर देना चाहिये और दोनों शुभ कायोत्सर्ग ग्रहण कर लेना चाहिये ॥६५॥

धर्मशुक्लाभिधंद्वेधा ध्यानं यत्क्रियते बुधैः । कायोत्सर्गेण मुक्त्यै सः व्युत्सर्ग उत्थितोत्थितः ॥६६॥

अर्थ—जो बुद्धिमान मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय धर्मध्यान वा शुक्लध्यान का चिंतवन करते हैं उसको उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं ॥६६॥

आर्तरौद्राख्यदुर्ध्यानि कायोत्सर्गेण यः स्थितः ध्यायेत्तस्य तनूत्सर्गः उत्थितासीनसंज्ञकः ॥६७॥

अर्थ—जो मुनि खड़े होकर कायोत्सर्ग के द्वारा आर्तध्यान और रौद्रध्यान का चिंतवन करता है उसको उत्थितासीन कायोत्सर्ग कहते हैं ॥६७॥

निविष्टोत्थित नामक कायोत्सर्ग का स्वरूप—

धर्मशुक्लशुभध्यानालिविष्टो भजतेत्रयः । हृदा तस्य तनूत्सर्गो निविष्टोत्थितनामकः ॥६८॥

अर्थ— जो मुनि बैठकर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानका चिंतवन करता है उसके निविष्टोत्थित नामका कायोत्सर्ग कहलाता है ॥६८॥

आसीनासीन नामक कायोत्सर्ग—

ध्यायत्यत्र निविष्टो यः आर्तरौद्राणि चेतसा । ध्यानानि तस्य चासीनासीनव्युत्सर्गं एवहि ॥६९॥

अर्थ—जो मुनि बैठकर कायोत्सर्ग करता है और उसमें हृदय से आर्तध्यान वा रौद्रध्यान का चिंतवन करता है उसके आसीनासीन नाम का कायोत्सर्ग होता है। ।।६९।।

उत्थानासीन दोष का त्याग—

उत्थितासीनएकोन्य आसीनासीनसंज्ञकः । द्वाविमौ सर्वथा त्याज्यौ शेषौ कार्यों प्रयत्नतः ।।७०।।

अर्थ—इनमें से एक उत्थितासीन और दूसरा आसीनासीन इन दोनों कायोत्सर्गोंका सदाके लिये त्याग कर देना और बाकी के दोनों कायोत्सर्ग प्रयत्नपूर्वक धारण करने चाहिये ।।७०।।

उत्तम ध्यान का स्वरूप—

सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रश्रुताभ्यासयमादिषु । महाव्रतेषु सर्वेषु संयमाचरणेषु च ।।७१।।
दशलक्षणधर्मेषु तपःसमितिगुप्तिषु । प्रत्याख्याने कषायाक्षाशुभध्यानादिरोधने ।।७२।।
आत्मतत्त्वेऽन्यतत्त्वेषु ध्यानेषु परमेष्ठिनाम् । कर्मास्रवनिरोधे च संवरे निर्जरा शिवे ।।७३।।
हृदि शुद्धसुसंकल्पः क्रियते यो गुणाप्तये । महान् व्युत्सर्गमापन्नेस्तत्ध्यानमुत्तमंमतम् ।।७४।।

अर्थ—कायोत्सर्ग धारण करनेवाले मुनि गुण प्राप्त करने की इच्छा से जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, शास्त्रोंका अभ्यास, यम, नियम, समस्त महाव्रत समस्त संयमाचरण, दश लक्षण धर्म, तप, समिति, गुप्ति, प्रत्याख्यान, कषायों का निरोध, इन्द्रियों का निरोध, अशुभ ध्यानका निरोध, आत्म तत्त्व, अन्य तत्त्व, परमेष्ठियों का ध्यान, कर्मोंके आस्रव का निरोध, संवर, निर्जरा और मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो हृदय में शुद्ध संकल्प करते हैं महा संकल्प करते हैं उसको उत्तम ध्यान कहते हैं ।।७१-७४।।

अशुभध्यान का स्वरूप—

परिवारमहासम्यग्पूजासत्कारहेतवे । अन्नपानादिमिष्टाप्त्यैख्यातिकीर्तिप्रसिद्धये ।।७५।।
स्वमाहात्म्यप्रकाशाय स्वेष्टवस्त्वाप्तयेऽन्वहम् । स्वर्गराज्यपदादीनांप्राप्तयेऽमुत्र वा हृदि ।।७६।।
इत्याद्यन्यतमाप्त्यै यः संकल्पः क्रियतेशुभः । कायोत्सर्गसमापन्नैस्तद्ध्यानमशुभंस्मृतम् ।।७७।।

अर्थ—इसी प्रकार कायोत्सर्ग करनेवाले जो मुनि अपने परिवार को महा संपत्ति प्राप्त करने के लिये, वा पूजा सत्कार कराने के लिये, वा मीठे-मीठे अन्न-पान प्राप्त करने के लिये वा अपनी कीर्ति फैलाने वा प्रसिद्ध होने के लिये, वा अपना माहा-

त्स्य प्रगट करने के लिये, वा प्रतिदिन अपनी इच्छानुसार इष्ट पदार्थ प्राप्त करने के लिये वा परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति, राज्य की प्राप्ति वा सेना की प्राप्ति के लिये वा इनमें से किसी एक की प्राप्ति के लिये अपने हृदय में अशुभ संकल्प करते हैं उसको अशुभध्यान कहते हैं ।।७५-७७।।

अशुभध्यान का त्याग एवं शुभध्यान आवश्यक—

अप्रशस्तं प्रशस्तं च ध्यानं ज्ञात्वाबुधा इदम् । त्यक्त्वाशुभं शुभध्यानं कायोत्सर्गे भजन्तुभोः ।।७८।।

अर्थ—इसप्रकार प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यान को समझ कर बुद्धिमानों को कायोत्सर्ग में अशुभध्यान का त्याग कर देना चाहिये और शुभ ध्यान धारण करना चाहिये ।।७८।।

कायोत्सर्ग करनेवाले मुनि का स्वरूप—

मोक्षार्थी जितनिद्रोयस्तत्त्वशास्त्रविशारदः । मनोवाक्कायसंशुद्धो बलवीर्याद्यलं कृतः ।।७९।।
महातपासंहाकायोमहाधैर्योजितेन्द्रियः परीषहोयसर्गादि जयशीलो चलाकृतिः ।।८०।।
महाव्रती परात्मज्ञः इत्याद्यन्यगुणाकरः । कायोत्सर्गी भवेन्नूनमुत्तमो मुक्तिसाधकः ।।८१।।

अर्थ—जो मुनि मोक्षकी इच्छा करनेवाला है, निद्राको जीतने वाला है, तत्त्व और शास्त्रोंके जानने में अत्यंत चतुर है, जिसके मन-वचन-काय शुद्ध हैं, जो बल और वीर्यसे (शक्ति से) सुशोभित है, जो महा तपस्वी है, हृष्ट, पुष्ट, पूर्ण शरीर को धारण करनेवाला है, महा धीर वीर है, जितेन्द्रिय हैं, परिषह और उपसर्गों को जीतने वाला है, जिसकी आकृति निश्चल रहती है, जो महाव्रती है, परमात्मा को जानने वाला है और मोक्षको सिद्ध करनेवाला है तथा और भी ऐसे ही ऐसे गुणों की खानि हैं, ऐसा मुनि उत्तम कायोत्सर्गी (कायोत्सर्ग करनेवाला) कहा जाता है ।।७९-८१।।

कायोत्सर्ग करने का कारण—

व्रतानां समितीनां च गुप्तीनां संयमात्मनाम् । क्षमादिलक्षणानां च मूलान्यगुणदृक चिदाम् ।।
कषायै नेकिषायैश्चमदोन्माद भयादिभिः । यातायातैः प्रमादैश्च मनोक्षवाग्वपुश्चलैः ।।८३।।
जाता येऽतिक्रमास्तेषां दक्षैः शुद्धयर्थमत्र यः । विधीयते तनूत्सर्गः तद्ज्ञेयं तस्य कारणम् ।।८४।।

अर्थ—व्रत, समिति, गुप्ति, संयम, क्षमा, मार्दव आदि धर्म, मूलगुण, उत्तर-गुण, सम्यग्दर्शन और आत्माकी शुद्धता आदि में कषाय, नोकषाय, मद, उन्माद, भय, गमनागमन, प्रमाद, मन इंद्रियां वचन और शरीर की चंचलता से जो अतिचार लगते

हैं चतुर पुरुष उन्हीं को शुद्ध करने के लिये कायोत्सर्ग करते हैं। इसीलिये व्रतादिकों में दोष लगना कायोत्सर्ग का कारण समझना चाहिये ॥८२-८४॥

पुनः कायोत्सर्ग के कारण—

दुर्द्धरा उपसर्गा ये नृदेवादि कृता भुवि सर्वे परीषहा घोरामहन्तस्तपसादयः ॥८५॥
कायोत्सर्गेण तान्विश्वान्सहे हं मुक्तिहेतवे। इत्यादि कारर्णैनित्यं कुर्वंतु मुनयोऽत्र तम् ॥८६॥

अर्थ—इस संसार में मनुष्य वा देवों के द्वारा किए हुए जितने भी दुर्धर उपसर्ग हैं, जितनी घोर परिषह हैं और जितने महान् तपश्चरण हैं उन सबको मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये कायोत्सर्ग धारण कर सहन करूंगा, यही समझकर वा इन्हीं कारणों से मुनियों को प्रतिदिन कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये ॥८५-८६॥

कायोत्सर्ग का फल—

कायोत्सर्गे कृते यद्वदंगोपांगादिसंधयः। भिद्यन्ते सुधियां तद्वद्ध्कर्माणि क्षणेक्षणे ॥८७॥

अर्थ—कायोत्सर्ग के करने में जिस प्रकार अंग उपांग की संधियां भिन्न-भिन्न होती हैं उसी प्रकार बुद्धिमानों के कर्म भी क्षण-क्षण में नष्ट होते रहते हैं ॥८७॥

कायोत्सर्ग से ऋद्धियों की प्राप्ति—

कायोत्सर्गप्रभावेन जायन्तेह्मिमहर्षयः। समस्ता अचिरेणैवयोगिनां नात्रसंशयः ॥८८॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से मुनियों को बहुत ही शीघ्र समस्त महा ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥८८॥

कायोत्सर्ग से शुभध्यान की प्राप्ति—

धर्मशुक्लशुभाध्याना: शुभा:लेश्या: प्रयान्त्यहो। कायोत्सर्गेण धर्मात्मनां सर्वोत्कृष्ठतामिह ॥८९॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से धर्मात्मा पुरुषोंके धर्मध्यान वा शुक्लध्यान तथा शुभ लेश्याएें सर्वोत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं ॥८९॥

कायोत्सर्ग के प्रभाव से इन्द्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं—

प्रकंपन्ते सुरेशानामासनादि क्षणान्तरे। महाध्यानप्रभावेन कायोत्सर्गस्थयोगिनाम् ॥९०॥

अर्थ—कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के महाध्यानके प्रभाव से क्षणभर में ही इंद्रों के आसन कंपायमान हो जाते हैं ॥९०॥

इसके फलसे क्रूर व्याघ्रादि भी शांत हो जाते हैं—

व्याघ्रसिंहादयः क्रूरा शाम्यन्ति नतमस्तकाः कायोत्सर्गस्थधीराणां महायोगप्रभावतः ॥९१॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए महा धीर वीर मुनियोंके महाध्यान के प्रभावसे सिंह व्याघ्र आदि क्रूर पशु भी शांत हो जाते हैं और उनके चरणोंमें आकर अपना मस्तक झुका देते हैं ॥९१॥

इससे करोड़ों विघ्नों के जाल क्षण भरमें नष्ट होते हैं—

उपसर्ग व्रजाः सर्वे विघ्नादिजालकोटयः । कायोत्सर्गस्थमाहात्म्याद्विघटन्ते च तत्क्षणम् ॥९२॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग में विराजमान हुए मुनियों के माहात्म्य से क्षणभर में ही समस्त उपसर्गों के समूह नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों विघ्नों के जाल क्षणभर में कट जाते हैं ॥९२॥

केवल ज्ञानकी प्राप्ति भी इसका फल है—

कायोत्सर्गेण दक्षाणां केवलज्ञानमाशुभोः । जायतेप्रकटं लोकेऽत्रान्यस्यज्ञानस्यकाकथा ॥९३॥

अर्थ—चतुर पुरुषों को इस कायोत्सर्ग के प्रभाव से इसी लोक में शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है फिर भला अन्य ज्ञानोंकी तो बात ही क्या है ॥९३॥

केवलज्ञान रूपी स्त्री वरण करती है—

व्युत्सर्गं कुरुतेधीरो योधर्मशुक्लपूर्वकम् । अत्यासक्त्या स्वयं हेत्यमुक्तिरामावृणोतितम् ॥९४॥

अर्थ—जो धीर वीर पुरुष धर्मध्यान और शुक्लध्यान पूर्वक कायोत्सर्ग धारण करता है उसपर मुक्तिरूपी स्त्री अत्यंत आसक्त हो जाती है और स्वयं आकर उसको वर लेती है ॥९४॥

यह सर्वोत्कृष्ट तप है—

कायोत्सर्गेणसादृश्यं नापरं परमं तपः । उपायस्तत्समो नान्यः कर्मारातिनिकंदने ॥११९५॥

अर्थ—इस कायोत्सर्ग के समान न तो अन्य कोई परमोत्कृष्ट तप है और न कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करने के लिये अन्य कोई उपाय है ॥११९५॥

इस तप करनेवाले के करोड़ों कर्म जाल नष्ट हो जाते हैं—

यतो व्युत्सर्गकर्तॄणां कर्मजालानि कोटिशः । नश्यति क्षणमात्रेण तमांसि भानुना यथा ॥९६॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जिसप्रकार सूर्यके उदय होते ही अंधकार क्षणभर में ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार कायोत्सर्ग करने वालों के करोड़ों कर्म जाल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं ॥९६॥

कायोत्सर्ग के फल का उपसंहार—(मुक्ति प्राप्ति)

इत्यादि प्रवरं चास्य फलंमत्वा शिवार्थिनः । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य सिद्धं कुर्वंतु तं सदा ।।९७।।

अर्थ—इसप्रकार इस कायोत्सर्ग का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति प्रगट कर वह कायोत्सर्ग सदा करते रहना चाहिये ।।९७।।

विभिन्न प्रतिक्रमणों में कायोत्सर्ग का काल—

कायोत्सर्गस्य चोत्कृष्ठेन वर्षैकं प्रमाणकम् । अन्तर्मुहूर्तमात्रं स्याज्जघन्यं कालसंख्यया ।।९८।।
मध्यमेन तयोर्मध्येप्रमाणं बहुधाभवेत् । अहोरात्रादिपक्षैकमासद्वित्र्यादिगोचरम् ।।९९।।-१२००।।

अर्थ—इस कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष है और जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है तथा मध्यका जो एक दिन, एक रात, एक पक्ष, एक महीना, दो महीना, तीन महीना, छह महीना आदि काल है वह सब कायोत्सर्ग का मध्यम काल गिना जाता है ।।९८-१२००।।

श्वासोच्छ्वास पूर्वक कायोत्सर्ग विधि—

सत्प्रतिक्रमणे वीरभक्तौदैवसिकाभिधे । कायोत्सर्गे स्यादुच्छ्वासा अष्टोत्तर शतप्रभाः ।।१२०१।।
उच्छ्वासारात्रिके कार्याश्चतुः पंचाश एव च । परमेष्ठिपदोच्चारैः शतानित्रीणि पाक्षिके ।।
उच्छ्वासानां च चातुर्मासिके चतुःशतानि वै । शतानि पंच सांवत्सरके स्युःर्नियमात्सताम् ।।
वीरभक्ति विना शेषसिद्धभक्त्यादिषुस्फुटम् । सर्वेषुस्युरन्तनूत्सर्गे उच्छ्वासाः सप्तविंशतिः ।।

अर्थ—श्रेष्ठ प्रतिक्रमण करते समय, वीरभक्ति करते समय और दैवसिक कायोत्सर्ग में एकसौ आठ उच्छ्वासों से छत्तीस बार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये । रात्रि के कायोत्सर्ग में चौवन श्वासोच्छ्वासों से अठारह बार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये । पाक्षिक कायोत्सर्गमें तीनसौ उच्छ्वासों से परमेष्ठी वाचक पदोंका उच्चारण करना चाहिये अर्थात् सौबार नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये । चातुर्मास कायोत्सर्ग में चारसौ श्वासोच्छ्वासोंसे नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये और वार्षिक कायोत्सर्ग में पांचसौ उच्छ्वासों से पंच नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये । वीरभक्ति के बिना शेष सिद्धभक्ति आदि में जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से करना चाहिये । ।।१२०१-१२०४।।

व्रत शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग की आवश्यकता—

प्राणिहिंसानृस्तेया ब्रह्मोयधिप्रसंगतः । सन्महाव्रतपंचानां जातातिचारशुद्धये ।।५।।

पृथक्पृथग्विधातव्यः कायोत्सर्गो व्रतार्थिभिः । अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः प्रमाणोविधनाक्वचित् ॥

अर्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहके निमित्तसे जो पांचों महाव्रतोंमें अतिचार लगे हों तो उनको शुद्ध करनें के लिये व्रतियों को अलग-अलग व्रतके अलग-अलग अतिचार एकसौ आठ उच्छ्वासके द्वारा विधिपूर्वक कायोत्सर्ग धारण कर अलग ही शुद्ध करना चाहिये । भावार्थ—एकसौ आठ उच्छ्वासों के द्वारा अहिंसा व्रतके दोष शुद्ध करने चाहिये फिर एकसौ आठ उच्छ्वासों द्वारा सत्यव्रतके दोष दूर करने चाहिये इसप्रकार सबके लिये अलग-अलग कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥५-६॥

स्वाध्याय और वन्दना में कायोत्सर्ग विधि—

ग्रंथारम्भे समाप्ते च स्वाध्याये वंदनादिषु । कायोत्सर्गेण कर्तव्या उच्छ्वासाः सप्तविशंतिः ॥७॥

अर्थ—ग्रंथके प्रारंभ में वा ग्रंथ की समाप्ति में, स्वाध्याय में, वंदना करने में वा और भी ऐसे कार्यों में सत्ताईस श्वासोच्छ्वास से कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥७॥

कायोत्सर्ग में ध्याने योग्य पद और उसका फल—

कायोत्सर्गेषु सर्वेषु होत्युच्छ्वासान् विधाय च । परमेष्ठिपदानां जपनेनाघविशुद्धये ॥८॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए समस्त कायोत्सर्गों में ऊपर कहे हुए उच्छ्वासोंके द्वारा पंच परमेष्ठियों को कहने वाले पदों को जपना चाहिये । ऐसे ही जपसे पापों की शुद्धि होती है ॥८॥

प्रशस्त ध्यान करने को प्रेरणा—

प्रशस्तं धर्मशुक्लाख्यं द्विधाध्यानंशिवप्रदम् । स्वशक्त्या स्वैक्वचित्तेर्नाचिरंध्यायन्तु धीधनाः ॥९॥

अर्थ—धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो ध्यान ही प्रशस्त हैं और ये ही दो ध्यान मोक्ष देनेवाले हैं इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को अपनी शक्ति के अनुसार एकचित्त होकर चिरकाल तक ये दोनों ध्यान धारण करने चाहिये ॥९॥

निर्दोष कायोत्सर्ग का फल—

यतोव्युत्सर्ग एकोत्र धर्मशुक्लशुभान्वितः । द्वात्रिंशद्दोषनिष्क्रान्तः कृतः आशुसुयोगिनाम् ॥१०॥
महती सकला ऋद्धी व्योमगत्यादिकारिणी । ज्ञानं च केवलं विश्वप्रदीपं जनयत्यहो ॥११॥

अर्थ—क्योंकि यह कायोत्सर्ग यदि बत्तीस दोषों से रहित तथा शुभ धर्मध्यान और शुक्लध्यान पूर्वक किया जाय तो इस एक ही से मुनियों को आकाश गामिनी

आदि बड़ी-बड़ी समस्त ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं तथा लोक अलोक सबको दिखलाने वाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है ।।१०-११।।

कायोत्सर्ग के बत्तीस दोषों के नाम—

घोटकोऽथलताख्यस्तंभकुड्यौमालसंज्ञः । दोषः स वरवध्वाख्यस्ततो निगलनामकः ।।१२।।
लम्बोत्तराभिधोदोषस्तनदृष्टिश्चवायसः । खलिनो युगकपित्थौ शिरः प्रकंपिताख्यकः ।।१३।।
मूकितोगुलिदोषोथभ्रू विकारसमाह्वयः । दोषश्चवारुणीपायी दिग्दशालोकनादिशः ।।१४।।
ग्रीवोन्नमनदोषोथ दोषःप्रणमनाख्यकः । निष्ठीवनोगमर्शाख्योऽथाभीषां लक्षणं ब्रुवे ।।१५।।

अर्थ—कायोत्सर्ग के बत्तीस दोषों के नाम कहते हैं । घोटक, लता, स्तंभ, कुड्य, माल, वरवधू, निगल, लम्बोत्तर, स्तनदृष्टि, वायस खलीन, युग, कपित्थ, शिर प्रकंपित, मूकित, अंगुलि, भ्रू विकार, वारुणीपायी, दिग्दशालोकन ग्रीवोन्नमन प्रणमन, निष्ठीवन अंगमर्श ये कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष हैं आगे अनुक्रम से इनका लक्षण कहते हैं ।।१२-१५।।

घोटक दोष का स्वरूप—

यः स्वैकं पादमुत्क्षिप्य विन्यस्य वात्र तिष्ठति । अश्ववद्धित नूत्सर्गे सः स्याद्घोटकदोषभाक् ।।

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय घोड़े के समान एक पैर को उठाकर अथवा एक पैर को रख कर कायोत्सर्ग करता है उसके घोटक नाम का दोष लगता है ।।१६।।

लता दोष का स्वरूप—

लतेवात्रनिजांगानि चालयन् यः प्रतिष्ठते । कायोत्सर्गेण तस्य स्याल्लतादोषश्चलात्मनः ।।१७।।

अर्थ—जो मुनि लता के समान अपने शरीर को वा अंग उपांगों को हिलाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस चंचल मुनि के लता नाम का दोष लगता है । ।।१७।।

स्तंभ दोष का स्वरूप—

स्तंभमाश्रित्य यस्तिष्ठेत् कायोत्सर्गेण संयतः । वा शून्यहृदयस्तस्य स्तंभदोषोत्र जायते ।।१८।।

अर्थ—जो मुनि किसी खंभेके आश्रय खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है अथवा खंभे के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करता है उसके स्तंभ नामका दोष लगता है ।।१८।।

कुड्य दोष का स्वरूप—

कुड्यमाश्रित्य तिष्ठेद्यो व्युत्सर्गेणाथवापरम् । कुड्यदोषो भवेत्तस्य कायोत्सर्गमलप्रदः ॥१९॥

अर्थ—जो मुनि किसी दीवाल के सहारे खड़ा होकर कायोत्सर्ग करता है उसके कायोत्सर्ग को दूषित करनेवाला कुड्य नामका दोष लगता है ॥१९॥

माल दोष का स्वरूप—

पीठिकादिकमारुह्य वोर्ध्वंभागंस्वमस्तकात् । आश्रित्य यस्तनूत्सर्गं कुर्यात्स मालदोषवान् ॥२०॥

अर्थ—जो मुनि किसी पीठिका पर (वेदी आदि पर) चढ़ कर और उसके ऊपर के भाग पर मस्तक का सहारा लेकर कायोत्सर्ग करता है उसके माल नामका दोष प्रगट होता है ॥२०॥

वर-वधू दोष का स्वरूप—

जंघाभ्यांजघनंपीड्य सवरादिवधूरिव । यस्तं धत्तेऽत्र स स्यात्सवरवध्वाद्व्यहोषभाक् ॥२१॥

अर्थ—जो मुनि वर-वधू के समान दोनों जंघाओं से जंघाको दबाकर कायोत्सर्ग करता है उसके वरवधू नामका दोष लगता है ॥२१॥

निगल दोष का स्वरूप—

कृत्वा वह्वन्तरालं यः पादयोर्निगलस्थवत् । कायोत्सर्गं विधत्ते स निगलाख्यंमलंश्रयेत् ॥२२॥

अर्थ—जिसके पैर सांकल से बंधे हैं, पैरों के बीच में बेड़ी वा लोहे के डंडे पड़े हैं उसके समान जो अपने पैरों को बहुत दूर-दूर रखकर कायोत्सर्ग करता है उसके निगल नामका दोष लगता है ॥२२॥

लंबोदर दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गंथस्ययस्यात्रोन्नमनंचभवेन्मुनेः वह्वधोनमनं तस्य दोषोलम्बोत्तराह्वयः ॥२३॥

अर्थ— कायोत्सर्ग करते समय जो मुनि ऊंचेको अधिक तन जाय अथवा नीचे को नब जाय उसके लंबोत्तर नामका दोष लगता है ॥२३॥

स्तन दृष्टि दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गस्थोत्र यः पश्येत्स्वस्तनौ चंचलोदृशा । तस्य दोषः प्रजायेत स्तनदृष्टिसमाह्वयत् ॥२४॥

अर्थ—जो चंचल मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों से अपने स्तनों को देखता है उसके स्तनदृष्टि नामका दोष लगता है ॥२४॥

वायस दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गस्थ एवाप्यपार्श्वंपश्यति यो दृशा । काकवत्तस्य जायेतदोषो वायससंज्ञकः ।।२५।।

अर्थ—कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि कौए के समान इधर-उधर दोनों बगलों की ओर देखता है उसके वायस नामका दोष लगता है ।।२५।।

खलीन दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गं विधत्ते चाश्ववत्खलिनपीडितः । यो दन्तकटकंमस्तकं तस्यखलिनोमलः ।।२६।।

अर्थ—लगाम से दुःखी हुए घोड़े के समान जो मुनि मस्तक को हिलाता हुआ और दांतों को कट कटाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके खलीन नामका दोष होता है ।।२६।।

युग दोष का स्वरूप—

ग्रीवां प्रसार्यं तिष्ठेद्युगपीडितवृषादिवत् । कायोत्सर्गेण तस्यास्ति युगदोषोविरूपकः ।।२७।।

अर्थ—जिसप्रकार जुआ से दुःखी हुआ बैल अपनी गर्दन को लंबी कर देता है उसी प्रकार जो मुनि अपनी गर्दनको लंबी कर कायोत्सर्ग करता है उसके युग नामका अशुभ दोष होता है ।।२७।।

कपित्थ दोष का स्वरूप—

कपित्थफलवन्मुष्ठिं कृत्वातिष्ठति यो मुनिः । व्युत्सर्गेण भवेत्तस्य कपित्थदोष एवहि ।।२८।।

अर्थ—जो मुनि कैथ के समान अपनी मुट्ठियों को बांधकर कायोत्सर्ग करता है उसके कपित्थ नामका दोष लगता है ।।२८।।

शिरः प्रकंपित दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गान्वितो यः शिरः प्रकंपयतिस्फुटम् । शिरः प्रकंपितं दोषं लभते समलप्रदम् ।।२९।।

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ शिरको हिलाता जाता है उसके शिरः प्रकंपित नामका मल उत्पन्न करनेवाला दोष लगता है ।।२९।।

मूकित दोष का स्वरूप—

करोति चंचलत्वेन कायोत्सर्गस्थसंयतः । मुखनासाविकारं यस्तस्यदोषोहिमूकितः ।।३०।।

अर्थ—जो मुनि अपनी चंचलतासे कायोत्सर्ग करता हुआ भी मुख वा नासिका में विकार उत्पन्न करता रहता है उसके मूकित नामका दोष लगता है ।।३०।।

अंगुलि चलित दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गं युतो योऽत्र विकारं कुरुतेयतिः । हस्तपादांगुलीनामंगुलिदोषं लभेत सः ॥३१॥

अर्थ—कायोत्सर्ग करता हुआ जो मुनि हाथ पैर वा अंगुली से विकार उत्पन्न करता रहता है उसके अंगुली नामका दोष लगता है ॥३१॥

भ्रू-विकार दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गस्थोमयी नेत्रे भ्रू विकारं तनोति यः । नर्तनं वागुलीनां पादयोः सभ्रू विकारभाक् ॥३२॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करते समय नेत्रों में वा भौंहों में विकार उत्पन्न करता है अथवा अपने पैर की अंगुलियों को नचाता है उसको भ्रू विकार नामका दोष लगता है ॥३२॥

वारुणी-पायी दोष का स्वरूप—

सुरापायीव यो घूर्णमानास्तिष्ठतिसंयमी । व्युत्सर्गे वारुणीपायी दोषस्तस्य चलात्मनः ॥३३॥

अर्थ—जो मुनि मद्य पीने वाले मनुष्य के समान लहरें लेता हुआ कायोत्सर्ग करता है उस चंचल मुनि के वारुणीपायी नामका दोष लगता है ॥३३॥

दश दिगालोकन के दश दोषों का स्वरूप—

व्युत्सर्गस्थः प्रपश्येद्यो नेत्राभ्यां हि दिशोदश । लभते दश दोषान् स दिगालोकनसंज्ञकान् ॥३४॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी अपने नेत्रों से दशों दिशाओं की ओर देखता है उसके दश दिगालोकन नामके दश दोष लगते हैं । भावार्थ—एक एक दिशाको देखना एक-एक दोष है । इसप्रकार दशों दिशाओंको देखना दश दोष हैं ॥३४॥

ग्रीवोन्नमन दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गेणसंयुक्तः स्वग्रीवोन्नमनंहि यः । करोति तस्य दोषः स्याद्ग्रीवोन्नमन नामकः ॥३५॥

अर्थ—जो मुनि अपनी गर्दन को ऊंची कर कायोत्सर्ग करता है उसके ग्रीवोन्नमन नामका दोष लगता है ॥३५॥

प्रणमन दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गांकितो यः प्रणमनं कुरुतेयतिः । तस्यप्रणमनाख्योस्ति दोषो दोषकरोऽशुभः ॥३६॥

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी नीचे की ओर झुक जाता है उसके अनेक दोष उत्पन्न करनेवाला प्रणमन नामका अशुभ दोष होता है ॥३६॥

निष्ठीवन दोष का स्वरूप—

व्युत्सर्गालंकृतोयत्र निष्ठीवनं करोति च तथा षड्वारणं तस्यदोषो निष्ठीवनाह्वयः ।।३७।।

अर्थ---जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी थूकता रहता है अथवा खकारता रहता है उसके निष्ठीवन नामका दोष होता है ।।३७।।

अंगमर्श दोष का स्वरूप—

कायोत्सर्गयुतः कुर्याच्चपलत्वेन यो मुनिः । स्वशरीरपरामर्शं सोंगामर्शाख्यदोषवान् ।।३८।।

अर्थ—जो मुनि कायोत्सर्ग करता हुआ भी चंचल होने के कारण अपने शरीर को स्पर्श करता रहता है उसके अंगमर्श नामका दोष लगता है ।।३८।।

प्रयत्न पूर्वक दोषों के त्याग की प्रेरणा—

एते दोषाःप्रयत्नेन द्वात्रिंशत्संख्यकाः सदा । योगशुद्धया परित्याज्याः कायोत्सर्गस्थसंयतैः ।।३९।।

अर्थ—कायोत्सर्ग धारण करनेवाले मुनियोंको अपने मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक प्रयत्नपूर्वक इन बत्तीस दोषों का त्याग कर देना चाहिये ।।३९।।

निर्दोष कायोत्सर्ग का फल—

यतोमीभिर्विनिर्मुक्तं दोषः सर्वे प्रकुर्वंते । व्युत्सर्गं प्रकटीकृत्य ये सामर्थ्यं पराक्रमम् ।।४०।।
तेषां नश्यन्ति चत्वारि घातिकर्माणि जायते । केवलावगमं सर्वैर्गुणैः सहाचिरेण भोः ।।४१।।

अर्थ—क्योंकि जो मुनि अपने पराक्रम वा सामर्थ्य को प्रगट कर इन समस्त दोषों से रहित होकर कायोत्सर्ग करते हैं उनके चारों घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं और शीघ्र ही अनंत चतुष्दय आदि गुणों के साथ-साथ केवलज्ञान प्रगट हो जाता है । ।।४०-४१।।

कायोत्सर्ग की प्रेरणा—

विज्ञायेति फलं चास्य शक्ता वा मंदशक्तयः । कुर्वन्तु प्रत्यहं कायोत्सर्गं सर्वार्थसिद्धये ।।४२।।

अर्थ—इस कायोत्सर्ग का ऐसा फल समझकर समर्थ मुनियोंको व कम समर्थ मुनियों को भी अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये प्रतिदिन कायोत्सर्ग करना चाहिये ।।४२।।

कायोत्सर्ग की प्रमाणिकता—

यतोत्र निजशक्त्या स क्रियमाणोजगत्सताम् । भवत्येव न संदेहो महाफलनिबंधनः ।।४३।।

अर्थ—क्योंकि अपनी शक्तिके अनुसार किया हुआ कायोत्सर्ग जगतके सज्जन पुरुषों को महा फलका कारण होता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ।।४३।।

कायोत्सर्ग बिना शारीरिक बल की निस्सारता—

समर्था वलिनो यत्र प्रमादेन न कुर्वते । कायोत्सर्गं भवेत्तेषां व्यर्थं जंघावलादिकम् ।।४४।।

अर्थ– जो मुनि समर्थ और बलवान होकर भी प्रमाद के कारण कायोत्सर्ग नहीं करते हैं उनकी जंघा का बल व्यर्थ ही समझना चाहिये ।।४४।।

कायोत्सर्ग में प्रमाद त्याग की प्रेरणा—

मत्वेति कर्मनाशाय कायोत्सर्गो भवापहः । कर्तव्यः प्रत्यहं धीरैः प्रमादेन विनाखिलः ।।४५।।

अर्थ—यही समझकर धीर वीर पुरुषोंको अपने कर्म नष्ट करने के लिये प्रमाद को छोड़कर संसारको नाश करनेवाला यह कायोत्सर्ग प्रतिदिन करना चाहिये ।।४५।।

कायोत्सर्ग की महिमा—

विश्वाग्र्यं धर्ममूलं सकलविधिहरं तीर्थनाथैर्निषेव्यं
मुक्तिश्रीदानदक्षंगुणमणिजलधिं धीरवीरैकगम्यम् ।
दुःखघ्नं शर्मखानिं कुरुत सुविधिना ध्यानमालंब्य दक्षाः
कायोत्सर्गंशिवाप्त्यैवपुषि जगतिवानिर्ममत्वं विधाय ।।४६।।

अर्थ—यह कायोत्सर्ग संसार भरमें मुख्य है, धर्मका मूल है, समस्त कर्मों को नाश करनेवाला है, भगवान तीर्थंकर परमदेव भी इसको धारण करते हैं, यह मोक्षरूपी लक्ष्मी के देने में अत्यंत चतुर है, गुणरूपी मणियों को उत्पन्न करने के लिये समुद्र के समान है, धीर वीर पुरुष ही इसको धारण कर सकते हैं, यह समस्त दुःखों को नाश करनेवाला है और कल्याण की खानि है । ऐसा यह कायोत्सर्ग चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने शरीर से तथा संसार से ममत्व छोड़कर और शुभध्यान को आलंबन कर विधि पूर्वक अवश्य करना चाहिये ।।४६।।

आवश्यक के नाम की सार्थकता और प्रयत्नपूर्वक पालन की प्रेरणा—

अवश्यकरणादेते प्रोक्ता आवश्यका जिनैः । सर्वे सार्थक नामनो योगिनां योगकारिणः ।।४७।।
अथवामुक्तिरामावश्यवशीकरणा बुधैः । आवश्यका महान्तः षडुक्ताः सर्वार्थसाधकाः ।।४८।।
ज्ञात्वेति परिपूर्णानि दक्षैरावश्यकानि षट् । काले काले विधेयानिमहाफलकराण्यपि ।।४९।।

अर्थ—इसप्रकार जो छह आवश्यक कहे हैं वे मुनियों को अवश्य करने चाहिये

इसलिये भगवान जिनेन्द्रदेव इनको आवश्यक कहते हैं। ये सब आवश्यक सार्थक नाम को धारण करते हैं और योगियों को ध्यान उत्पन्न करनेवाले हैं। अथवा इनके द्वारा मुक्तिरूपी स्त्री अवश्य ही वशमें हो जाती है इसलिये बुद्धिमान लोग इनको आवश्यक कहते हैं। ये छहों आवश्यक महान् हैं और समस्त अर्थों को सिद्ध करनेवाले हैं। यही समझकर चतुर पुरुषों को अपने-अपने समयपर महाफल देनेवाले ये छहों आवश्यक पूर्ण रूपसे पालन करने चाहिये ।।४७-४९।।

योग्य समय पर किये गये आवश्यक का फल—

यथा धान्यानि सर्वाणि काले काले कृतानि च । महाफलप्रदानि स्युःसामग्रचात्र कुटंविनाम् ।।५०।।
तथावश्यक कृत्स्नानियोग्यकालेकृतान्यपि । इन्द्राहमिंद्रतीर्थेशादिश्रीप्रदानि योगिनाम् ।।५१।।

अर्थ—जिसप्रकार समय-समय पर उत्पन्न किये हुये धान्य कुटुम्बी लोगों को पूर्ण सामग्री के साथ महाफल देनेवाले होते हैं उसी प्रकार योग्य समय पर किए हुए समस्त आवश्यक भी मुनियों को इन्द्र अहमिन्द्र और तीर्थंकर आदि के समस्त पद और उनकी लक्ष्मी को देनेवाले होते हैं ।।५०-५१।।

असमय में आवश्यक करने से हानि—

अकाले कृतसस्यानि यथा नाभीष्टसिद्धये । कृतान्यावश्यकान्यत्रसामग्रचादिविनातथा ।।५२।।

अर्थ—जिसप्रकार असमय पर उत्पन्न किये हुये धान्यों से अपनी इष्ट सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार सामग्री आदि के बिना किए हुए आवश्यकों से भी मुनियों को इष्ट सिद्धि नहीं होती ।।५२।।

त्रियोग शुद्धि पूर्वक आवश्यक करने की प्रेरणा—

विज्ञायेति विचारज्ञाः षडावश्यकमंजसा । कालेकालेप्रकुर्वन्तु त्रिशुद्धया शिवभूतये ।।५३।।

अर्थ—यह समझकर विचारवान् पुरुषों को मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करने के लिये मन-वचन-कायको शुद्धकर समयानुसार छहों आवश्यक करने चाहिये ।।५३।।

आवश्यक की प्रमाणिकता—

सर्वसिद्धांतसारार्थमादाय श्रीगणाधिपैः । रचितानि मुनीनां च विशुद्धयै धर्मसिद्धये ।।५४।।

अर्थ—गणधर देवों ने धर्मकी सिद्धि के लिये और मुनियों के चारित्रको शुद्ध रखने के लिये समस्त सिद्धांत के सारभूत अर्थ को लेकर ये आवश्यक बतलाये हैं। ।।५४।।

शास्त्र पठन के लोभसे आवश्यक नहीं करने से हानि—

यान्यावश्यकसाराणि तानि योगतधीर्यंतिः । हीनानि कुरुते मूढः शास्त्रपाठादिलोभतः ।।५५।।
तस्मात्पलायते बुद्धिर्जडत्वं तस्यढौकते । इहामुत्रसुखंनश्येद् व्रतादिसद्गुणैः समम् ।।५६।।

अर्थ—जो बुद्धि रहित मूर्ख मुनि शास्त्रों के पठन-पाठन के लोभसे सारभूत समस्त आवश्यकों को पूर्णरूप से नहीं करता है, कम करता है उसकी बुद्धि दूर भाग जाती है मूर्खता उसपर सवार हो जाती है और व्रत आदि श्रेष्ठ गुणोंके साथ-साथ इस लोक और परलोक दोनों लोकों के उसके समस्त सुख नष्ट हो जाते हैं ।।५५-५६।।

आवश्यक करने के पश्चात् ही अन्य कार्यों की प्रेरणा—

मत्वेति योगिनः पूर्वं कृत्वावश्यकमंजसा । ततः पठन्तु शास्त्रादीन् यैः स्युः सर्वार्थसिद्धयः ।।५७।।

अर्थ—यही समझकर योगी पुरुषों को सबसे पहले आवश्यक करने चाहिये और फिर शास्त्रादिक का पठन-पाठन करना चाहिये । ऐसा करने से ही समस्त पदार्थों की सिद्धि होती है ।।५७।।

बिना आवश्यक के मोक्ष प्राप्ति असम्भव—

विनात्रावश्यकैर्यो धीरावासमीहतेशिवे । कायक्लेशेन गंतुं स मेरुंम् चरणावृते ।।५८।।

अर्थ—जो धीर वीर रहित मुनि बिना आवश्यकों के केवल काय क्लेशके द्वारा मोक्ष चाहते हैं । वे बिना पैरों के मेरुपर्वत पर चढ़ना चाहते हैं ।।५८।।

धर्मके बिना कार्य की असिद्धि—

दंतभग्नो यथा हस्तीदंष्ट्राहीनोमृगाधिपः । त्यक्तधर्मोजनो जातु न क्षमः कार्यसाधने ।।५९।।

अर्थ—जिसप्रकार टूटे दांत वाला हाथी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता बिना डाढ़ों के सिंह अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता उसी प्रकार धर्म रहित मनुष्य भी कभी अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता ।।५९।।

दृष्टान्त पूर्वक आवश्यक बिना कर्म के नाश नहीं—

तथावश्यकहीनश्च यतिः क्वचिन्नजायते । कुशलो वा समर्थोत्रस्वर्गमोक्षादिसाधने ।।६०।।
राज्यांगरहितो यद्वत्परीन्हंतुं क्षमो नृपः । कर्मारातीन् मुनिस्तद्वदावश्यक वलातिगः ।।६१।।

अर्थ—इसी प्रकार आवश्यक रहित मुनि भी स्वर्ग मोक्ष की सिद्धि करने में कभी कुशल वा समर्थ नहीं हो सकते । जिसप्रकार राज्य के अंगों से रहित राजा अपने

शत्रुओंको नष्ट नहीं कर सकता उसीप्रकार आवश्यक रूपी बलसे रहित मुनि भी कर्म-रूपी शत्रुओं को कभी नाश नहीं कर सकता ।।६०-६१।।

आवश्यक की महिमा—

मत्वेति सर्वयत्नेन रत्नत्रयविशुद्धये । सम्पूर्णानि सदा दक्षाः कुर्वन्त्वावश्यकानिषट् ।।६२।।
विश्वाच्यान् विश्ववंद्यान् शिवसुखजनकान् सर्वदोषारिहन्तृन्,
सेव्यान् लाकोत्तमाद्यैं गणधरजिनपैः धर्मवार्द्धीननघ्नन् पूतान्सारान् ।
गुणांकान्श्रुतसकलमहार्थैं विवद्धांस्त्रिशुद्धया पूर्णान्नित्यं-
प्रयत्नात्कुरुतसुमुनयः षड्विधावश्यकान् भोः ।।१२६३।।

अर्थ—यही समझकर चतुर पुरुषों को अपना रत्नत्रय विशुद्ध रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त छहों आवश्यक पालन करने चाहिये । ये छहों आवश्यक तीनों लोकों में पूज्य हैं, तीनों लोकों में वंदनीय हैं, मोक्ष सुखको देने वाले हैं, समस्त दोषरूपी शत्रुओं को नाश करनेवाले हैं, भगवान जिनेन्द्रदेव वा गणधरदेव आदि संसार के समस्त उत्तम पुरुष इनकी सेवा करते हैं, इनको धारण करते हैं, ये आवश्यक धर्मके स्वरूपको कहनेवाले हैं; पापरहित हैं, पवित्र हैं, सारभूत हैं, अनेक गुणों से सुशोभित हैं और श्रुतज्ञान के समस्त महा अर्थोंसे भरे हुए हैं । इसलिये हे मुनिराजों मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक पूर्ण प्रयत्न से इन छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से सदा पालन करो ।।६२-६३।।

१३ क्रियायें में सारभूत दो क्रिया—

त्रयोदशक्रियाणां हि मध्ये येन्नोदिते जिनैः । निषिद्धिकासिके सारे धुनातेन्न दिशाम्यहम् ।।६४।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने तेरह क्रियाओं में निषिद्धिका और आसिका ये सारभूत दो क्रियाऐं बतलाई हैं आगे इन्हीं दोनों का स्वरूप कहते हैं ।।६४।।

निषिद्धिका का स्वरूप और उसकी महिमा—

भवेद्योत्र निषिद्धात्मा महायोगीजितेन्द्रियः । कषायांगममत्वादौ मनोवाक्कायकर्मभिः ।।६५।।
प्रोक्ता महामुनेस्तस्यसार्थापूज्यानिषिद्धिका । तीर्थभूता जगद्वंद्या धर्मखानिर्गणाधिपैः ।।६६।।

अर्थ—जो जितेन्द्रिय महायोगी कषाय और शरीर के ममत्व आदि में मन-वचन-काय के तीनों योगों से निषिद्ध स्वरूप रहते हैं कषाय और शरीर ममत्व नहीं करते उन महा मुनियोंके पूज्य और सार्थक निषिद्धिका कही जाती है । यह निषिद्धिका

तीर्थभूत है, जगतवंद्य है और धर्मकी खानि है, ऐसा गणधरदेवों ने कहा है ।।६५-६६।।

कषाय, ममत्व घटे बिना निषिद्धिका व्यर्थ—

अपरस्यानिषिद्धस्य योगिनश्चंचलात्मनः । निषिद्धिकाभिधः शब्दो भवत्येवात्र केवलम् ।।६७।।

अर्थ— जिन मुनियोंके मन-वचन-काय चंचल हैं और जिनके कषाय और ममत्व घटे नहीं हैं उनके लिये निषिद्धिका शब्द केवल नाममात्र के लिये कहा गया है ।।६७।।

आसिका का स्वरूप, ख्याति पूजा की इच्छा करनेवाले के आसिका क्रिया व्यर्थ—

इहामुत्राक्षभोगादौख्यातिपूजादि कीर्तिषु । सर्वाशाभ्योविनिर्युक्तो भुक्तिकांक्षी मुनीश्वरः ।।६८।।
योत्र तस्ययतीन्द्रस्यासिका संज्ञा जिनोदिता । आकांक्षिणोऽपरस्यासिका शब्दः केवलंभवेत् ।।६९।।

अर्थ—जो मुनिराज इस लोक और परलोक दोनों लोक संबंधी इन्द्रिय भोगों में तथा ख्याति पूजा और कीर्ति में समस्त आशाओं से रहित हैं और जो केवल मोक्ष की इच्छा रखते हैं उन मुनिराजों की आसिका संज्ञा भगवान जिनेन्द्रदेव ने बतलाई है। तथा जो मुनि भोगादिकों की इच्छा करते हैं अथवा ख्याति पूजा वा कीर्ति की इच्छा करते हैं उनके लिये आसिका शब्द केवल नाममात्र के लिये कहा गया है ।।६८-६९।।

वचन पूर्वक निषिद्धिका आसिका करने की प्रेरणा—

यथायोग्यमिमेयुक्त्यै निषिद्धिकासिकेशुभे । त्रयोदशक्रियासिद्धयै क्रियते वचसा बुधैः ।।७०।।

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा तेरह क्रियाओं को सिद्ध करने के लिये यथायोग्य रीति से वचन पूर्वक निषिद्धिका और आसिका ये दोनों क्रियाएँ करनी चाहिये ।।७०।।

केशलोंच का स्वरूप—

इत्यावश्यकमाख्याययतीनां हितसिद्धये । शेषमूलगुणान् वक्ष्ये लोचादिप्रमुखानहम् ।।७१।।
हस्तेनमस्तके कूर्चश्मश्रूणां यद्विधीयते । उत्पाटनं विना क्लेशं सद्भिः लोचः स उच्यते ।।७२।।

अर्थ—इसप्रकार यतियों का हित करने के लिये आवश्यकों का स्वरूप कहा अब आगे केशलोंच आदि अन्य मूलगुणों को कहते हैं। मुनिराज जो बिना किसी क्लेश के अपने हाथ से ही मस्तकके तथा डाढी मूछों के बाल उखाड़ डालते हैं उसको सज्जन पुरुष लोच कहते हैं ।।७१-७२।।

उत्कृष्ट मध्यम जघन्य केशलोंच का स्वरूप—

क्रियते यो द्विमासाभ्यां लोचःउत्कृष्ट एव सः । त्रिमासैर्मध्यमस्तुर्यमासैर्जघन्य एव च ।।७३।।

अर्थ—जो लोंच दो महीने में किया जाता है वह उत्कृष्ट कहलाता है, जो तीन महीने में किया जाता है वह मध्यम कहलाता है और जो चार महीने में किया जाता है वह जघन्य कहलाता है ।।७३।।

चौथे महिने के उल्लंघन का निषेध—

तुर्य्यामासान्तरे लोचः कर्तव्यो मुनिभिः सदा । रागक्लेशादिकोटीभिः पंचमेमासि जातु न ।।७४।।

अर्थ—मुनियोंको चौथे महीने के भीतर ही लोंच कर लेना चाहिये । करोड़ों रोग वा क्लेश होनेपर भी पांचवें महीने में लोंच नहीं करना चाहिये ।।७४।।

केशलोंच की महिमा—

लोचेन प्रकटं वीर्यं जिनलिंगं च योगिनाम् । अहिंसाव्रत मत्यर्थं कायक्लेशं तपो भवेत् ।।७५।।
तथास्य करणेनैव वैराग्यं वर्द्धतेतराम् । हीयते रागशत्रुश्चांगादौनिर्ममता परा ।।७६।।

अर्थ—केश लोच करने से मुनियों की सामर्थ्य प्रगट होती है जिनलिंग प्रगट होता है अहिंसा व्रतकी वृद्धि होती है और कायक्लेश नामका तपश्चरण होता है । इसके सिवाय इस केशलोचके करने से वैराग्य की वृद्धि होती है, राग रूप शत्रु नष्ट होता है और शरीर से होनेवाले निर्ममत्व की अत्यंत वृद्धि होती है ।।७५-७६।।

उपवास पूर्वक केशलोंच करने की प्रेरणा—

इत्यादिगुण वृद्धयर्थं योगिभिर्लोच एव हि । उपवासदिने कार्या न जातुमुंडनादिकः ।।७७।।

अर्थ—इस प्रकार अनेक गुणों की वृद्धि करने के लिये मुनियों को उपवास के दिन लोच ही करना चाहिये उन्हें मुंडन आदि कभी नहीं कराना चाहिये । ।।७७।।

क्षौर कर्म का निषेध—

यतो न काकनीमात्रः संग्रहोस्तिमहात्मनाम् । येनात्र कार्यते क्षौरं तस्माल्लोचः कृतोमहान् ।।७८।।
हिंसाहेतुभयाद्यस्मास्त्रमात्रं न चाश्रितम् । मुनिभिःपापभीतैर्यं तेषां लोचोजिनैर्मतः ।।७९।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि महात्मा मुनियोंके पास सलाई मात्र भी परिग्रह नहीं होता जिससे वह क्षौर करले इसीलिये मुनियों को लोंच करना ही सर्वोत्कृष्ट माना है । कोई भी अस्त्र रखना हिंसा का कारण है अतएव पापों से डरने वाले मुनि हिंसा के हेतुके भय से कोई अस्त्र नहीं रखते । इसलिये भगवान जिनेन्द्रदेव ने मुनियों के लिये लोच ही बतलाया है ।।७८-७९।।

केशलोंच का उपसंहारात्मक विवरण—

इतिगुणमणिखानिं सर्वतीर्थेशसेव्यं मुनिवरगतिहेतुं सत्तपो धर्मबीजम् ।
सुरशिवगतिमार्गं मुक्तिकामाः कुरुध्वं दुरिततिमिर भानुं लोचमात्माविशुद्धयै ॥८०॥

अर्थ—यह केश लोच ऊपर लिखे हुए अनेक गुणरूपी मणियों की खानि है, समस्त तीर्थंकर इसकी सेवा करते हैं अर्थात् लोच करते हैं; यह मुनियों को श्रेष्ठ गति का कारण है, धर्म का बीज है, मोक्ष वा स्वर्गगति का मार्ग है, और पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिये सूर्य के समान है। ऐसा यह लोच मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिये अवश्य करना चाहिये ॥८०॥

अचेलकत्व मूलगुण का स्वरूप—

वस्त्रेणाजिनवल्कास्यां रोमपत्रतृणादिभिः पट्टकूलेन वान्यैश्च सर्वैरावरणैः परैः ॥८१॥
संस्कारैर्वर्जितं जातरूपं यद्धार्यते भुवि । सर्वदामुक्तिकामैस्तदचेलकत्वमुच्यते ॥८२॥

अर्थ— मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनि न तो वस्त्र धारण करते हैं न चमड़े से शरीर ढकते हैं, न वृक्षोंकी छाल पहनते हैं, न ऊनी वस्त्र पहनते हैं, न पत्ते तृण आदि से शरीर ढकते हैं, न रेशमी वस्त्र धारण करते हैं तथा और भी किसी प्रकार का आवरण धारण नहीं करते। समस्त संस्कारोंसे रहित उत्पन्न होनेके समय जैसा इसका नग्न रूप धारण करते हैं इसको अचेलकत्व मूलगुण कहते हैं ॥८१-८२॥

अचेलकत्व मूलगुण की पूज्यता—

इदमेव जगत्पूज्यं मोक्षमार्गप्रदीपकम् । गृहीतं श्रीजिनेन्द्राद्यैर्वंद्यं देवनराधिपैः ॥८३॥
यतः पुरुषसिंहा ये जिनचक्रिबलादयः । एतल्लिंगं गृहीतं तैर्धीरैर्विश्वार्थसिद्धये ॥८४॥

अर्थ—यह नग्नरूप धारण करना ही जगत में पूज्य है मोक्षमार्गको दिखलाने वाला दीपक है, भगवान जिनेन्द्रदेव भी इसको धारण करते हैं और इसीलिये यह देवेन्द्र और नरेन्द्रों के द्वारा भी वंदनीय है। क्योंकि तीर्थंकर चक्रवर्ती बलभद्र आदि जितने उत्तम पुरुष हुए हैं उन समस्त धीर वीर पुरुषों ने अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये यह जिनलिंग धारण किया है ॥८३-८४॥

कायर ही वस्त्र धारण करते है—

कातरा ये निराकर्तुमक्षमा हि कुलिंगिनः । कामादिकविकारांस्तैर्गृहीतं चीवरादिकम् ॥८५॥

अर्थ—जो कुलिंगी और कातर पुरुष कामादिक विकारों को नष्ट करने में

समर्थ नहीं हैं वे ही वस्त्र ग्रहण करते हैं शूरवीर नहीं ।।८५।।

अचेलकत्व मूल का पालने का फल—

जायन्ते जैननिर्ग्रंथरूपेण त्रिजगच्छ्रियः । शक्रचक्रिजिनेशादिपदान्यचिरतः सताम् ।।८६।।
तथा नैर्ग्रंथ्यवेषेण रत्नत्रितयभागिनाम् । किंकरा इवसेवन्ते पादपद्मान् सुरेश्वराः ।।८७।।
अहो मुक्तिवधूरेत्य दत्तेत्रालिंगनं मुदा । दिगलंकार भाजां का कथादेवादियोषिताम् ।।८८।।

अर्थ—इस जिनलिंग वा निर्ग्रंथ अवस्था से सज्जन पुरुषों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है और इन्द्र चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि के उत्तम पद शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं । इसके सिवाय इस निर्ग्रंथ अवस्थाको धारण करने से रत्नत्रय धारण करने वाले मुनियों के चरण कमलों को इन्द्र भी आकर किंकर के समान सेवा करते हैं । आश्चर्य तो यह है कि दिशा रूपी वस्त्र अलंकार धारण करनेवाले मुनियों को मोक्ष रूपी स्त्री भी स्वयं आकर आलिंगन करती है फिर देवियों की तो बात ही क्या है । ।।८६-८८।।

ब्रह्मचर्य की महिमा—

ब्रह्मचर्यं परं मन्ये तेषां ब्रह्ममयात्मनाम् । सर्वमाचरणं त्यक्तं यै र्नागांवृतदहिनाम् ।।८९।।
नग्ना अपि न तेनग्ना ये ब्रह्मांशुक भूषिताः । वस्त्रावृताश्च ते नग्ना ये ब्रह्मव्रतदूरगाः ।।९०।।
नग्नत्वे ये गुणा व्यक्ता ब्रह्मचर्यप्रदीपकाः । वस्त्रावृते च ते सर्वे दोषाः स्युर्ब्रह्मघातकाः ।।९१।।

अर्थ—जिन्होंने अपने वस्त्र लंगोटी आदि समस्त आवरणोंका त्याग कर दिया है जिनके शरीर पर कुछ भी आवरण नहीं हैं परंतु पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालन करते हैं । उन्हीं का ब्रह्मचर्य सर्वोत्कृष्ट समझना चाहिये । जो मुनि ब्रह्मचर्य रूपी वस्त्रों से सुशोभित हैं वे नग्न होते हुए भी नग्न नहीं कहलाते । तथा जो ब्रह्मचर्य व्रत से दूर रहते हैं और वस्त्रावरण धारण करते हैं वे नग्न न होने पर नग्न वा नंगे कहलाते हैं । नग्न अवस्था धारण करने से ब्रह्मचर्य को दिखलाने वाले दीपक के समान जो जो गुण हैं वे सब वस्त्र पहन लेने पर ब्रह्मचर्य को घात करनेवाले दोष कहलाते हैं ।।८९-९१।।

अल्प परिग्रह भी दुःख का कारण—

तथा कौपीनमात्रेपि सतिभोगे भवन्त्यपि । योगिनां बहवो दोषाश्चिन्तादुर्ध्यानहेतवः ।।९२।।
कौपीनेपि क्वचिन्नष्टे चित्त व्याकुलता भवेत् । तथा दुर्ध्यानमन्यस्य प्रार्थना विश्वनिंदिता ।।९३।।

अर्थ—यदि कोपीन मात्र का भी उपयोग किया जाय तो भी योगियों को

उससे चिंता और अशुभध्यान के कारण ऐसे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यदि कहीं वह कोपीन नष्ट हो जाय तो चित्त में व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है और आर्तध्यान होने लगता है तथा संसार में अत्यंत निंदनीय ऐसी उसके लिये प्रार्थना दूसरों से करनी पड़ती है ॥९२-९३॥

शुभध्यान की सिद्धि नग्नता से ही होती है—

इत्यादि चेलसंगस्य ज्ञात्वा दोषान् बहून्विदः। अचेलस्य गुणान् सारान् धर्मशुक्लादिसिद्धये ॥
दुर्ध्यानहानये नित्यं कुर्वन्ति श्रीजिनादयः। निर्दोषं स्वाखिलांगे हो दिगष्टावरणं परम् ॥९५॥

अर्थ—इसप्रकार इस वस्त्र धारण करने के अनेक दोष समझकर और नग्नत्व के सारभूत अनेक गुण समझकर चतुर तीर्थंकर परमदेव भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि के लिये तथा अशुभध्यानोंको दूर करने के लिये अपने समस्त शरीर पर सब दोषों से रहित ऐसा दिशाओं का आवरण ही धारण करते हैं ॥९४-९५॥

मोक्ष सिद्धि में वस्त्र की बाधकता—

यतस्तीर्थेश्वरोप्यत्र यावद्वस्त्रं त्यजेन्न च। तावन्न लभते मोक्षं काकथापरयोगिनाम् ॥९६॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि तीर्थंकर परमदेव भी जब तक वस्त्रों का त्याग नहीं करते हैं तब तक उनको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती फिर भला अन्य योगियों की तो बात ही क्या है ॥९६॥

नग्नता धारण करने की प्रेरणा—

मत्वेति मुक्ति कामा हि त्यक्त्वा चेलादिमंजसा। कलंकमिव मुक्त्याप्त्यै स्वाचेलत्वं भजन्तु च ॥

अर्थ—यही समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियों को कलंक के समान वस्त्रादि का त्याग बड़ी शीघ्रता के साथ कर देना चाहिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये नग्न अवस्था धारण करनी चाहिये ॥९७॥

अचेल मूलगुण का उपसंहारात्मक विवरण—

असमगुण निधानंमुक्तिधामाग्रमार्गं जिनगणधरसेव्यं विश्वसौख्यादिखानिम्।
त्रिभुवनपतिवंद्यं धीधनाः स्वीकुरुध्वं शुभशिवगतयेत्रा चेलकत्वं त्रिशुद्धया ॥९८॥
स्नानोद्वर्तनसेकादीन् मुखप्रक्षालनादिकान्। संस्कारान्सकलान् त्यक्त्वा स्वेद जल्लमलादिभिः ॥
लिप्तांगं धार्यते यच्च स्वान्तः शुद्धयै विशुद्धये। तदस्नान व्रतं प्रोक्तं जिनैरंतर्मलापहम् ॥१३००॥

अर्थ—यह नग्नत्व गुण अनेक सर्वोत्कृष्ट गुणों का निधान है, मोक्ष महल का

मुख्य मार्ग है, तीर्थंकर और गणधरदेव भी इसको धारण करते हैं, समस्त सुखों की खानि है और तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसकी वंदना करते हैं। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक यह नग्नत्व धारण करना चाहिये। जो मुनि अंतःकरण को शुद्ध रखने के लिये और आत्माकी शुद्धता प्राप्त करने के लिए स्नान, उबटन, शरीर का सिंचन और मुख प्रक्षालन आदि समस्त संस्कारों का त्याग कर देते हैं तथा पसीना कफ आदि मल से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव समस्त मल को दूर करनेवाला अस्नान नामका व्रत कहते हैं ।।१२९८-१३००।।

स्नान त्याग मूलगुण का स्वरूप—

अनेन व्रतसारेण निर्ममत्वादयो गुणाः। जायन्तेयमिनां नूनं शुद्धयोघमलान्तकाः ।।१३०१।।
रागद्वेषादिमोहानां हानयश्च व्रतादयः। अहिंसादिकं सम्पूर्णं वैराग्यादिविवृद्धयः ।।१३०२।।

अर्थ—इस अस्नान नामके उत्तम व्रतसे मुनियों के निर्ममत्व आदि पापरूपी मलको दूर करनेवाले शुद्ध गुण प्रकट होते हैं। इस अस्नान व्रतसे रागद्वेष मोह आदि सब विकार नष्ट हो जाते हैं तथा अहिंसादिक पूर्ण वैराग्य को प्रगट करनेवाले व्रत वृद्धिको प्राप्त होते रहते हैं ।।१३०१-१३०२।।

स्नान करने से हानि—

यतः स्नानेन जायन्ते षड्जीवानां परिक्षयः। तेन पापं परंरागो महान् ब्रह्मादिघातकः ।।१३०३।।
ततः स्नानेन जायन्तेऽभ्यन्तरे दुर्धियां तराम्। रागाद्यैः पापकर्मादिमलास्तद्गुण नाशिनः ।।४।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि स्नान करने से छहों काय के जीवों का घात होता है और उन जीवोंका घात होने से परम पाप होता है। इसके सिवाय स्नान करने से ब्रह्मचर्य को घात करनेवाला महा राग प्रगट होता है। अतएव स्नान करने से उत्पन्न हुए राग के कारण दुर्बुद्धि के हृदयमें उनके आत्मगुणों को नाश करनेवाले पापकर्म रूप महा मल प्रगट होते हैं ।।१३०३-१३०४।।

स्नान त्याग मूलगुण अन्तरंग शुद्धि का कारण—

अस्नान व्रतभूषानामन्तःशुद्धिः पराभवेत्। रागादि त्यजनैः कर्म नाशजामुक्तिमातृका ।।५।।

अर्थ—जो मुनि अस्नान व्रतसे सुशोभित हैं उनके रागादिक का त्याग हो जाने के कारण कर्मों को नाश करनेवाली और मोक्ष को देनेवाली सर्वोत्कृष्ट अंतःकरण की

शुद्धि प्रगट होती है ।।५।।

स्नान अन्तरंग शुद्धि का कारण नहीं—

मद्यंकुम्भा यथा धौता जलैः शुद्धा न जातुचित् । तथा मिथ्यादृशः स्नानैरन्तःपापमलीमसाः ।।६।।

अर्थ—जिसप्रकार मद्य से भरा हुआ घड़ा जलसे धोने पर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसी प्रकार अंतःकरण के पापोंसे महा मलिन मिथ्या दृष्टि भी स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकते ।।६।।

मुनि अन्तरंग शुद्धि के कारण सदा निर्मल ही होते हैं—

घृतकुम्भा यथा शुद्धा मलिनाः क्षालनैर्विना । तथान्तः शुद्धिमापन्ना योगिनो निर्मलाः सदा ।।७।।

अर्थ—जिसप्रकार घी का घड़ा ऊपर से मलिन होने पर भी बिना धोने पर शुद्ध माना जाता है उसी प्रकार अंतःकरण में अत्यन्त शुद्धता को धारण करनेवाले मुनिराज भी सदा निर्मल रहते हैं ।।७।।

देह स्नान अन्तरंग शुद्धि का कारण नहीं—

यदि स्नानेन शुद्धिश्चेत्तर्हिवंद्या विशुद्धये । मूढैर्मत्स्यादयो व्याधा नान्तःशुद्धाश्चसज्जनाः ।।८।।
अत्यन्त मलिनः कायः पूतो जातु न जायते । जलैर्निसर्गशुद्धोस्ति स्वात्मापूर्वं जलादृते ।।९।।

अर्थ—यदि स्नान करने से ही शुद्धि मानी जाय तो फिर मूढ पुरुषोंको अपनी शुद्धता प्रगट करने के लिये मछलियों की वा धीवरों की वंदना करनी चाहिये । अंतरंग में शुद्धता धारण करनेवाले सज्जनों की वंदना कभी नहीं करनी चाहिये । देखो यह शरीर अत्यंत मलिन है इसलिये वह जलसे कभी शुद्ध नहीं हो सकता । इसीप्रकार यह अपनी आत्मा बिना जलके स्नान के ही स्वभाव से ही शुद्ध है ।।८-९।।

चतुर पुरुष स्नान त्याग करते हैं मूर्ख हो इसे स्वीकार करते हैं—

तस्माद् व्यर्थं जलस्नानं रागपापादिवर्द्धकम् । दक्षैस्त्यक्तं महामूढैः स्वीकृतं धर्मदूरगैः ।।१०।।

अर्थ—इसलिये मुनियों के लिये जलसे स्नान करना व्यर्थ है और राग तथा पापों को बढ़ाने वाला है । इसलिये चतुर लोगों ने इसका त्याग कर दिया है और धर्म से दूर रहने वाले महा मूर्खों ने इसको स्वीकार कर लिया है ।।१०।।

जल से शुद्धि मानने वाला मनुष्य पशु के समान है—

सप्तधातुमयेदेहे सर्वाशुचि कुटीरके । मन्यन्ते ये जलैः शुद्धि पशवस्ते नरा न च ।।११।।

अर्थ—यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है और समस्त अशुद्ध पदार्थोंका घर है। ऐसे इस शरीर की शुद्धि जो जल से मानते हैं उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिये किंतु उन्हें पशु समझना चाहिये ।।११।।

बुद्धिमानों को आत्मशुद्धि के लिये अस्नान व्रत स्वीकार करना चाहिये—

इत्यस्नानगुणान् ज्ञात्वादोषान् स्नानभवान् बहून् । अयध्वं धीधनाः शुद्धयै ह्यस्नानव्रतमूर्जितम् ।।

अर्थ—इसप्रकार अस्नान व्रतके अनेक गुणों को समझकर और स्नानसे उत्पन्न होनेवाले बहुत से दोषों को समझकर बुद्धिमान लोगों को अपने आत्मा को शुद्ध करने के लिये सर्वोत्कृष्ट अस्नान व्रतको ही स्वीकार करना चाहिये ।।१२।।

अस्नान व्रतकी महिमा—

रहितनिखिलदोषंरागनिर्नाशहेतु मसमगुणसमुद्रं लोक नाथैकपूज्यम् ।
जगतिपरपवित्रं शुद्धिदं पापहान्यै भजतविगतसंगाः नित्यमस्नानसारम् ।।१३।।

अर्थ—यह अस्नान वृत समस्त दोषों से रहित है, राग को नाश करने का कारण है, सर्वोत्कृष्ट गुणोंका समुद्र है, तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी इसको पूज्य समझते हैं, यह संसार भरमें पवित्र है और आत्मा को शुद्ध करनेवाला है। इसलिये परिग्रह रहित मुनियों को अपने पाप नष्ट करने के लिये इस अस्नान वृतको नित्य ही पालन करना चाहिये ।।१३।।

भूमि शयन नामक मूलगुण का स्वरूप—

संस्तरे निर्जनेतिर्यक्स्त्री क्लीवादिविवर्जिते । अल्पसंसरितेप्रासुकभूम्यादिक गोचरे ।।१४।।
एकपार्श्वंधनुर्दंडादिशय्याभिर्विधीयते । शयनं यच्छ्रमोत्थित्यै धराशयनमेवतत् ।।१५।।

अर्थ—मुनिराज अपना परिश्रम दूर करने के लिये तिर्यंच स्त्री नपुंसक आदि रहित निर्जन एकांत स्थान में किसी थोड़ी सी बिछी हुई घास आदि पर अथवा प्रासुक भूमि पाषाण तखता आदि पर किसी एक करवट से अथवा धनुषके समान पैर समेट कर वा डंडेके समान शयन करते हैं उसको भूमिशयन नामका मूलगुण कहते हैं ।।१४-१५।।

भूमि शयन करने में गुण और कोमल शय्यापर सोने से उत्पन्न दोष—

व्रतेनानेन जायन्ते दृढं तुर्यमहाव्रतम् । निद्राजयश्च रागादिहानिः संवेगऊर्जितः ।।१६।।
मृदुशय्यादिना निद्रा वर्द्धते पापकारिणी । तया ब्रह्मविनाशश्च स्वप्ने शुक्रच्युते नृणाम् ।।१७।।
एषः सर्वप्रमादानां निद्राप्रमाद ऊर्जितः । विश्वपापकरीभूतोऽनेका नर्थादिसागरः ।।१८।।

अर्थ—इस भूमिशयन व्रतसे ब्रह्मचर्य महाव्रत अत्यन्त दृढ़ हो जाता है, निद्रा का विजय होता है, रागकी हानि होती है और उत्कृष्ट संवेग प्रगट होता है। कोमल शय्यापर सोने से पाप उत्पन्न करनेवाली निद्रा बढ़ती है, और स्वप्न में वीर्य स्खलित हो जाने के कारण मनुष्यों का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है। समस्त प्रमादों में यह निद्रा नामका प्रमाद हीं प्रबल है। यह निद्रा नामका प्रमाद समस्त पापों को उत्पन्न करने वाला है और अनेक अनर्थों का समुद्र है ॥१६-१८॥

भूमि शयन निद्रा विजय का कारण—

मत्वेत्यल्पान्नपानाद्यैः काठिन्यैः शयनासनैः। निद्रा जयं प्रकुर्वीध्वं मुनींद्राः ध्यानसिद्धये ॥१९॥

अर्थ—यही समझकर मुनियों को अपने ध्यानकी सिद्धि के लिये अन्न पानकी मात्रा अत्यंत कम करने से तथा कठिन आसनों पर बैठने से और कठिन शय्यापर सोने से निद्रा का विजय करना चाहिये ॥१९॥

ध्यान सिद्धि के लिये निद्रा विजय की आवश्यकता—

यतो निद्रापिशाचीं येऽधमा जेतुमिहाक्षमाः। ध्यानशुद्धिः कुतस्तेषां तां विना निष्फलं तपः ॥२०॥

अर्थ— इसका भी कारण यह है कि जो नीच इस निद्रा रूपी पिशाचिनी को जीतने में असमर्थ हैं उनके ध्यान की शुद्धि कैसे हो सकती है और बिना ध्यानकी शुद्धि के उनका तपश्चरण भी सब व्यर्थ ही समझना चाहिये ॥२०॥

दिन में निद्रा निकालने का निषेध—

विज्ञायेति न कर्तव्या निद्रापापखनी क्वचित्। दिवसे सति रोगादौ ध्यानिभिर्ध्यान नाशिनी ॥

अर्थ—यही समझकर ध्यान करनेवाले मुनियों को रोगादिक के होनेपर भी पाप की खानि और ध्यान को नाश करनेवाली ऐसो निद्रा दिन में कभी नहीं लेनी चाहिये ॥२१॥

रात्रि के प्रथम और अन्तिम पहर में निद्रा लेने का निषेध—

किन्तु मध्यविभागे च निशानां योगिनायकाः। आन्तमुहूर्तिकीं निद्रां शिलाभूफलकादिषु ॥२२॥
कुर्वन्तु स्वमहायोगश्रमश्रान्त्यादि हानये। न पूर्वे पश्चिमे यामे सति प्राणात्ययेपि भोः ॥२३॥

अर्थ—इसलिये हे योगिराजों! अपने महायोग से उत्पन्न हुए परिश्रम को शांत करने वा दूर करने के लिये शिला भूमि वा तखते पर रात्रि के मध्य भाग में अंतर्मुहूर्त तक निद्रा लो। रात्रि के पहले भाग में वा रात्रि के पिछले भाग में कंठगत

प्राण होनेपर भी निद्रा मत लो ।।२२-२३।।

भूमि शयन मूलगुण की महिमा और धारण करने की प्रेरणा—

बुधजन परिसेव्यं धर्मशुक्लादि मूलं, श्रमहरमपदोषं योगबीजं गुणाब्धिम् ।
निहतमदनसर्पं निष्प्रमादत्वहेतुं, क्षितिशयनमतंद्रामुक्तये स्वीकुरुध्वम् ।।१३२४।।

अर्थ—इस भूमिशयन नामके मूलगुण को विद्वान लोग धारण करते हैं, यह धर्मध्यान और शुक्लध्यानका कारण है, परिश्रम को हरण करनेवाला है, समस्त दोषों से रहित है, योगसाधन का कारण है, गुणों का समुद्र है, कामरूपी सर्पको नाश करने वाला है और प्रमाद को दूर करने का कारण है । इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये तथा तंद्रा दूर करने के लिये इस भूमिशयन वृत को अवश्य धारण करना चाहिये । ।।२४।।

अदन्त धावन मूलगुण का स्वरूप—

स्वनखांगुलिपाषाणलेखिनीखर्परादिभिः । तृणत्वजादिकैर्यश्चदंतानां मलसंचयः ।।२५।।
न निराक्रियते जातु वैराग्याय मुनीश्वरैः । अदंतवनमेवात्र तद्रागादिनिवारकम् ।।२६।।

अर्थ—मुनिराज अपना वैराग्य बढ़ाने के लिये अपने नखों से, उंगली से, पत्थर से, कलम से, खप्पर से, तृण से वा छाल से दांतों में इकट्ठे हुए मल को कभी दूर नहीं करते हैं उसको रागादिकको दूर करनेवाला अदंतधावन नामका मूलगुण कहते हैं ।।२५-२६।।

अदन्त धावन से लाभ और दन्त धावन से हानि—

अनेन वीतरागत्वादयो व्यक्तागुणाः सताम् । जायन्ते च प्रणश्यन्ति दोषा रागादयोखिलाः ।।२७।।
मुखादिधोवनं दंतघर्षणं ये वितन्वते अंगसंस्कारमत्यर्थं तेषां रागोत्कटो भवेत् ।।२८।।
रागात्कामश्च कामेन व्रतभंगोखिलोद्भूतः । तेन पापं महत्पापान्मज्जनं नरकाम्बुधौ ।।२९।।

अर्थ—इस अदंतधावन वृतसे सज्जनोंके वीतरागादिक गुण प्रगट हो जाते हैं तथा रागादिक समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं । जो पुरुष अपना मुख धोते हैं दंतधावन करते हैं और शरीर का खूब संस्कार करते हैं उनके उत्कट राग उत्पन्न होता है । उस उत्कट रागसे काम के विकार उत्पन्न होते हैं काम के विकारों से वृतोंका भंग होता है, समस्त वृत भंग होने से महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से इस जीव को नरकरूपी महासागर में डूबना पड़ता है ।।२७-२९।।

दन्त धावन त्याग की प्रेरणा—

मत्वेति यतयो नित्यं त्यजन्तु दूरतोखिलम् । मुखप्रक्षालनांगादिसंस्कारदन्तपावनम् ।।३०।।

अर्थ—यही समझकर मुनियों को मुखप्रक्षालन करना, शरीर का संस्कार करना, दंतधावन करना आदि सबका त्याग दूरसे ही सदा के लिये कर देना चाहिये। ।।३०।।

अदन्त धावन की महिमा—

शम यमदमसौधं वीतरागत्वमूलं वरयतिगुण वार्द्धि दुर्विकारादि दूरम् ।
सुरशिवगतिमार्गं त्यक्तसंगा अदंतवनमपगतदोषं शुद्धये हो भजन्तु ।।३१।।

अर्थ—यह अदंतधावन नामका गुण समतापरिणाम, यम नियम और इन्द्रिय दमनके रहने के लिये राजभवन है, वीतरागता का कारण है, श्रेष्ठ मुनियों के गुणों का समुद्र है, अशुभविकारों से सर्वथा रहित है स्वर्ग मोक्षका कारण है और समस्त दोषोंसे रहित है। इसलिये परिग्रह रहित मुनियों को अपनी आत्मा शुद्ध करने के लिये यह अदंतधावन नामका गुण अवश्य धारण करना चाहिये ।।३१।।

स्थिति भोजन मूलगुण का स्वरूप—

स्वपादस्थापनो त्सृष्टपात्रदातृजनाश्रिते । धरात्रिके विशुद्धेऽघ्रीस्थापयित्वासमौ बुधैः ।।३२।।
पाणिपात्रेण कुड्यादीननाश्रित्यान्यधामनि । अशनं भुज्यते शुद्धं यत्तत्स्यात्स्थिति भोजनम् ।।

अर्थ—अपने पैरों के रखने के बाद बची हुई भूमि में दाप्ता वा बर्तन आदि आहार सामग्री के रखने की जगह हो ऐसी तीन प्रकार की विशुद्ध पृथ्वीपर अपने दोनों पैरों को समान स्थापन कर बुद्धिमान मुनियों को दूसरे के घर में जाकर दीवाल आदि के सहारे के बिना खड़े होकर करपात्रमें शुद्ध भोजन लेना चाहिये इसको स्थिति भोजन नामका मूलगुण कहते हैं ।।३२-३३।।

स्थिति भोजन के गुण—

स्थितिभोजनसारेण व्यक्तं वीर्यं प्रजायते । आहारगृद्धिहानिश्च जिह्वायाति वशं सताम् ।।३४।।
निविष्ट भोजने नैवाहारसंज्ञा च वर्द्धते । लांपट्यं रसनाक्षाणामिह वैषयिके सुखे ।।३५।।
कातरत्वं यतोमीषां प्रतिज्ञेमा परा सताम् । पाण्योः संयोजनं यावत्स्थिरौ पादौ समस्थितौ ।।३६।।
तावद्गृह्णामि चाहारमन्यथानशनं परम् । इत्यादिगुणसंसिद्ध्यै स्थितिभोजनमूर्जितम् ।।३७।।

अर्थ—इस सारभूत स्थिति भोजन से सज्जन पुरुषों की सामर्थ्य प्रगट होती

है, आहार की लंपटता नष्ट होती है और जिह्वा इंद्रिय वश में हो जाती है । बैठकर भोजन करने से आहार संज्ञा बढ़ती है और रसना इंद्रिय से उत्पन्न हुए वैषयिक सुखोंमें अत्यन्त लंपटता बढ़ जाती है । इसके सिवाय बैठकर भोजन करने में कातरता सिद्ध होती है । इसलिये सज्जन मुनियोंकी यह प्रतिज्ञा रहती है कि जब तक मेरे दोनों हाथ मिल सकते हैं और मेरे दोनों पैर खड़े होने के लिये स्थिर रह सकते हैं तभी तक मैं आहार ग्रहण करूंगा अन्यथा उपवास धारण करूंगा । इसप्रकार के अनेक गुण प्रगट होने के लिये स्थिति भोजन नामका उत्कृष्ट गुण बतलाया है ।।३४-३७।।

स्थिति भोजन नहीं करने से हानि—

ज्ञात्वेति मुनिभिः सर्वै र्व्याधिक्लेशादि कोटिषु । प्राणनाशेपि न ग्राह्यमुपविष्टेन भोजनम् ।।३८।।
तिर्यक् स्थितेन सुप्तेन वांगाधोनमनेन च । सुखाय वा प्रमादेनसंत्यज्यं स्थितभोजनम् ।।३९।।
यतो मूलगुणस्यास्य भंगेन पापमुल्बणम् । पापेन दुर्गतौ पुंसां भ्रमणं चायशश्चिरम् ।।४०।।
इति दोषं परिज्ञाय निविष्टैः संयतैः क्वचित् । जलपानं च पूगादि भक्षणं न विधीयते ।।४१।।

अर्थ—यही समझकर मुनियों को करोड़ों व्याधि और क्लेश होनेपर भी तथा प्राणों का नाश होनेपर भी बैठकर भोजन कभी नहीं करना चाहिये । जो मुनि टेढ़ी रीतिसे खड़े होकर आहार लेता है वा खड़े ही खड़े सोता हुआ आहार लेता है वा अपने शरीर को नीचा नवाकर आहार लेता है अथवा सुख के लिये वा प्रमाद के कारण खड़े होकर आहार नहीं करता तो उसका यह मूलगुण भंग हो जाता है । मूलगुण भंग होने से महापाप उत्पन्न होता है तथा महापाप उत्पन्न होने से इस मनुष्य को दुर्गति में परिभ्रमण करना पड़ता है, तथा चिरकाल तक उसका अपयश बना रहता है । इसप्रकार दोषों को समझकर मुनियों को बैठकर कभी भी जलपान वा सुपारी आदि का भक्षण नहीं करना चाहिये ।।३८-४१।।

१ वर्ष के उपवास के पारणे पर भी मुनि बैठकर आहार नहीं करें—

यतः श्रीजिनदेवाद्याः षण्मासाब्दादिपारणे । कायस्थित्यैहि गृह्णन्ति स्थित्याहारं च नान्यथा ।।
ज्ञात्वेतियमिनः कृत्वात्रान्तरं निजपादयोः । चतुरंगुलसंख्यानं कुर्वंतु स्थितिभोजनम् ।।४३।।

अर्थ—देखो तीर्थंकर परमदेव छह महीने वा एक वर्ष का उपवास करके भी शरीर को स्थिर रखने के लिये खड़े होकर ही आहार लेते हैं वे बैठकर कभी आहार नहीं लेते । यही समझकर मुनियों को चार अंगुल का अंतर रखकर अपने दोनों पैरोंसे खड़े होना चाहिये और इसप्रकार खड़े होकर आहार ग्रहण करना चाहिये ।।४२-४३।।

स्थिति भोजन मूलगुण की महिमा—

परमगुणसमुद्रं व्यक्त वीर्यादिकारं जिनमुनिगणसेव्यं धीरयोगीन्द्रगम्यम् ।
रहितनिखिल दोषं स्वाक्षजिह्वार्चिवारिदमिह कुरुत दक्षाभोजनं स्वोर्द्धकायम् ।।४४।।

अर्थ—यह स्थिति भोजन परम गुणोंका समुद्र है, अपनी शक्तिको प्रगट करने वाला है, तीर्थंकर मुनिराज और गणधरदेव भी इसकी सेवा करते हैं, धीर वीर मुनि ही इस गुणको पालन कर सकते हैं, यह समस्त दोषों से रहित है और जिह्वा इंद्रिय रूपी अग्निको दमन करने के लिये मेघ के समान है। इसलिये चतुर पुरुषों को खड़े होकर ही आहार ग्रहण करना चाहिये ।।४४।।

एक भक्त मूलगुण का स्वरूप—

नाडीत्रिकंविहायात्रोदयास्तमनकालयोः । एकद्वित्रमुहूर्तानां मध्येयद्भोजनं भुवि ।।४५।।
क्रियतेमुनिभिर्योग्यकाले श्रावक सद्मनि । एकस्यांनिजवेलायामेक भुक्तं तदुच्यते ।।४६।।

अर्थ—मुनिराज सूर्योदय के तीन घड़ी बाद और सूर्य अस्त होने से तीन घड़ी पहले तक योग्य काल में श्रावक के घर जाकर एक ही बार एक मुहूर्त दो मुहूर्त वा तीन मुहूर्त के भीतर-भीतर तक आहार लेते हैं उसको एक भुक्त नामका मूलगुण कहते हैं ।।४५-४६।।

एक भक्त मूलगुण से लाभ और इस व्रत भंग से हानि—

एकभक्तेन चान्नादेर्दुराशानाशमिच्छति । संतोषस्तपसासार्द्धं वर्द्धते योगिनां महान् ।।४७।।
एकभक्तस्यभंगेन प्रणश्यत्यखिलाः गुणाः । तन्नाशतः परं पापं पापाद्दुःखंमहन्नृणाम् ।।४८।।

अर्थ—एकबार आहार करने से अन्नादिक की दुराशा नष्ट हो जाती है और योगियों का महान् संतोष तपश्चरण के साथ-साथ वृद्धिको प्राप्त हो जाता है। इस एक भक्त व्रतका भंग करने से समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं गुणोंके नाश होने से पाप उत्पन्न होता है और उस पाप से मनुष्यों को महा दुःख भोगने पड़ते हैं ।।४७-४८।।

दूसरी बार, जल ग्रहण का भी निषेध—

मत्वेति संयतैरेक वेलां गोचरगोचराम् । मुक्त्वा पानादि न ग्राह्यं तीव्रदाह ज्वरादिषु ।।४९।।

अर्थ—यही समझकर मुनियों को तीव्र दाह वा ज्वर आदि के होने पर भी आहार के योग्य ऐसे एक समयको छोड़कर दूसरी बार कभी जल भी ग्रहण नहीं करना चाहिये ।।४९।।

एक भक्त मूलगुण की महिमा—

विषयसफर जालं सत्तपोवृद्धिहेतु सुरगति शिवमार्गं चान्नसंज्ञादिदूरम् ।
श्रुतवनमहाध्यानांगयोगादि कर्तृं भजत विगत कामा एकभक्तं शिवाय ।।१३५०।।

अर्थ—यह एक भुक्त व्रत विषयरूपी मछलियोंके लिये जाल है, श्रेष्ठ तपश्चरण की वृद्धिका कारण है, स्वर्ग मोक्षका मार्ग है, आहार संज्ञासे दूर है और श्रुतज्ञान तथा महाध्यान के अंगभूत योगको उत्पन्न करनेवाला है । इसलिये इच्छाओं का त्याग करने वाले तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस एक भुक्त व्रत को अवश्य पालन करना चाहिये ।।१३५०।।

२८ मूलगुण की महिमा व उसके पालन करने की प्रेरणा—

एते मूलगुणाः सारा अष्टाविंशतिरूर्जिताः । तपो विश्वमहायोगाधारभूता जिनोदिताः ।।५१।।
सर्वोत्तर गुणाद्याप्त्यै गुणानां मूलहेतवः । प्राणान्तेपि न मोक्तव्या बुधैः सर्वार्थसिद्धिदाः ।।५२।।

अर्थ—ये अट्ठाईस मूलगुण सर्वोत्कृष्ट और सारभूत हैं तथा भगवान जिनेन्द्रदेव ने इनको तपश्चरण आदि समस्त महा योगों के आधारभूत बतलाये हैं । समस्त उत्तरगुणों की प्राप्ति के लिये ये गुण मूलरूप हैं मूल कारण हैं और समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धि करनेवाले हैं इसलिये बुद्धिमानों को कंठगत प्राण होनेपर भी इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिये ।।५१-५२।।

मूलगुण के बिना उत्तरगुण फलदायी नहीं—

कृत्स्नोत्तरगुणा यस्माद्धीना। मूलगुणैःसताम् । परं फलं न कुर्वन्ति मूलहीना यथाङ्घ्रिपाः ।।५३।।

अर्थ—जिसप्रकार मूलरहित्त वृक्षों पर कोई किसी प्रकार का फल नहीं लगता उसी प्रकार सज्जनों के मूलगुणों से रहित समस्त उत्तरगुण कभी फल देनेवाले नहीं हो सकते ।।५३।।

मूलगुणों को नष्ट करके उत्तरगुण पालने का दृष्टान्त पूर्वक निषेध—

येत्रोत्तरगुणाद्याप्त्यै त्यजन्ति मूलसद्गुणान् । ते करांगुलिकोट्यर्थं छिंदन्ति स्वशिरः शठाः ।।

अर्थ—जो मूर्ख उत्तरगुण प्राप्त करने के लिये मूलगुणोंका त्यागकर देते हैं वे लोग अपने हाथकी करोड़ों उंगलियां बढ़ानेके लिये अपने मस्तकको काट डालते हैं ।।५४।।

व्रत भंग दुःख का कारण—

इमान्मूलगुणान्सर्वान् त्रिजगच्छ्रीसुखप्रदान् । साक्षीं कृत्य गृहीत्वा जितसंघश्रुतसद्गुरून् ।।५५।।

त्यजन्ति ते लभन्तेत्र दुःखं वाचामगोचरम् । अमुत्र श्वभ्रगत्यादौ व्रतभंगोत्थपापतः ।।५६।।

अर्थ—ये मूलगुण तीनों जगत की लक्ष्मी और समस्त सुख देनेवाले हैं ऐसे इन मूलगुणों को भगवान अरहंतदेव, संघ, श्रुत और सद्गुणों की साक्षी पूर्वक ग्रहण करके जो छोड़ देते हैं वे व्रत भंग होने के कारण उत्पन्न हुए पापों से वाणी के अगोचर ऐसे महा दुःखों को प्राप्त होते हैं तथा परलोक में नरकादिक दुर्गतियों में महा दुःख भोगते हैं ।।५५-५६।।

मूलगुण पालन करने की पुनः प्रेरणा—

इहैव चोत्तमाचार त्याक्तानां दुर्धियां बुधैः । विधीयतेपमानं च सवत्राहो शुनामिव ।।५७।।
मत्वेति यमिनो नित्यं सर्वयत्नेन सर्वथा । सर्वत्र पालयन्त्वत्र विश्वान्मूलगुणान्परान् ।।५८।।
शशांकनिर्मलान्सारान् स्वप्नेपि मा त्यजंतु च । घोरोपसर्गरोगाद्यैः पक्षमासादिपारणैः ।।५९।।

अर्थ—जो मूर्ख लोग उत्तम आचरणों का त्याग कर देते हैं उनके कुत्ते के समान अपमान सर्वत्र बुद्धिमान लोग करते हैं । यही समझकर मुनियों को सर्वोत्कृष्ट ये समस्त मूलगुण पूर्ण प्रयत्न के साथ सर्वत्र सर्वथा सदा पालन करते रहना चाहिये । ये मूलगुण चन्द्रमाके समान निर्मल हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं । इसलिये घोर उपसर्गके आने पर वा रोगादिक के हो जानेपर अथवा पक्षोपवास, मासोपवास की पारणा होनेपर भी स्वप्न में भी इन मूलगुणों को कभी नहीं छोड़ना चाहिये ।।५७-५९।।

मूलगुणों में अतिक्रमादि लगाने का निषेध—

तथामूलगुणानां च न कर्तव्यो ह्यतिक्रमः । व्यति क्रमोप्यतीचारो नाचारः संयतै क्वचित् ।।६०।।

अर्थ—इसी प्रकार इन मूलगुणों में न तो अतिक्रम लगाना चाहिये न व्यतिक्रम लगाना चाहिये न अतिचार लगाना चाहिये और न अनाचार लगाना चाहिये । ।।६०।।

अतिक्रम का स्वरूप—

अहिंसादि व्रतानां च षडावश्यक कर्मणाम् । पालने या मनः शुद्धेर्हानिः सोति क्रमोयतः ।।६१।।

अर्थ—अहिंसादिक महाव्रतोंके पालन करने में तथा छहों आवश्यकों के पालन करने में जो मनकी शुद्धता की हानि है उसको अतिक्रम कहते हैं ।।६१।।

व्यतिक्रम का स्वरूप—

षडावश्यक कर्त्तृणां महाव्रत धरात्मनाम् । विषयेष्वभिलाषो यो जायते स व्यतिक्रमः ।।६२।।

अर्थ—महाव्रत पालन करने वालों को तथा छहों आवश्यक पालन करनेवालों की जो विषयों में अभिलाषा होना है उसको व्यतिक्रम कहते हैं ।।६२।।

अतिचार का स्वरूप—

महाव्रतसभित्यावश्यादि परिपालने । आलस्यं क्रियते यत्सोतोचारो व्रतदूषकः ।।६३।।

अर्थ—महावृत समिति आवश्यक आदि के पालन करने में जो आलस करना है उसको व्रतोंमें दोष लगाने वाला अतिचार कहते हैं ।।६३।।

अनाचार का स्वरूप—

व्रतावश्यकशीलानां भंगो योत्र दुरात्मभिः । विधीयते सधर्मघ्नोऽनाचारः श्वभ्रसाधकः ।।६४।।

अर्थ—दुरात्मा वा पापियोंके द्वारा वृत आवश्यक वा शीलोंका जो भंग करना है वह धर्मको नाश करनेवाला और नरकमें पहुंचाने वाला अनाचार कहलाता है ।।६४।।

अतिक्रमादि चारों दोष मल उत्पत्ति के कारण—

एते दोषा हि चत्वारः सर्वमूलगुणात्मनाम् । सर्वथा यतिभिस्त्याज्यायत्नेन मल कारिणः ।।६५।।
यतोमोभिश्चतुर्दोषैर्विश्वेमूलगुणा नृणाम् । दूषिता न फलंत्यत्र स्वर्मोक्षादौ महत्फलम् ।।६६।।

अर्थ—ये चारों दोष समस्त मूलगुणों में मल उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये मुनियों को पूर्ण प्रयत्न करके इनका सर्वथा त्यागकर देना चाहिये । क्योंकि इन चारों दोषों से समस्त मूलगुण दूषित हो जाते हैं और फिर मनुष्यों को स्वर्ग मोक्षादिक के महाफल उन मूलगुणों से कभी प्राप्त नहीं हो सकते ।।६५-६६।।

मूलगुणों का उपसंहारादि विवरण और मूलगुण प्राप्ति की भावना—

असमगुणनिधानान् स्वर्गमोक्षाविहेतून् गणपतिमुनिसेव्यांस्तीर्थनाथैः प्रणीतान् ।
दुरिततिमिरसूर्यान् धर्मवार्द्धीन् महान्तो भजत निखिलयत्नात् मूलसंज्ञान् गुणौघान् ।।६७।।

येऽमून्मूलगुणान् प्रमादरहिताः संपालयन्त्वन्वहं
तेलोकत्रयसंभवांश्चपरमान् सौख्योत्तमान् सद्गुणान् ।
संप्राप्यानुजिनेन्द्रचक्रि पदवीं देवार्चनां केवलं ज्ञानं
कर्मरिपून् निहत्य तपसा मोक्षं लभन्तेऽचिरान् ।।६८।।

विज्ञायेतिफलं महद्बुधजनाः मोहारिमाहत्य च निर्वेदासिवरेण सार्द्धमखिलेर्लक्ष्मी कुटंवादिभिः ।
दीक्षां मुक्तिसखीं परार्थजननीं ह्यादायमोक्षाप्तये
सर्वान् मूलगुणान्मलादिरहितान् भोः पालयन्त्वन्वहम् ।।६९।।

ये सर्वेपरमेष्ठिनोऽत्रपरमान् मूलोत्तराख्यान् गुणान्
नित्यं यत्नपराभजन्ति यमिनामाचारयंत्यूर्जितान् व्याख्या-
न्त्येवगिरा जगत्त्रयसतां सर्वार्थसंसिद्धये ते ये मूलगुणान्
प्रदद्यु रखिलान् सारान्स्वकीयान् स्तुताः ॥१३७०॥

इति श्रीमूलाचार प्रदीपाख्ये भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचिते मुलगुणव्यावर्णने प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान कायोत्सर्ग लोचा चेलक्त्वास्नान क्षितशयनादंतवन स्थितिभोजनैकभक्त वर्णनोनाम चतुर्थोधिकारः।

अर्थ—ये समस्त मूलगुण अनुपम गुणों के निधि हैं स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं, भगवान तीर्थंकर परमदेव ने इनका स्वरूप बतलाया है तथा गणधरदेव और मुनिराज इनको पालन करते हैं, पापरूपी अंधकार को नाश करने के लिये ये सूर्य के समान हैं, धर्म के समुद्र हैं और सबमें उत्तम हैं। इसलिये महापुरुषों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ इनका पालन करना चाहिये। जो मुनि प्रमाद रहित होकर प्रतिदिन इन समस्त मूलगुणों का पालन करते हैं वे तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले परम और उत्तम सुखों को तथा उत्तम सद्गुणों को प्राप्त होते हैं फिर देवों के द्वारा पूज्य ऐसे चक्रवर्ती और तीर्थंकर के पद प्राप्त करते हैं तदनंतर तपश्चरण कर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं और समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इसप्रकार विद्वान लोगों को इन मूलगुणों को महाफल देनेवाले समझकर वैराग्य रूपी तलवार से मोहरूपी शत्रुको मारकर तथा लक्ष्मी कुटुम्ब आदि सबका त्यागकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये मोक्षस्त्री की सखी और सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाली ऐसी जिनदीक्षा धारण करनी चाहिये और फिर उनको प्रतिदिन समस्त दोषों से रहित ऐसे ये समस्त मूलगुण पालन करने चाहिए। इस संसार में जो जो अरहंत आचार्य उपाध्याय साधु परमेष्ठी प्रयत्नपूर्वक सर्वोत्कृष्ट मूलगुणों को वा उत्तरगुणों को प्रतिदिन पालन करते हैं वा इन्हीं सर्वोत्तम मूलोत्तर गुणों को मुनियों से पालन कराते हैं अथवा तीनों जगत के सज्जन पुरुषों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए अपनी वाणी से इन्हीं मूलोत्तर गुणों का व्याख्यान करते हैं उन समस्त परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूं। वे समस्त परमेष्ठी मेरे लिये अपने समस्त उत्कृष्ट मूलगुणों को प्रदान करें ॥१३६७-१३७०॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप में मूलगुणों के वर्णन में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, लोच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन, एक भक्तको वर्णन करनेवाला यह चौथा अधिकार समाप्त हुआ।

पंचमोधिकारः

मंगलाचरण—

पंचाचारप्रभावेन ये प्राप्तास्तीर्थं कृच्छ्रियः । अनंतमहिमोपेता वंदे तेषां पदाम्बुजान् ।।१३७१।।
त्रिजगन्नाथसंप्रार्थ्या गताः सिद्धगतिं हि ये । पंचाचारेण तान् सिद्धान्नमाम्यन्तातिगान्परान् ।।
येत्राचरन्तियत्नेनपंचाचारान् शिवाप्तये । आचारयन्ति शिष्याणां तानाचार्यान्स्तुवेनिशम् ।।
ये व्याख्यान्तिसतां सिद्धचै ह्यंगैः पूर्वैः प्रकीर्णकैः । पंचाचारानुपाध्यायान् तान्नमामिश्रुताप्तये ।।
त्रिकालयोगयुक्ता येद्रिकंदरगुहादिषु । साधयंत्यखिलाचारांस्तान्साधून् नौमिशक्तये ।।७५।।

अर्थ—पंचाचार के प्रभाव से ही जिन्होंने तीर्थंकर की परम लक्ष्मी प्राप्त की है, और जो अनंत महिमा से विभूषित हैं ऐसे अरहंत भगवान के चरण कमलों को मैं नमस्कार करता हूं। तीनों लोकों के स्वामी तीर्थंकर भी जिनकी स्तुति करते हैं और जो इन पंचाचारों के प्रभाव से ही सिद्ध गति को प्राप्त हुए हैं ऐसे सर्वोत्कृष्ट अनंत सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूं। जो आचार्य मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक पंचाचारों का पालन करते हैं तथा शिष्यों से प्रतिदिन पालन कराते हैं उन आचार्योंकी भी मैं स्तुति करता हूं। जो उपाध्याय मोक्ष प्राप्त करने के लिये अंग पूर्व और प्रकीर्णकों के द्वारा पंचाचारों का व्याख्यान करते हैं उन उपाध्यायों को मैं श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं। त्रिकाल योग धारण करनेवाले जो मुनि पर्वत कंदरा वा गुफा में बैठकर समस्त पंचाचारों को सिद्ध करते हैं उन साधुओं को मैं शक्ति प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं ।।७१-७५।।

पंचाचार निरूपण की प्रतिज्ञा—

इत्यमून् शिरसा नत्वा पंच सत्परमेष्ठिनः । धृत्वा च स्वगुरूंश्चित्ते श्रीजिनास्यज भारतीम् ।।७६।।
पंचाचारान् प्रवक्ष्यामि विश्वाचारप्रसिद्धये । मुनीनां स्वस्य वा नूनं समासेन शिवाय च ।।७७।।

अर्थ—इसप्रकार पांचों श्रेष्ठ परमेष्ठियोंको मस्तक झुकाकर नमस्कार करके तथा अपने गुरु और भगवान जिनेन्द्रदेव के मुखसे प्रगट हुई सरस्वती देवी को अपने हृदय में विराजमान करके तीनों लोकों में पंचाचारों की प्रसिद्धि करने के लिये तथा स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिये वा मुनियों को मोक्षकी प्राप्ति होने के लिये मैं संक्षेपसे पंचाचारों का निरूपण करता हूं ।।७६-७७।।

पंचाचार की प्रमाणिकता—

दर्शनाचार एवाद्यो ज्ञानाचारस्ततोद्भूतः । चारित्राचार नामान्यस्तप आचार ऊर्जितः ॥७८॥
वीर्याचार इमे पंचाचाराः सर्वार्थसाधकाः । प्रोक्ताविश्वै जिनाधीशैर्मुनीनां मुक्तिसिद्धये ॥७९॥

अर्थ—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार ये पांच पंचाचार कहलाते हैं ये पंचाचार समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करनेवाले हैं और समस्त तीर्थंकर परमदेवों ने मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति के लिये निरूपण किये हैं। ॥७८-७९॥

सम्यग्दर्शन की प्रमुखता और उसके भेद—

तेषामादौ प्रसिद्धं यत्सम्यक्त्वं शुद्धिकारणम् । तद्वक्ष्येहं समासेन निर्दोषं गुणभूषितम् ॥८०॥
तन्निसर्गाभिधं दृष्टयधिगमाख्यं ततोपरम् । इति द्वेधाजिनैः प्रोक्तं सम्यक्त्वं भव्यदेहिनाम् ॥८१॥

अर्थ—इनमें भी सबसे प्रसिद्ध सम्यग्दर्शन है जो शुद्धि का कारण है, गुणोंसे सुशोभित है और दोषों से रहित है। ऐसे सम्यग्दर्शन को ही मैं सबसे पहले कहता हूं। भव्य जीवोंके होनेवाला यह सम्यग्दर्शन भगवान जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का बतलाया है एक निसर्गज और दूसरा अधिगमज ॥८०-८१॥

निसर्गज सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

भव्यः पंचेन्द्रियःसंज्ञी यो भवाब्धितटाश्रितः । तस्यात्रकाललब्ध्वा यो जायतेनिश्चयोमहान् ॥
जिनेन्द्रतत्त्वगुर्वादौ मुक्तिमार्गे स्वयं द्रुतम् । विनागुरूपदेशादे निसर्गतद्धिदर्शनम् ॥८३॥

अर्थ—जो भव्य जीव है, पंचेन्द्रिय है, संज्ञी है और संसाररूपी समुद्रके किनारे आ लगा है उसके काल लब्धि मिलने पर जो देवशास्त्र गुरु में तत्त्वों में और मोक्षमार्ग में बिना गुरुके उपदेश के बहुत शीघ्र स्वयं महा निश्चय हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥८२-८३॥

अधिगमज सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

तत्त्वदेवागमादीनां श्रवणेनात्र या रुचिः । प्रादुर्भवतिसन्मार्गे सतामधिगमं हि तत् ॥८४॥

अर्थ—तत्त्व और देवशास्त्र गुरु के स्वरूप को सुनकर जो मोक्षमार्ग में रुचि उत्पन्न होती है वह सज्जनों का अधिगमज सम्यग्दर्शन कहलाता हैं ॥८४॥

सम्यग्दर्शन के औपशमिकादिक ३ भेद—

तथौपशमिकं क्षायिकंमुक्तिस्त्रीवशीकरम् । क्षायोपशमिकं चेति त्रिविधं दर्शनं मतम् ॥८५॥

अर्थ—अथवा औपशमिक, मुक्तिस्त्री को वश में करनेवाला क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से इस सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं ।।८५।।

औपशमिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

आद्याश्चतुः कषाया अनन्तानुबंधसंज्ञकाः । तिस्रोमिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रप्रकृतयोऽशुभाः ।।८६।।
आसां सप्तविधानां प्रकृतीनां अंतरे सताम् । समस्तोपशमेनौपशमिकाख्यं च दर्शनम् ।।८७।।

अर्थ—इस सम्यग्दर्शन को घात करनेवाली मोहनीय कर्म की सात प्रकृति हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन तो दर्शन मोहनीय की अशुभ प्रकृति हैं तथा अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार चारित्र मोहनीय की प्रकृति हैं इन सातों प्रकृतियोंका जब पूर्ण रूपसे उपशम होता है तब भव्य जीवोंके औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ।।८६-८७।।

क्षायिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

निःशेष क्षययोगेन क्षायिकं ज यते परम् । साक्षान्मुक्तिवरं ह्यासन्नभव्यानां च शाश्वतम् ।।८८।।

अर्थ—तथा इन्हीं सातों प्रकृतियों का जब पूर्ण रूपसे क्षय हो जाता है तब आसन्न भव्य जीवों को क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । यह क्षायिक सम्यग्दर्शन साक्षात् मोक्ष देनेवाला है और प्रगट होने के बाद सदा बना रहता है ।।८८।।

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन का स्वरूप—

षण्णां हि प्रकृतीनामुदयाभावे नृणां सति । सति सम्यक्त्वस्योदयोऽन्यद्धिक्षायोपशामिकाह्वयम् ।।

अर्थ—इसीप्रकार सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्वको छोड़कर बाकी की छहों प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय होनेपर तथा सत्तावस्थित इन्हीं छहों प्रकृतियों के उपशम होने पर और सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्वप्रकृति के उदय होनेपर मनुष्योंके क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है ।।८९।।

सम्यग्दर्शन-प्राप्त करने का अधिकारी भव्य जीव ही है—

एतत्त्रिविधसम्यक्त्वं भव्यानामिह केवलम् । प्रणीतं तीर्थनाथेन न दूराभव्यदेहिनाम् ।।९०।।

अर्थ—यह तीनों प्रकार का सम्यग्दर्शन केवल भव्य जीवों के ही होता है अभव्यों के नहीं । ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है । दूरभव्योंके भी यह सम्यग्दर्शन नहीं होता ।।९०।।

वीतराग देव प्रणीत पदार्थं ही यथार्थ है—

जनतत्त्वपदार्थेभ्यः सर्वज्ञोक्तेभ्य एव हि । तत्त्वेभ्यो नापरे तत्त्वपदार्थाः सूनृताः क्वचित् ॥९१॥

अर्थ—भगवान वीतराग सर्वज्ञदेव ने जो तत्त्व और पदार्थ बतलाये हैं वे ही यथार्थ हैं उनसे भिन्न अन्य पदार्थ कभी यथार्थ नहीं हो संकते ॥९१॥

सम्यग्दृष्टि का अरहंतदेव के प्रति ही श्रद्धान होता है—

अर्हद्भ्योघानिहंतृभ्योनिर्दोषेभ्यो जगत्सताम् । भुक्तिमुक्त्यादिदातारो नान्यदेवाः शुभप्रदाः ॥

अर्थ—घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले तथा अठारह दोषोंसे रहित भगवान अरहंतदेव ही देव हैं और वे ही जगत के समस्त सज्जन पुरुषों को भुक्ति और मुक्ति दे सकते हैं । उनके सिवाय अन्य कोई भी देव, देव नहीं हो सकता और न वह भुक्ति मुक्ति दे सकता है । तथा भगवान अरहंतदेव के सिवाय अन्य कोई देव शुभप्रद नहीं हो सकता ॥९२॥

अरिहन्त प्रणीत धर्मं ही श्रेष्ठ है—

कैवल्यभाषिताद्धर्माद्यतिश्रावकगोचरात् । नापरोत्रोर्जितो धर्मो धर्मार्थं काममोक्षदः ॥९३॥

अर्थ—भगवान अरहंतदेव ने जो मुनि और श्रावकों का धर्म निरूपण किया है वही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थोंको देनेवाला सर्वोत्कृष्ट धर्म है इसके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता और न अन्य कोई धर्म पुरुषार्थोंको दे सकता है ॥९३॥

दिगम्बर गुरु ही सच्चे गुरु हैं—

विश्वसत्त्वहितेभ्योत्रनिर्ग्रंथेभ्योऽपरे परा । भवाब्धिं तरितुं तारयितुं न गुरवःक्षमाः ॥९४॥

अर्थ—समस्त जीवों का हित करनेवाले दिगम्बर गुरु ही उत्कृष्ट गुरु हैं और वे ही इस संसार रूपी समुद्र से पार हो सकते हैं तथा दूसरों को पार कर सकते हैं । दिगम्बर गुरुओं के सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं हो सकता है वा न अन्य किसी को पार कर सकता है ॥९४॥

जिनेन्द्रदेव प्रणीत मोक्षमार्गं ही सच्चा है—

रत्नत्रयात्मकान्मार्गाज्जिनोक्तात्परमार्थतः । नापरो विद्यते जातु मोक्षमार्गोंति निस्तुषः ॥९५॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने मोक्षका मार्ग रत्नत्रय स्वरूप बतलाया है परमार्थ से वही मोक्षका मार्ग है और वही निर्दोष है उसके सिवाय अन्य कोई भी निर्दोष और यथार्थ मोक्षका मार्ग नहीं है ॥९५॥

जिन शासन ही शरण लेंने योग्य है और सुपात्र दान ही हितकारी है—

जैनशासनतो नान्यत् शासनं शरणं सताम् । सुपात्रदानतो नान्यद् दानं स्वान्यहितंकरम् ।।९६।।

अर्थ—यह जैन शासन ही सज्जनों को शरण लेने योग्य उत्तम शासन है। इसके सिवाय अन्य कोई शासन शरण लेने योग्य नहीं है। अपना और दूसरों का हित करनेवाला सुपात्र दान ही दान है इसके सिवाय अन्य कोई दान हित करनेवाला नहीं है ।।९६।।

जिन सिद्धांत और जिन सूत्र ही यथार्थं शास्त्र है—

द्विषड्भेदतपोभ्योऽन्यन्न तपः कर्मघातकम् । जिनसिद्धांतसूत्रेभ्यो नान्यच्छास्त्रं च सूनृतम् ।।९७।।

अर्थ—बारह प्रकार का तपश्चरण ही कर्मोंको नाश करनेवाला तपश्चरण है। इसके सिवाय अन्य कोई तपश्चरण कर्मों को नाश करनेवाला नहीं है। जिन सिद्धांत और जिन सूत्र ही यथार्थ शास्त्र है। इनके सिवाय अन्य कोई शास्त्र यथार्थ नहीं है। ।।१३९७।।

जिनेन्द्रदेव प्रणीत धर्मादि की रुचि करना, श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है—

इत्याद्यपर धर्माणां जिनोक्तानां महीतले । प्रामाण्यपुरुषाद्यच्च श्रद्धानं बुधसत्तमैः ।।९८।।
क्रियते या रुचिश्चित्ते निश्चयो योथवामहान् । तत्सर्वं दृष्टि कल्प द्रुमस्य स्यान्मूलैंकारणम् ।।९९।।

अर्थ—इस संसार में पुरुष के प्रमाण होने से उसके वचन प्रमाण माने जाते हैं। भगवान जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं अतएव सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं। इसलिये उत्तम पुरुष उन्हीं के कहे हुए धर्मका श्रद्धान करते हैं उसी में रुचि करते हैं और अपने हृदय में उसी का महान् निश्चय करते हैं। इसके सिवाय अन्य धर्मका वे कभी श्रद्धान नहीं करते। इसप्रकार के श्रद्धानमें सम्यग्दर्शन रूपी कल्पवृक्ष ही मूल कारण समझना चाहिये। अर्थात् ऐसा श्रद्धान होना ही सम्यग्दर्शन है अथवा सम्यग्दर्शन के होने से ही ऐसा श्रद्धान होता है ।।९८-९९।।

तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है सप्त तत्वों के नाम—

अथ तेषां तत्त्वानां श्रद्धानेनात्र लभ्यते । निर्मलं दर्शनं तानि तत्त्वान्येव दिशाम्यहम् ।।१४००।।
जीवाजीवास्रवा बधः संवरो निर्जरा परा । मोक्षोमूनि सुतत्त्वानि भाषितानि जिनाधिपैः ।।

अर्थ—इस संसार में तत्त्वों का श्रद्धान करने से ही निर्मल सम्यग्दर्शन होता है इसलिये अब हम उन तत्त्वों का ही स्वरूप निरूपण करते हैं। भगवान जिनेन्द्रदेव

ने जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व बतलाये हैं। ।।१४००-१४०१।।

जीवों के भेद—

मुक्त संसारिभेदाभ्यांद्विधाजीवा जिनैर्मताः। मुक्ता भेदविनिष्क्रान्ताः षड्विधाभववर्तिनः ।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने मुक्त और संसारी के भेद से जीवों के दो भेद बतलाये हैं। इनमें भी मुक्त जीवों में कोई भेद नहीं है सब समान हैं। तथा संसारी जीवों के छह भेद हैं ।।१४०२।।

मुक्त जीवों का स्वरूप—

अष्टकर्मवपुर्मुक्ता दिव्याष्टगुणभूषिताः। लोकाग्रशिखरावासाः सिद्धाः स्युरन्तवर्जिताः ।।

अर्थ—जो ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों से रहित हैं सम्यक्त्व आदि आठों दिव्य गुणों से सुशोभित हैं और लोक शिखरपर विराजमान हैं उनको सिद्ध कहते हैं। ऐसे सिद्ध अनंतानंत हैं ।।१४०३।।

संसारी जीवों के छः भेद—

पृथ्व्यप्तेजोमरुत्काया वनस्पत्यंगिनस्त्रसाः। एते संसारिणो ज्ञेया षड्विधा जीवजातयः ।।१४०४।।

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसके भेद से संसारी जीवोंके छह भेद समझना चाहिये ।।१४०४।।

कोमल पृथ्वी के १६ भेद—

पृथिवी बालुकाताम्रमयास्त्रिपुषसीसकौ। रूप्यं सुवर्णमेवाथ हरितालं मनः शिलाः ।।५।।
हिंगुलं सस्यकं वांजनमभ्रकोभ्रवालुकाः। लवणं चेति भेदाः स्युर्मृदुपृथ्व्या हि षोडश ।।६।।

अर्थ—पृथिवी, बालू, तांबा, लोहा, रांगा, सीसा, चांदी, सोना, हरताल, मनशिल, हिंगुल, सस्यक, सुरमा, अभरक, अभ्रबालुका, लवण ये सोलह कोमल पृथ्वी के भेद हैं ।।५-६।।

कठोर पृथ्वी के २० भेद—

शर्करा उपलं वज्रं शिला प्रवालकायिकाः। कर्कतन मणिश्चांकोरुजकः स्फटिकोमणिः ।।७।।
पद्मरागोथवैडूर्यश्चन्द्रप्रभश्च चन्दनः। जलकान्तो वकः सूर्यकान्तोमरकतोमणिः ।।८।।
मोचोमसारगपाषाणो रुचिराख्योमणिः स्फुटम्। अमीभेदाः बुधैर्ज्ञेयाखरपृथ्व्या हि विंशतिः ।।९।।

अर्थ—कठिन बालू, पत्थर के गोल टुकड़े, वज्र (हीरा) बड़ी शिला, प्रवाल वा मूंगा, गोमेदमणि, पुलक मरिण (प्रवाल के समान) रुजक (राजवर्त मणि) स्फटिक मरिण, पद्मरागमरिण, वैडूर्यमणि, चन्द्रप्रभमणि, चन्दनमणि, जलकांतमणि, पुष्परागमणि, सूर्यकांतमणि, मरकतमणि, नीलमणि, विद्रुममणि और रुचिरमणि । बुद्धिमानों को ये बीस भेद कठिन पृथ्वी के समझने चाहिये ।।७-६।।

स्थूल पृथ्वीकायिक जीवों के २६ भेद हैं सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव सर्वत्र है—

षट्त्रिंशत्स्युरिमे भेदाः स्थूलपृथ्व्यंगिना भुवि । सूक्ष्माः पृथ्व्यंगिनो ज्ञेयाः खे सर्वत्र जिनागमात् ।।

अर्थ—ये छत्तीस भेद पृथ्वीकायिक स्थूल जीवों के समझने चाहिये । तथा पृथ्वीकायिक सूक्ष्म जीव आकाश में सब जगह फैले हुये हैं ऐसा जैन शास्त्रों में कहा है ।।१४१०।।

आठों पृथ्वीकायिकादि कठोर पृथ्वी में ही गर्भित—

पृथ्व्यष्ट पंच मेर्वाद्या पर्वतः सकला भुवि । द्वीप वेदी विमाना हि प्रतोली तोरणाश्च ये ।।११।।
जम्बूशाल्मलि चैत्यद्रुमास्तूपभवनादयः । कल्पवृक्षाः खरा विश्वेह्य तेष्वन्तर्भवन्ति ते ।१२।।

अर्थ—आठों पृथिवी पांचों मेरुपर्वत द्वीप वेदी विमान प्रतोली (गली) तोरण, जम्बू शाल्मलि, चैत्यवृक्ष, भवन कल्पवृक्ष आदि कठिन प्रकार की पृथ्वी सब इसी में अंतर्भूत समझनी चाहिये ।।११-१२।।

पृथ्वीकायिक जीवों की विराधना का निषेध—

ज्ञात्वेति पृथिवीकायान्खननाद्यैः शिवार्थिभिः । तेषां जातु न कर्तव्या स्वेनान्येन विराधना ।।१३।।

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करनेवाले पुरुषों को खोद पीट कर पृथिवीकायिक जीवों की विराधना न तो स्वयं करनी चाहिये और न किसी दूसरे से करानी चाहिये ।।१३।।

अपकायिक जीवों का स्वरूप—

अवश्यायजलं पश्चिमरात्रिपतितं हिमम् । महिकाख्यजलं धूमाकारं हरज्जलं तत। ।।१४।।
स्थूलविन्दुयुतं वाणु जलं शुद्धोदकं तथा । चन्द्रकान्तभवं नीरं सामान्यं नीहारादिजम् ।।१५।।
घनोदकं घनाकारं ह्लदाब्धिघनवातजम् । वा मेघोद्भवमि स्याद्या ज्ञेया अपकायिकांगिनः ।।१६।।
सरित्सागरमेघोत्थाः कूपनिर्झर भूस्थिता । चन्द्रकान्तादिजा अत्रैवान्तर्भवाजलांगिनः ।।१७।।

अर्थ—बरफ का पानी, पिछली रातमें पड़ी हुई ओस, तुषार, भापका पानी,

हरज्जल, बड़ी बूंदें, छोटी बूंदें, शुद्ध पानी, चन्द्रकांत मणिसे उत्पन्न होनेवाला पानी जमाई हुई बरफ का पानी घनोदक, घन्‌ाकार, सरोवर समुद्र आदि का पानी घनवात का पानी, बादल से बरसा हुआ पानी आदि सब तरह का पानी अपकायिक जीवमय ही समझना चाहिये। नदी समुद्र का पानी, मेघोंका बरसा पानी, कुए वा निर्झरने का पानी, पृथ्वी के भीतर रहनेवाला पानी, चन्द्रकांत मणि से निकला हुआ पानी इनके जलकायिक जीव सब इन्हीं में अंतर्भूत समझना चाहिये ।।१४-१७।।

अपकायिक जीवों की विराधना का निषेध—

इति ज्ञात्वा सदामीषां रक्षा कार्या प्रयत्नतः। पादादिक्षालनैर्जातु न हिंस्याः सर्वथा बुधैः ।।१८।।

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिये और पदप्रक्षालन आदि के द्वारा इन जीवों की हिंसा कभी नहीं करनी चाहिये। ।।१४१८।।

अग्निकायिक जीवों का स्वरूप—

ज्वालांगारमर्थार्चिर्मुर्मुरः शुद्धयाग्निसंज्ञकः । सूर्यकान्तादिजोग्निः सामान्य इत्यग्निकायिकः ।।
नंदीश्वरादि चैत्यालय धूमकुंडिकानलाः। मुकटाग्न्यादयो त्रैवान्तर्भवन्त्यग्निकायिका ।।२०।।

अर्थ—ज्वाला, अंगार, ज्वाल का प्रकाश, बारीक कोयलों के फुलिंगे, शुद्ध अग्नि, सूर्यकांतसे उत्पन्न हुई अग्नि इत्यादि सामान्य अग्नि अग्निकायिक जीव विशिष्ट हैं। नंदीश्वर द्वीपके चैत्यालयों में रक्खे हुए धूप कुंडकी अग्नि अग्निकुमार देवों के मुकुट की अग्नि में रहनेवाले अग्निकायिक जीव सब इसी में अंतर्भूत समझने चाहिये। ।।१९-२०।।

अग्निकायिक जीवों की हिंसा का निषेध—

इत्यग्निकायिकान् ज्ञात्वा मीषांरोगादिशान्तये। हिंसा क्वचिन्न कार्या ज्वालनविध्यापनादिभिः ।।

अर्थ— इसप्रकार अग्निकायिक जीवों को समझकर किसी रोगको शांत करने के लिये भी अग्निको जला कर वा बुझा कर अग्निकायिक जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये ।।२१।।

वायुकायिक जीवों का स्वरूप—

वातःसामान्यरूपश्चोभ्द्रमः ऊर्ध्वं व्रजन् मरुत्। उत्कलिमंडलिर्वायुः पृथ्वीलग्नो भ्रमन् व्रजेत् ।।
गुंजामरुन्महावातो वृक्षादि भंगकारकः। घनवातश्च तन्वाख्यो व्यजनादि कृतोथवा ।।२३।।

उदरस्थाब्धिभूस्थानविमानाधार वायवः। अत्रैवान्तर्भवा ज्ञेयाः भवनस्थादिकाखिलाः ॥२४॥

अर्थ—सामान्य वायु को वात कहते हैं, ऊपर को जाने वाली वायुको उम्द्रम कहते हैं, गोलाकार घूमते हुए वायु को उत्कलि वायु कहते हैं पृथ्वी से लगकर चलने वाले वायुको गुंजावात कहते हैं वृक्षादिकों को तोड़ देनेवाला महावात कहलाता है। घनवात तनुवात पंखा आदि से उत्पन्न किया हुआ वायु, पेट में भरा हुआ वायु, पृथ्वी समुद्र विमान आदि को आश्रय देने वाला वायु तथा भवनों में रहने वाला वायु सब सामान्य वायु में अंतर्भूत है ॥२२-२४॥

महादाह होनेपर भी वायुकायिक जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिये—

इमान् वातांगिनो मत्वा जात्वमीषां विराधना। न विधेया महादाहे वातादिकरणैर्बुधैः ॥२५॥

अर्थ—यह सब वायु वातकायिक जीवमय है। यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को महा दाह होनेपर भी वायु को उत्पन्न कर वातकायिक जीवों की विराधना नहीं करनी चाहिये ॥२५॥

वनस्पतिकायिक और अनन्तकायिक वनस्पति का स्वरूप—

मूलाग्रपौरवीजाः कंदस्कंधवीजसंज्ञकाः। वीज वीजरुहा एते कंदाद्यारोहसंभवा ॥२६॥
जीवाः सन्मूर्छिमा मूलाद्यभावेपिसमुद्भवाः। प्रत्येककायिका जीवा अनंतकायदेहिनः ॥२७॥
कंदमूलांगिनस्त्वक्स्कंधः पत्रं कुसुमंफलम्। प्रवालं गुच्छकायश्च गुल्मं वल्लीतृणान्यथ ॥२८॥
पर्वकाया इमे ज्ञेयाः पृथ्वीतोयादिसंभवाः। विना वीजेन नाना भेदा वनस्पतिकायिकाः ॥२९॥
संवालं पणकं भूमिगतसैवालमेव हि। कवगं नाम भृंगालं वकंच्छत्रं हरिप्रभम् ॥३०॥
कुहणाख्यंस्थिताहारकं जिह्वादिस्थपुष्पिका। एतेन्न वादरा ज्ञेया अनन्तकायिका बुधैः ॥३१॥

अर्थ—मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कंदबीज, स्कंधबीज, बीजरूह ये सब कंदादिक से उत्पन्न होनेवाले वनस्पतिकायिक जीव हैं। इनके सिवाय सम्मूर्च्छन जीव हैं जो मूलादिक का अभाव होने पर भी उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें से कोई प्रत्येक कायिक हैं और कोई अनंतकाय हैं। कंद मूल त्वक् (छाल) स्कंध पत्र कुसुम फल नया कोंपल, गुच्छ गुल्म वेल तृण आदि सब अनंतकायिक हैं। तथा बिना बीजके पृथ्वी जल आदि के संयोगसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकार के पर्व कायिक हैं जो अनंतकाय कहलाते हैं। सेवाल, पणक, भूमिगत, सैवाल, कवग, भृंगाल, वकछत्र, हरिप्रभ, कुहण, स्थिताहारक, जिह्वादि, पुष्पिका ये सब वादर अनंतकाय हैं ऐसा विद्वानों को समझ लेना चाहिये ॥२६-३१॥

सूक्ष्म जीवों की अवगाहना का प्रमाण—

पृथ्व्यप्तेजोमरुज्जीवाः सूक्ष्मादृष्टयाद्यगोचराः । अंगुलस्याप्यसंख्यातभागप्रमवपुर्युताः ।।३२।।

अर्थ—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक सूक्ष्म जीव दृष्टिके अगोचर होते हैं और उनका शरीर अंगुल के असंख्यात वें भाग प्रमाण होता है ।।३२।।

सूक्ष्म-स्थूल वनस्पतिकायिक जीव सब जगह है—

सर्वत्र द्विविधा ज्ञेया जलस्थलनभोखिले । सर्ववनस्पतिप्राणिनः प्रत्येकेतरात्मकाः ।।३३।।

अर्थ—वनस्पतिकायिक सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकारके जीव जल स्थल और आकाश आदि सब स्थानों में भरे हुये हैं । इनमें से कुछ प्रत्येक वनस्पति हैं और कुछ साधारण हैं ।।३३।।

साधारण और प्रत्येक वनस्पति का स्वरूप—

येषां गूढसिरासंधिपर्वाणि स्युरहीरकम् । समभंगं तथा छेदरुहं च विद्यते भुवि ।।३४।।
साधारणशरीरास्तेत्रानन्त जीवसंकुलाः । एतेभ्यो विपरीता ये ते प्रत्येकांगिनोमताः ।।३५।।

अर्थ—जिनकी सिरा संधि पर्व आदि गूढ़ हैं दिखाई नहीं देते तोड़नेसे जिनका भंग समान होता है और जो काटनेपर भी उत्पन्न हो जाते हैं । उनको साधारण शरीर कहते हैं ऐसे साधारण शरीर अनंत जीवों से भरे हुए होते हैं । इनसे जो विपरीत हैं अर्थात् जिनका सिरा संधि प्रगट हो गया है और तोड़ने से जिनका समभंग नहीं होता उनको प्रत्येक कहते हैं ।।३४-३५।।

अनन्तकाय का स्वरूप व उसका अनन्तकाय नामकी सार्थकता—

यत्रैको म्रियते तत्र म्रियन्तेनन्तदेहिनः । यत्रैको जायते तत्र जायन्तेनन्तकायिकाः ।।३६।।
अतोऽत्रैते जिनैः प्रोक्ताः जीवा अनन्तकायिकाः । भुवि सार्थक नामानोऽनन्तप्राणिमयाः स्फुटम् ।।

अर्थ—एक जीव के मरने पर जहां अनंत जीव मर जांय और एक जीव के उत्पन्न होनेपर जहां पर अनंत जीव उत्पन्न हो जांय ऐसे जीवों को भगवान जिनेन्द्रदेव ने अनंतकाय बतलाया है । उनमें का एक-एक शरीर अनंत जीव स्वरूप होता है इसलिये वे अनंतकाय इस सार्थक नामको धारण करते हैं ।।३६-३७।।

नित्य अनन्तकायिक जीवों का स्वरूप—

अनन्तैः प्राणिभि र्यैश्च महामिथ्याघपूरितैः । त्रसत्वं जातु न प्राप्तं नित्यास्तेनन्तकायिकाः ।।

अर्थ—महा मिथ्यात्व के पाप से परिपूर्ण हुए जिन अनंत जीवों ने आज तक त्रस पर्याय नहीं पाई है उनको नित्य अनंतकायिक कहते हैं ।।३८।।

एक निगोद शरीर में दृष्टान्त पूर्वक निगोद जीवों की संख्या का प्रमाण—

जम्बूदीपे यथाक्षेत्रं भरतं भरते भवेत् । कौशलः कौशलेऽयोध्याथोध्यायां गृहपंक्तयः ।।३९।।
तथा स्कंधा असंख्याता लोकमात्रा भवन्ति वै । एकैकस्मिन् पृथक् स्कंधे प्रोदिता अंडरा जिनैः ।।
असंख्यलोकमात्राश्चैके कस्मिन्नंडरे तथा । आवासाः स्युरसंख्यातलोकतुल्या न संशयः ।।४१।।
एकैकस्मिन् किलावासे मता पुलवयो बुधैः । असंख्यलोकमाना यैकैकस्मिन् पुलवौ भुवि ।।४२।।
शरीराणि ह्यसंख्येय लोकमानानि संति च । एकैकस्मिन्निकोतस्य शरीरे जंतवः स्फुटम् ।।४३।।
अतीत कालसिद्धेभ्यः सर्वानन्तेभ्य एव हि । प्रोक्ता स्तीर्थंकरै रागमेत्रानन्तगुणापरे ।।४४।।

अर्थ—जिस प्रकार जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्रादिक क्षेत्र हैं भरत क्षेत्र में कोशल आदि देश हैं, कोशलदेश में अयोध्या आदि नगर हैं और अयोध्या आदि नगरों में घरों की पंक्तियां हैं उसी प्रकार इस संसार में असंख्यात लोक प्रमाण स्कंध हैं । एक-एक स्कंध में असंख्यात लोक प्रमाण अंडर हैं । एक-एक अंडर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास हैं एक-एक आवास में असंख्यात लोक प्रमाण पुलवी हैं । एक-एक पुलवी में असंख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं तथा उस एक-एक निगोत शरीर में अतीत काल के समस्त अनंतानंत सिद्धों से अनंतगुणे जीव हैं ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने आगम में बतलाया है ।।३९-४४।।

पांच स्थावर जीवों की रक्षा की प्रेरणा—

इत्यादीन् स्थावरान् पंचविधान् विज्ञाययोगिभिः । प्रयत्नेन दया कार्या मीषां वाक्कायमानसैः ।।

अर्थ—मुनियों को इसप्रकार स्थावरों के पांचों भेद समझकर मन-वचन-काय से प्रयत्नपूर्वक उन सब जीवों की दया करनी चाहिये ।।४५।।

त्रस जीवों का स्वरूप और उसके भेद—

सकला विकलाश्चेति द्विधा जीवास्त्रसामताः । विकला द्वित्रितुर्याक्षाः शेषा हि सकलेन्द्रियाः ।।

अर्थ—दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस कहते हैं । उनके दो भेद हैं । एक विकलेन्द्रिय और दूसरा सकलेन्द्रिय । दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं और पंचेन्द्रिय जीवों को सकलेन्द्रिय कहते हैं । ।।१४४६।।

दो इन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

क्रमय: शुक्तिका: शंखा कपर्दकाश्च बालका: । जलूकाद्या: श्रुते ज्ञेया द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियान्विता: ।।

अर्थ—लट, सीप, शंख, जोंक, लीक आदि जीवों के स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियां हैं इसलिये इन जीवों को दो इन्द्रिय कहते हैं ।।४७।।

तीन इन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

कुंथवोवृश्चिका यूकामत्कुणश्चपिपीलिका: । उद्दे हिकाद्या गोपानिकास्त्रीन्द्रियशरीरिण: ।।४८।।

अर्थ—कुंथु, बीछू, जूं, खटमल, चींटी, उद्देहिका, गोपानिका आदि जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण ये तीन इन्द्रियां हैं इसलिये इनको तेइंद्रिय कहते हैं ।।४८।।

चार इन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

भ्रमरामशका दंशा: पतंगामधुमक्षिका । कीटका मिक्षकाद्याश्च चतुरिन्द्रियजातय: ।।४९।।

अर्थ—भौंरा, मच्छर, डांस, पतंगा, मधुमक्खी, मक्खी, दीपक पर पड़ने वाले जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियां हैं इसलिये इनको चौइंद्रिय कहते हैं ।।४९।।

पंचेन्द्रिय जीवों का स्वरूप—

जलस्थलनभोगामिनस्तिर्यंचोनरा: सुरा: । नारका: सकला: प्रोक्ता जीवा: पंचेंद्रिया: श्रुते ।।५०।।

अर्थ—मगरमच्छ आदि जलचर, कबूतर आदि नभचर और गाय, भैंस आदि स्थलचर जीव पंचेन्द्रिय हैं मनुष्य देव और समस्त नारकी जीव भी पंचेन्द्रिय हैं ऐसा शास्त्रों में कहा है ।।१४५०।।

चौरासी लाख योनियों के स्वामी—

पृथ्व्यप्तेजोमरुत्कांया लक्षाणां सप्तसप्त च । नित्येत्तरनिकोता: किलवनस्पतयोदश ।।५१।।
द्विद्विलक्षप्रमा द्वित्रि चतुरक्षा:पृथक्सुरा: । तिर्यंचो नारकालक्षाणां चत्वार: पृथक्पृथक् ।।५२।।
द्विसप्तलक्षसंख्यनां आर्यम्लेच्छाखिला नरा: । इति सर्वांग लक्षणामशीतिश्चतुरुत्तरा: ।।५३।।

अर्थ—इनमें से पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक जीवोंकी सात सात लाख योनियां हैं । नित्यनिगोत और इतरनिगोत की भी सात-सात लाख योनियां हैं वनस्पतिकायिक की दश लाख योनियां हैं, दोइन्द्रिय की दो लाख, तेइन्द्रिय की दो लाख और चौइन्द्रिय की दो लाख योनियां हैं । देवों की चार लाख,

तिर्यंचोंकी चार लाख और नारकियों की चार लाख योनियां हैं तथा आर्य और म्लेच्छ के भेदसे दोनों प्रकार के मनुष्यों की चौदह लाख योनियां हैं। इसप्रकार समस्त जीवों की चौरासी लाख योनियां हैं ।।५१-५३।।

एक सौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ कुलों के स्वामी कौन कौन—

इत्थंविश्वांगि जातीः सम्यग्निरूप्य जिनागमात् । ततः सतां दयासिद्धचै वक्ष्ये कुलानिदेहिनाम् ।।
पृथ्वीनांकुलकोटी लक्षाणां द्वाविंशति स्फुटम् । अप्कायिकांगिनां सप्तत्रयश्चानलदेहिनाम् ।।५५।।
मरुतां कुल कोटीलक्षाणि सप्तकुलानि वै । कोटीलक्षाणि चाष्टाविंशतिर्हरितजन्मिनाम् ।।५६।।
द्वीन्द्रियाणां तथा त्रीन्द्रियाणां तुर्येन्द्रियात्मनाम् । कोटीशतसहस्राणिसप्तचाष्ठौ नवक्रमात् ।।
अप्चराणां नभोगामिनां किलार्द्ध त्रयोदश । द्वादशैवक्रमात्सन्ति लक्षाणि कुलकोटयः ।।५८।।
दशैव कोटि लक्षाणि चतुष्पदांकुलानि च । पंचविंशतिकोटीलक्षाणिनारकदेहिनाम् ।।५९।।
स्युः षड्विंशतिकोटीलक्षाणि देव कुलानि च । नवैव कोटि लक्षाणिह्युरः सर्पात्मनां भुवि: ।।
कुलान्यत्रमनुष्याणामार्यम्लेक्षखगात्मनाम् । द्विसप्तकोटिलक्षाणि सर्वेषामितिजन्मिनाम् ।।६१।।
एकैव कोटि कोटीसार्द्धानवति नंवाधिका । कोटीशतसहस्त्राणि कुलसंख्याजिनोदिता ।।६२।।

अर्थ—इसप्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार समस्त जीवों की जातियों का स्वरूप बतलाया अब आगे सज्जनों को दया पालन करने के लिये जीवों के कुल बतलाये हैं। पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़, जलकायिक जीवों के सात लाख करोड़, अग्निकायिक जीवों के तीन लाख करोड़, वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ और वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं। दोइन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़, तेइन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़, चौइन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं। जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़, नभचर जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं। चतुष्पदों के दश लाख करोड़ कुल हैं, नारकियों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं, देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं और सरीसर्पों के नौ लाख करोड़ कुल हैं। आर्य, म्लेच्छ और विद्याधरों के चौदह लाख करोड़ कुल हैं। इसप्रकार समस्त जीवोंके कुलोंकी संख्या एकसौ साढ़े निन्यानवे लाख करोड़ होती है। इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने इनके कुल बतलाये हैं ।।५४-६२।।

जाति कुलादि से जीवों का स्वरूप जानकर उनकी रक्षा की प्रेरणा—

इति जाति कुलान्यत्रगुणस्थानानिमार्गणाः । सम्यग्विज्ञाय जीवानांश्रुते कार्या दया न्वहम् ।।६३।।

अर्थ—इसप्रकार जीवों की जाति कुल गुणस्थान और मार्गणाओं को शास्त्रों

के अनुसार अच्छी तरह जानकर प्रतिदिन जीवों की दया करनी चाहिये ।।६३।।

अध्यात्म अपेक्षा निश्चय नयसे जीव तत्त्वका स्वरूप—

जीवतत्त्वंनिरूप्येदं प्रसिद्धागमभाषया । सतां ब्रुवे समासेनाधुनाध्यात्मसुभाषया ।।६४।।
द्रव्यभावात्मकैःप्राणैर्जीविताः प्राग्यतोंगिनः । जीवन्ति च तथा जीविष्यन्ति जीवास्ततोमताः ।।
केवलज्ञानदृग्नेत्राः कर्तृभोक्तृत्ववर्जिताः । उत्पत्तिमरणातीताः बधमोक्षातिगा भुवि ।।६६।।
असंख्यातप्रदेशा सर्वेऽमूर्ताः सिद्धसन्निभाः । सादृश्यांगुणयोगेननिश्चयेनांगिनः स्मृताः ।।६७।।

अर्थ—इसप्रकार आगम की प्रसिद्ध भाषा के अनुसार जीव तत्त्व का स्वरूप कहा अब आगे सज्जनों के लिये अध्यात्म भाषाके द्वारा संक्षेप से जीवका स्वरूप कहते हैं। जो प्राणी द्रव्य प्राण और भाव प्राणों के द्वारा पहले जीवित थे, अब जीवित हैं और आगे जीवित रहेंगे उनको जीव कहते हैं। निश्चय नय से देखा जाय तो समस्त जीव केवलज्ञान और केवलदर्शनको धारण करनेवाले हैं कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों से रहित हैं, जन्म मरण से रहित हैं, बंध मोक्षसे रहित हैं, असंख्यात प्रदेशी हैं और सिद्ध के समान सब अमूर्त हैं तथा आत्म गुणों के समान होने से सब समान हैं। इसप्रकार निश्चय नय जीवों का स्वरूप है ।।६४-६७।।

व्यवहार नय से जीवका स्वरूप—

युक्त्या मत्यादिभि र्ज्ञानैश्चसुराद्यै श्चदर्शनैः । कर्मणां कर्तृभोक्तारो बंधमोक्षविधायिनः ।।६८।।
चतुर्गतिमतामूर्ताः सुखदु खादिभोगिनः । व्यवहारनयेनात्र प्रोक्ता जीवा गणाधिपैः ।।६९।।

अर्थ—इसीप्रकार गणधरादिक देवों ने व्यवहार नयसे जीवोंका स्वरूप मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि ज्ञानों को धारण करनेवाला चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन आदि दर्शनों को धारण करनेवाला, कर्मों का कर्ता भोक्ता, बंध वा मोक्षको करनेवाला, चतुर्गति में परिभ्रमण करनेवाला मूर्त और सुख दुःख भोगने वाला बतलाया है ।।६८-६९।।

अजीव तत्त्व और उसके भेद—

रूप्यरूपिप्रकाराभ्यामजीवाद्विविधामताः । चतुर्द्धा पुद्गलारूपिणश्चस्कंधादिभेदतः ।।७०।।

अर्थ—आगे अजीव को बतलाते हैं अजीव के दो भेद हैं रूपी और अरूपी। उनमें से पुद्गल रूपी हैं और स्कंधादिक के भेद से चार उसके भेद हैं ।।७०।।

पुद्गल के चार भेद और उनका स्वरूप—

स्कंधाख्याः स्कंधदेशाश्च स्कंधप्रदेशपुद्गलाः । अणवः पुद्गला अत्रेत्युक्ताजिनैश्चतुर्विधाः ।।७१।।

सर्वः स्कंधः समेदश्चवह्वणूद्भवऊर्जितः। स्कंधस्यार्द्ध बुधैरुक्तः स्कंधदेशोजिनागमे ।।७२।।
तस्यार्द्धार्द्धेन संजातोद्‌वणुपर्यंतभेदभाक् । स्कंधप्रदेशएवाविभागी स्यादणुः पुद्‌गलः ।।७३।।

अर्थ—स्कंध, स्कंधदेश, स्कंधप्रदेश और अणु इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेवने पुद्‌गल के चार भेद बतलाये हैं। जो बहुत से परमाणुओं से बना है जिसके अनेक भेद हैं ऐसे बड़े स्कंधको स्कंध कहते हैं। स्कंधका जो आधा भाग है उसको विद्वानों ने जैन शास्त्रों में स्कंधदेश बतलाया है। उस स्कंधदेश के आधे भाग को तथा उसके भी आधे भाग को इसप्रकार दो अणु के स्कंध तक के भागों को स्कंधप्रदेश कहते हैं तथा अविभागी पुद्‌गल के परमाणु को अणु कहते हैं ।।७१-७३।।

पुद्‌गल द्रव्य का उपकार—

जीवितं मरणं दुःखं सुखं देहादिवर्जनम् । जीवानां पुद्‌गलाः कुर्युः कर्मबंधाद्युपग्रहम् ।।७४।।

अर्थ—जीवन मरण सुख दुःख तथा शरीर के त्याग के द्वारा पुद्‌गल द्रव्य जीव का उपकार करते हैं। ये पुद्‌गल कर्मबंध के द्वारा भी जीव का उपकार करते हैं ।।७४।।

अरूपी अजीव द्रव्य के भेद और उपकार—

धर्मोऽधर्मो नभः कालः इमेरूपादिवर्जिताः। जीवपुद्‌गलयो लोके निष्क्रियाः सहकारिणः। ७५।।

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश और काल ये अरूपी अजीव द्रव्य हैं, ये चारों ही द्रव्य क्रिया रहित हैं और जीव पुद्‌गल के उपकारक हैं ।।७५।।

धर्म द्रव्य का स्वरूप और उसका उपकार—

सहकारीगतौधर्मो जीवपुद्‌गलयोर्मतः। असंख्यातप्रदेशोत्र मत्स्यानां जलराशिवत् ।।७६।।

अर्थ—जिसप्रकार जलकी राशि मछलियोंको चलने में सहायक है उसीप्रकार धर्म द्रव्य जीव पुद्‌गलों के चलने में सहकारी होता है यह धर्म द्रव्य असंख्यातप्रदेशी है ।।७६।।

अधर्म द्रव्य का स्वरूप और उसका उपकार—

छायावत्पथिकानामधर्मः साह्यकारः स्थितौ। जीवपुद्‌गलयोः प्रोक्तः संख्यानीतप्रदेशवान् ।।७७।।

अर्थ—जिसप्रकार पथिकों के ठहरने में छाया सहायक होती है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्‌गलों के ठहरने में सहकारी होता है। तथा यह द्रव्य भी असंख्यात

प्रदेशी है ।।७७।।

आकाश द्रव्य का स्वरूप और उसके भेद—

लोकालोक द्विभेदाभ्यांद्विधाकाशः स्मृतो जिनैः । अवकाशप्रदः सर्वद्रव्याणां खंडवर्जितः ।।७८।।
धर्मोऽधर्मोंगिनः कालः पुद्गलाः खेत्र यावति । एते तिष्ठन्ति तावन्मानः लोकाकाशएवहि ।।७९।।
तस्मात्स्यात्परतोनंतप्रदेशएककोमहान् । सर्वद्रव्यातिगोनित्योऽलोकाकाशोजिनोदितः ।८०।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने आकाश के दो भेद बतलाये हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश । यह आकाश समस्त पदार्थों को जगह देता है । तथा यह आकाश अखंड द्रव्य है । जितने आकाशमें जीव पुद्गल धर्म अधर्म और काल रहता है उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं । उस लोकाकाश के बाहर सब ओर जो एक महान् और अनंत प्रदेशी आकाश है जिसमें अन्य कोई द्रव्य नहीं है और जो नित्य है उसको भगवान जिनेन्द्रदेव ने अलोकाकाश बतलाया है ।।७८-८०।।

व्यवहार काल का स्वरूप—

नवजीर्णादिभिः काल। परिवर्तनहेतुकृत् । जीवपुद्गलयोर्लोके व्यवहारोदिनादिकः ।।८१।।

अर्थ—काल द्रव्य नवीन पदार्थोंको भी पुराना बना देता है और जिसप्रकार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थोंमें परिवर्तन करता रहता है । तथा लोकमें दिन रात घड़ी घंटा आदि के भेद से जो काल माना जाता है वह सब व्यवहार काल है ।।८१।।

निश्चय काल का स्वरूप—

लोकाकाशप्रदेशे यः पृथग्भूतोणसंचय। । स निश्चयाभिधः कालोरत्नराशिरिवोर्जितः ।।८२।।

अर्थ—जिस प्रकार रत्नों की राशि पास पास जड़ी रहती है उसी प्रकार लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो अलग अलग काल के परमाणु विद्यमान हैं, उन कालाणुओं को निश्चय काल कहते हैं ।।८२।।

पांच अस्तिकाय द्रव्य के नाम—

एतेत्र सह जीवेन षड्द्रव्याउदिताजिनैः । कालद्रव्यं विनापंचास्तिकायाश्रीजिनागमे ।।८३।।

अर्थ—इसप्रकार पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच अजीव के भेद बतलाये हैं उनमें जीव द्रव्य को मिला देने से भगवान जिनेन्द्रदेव ने छह नाम बतलाये हैं तथा काल द्रव्य को छोड़कर बाकी के पांच जैन शास्त्रों में अस्तिकाय बतलाये हैं ।।८३।।

भावास्रव और द्रव्यास्रव का स्वरूप—

रागद्वेषादियुक्तो यः परिणामो हि रागिणाम् । कर्मास्रवनिमित्तोनेकधाभावास्रवो स्रसः ॥८४॥
भावास्रवेन जंतूनां यदागमनमन्वहम् । कर्मरूपेण भोपुद्गलानां द्रव्यास्रवोत्रसः ॥८५॥

अर्थ—रागद्वेष को धारण करनेवाले जीवों के कर्मों के आस्रव का कारण ऐसा जो रागद्वेष सहित परिणाम है उसको भावास्रव कहते हैं उस भावास्रवके अनेक भेद हैं । संसारी जीवों के उस भावास्रव के द्वारा कर्म रूप बनकर जो पुद्गलों का आगमन होता है उसको द्रव्यास्रव कहते हैं ॥८४-८५॥

भावास्रव के कारण, उनको रोकने का फल—

मिथ्यात्वं पंचधा द्वादशधाविरतयोऽशुभाः । दशपंचप्रमादाश्च कषायाः पंचविंशतिः ॥८६॥
योगाः पंचदशात्रैतेदुस्त्याज्याः प्रत्ययानृणाम् । विश्वानर्थाकरीभूता भावास्रवस्यहेतवः ॥८७॥
येनप्रत्ययरोधेनरुद्धः कर्मास्रवोखिलः । सर्वंसमीहितं सिद्धं तस्यैवमुक्ति कारणम् ॥८८॥

अर्थ—पांच प्रकार का मिथ्यात्व, बारह प्रकारका अविरत, पंद्रह प्रकार के अशुभ प्रमाद, पच्चीस कषाय और पंद्रह योग ये सब भावास्रव के कारण हैं समस्त अनर्थोंके करनेवाले हैं और मनुष्यों से बड़ी कठिनता से छूटते हैं । जो मनुष्य भावास्रव के कारणों को रोककर समस्त कर्मों के आस्रव को रोक लेता है उसके मोक्षके कारण ऐसे समस्त इष्ट पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं ॥८६-८८॥

भावास्रव को रोके बिना कर्मों का नाश असम्भव—

कर्मास्रवनिरोधंयोऽक्षमः कर्तुं निजात्मनः । ध्यानाध्ययनयोगाद्यं र्वृथा तस्य तपोयमः ॥८९॥
कर्मास्रवं निराकर्तुं येऽसमर्थायमादिभिः । चंचलास्ते कथं घ्नन्ति क्रूरान् कर्मारिदुर्जयान् ॥९०॥

अर्थ—जो मुनि अपनी आत्माके ध्यान अध्ययन और योग आदि के द्वारा कर्मों के आस्रवको रोकने में असमर्थ है अर्थात् जो ध्यनादिको के द्वारा आस्रव रोक नहीं सकता उसका यम नियम और तपश्चरण सब व्यर्थ है । जो मुनि यम नियम आदि के द्वारा कर्मों के आस्रव को भी रोकने में असमर्थ हैं वे चंचल पुरुष अत्यंत क्रूर ऐसे कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओं को कैसे नाश कर सकते हैं ॥८९-९०॥

भावासूव रोकने की प्रेरणा—

ज्ञात्वेतिकर्मवद्दक्षाः स्वंनिरुध्याखिलाश्रयात् । बाह्यात्सर्वप्रयत्नेनरुंधीध्वं सकलास्रवम् ॥९१॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को बाहर के समस्त आश्रयों से कर्मविशिष्ट

आत्माको रोकना चाहिये और पूर्ण प्रयत्न के साथ समस्त आस्रवोंको रोकना चाहिये। ॥६१॥

भावबन्ध और द्रव्यबन्ध का स्वरूप—

रागद्वेषमयेनात्र परिणामेन येन च। वध्यन्ते कृत्स्नकर्माणि भावबंध स उच्यते ॥९२॥
भावबंधनिमित्तेनसार्द्धं यः कर्मपुद्‌गलैः। संश्लेषोगिप्रदेशानां द्रव्यबंधः स कथ्यते ॥९३॥

अर्थ—जिन राग‌द्वेषमय परिणामों से समस्त कर्म बंधते हैं उन परिणामों को भावबंध कहते हैं। उस भावबंध के निमित्तसे कर्मपुद्‌गलों के साथ-साथ जो आत्मा के प्रदेशों का सम्बन्ध हो जाता है उसको द्रव्यबंध कहते हैं ॥९२-९३॥

बन्ध के भेद और उनके कारणों का वर्णन—

प्रकृतिस्थितिबंधोनुभागः प्रदेशसंज्ञकः। इति चतुर्विधो द्रव्यबंधोबंधकरोंगिनाम् ॥९४॥
प्रकृत्यामा प्रदेशस्य बंधौवाक्कायमानसैः कषायै र्भवतो बंधौपुसां स्थित्यनुभागयोः ॥९५॥
यथारजांसि तैलादिस्निग्धगात्रेणदेहिनाम्। लगन्ति च तथा कर्माणवोरागादिभिः सदा ॥९६॥

अर्थ—प्राणियोंको बंध करनेवाला यह द्रव्यबंध, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के भेद से चार प्रकार का बतलाया है। इन चारों प्रकार के बंधों में से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध मन-वचन-कायके योगों से होते हैं और स्थितिबंध तथा अनुभागबंध कषाय से होते हैं। जिसप्रकार तेल आदि के द्वारा चिकने हुए मनुष्यों के शरीर पर धूल जम जाती है उसी प्रकार राग‌द्वेष आदि कारण आत्मा के प्रदेशों में कर्मों के परमाणु आकर मिल जाते हैं ॥९४-९६॥

बन्ध का फल—

यथा बंधन वद्धोत्र भुंक्ते दुःखमनारतम्। पराधीनस्तथाप्राणी चतुर्गतिषुसाधिकम् ॥९७॥
अक्षमः कर्मबंधं यः छेत्तुं ध्यानायुधादिभिः। कथं मुक्तो भवेत्सोत्रकुर्वन्नपि तपोमहत् ॥९८॥
यावच्छिनत्तिबंधं न कर्मणां सत्तपोसिना। तावत्सुखी क्व जायेतमुनिर्भ्रमन् भवाटवीम् ॥९९॥

अर्थ—जिसप्रकार बंधन में बन्धा हुआ मनुष्य पराधीन होकर अनेक प्रकारके दुःख भोगता है उसीप्रकार कर्मबंधसे बंधा हुआ यह प्राणी पराधीन होकर चारों गतियों में बहुत से दुःख भोगता है। जो मुनि महा तपश्चरण करता हुआ भी ध्यानरूपी शस्त्र से कर्मबंध को नाश करने में असमर्थ है वह मुक्त कभी नहीं हो सकता। यह मुनि जब तक श्रेष्ठ तपश्चरण रूपी तलवार से जब तक कर्मों के बंधन को छिन्न-भिन्न नहीं कर

सकता तब तक वह संसाररूपी वनमें ही घूमता रहता है और तब तक वह कभी सुखी नहीं हो सकता ।।६७-६६।।

रत्नत्रय रूपी शस्त्र से कर्मबन्ध नष्ट करने की प्रेरणा—

विज्ञायेतिप्रयत्नेन मुक्तिकामाः स्वमुक्तये । रत्नत्रयायुधेनैवछिदन्तु कर्मशास्त्रवम् ।।१५००।।

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करनेवाले पुरुषों को स्वयं मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक रत्नत्रयरूपी शस्त्र से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डालना चाहिये ।।१५००।।

भावसंवर का स्वरूप और उसके कारण—

चैतन्यपरिणामो यः कर्मास्रवनिरोधकः । स्वात्मध्यानरतः शुद्धो भावसंवर एव सः ।।१५०१।।
त्रयोदशविधं वृत्तं धर्मा दशविधोमह न् । अनुप्रेक्षाद्विषडभेदाः परीषहजयोखिलः ।।१५०२।।
चारित्रं पंचधा योगा ध्यानाध्ययनदक्षता । तपो यमादिका एते भावसंवरकारिणः ।।१५०३।।

अर्थ—कर्मोंके आस्रव को रोकनेवाला जो आत्माका शुद्ध परिणाम है अथवा ध्यान में लीन हुआ जो अपना शुद्ध आत्मा है उसको भावसंवर कहते हैं । तेरह प्रकार का चारित्र, दश प्रकार का सर्वोत्कृष्ट धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएं, समस्त परिषहों का जीतना, पांच प्रकारका चारित्र, योग ध्यान और अध्ययन की चतुरता, तप यम नियम आदि सब भावसंवर के कारण हैं ।।१५०१-१५०३।।

भावसंवर से ही दीक्षादि की सार्थकता—

संवरः कर्मणां यस्यमुनेर्योगादिनिग्रहैः । तस्यैव सफलं जन्मसार्थादीक्षा शुभंशिवम् ।।१५०४।।

अर्थ—जो मुनि अपने मन-वचन-काय के योगों का निग्रह कर कर्मोंका संवर करता है उसीका जन्म सफल समझना चाहिये उसी की दीक्षा सार्थक समझनी चाहिये और उसी को शुभ मोक्षकी प्राप्ति समझनी चाहिये ।।१५०४।।

भावसंवर के अभाव में दीक्षादि की निरर्थकता—

अक्षमः संवरं कर्तुं यो यतिर्योगचंचलैः । तस्य जातु न मोक्षोत्रांगक्लेशस्तुषखंडनम् ।।५।।
सन्नद्धः संगरेयद्वद्धटोहन्ति रिपून बहून् । तद्वत् संवरितो योगी कर्मारातींस्तपोवलात् ।।६।।
संवरेणविनापुंसां वृथा दीक्षा तपोखिलम् । यतः कर्मास्रवेणैव वद्धते संसृतिस्तराम् ।।७।।

अर्थ—जो मुनि अपने योगों की चंचलता के कारण कर्मों का संवर करने में असमर्थ है उसको कभी भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसी अवस्था में उसका तप

करना चावलों की भूसी को कूटने के समान केवल शरीर को क्लेश पहुंचाना है। जिस प्रकार युद्ध के लिये तैयार हुआ योद्धा युद्ध में बहुत से शत्रुओं को मार डालता है उसी प्रकार संवर को धारण करनेवाला मुनि अपने तपश्चरण के बल से बहुत से कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर डालता है। बिना संवर के मनुष्यों की जिनदीक्षा वा तपश्चरण आदि सब व्यर्थ है क्योंकि कर्मों का आस्रव होने से संसार की परम्परा बराबर बढ़ती जाती है ॥५-७॥

भावसंवर की प्रेरणा—

मत्वेति धीधनैः कार्यः संवरो मुक्तिकारकः । सर्वैर्व्रतादिभिर्योगैःप्रयत्नेनशिवाप्तये ॥८॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त चारित्र तपश्चरण आदि धारण कर प्रयत्न पूर्वक मोक्ष देनेवाला कर्मों का संवर सदा करते रहना चाहिये ॥८॥

अशुभ कर्मों के संवर पश्चात् ही शुभ संवर करने की प्रेरणा—

कर्तव्योमुनिभिः पूर्वं संवरोत्राघकर्मणाम् । स्वात्मध्यानं ततः प्राप्यसिद्ध्यै च शुभकर्मणाम् ॥९॥

अर्थ—मुनियों को सबसे पहले पापरूप अशुभ कर्मों का संवर करना चाहिये और फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने आत्मध्यानमें लीन होकर शुभ कर्मों का भी संवर करना चाहिये ॥९॥

निर्जरा का स्वरूप उसके भेद और स्वामी—

सविपाकाविपाकाभ्यां कर्मणां निर्जरा द्विधा । सविपाकात्र सर्वेषां सदा कर्मविपाकतः ॥१०॥
अविपाका मुनीनां सा केवलं जायतेतराम् । तपोभिर्दुष्करैर्विश्वैर्यमाद्यैर्मुक्तिमातृका ॥११॥

अर्थ—कर्मोंके एक देश क्षय होने को निर्जरा कहते हैं उसके सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा के भेद से दो भेद हैं। उनमें से सविपाक निर्जरा समस्त संसारी जीवों के सदा होती रहती है क्योंकि संसारी जीवों के कर्मों का विपाक प्रति समय सबके होता रहता है। तथा अविपाक निर्जरा मोक्षकी माता है और वह घोर तपश्चरण तथा समस्त यमों को धारण करने से केवल मुनियों के ही होती है ॥१०-११॥

अविपाक निर्जरा का दृष्टान्त उसका फल—

यद्वदाम्रफलान्यत्रपच्यन्तेहो बहूष्मणा । तद्वच्च कृत्स्नकर्माणितपस्तापैर्मुनीश्वरैः ॥१२॥
यथाजीर्णयुतोरोगीमलनिर्झरणाद्भवेत् । महासुखीमुनिस्तद्वत्कर्मनिर्जरणाद्भुवि ॥१३॥

यथायथात्र जायेत कर्मणां निर्जरासताम् । तथातथासमायातिनिकटंमुक्तिनायका ।।१४।।
यदैव निर्जरा सर्वा तपसाखिलकर्मणाम् । तदैव जायते मोक्षोऽनन्तसौख्याकरः सताम् ।।१५।।

अर्थ—जिसप्रकार आम के फल अधिक गर्मी से जल्दी पक जाते हैं उसीप्रकार मुनिराज भी अपने तीव्र तपश्चरण की गर्मी से समस्त कर्मों को पका डालते हैं। जिस प्रकार अजीर्ण रोग का रोगी मल निकल जाने से (दस्त हो जाने से) अधिक सुखी होता है उसी प्रकार मुनिराज भी कर्मों की निर्जरा हो जाने से अधिक सुखी हो जाते हैं। मुनियों की जैसे-जैसे कर्मों की अधिक निर्जरा होती जाती है वैसे ही वैसे मुक्तिरूपी नायका उनके निकट आती जाती है। जब तपश्चरण के द्वारा सज्जनों के समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है उसी समय उनको अनंत सुख देनेवाली मोक्ष प्राप्त हो जाती है ।।१५१२-१५।।

निर्जरा के कारण तपश्चरणादि की प्रेरणा—

ज्ञात्वेति मुक्तिकामैः सा विधेयामुक्तिकारिणी। खनोसमस्तसौख्यानां तपोरत्नत्रयाविभिः ।।१६।।

अर्थ—यही समझकर मोक्ष की इच्छा करने वाले पुरुषों को तपश्चरण और रत्नत्रय आदि के द्वारा समस्त सुखों की खानि और मोक्ष को देनेवाली यह कर्मों की निर्जरा अवश्य करनी चाहिये ।।१६।।

भाव मोक्ष द्रव्य मोक्ष का स्वरूप—

सर्वेषां कर्मणां योत्रक्षयहेतुर्जितात्मनः। विशुद्धः परिणामः सः तावन्मोक्षोऽशुभान्तकः ।।१७।।
केवलज्ञानिनो योत्रविश्लेषः कर्मजीवयोः। सर्वथा द्रव्यमोक्षः सोऽनन्तशर्माकिरोमहान् ।।१८।।

अर्थ— अपने आत्मा को वश करनेवाले मुनियों के समस्त कर्मों के क्षय होने का कारण ऐसा जो अत्यन्त शुद्ध परिणाम होता है उसको समस्त पापों का नाश करने वाला भाव मोक्ष कहते हैं। केवली भगवान के जो कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से सर्वथा भिन्न हो जाता है। उसको अनंत सुख देनेवाला महान् द्रव्य मोक्ष कहते हैं ।।१७-१८।।

उभय मोक्ष का फल—

यथापावशिरोन्तं हि वद्धस्य दृढबन्धनैः। मोचनाच्च परंशमं तथा कृत्स्नविधिक्षयात् ।।१९।।
ततःऊर्ध्वंस्वभावेनव्रजेदात्माशिवालयम् । कृत्स्नकर्मवपुर्नाशाद्गुणाष्टकमयोमहान् ।।२०।।

अर्थ—जिसप्रकार कोई मनुष्य अत्यंत दृढ़ बन्धनों से सिर से पैर तक बंधा हो और फिर उसको छोड़ दिया जाय तो छूटने से वह सुखी होता है उसी प्रकार कर्मों

से बंधा हुआ आत्मा समस्त कर्मों के नाश हो जाने से अनंत सुखी हो जाता है । तदनन्तर ऊर्ध्वस्वभाव होने के कारण यह आत्मा मोक्ष में जा विराजमान होता है । इसके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और शरीर भी नष्ट हो जाता है इसलिये भी यह मोक्ष में पहुंच जाता है । उस समय यह सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित हो जाता है और सर्वोत्कृष्ट हो जाता है ।।१९-२०।।

सिद्धों के सुख का वर्णन और उसका प्रभाव—

तत्रभुंक्ते निराबाधंसुखं वाचामगोचरम् । अनन्तं शाश्वतं सिद्धः स्वात्मजंविषयातिगम् ।।२१।।
यत्सुखं सकलोत्कृष्टं कालत्रितयगोचरम् । विश्वदेवमनुष्याणांतिरश्चांभोगभागिनाम् ।।२२।।
तस्मादनन्तातिगंसौख्यं निरौपम्यसुखोद्भवम् । एकस्मिन समयेभुंक्ते सिद्धोऽमूर्तोखिलार्थवित् ।।२३।।

अर्थ—वहांपर सिद्ध भगवान जिस सुखका अनुभव करते हैं वह सुख निराबाध है, वाणी के अगोचर है, अनंत है, नित्य है, केवल स्वात्मासे प्रगट होता है और विषयों से सर्वथा रहित है । समस्त देव, समस्त मनुष्य, समस्त तिर्यंच और समस्त भोगभूमियों का भूत, भविष्यत और वर्तमान तीनों कालों में होनेवाला जो सर्वोत्कृष्ट सुख है उससे अनंतगुना अनुपम सुख समस्त पदार्थों को जानने वाले अमूर्त सिद्ध भगवान एक समय में अनुभव करते हैं ।।२१-२३।।

मोक्ष सुख प्राप्ति की प्रेरणा—

विज्ञायेति बुधाःशीघ्रं मोक्षं नित्यगुणाम्बुधिम् । साधयन्तु प्रयत्नेन तपोभिर्दीक्षयायमैः ।।२४।।

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् पुरुषों को तपश्चरण दीक्षा और यम आदि धारण कर प्रयत्नपूर्वक सदा रहनेवाले अनुपम गुणों का समुद्र ऐसा यह मोक्ष अवश्य सिद्ध कर लेना चाहिये ।।२४।।

सप्त तत्त्वों के श्रद्धान की प्रेरणा—

इमानि सप्ततत्त्वानि भाषितानिजिनागमे । जनैर्दृक्शुद्धये नित्यं श्रद्धेयानिदृगन्वितैः ।।२५।।

अर्थ—इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने आगममें ये सात तत्त्व निरूपण किये हैं । सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध रखने के लिये सदा इनका श्रद्धान बनाये रखना चाहिये ।।२५।।

पुण्य, पापका स्वरूप और उन प्रकृतियों के नाम—

शुभैर्योगक्रियाद्यैश्च पुण्यमुत्पद्यते नृणाम् । अशुभैःपापमत्यर्थं प्रत्यहं दुःखकारणम् ।।२६।।

सद्वेद्यं सुरतिर्यग्नरायुर्नामशुभानि च । उच्चैर्गोत्रमिमाज्ञेयाद्विचत्वारिंशदेव हि ॥२७॥
पुण्यप्रकृतयस्तीर्थपदादिसुखखानयः । पापप्रकृतयः शेषाविश्वदुःखनिबंधनाः ॥२८॥

अर्थ—मनुष्यों को मन-वचन-कायकी शुभ क्रियाओं से पुण्य उत्पन्न होता है और अशुभ क्रियाओंसे प्रतिदिंन दुःख देनेवाला अत्यंत पाप उत्पन्न होता है। साता वेदनीय, देवायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, पांचों शरीर, तीनों अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण रस गंध स्पर्श, मनुष्यगति प्रयोग्यानुपूर्वी देवगतिप्रयोग्यानुपूर्वी अगुरुलघु परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति निर्माण, तीर्थंकर ऊंच गोत्र ये कर्मों की व्यालीस प्रकृतियां शुभ कहलाती हैं तथा इन्हीं को पुण्य कहते हैं ये पुण्य प्रकृतियां तीर्थंकरादिक पदों के सुख देनेवाली हैं। इनके सिवाय जो कर्म प्रकृतियां हैं, ये सब पाप प्रकृतियां कहलाती हैं और समस्त दुःखों को देनेवाली हैं ॥२६-२८॥

पुण्य पाप सहित सात तत्त्व ही नौ पदार्थ है—

प्रागुक्तसप्ततत्त्वानिपुण्यपापयुतानि च । पदार्था नव कथ्यन्तेसम्यग्दृग्ज्ञानगोचराः ॥२९॥

अर्थ—पहले कहे हुए सातों तत्त्व पुण्य पाप के मिलाने से नौ पदार्थ कहलाते हैं। ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के गोचर हैं ॥२९॥

सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के नाम व उनके पालन की प्रेरणा—

तेषुतत्त्वपदार्थेषु परां श्रद्धां विधाय च । दृष्टेरंगान्यपीमान्थावेयान्यष्टौविशुद्धये ॥३०॥
निःशंकितं च निःकांक्षितांगंनिर्विचिकित्सितम् । अमूढदृष्टिनामांगंह्यु पगूहनसंज्ञकम् ॥३१॥
सुस्थितीकरणं वात्सल्यंप्रभावननामकम् । एतान्यष्टौमहांगानि दृष्टेर्धार्याणिदृग्युतैः ॥३२॥

अर्थ—इन तत्त्व और पदार्थों में परम श्रद्धा धारण कर इस सम्यग्दर्शन को शुद्ध करने के लिये आगे कहे हुए सम्यग्दर्शन के आठों अंगों का पालन करना चाहिये। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यग्दर्शन के महा अंग हैं। सम्यग्दृष्टियों को इनका पालन अवश्य करना चाहिये ॥३०-३२॥

निःशंकित अंग का स्वरूप—

उक्ततत्त्वंपदार्थेषु तीर्थशेसकलागमे । निर्ग्रंथे च गुरौधर्मेदयापूर्णे जिनोदिते ॥३३॥

रत्नत्रयमये मोक्षमार्गे शंकाबुधोत्तमैः । त्यज्यते या सदासस्यान्निःशंकितांग आदि मः ।।३४।।

अर्थ—ऊपर कहे हुए समस्त तत्त्वों में, पदार्थों में, तीर्थंकर परमदेव में, उनके कहे हुए आगम में, निर्ग्रंथ गुरु में भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुये दयामय धर्म में और रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग में विद्वान् पुरुषोंको सब तरह की शंकाओं का त्याग कर देना चाहिये । इसको सम्यग्दर्शन का पहला निःशंकित अंग कहते हैं ।।३३-३४।।

तीर्थंकरदेव के वचन को ही प्रमाणिक मानने की प्रेरणा—

कुलाद्रिमेरुभूभागंक्वचिद्दैवाच्चलेदहो । न जातुदेशकालेपि वाक्यं श्रीजिनभाषितम् ।।३५।।
इति मत्वात्रसर्वज्ञंनिर्दोषंगुणसागरम् । प्रमाणीकृत्यतीर्थेशं तद्वाक्येनिश्चयं कुरु ।।३६।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि कदाचित् दैवयोग से कुलपर्वत वा मेरुपर्वत का भूभाग चलायमान हो सकता है परन्तु किसी भी देश वा किसी भी काल में भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ वचन चलायमान वा अन्यथा नहीं हो सकता । यही समझकर और सर्वज्ञ निर्दोष तथा गुणोंके समुद्र ऐसे तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मान कर उनके वचनों का निश्चय करना चाहिये ।।३५-३६।।

सप्तभय व उनके त्याग की प्रेरणा—

इहलोकभयंनाम परलोकभवंभुवि । अत्राणगुप्तिमृत्याख्यवेदनाकस्मिकाह्वयाः ।।३७।।
इमे सप्तभयास्त्याज्या भयकर्मभवाबुधैः । दृग्विशुद्धयै विदित्वानुल्लंघ्यं भाविशुभाशुभम् ।।३८।।

अर्थ—इस संसार में सात भय हैं इस लोकका भय, परलोक का भय, अपनी अरक्षा का भय, मृत्यु का भय, वेदना वा रोग का भय, आकस्मिक भय और परकोटा आदि के न होने से सुरक्षित न रहने का भय ये सातों भय, भय नाम के कर्मसे उत्पन्न होते हैं इसलिये सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखने के लिये बुद्धिमानों को इन सातों भयोंका त्याग कर देना चाहिये । क्योंकि जो होनहार शुभ तथा अशुभ है उसको कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता ।।३७-३८।।

निःकांक्षित अंग का स्वरूप—

इह पुत्रकलत्रश्रीराज्यभोगादिशर्मसु । अमुत्रस्वर्गं चक्री न्द्राहमिन्द्रादिपदेषु च ।।३९।।
कुदेवश्रुतगुर्वादौ कुधर्मेवारिनिर्जये । धर्मायमूढभावेनतपोधर्मफलादिभिः ।।४०।।
या निराक्रियतेन्नित्यंदुराकांक्षाविरागिभिः । तन्नि.कांक्षाह्वयं सारं ह्यंगं स्वमुक्तिभूतिदम् ।।४१।।

अर्थ—वीतरागी पुरुष धर्म के लिये किये हुए तपश्चरण आदि धर्मके फल से

अज्ञान रूप परिणामों से भी पुत्र स्त्री लक्ष्मी राज्य भोग आदि कल्याण करनेवाले इस लोक संबंधी पदार्थों की आकांक्षा नहीं करते तथा परलोक में होनेवाले स्वर्ग के सुख वा इन्द्र अहमिंद्र चक्रवर्ती आदि के पदों की आकांक्षा भी नहीं करते । इसीप्रकार कुदेव कुशास्त्र कुगुरु और कुधर्म की भी इच्छा कभी नहीं करते और न शत्रुओं के जीतने की इच्छा करते हैं । इस प्रकार की दुराकांक्षा जो दूर करना है उसको स्वर्ग मोक्ष की विभूति देनेवाला सारभूत निःकांक्षित अंग कहते हैं ।।३६-४१।।

इन्द्रिय सुखादि की आकांक्षा के त्याग की प्रेरणा—

भंगुरंत्रिजगत्सर्वं भोगांपंश्वभ्रकारणम् । कारागारं वपुर्मत्वा कांक्षा हेया सुखादिषु ।।४२।।

अर्थ—ये समस्त तीनों लोक क्षणभंगुर हैं भोगोपभोग के साधन सब नरकके कारण हैं और शरीर कारागार के समान है यही समझकर सुखादिक की आकांक्षा सर्वथा दूर कर देनी चाहिये ।।४२।।

विचिकित्सा का स्वरूप व भेद—

द्रव्यभावद्विभेदाभ्यां विचिकित्सा द्विधामता । आद्यामुनिवपुर्जाताद्वितीयात्रक्षुधादिजा ।।४३।।

अर्थ—द्रव्य और भाव के भेद से विचिकित्सा के दो भेद हैं । पहली मुनियों के शरीर से उत्पन्न हुई द्रव्यविचिकित्सा है और दूसरी भूख प्यास से उत्पन्न होनेवाली भावविचिकित्सा है ।।४३।।

द्रव्य भाव विचिकित्सा का स्वरूप—

मुनीनां मलमूत्रादीन् वातकष्टादिरुग्व्रजान् । पश्यतां याघृणा द्रव्यविचिकित्सात्र सा शुभा ।।४४।।
जैनेत्रशासने घोराः क्षुत्तृषादिपरीषहाः । यदि सन्ति न चेदन्यत्समीचीनं किलाखिलम् ।।४५।।
इत्यादि चिन्तनं यच्च कातरैः क्रियते हृदि । भावाख्याविचिकित्सा सा स्मृतामिथ्यात्वकारिणी ।।

अर्थ—मुनियों के मलमूत्र को देखकर अथवा वायु के रोग को वा उनके अन्य रोगों को देखकर जो घृणा करता है वह अशुभ द्रव्यचिकित्सा कहलाती है । यदि जैन शासन में भूख प्यास की घोर परीषह न हों तो बाकी का समस्त जैन शासन अत्यंत समीचीन है इसप्रकार का चिंतवन कातर लोग ही करते हैं और इसी को मिथ्यात्व बढ़ानेवाली भावचिकित्सा कहते हैं ।।४४-४६।।

विचिकित्सा का त्याग ही निर्विचिकित्सा अंग है—

एषात्रत्रिविधा चित्ते हन्यते या विवेकिभिः । तस्यान्निर्विचिकित्साख्यमंगं विश्वसुखप्रदम् ।।४७।।

अर्थ—विवेकी पुरुष इन दोनों प्रकार की विचिकित्साओं का जो त्याग कर देते हैं उसको समस्त संसार को सुख देनेवाला निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं ॥४७॥

मुनिराज के शरीर से घृणा करने का निषेध—

मुनीन्द्रसद्गुणान्सारान् जगद्भव्यहितंकरान् । विश्वासाधारणान् ज्ञात्वा तद्गात्रेत्यज भोघृणाम् ॥

अर्थ—मुनिराज में समस्त संसार में न होनेवाले अनेक असाधारण सद्गुण हैं वे सब गुण सारभूत हैं और जगत के समस्त भव्य जीवों का हित करनेवाले हैं। यही समझकर मुनिराज के शरीर को देखकर कभी घृणा नहीं करनी चाहिये ॥४८॥

अमूढ़ दृष्टि अंगका स्वरूप मूढ़ता त्याग का उपदेश—

बौद्धादिसमयेसर्ववेदस्मृत्यादिदुःश्रुते । हरहर्यादिदेवे च सग्रंथेकुगुरौखिले ॥४९॥
श्रेयोर्थं दक्षभावेन भक्तिरागाद्युपासनम् । यन्निराक्रियतेस्वान्यैरमूढत्वं तदूर्जितम् ॥५०॥
विवेकलोचनेनात्रपरीक्ष्यनिखिलान्मतान् । सारासारांश्च धर्मादीन् मूढत्वं जहि सर्वथा ॥५१॥

अर्थ—चतुर पुरुष अपने आत्माका कल्याण करने के लिये बौद्ध-आदि अन्य समस्त मतों में, वेद स्मृति आदि समस्त अन्य शास्त्रों में, हरि हर आदि अन्य देवों में और परिग्रह सहित समस्त कुगुरुओंमें न तो कभी भक्ति करते हैं और न कभी उपासना करते हैं तथा उनकी भक्ति और उपासना दूसरों से भी कभी नहीं कराते उसको श्रेष्ठ अमूढ़दृष्टि अंग कहते हैं। चतुर पुरुषों को विवेक रूपी नेत्रों से समस्त मतों की परीक्षा कर लेनी चाहिये उन सबका सार असार समझ लेना चाहिये धर्मका स्वरूप समझ लेना चाहिये और फिर अपनी मूढ़ता का त्याग कर देना चाहिये ॥४९-५१॥

उपगूहन अंग का स्वरूप और उसके पालने की प्रेरणा—

निर्दोषस्य निसर्गेण जिनेन्द्रशासनस्य च । चतुःसंघमुनीशानां बालाशक्त जनाश्रयैः ॥५२॥
आगतस्यात्रदोषस्याच्छादनं यद्विधीयते । दक्षैर्नानाविधोपायैरुपगूहनमेवतत् ॥५३॥
निष्कलंकंशरण्यं च महच्छ्रीजिनशासनम् । विदित्वागततद्दोषं छादयन्तु बुधा द्रुतम् ॥५४॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ यह जिनशासन स्वभाव से ही निर्दोष है, इसलिये उसमें तथा चारों प्रकार के मुनियों के संघमें यदि किसी बालक वा असमर्थ मनुष्य के आश्रय से कोई दोष आ जाय तो चतुर पुरुषों को अनेक उपायों से उसका आच्छादान ही कर देना चाहिये। इसको उपगूहन अंग कहते हैं। यह भगवान जिनेन्द्रदेवका महा जिन शासन निष्कलंक है और शरणभूत है, यही समझकर चतुर पुरुषोंको

शीघ्र ही उसमें आये हुए दोषोंको आच्छादन करते रहना चाहिये ।।५२-५४।।

स्थितिकरण अंगका स्वरूप और उसके पालन करने की प्रेरणा—

सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रेभ्योघोरतपसोभुवि । परीषहोपसर्गाद्यैश्चलतां गृहियोगिनाम् ।।५५।।
सुस्थितिकरणं यच्च क्रियते स्वक्रियादिषु । हितैधर्मकरैर्वाक्यैः सुस्थितीकरणंहि तत् ।।५६।।
परिज्ञाय जगत्सारांस्तपोधर्मव्रतादिकान् । स्वमुक्तिसाधकास्तेषुस्थितीकरणमाचरेः ।।५७।।

अर्थ—यदि कोई श्रावक वा मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र वा घोर तपश्चरण से अथवा परीषह वा उपसर्ग से चलायमान होते हों तो हित करने वाले धर्मरूप वचनों से उनको उनकी उसी क्रिया में स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग कहलाता है । ये तप धर्म और व्रतादिक सब जगतमें सारभूत हैं और स्वर्गमोक्षके साधन हैं यही समझकर उनमें स्थितिकरण अवश्य करना चाहिये ।।५५-५७।।

वात्सल्य अंग का स्वरूप और उसके पालन करने की प्रेरणा—

चतुर्विधेषुसंघेषु नाकनिर्वाणगामिषु । धर्मप्रवर्तकेष्वत्रसद्यः प्रसूतधेनुवत् ।।५८।।
स्नेहंभक्त्यादिकं यच्च धर्मबुद्धया विधीयते । धार्मिकैर्धर्मसिद्ध्यर्थं तद्वात्सल्यं जगद्धितम् ।।५९।।
चतुर्विधंमहासंघं विश्वलोकोत्तमंपरम् । गुणैरन्तातिगै र्ज्ञात्वा तद्वात्सल्यंभजान्वहम् ।।६०।।

अर्थ—धर्मात्मा पुरुष अपने धर्मकी सिद्धि के लिये स्वर्गमोक्ष में जाने वाले चारों प्रकार के संघमें तथा धर्मकी प्रवृत्ति करने वालों में धर्म बुद्धि से जो अपने बच्चे में हाल की प्रसूता गाय के समान स्नेह करते हैं और भक्ति करते हैं उसको जगत का हित करनेवाला वात्सल्य अंग कहते हैं । यह चारों प्रकार का संघ समस्त लोक में उत्तम है और अनंत गुणोंसे सुशोभित होने के कारण सर्वोत्कृष्ट है । यही समझकर प्रतिदिन इस वात्सल्य अंग का पालन करना चाहिये ।।५८-६०।।

प्रभावना अंगका स्वरूप और उसके माहात्म्य प्रकट करने की प्रेरणा—

मूलोत्तरगुणैर्योगवृंक्षमूलादिपूर्वकैः । तपोभिर्दुष्करै र्ज्ञानविज्ञानभानुरश्मिभिः ।।६१।।
उच्छिद्यान्यमतध्वान्तंविद्भिर्लोके प्रकाशकम् । धर्मार्हच्छासनादीनां यत्साप्रभावना मता ।।६२।।
सत्यभूतं जगत्पूज्यं भव्यात्तं जिनशासनम् । भवघ्नं मोक्षदं वीक्ष्य व्यक्तीकुर्वन्तु धीधनाः ।।६३।।

अर्थ—जिसप्रकार वृक्ष में जड़ होती है और फिर उसकी शाखाऐं डालियां आदि होती हैं उसीप्रकार मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुण होते हैं । इन मूलगुणों को धारण करके तथा घोर तपश्चरण और ज्ञान विज्ञान रूपी सूर्यकी किरणों से अन्य मत

रूपी अंधकार को नाश कर विद्वान लोग इस लोकमें जो धर्मस्वरूप भगवान अरहंतदेव के शासनको प्रकाशित करते हैं उसको प्रभावना अंग कहते हैं। यह जिनशासन यथार्थ है, जगतपूज्य है, भव्य जीवों के द्वारा ग्रहण किया जाता है संसार को नाश करनेवाला है और मोक्षको देनेवाला है। यही समझकर बुद्धिमान लोगोंको इसका माहात्म्य प्रगट करना चाहिये ॥६१-६३॥

सम्यग्दर्शन शुद्धि के लिये अष्ट अंग की रक्षा करने की प्रेरणा—

इमान्यष्टांगसाराणि दर्शनस्यविशुद्धये। विशुद्धिदानि यत्नेनरक्षणीयानि धीधनैः ॥६४॥
यथाराज्यांगहीनोत्राक्षमोहन्तु रिपून् नृपः। तथास्यांगैर्विना सम्यग्दृष्टिः कर्मरिपून्क्वचित् ॥६५॥

अर्थ—इसप्रकार सम्यग्दर्शनके निःशंकित आदि आठ अंग हैं। ये अंग सारभूत हैं और सम्यग्दर्शन को शुद्ध करनेवाले हैं। इसलिये बुद्धिमानों को अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिये यत्न पूर्वक इनकी रक्षा करनी चाहिये। जिसप्रकार राज्य के अंगों से रहित हुआ राजा अपने शत्रुओं को नहीं जीत सकता, उसी प्रकार निःशंकित आदि अंगों के बिना सम्यग्दृष्टि पुरुष भी कर्मरूपी शत्रुओं को कभी नहीं जीत सकता। ॥६४-६५॥

२५ मल दोषों के नाम व उन्हें त्यागने की प्रेरणा—

इतिमत्वामुदादायाष्टांगानि दर्शनस्य च। पंचविंशतिस्त्रेमेदोषास्त्याज्या मलप्रदाः ॥६६॥
त्रिधामौढ्यं मदाअष्टौ षडनायतनानि च। दोषाः शंकादयोत्रैतेदृग्दोषाः पंचविंशतिः ॥६७॥

अर्थ—यही समझकर सम्यग्दर्शनके इन आठों अंगोंको प्रसन्नता पूर्वक धारण करना चाहिये तथा मलिनता उत्पन्न करनेवाले पच्चीसों दोषों का त्याग कर देना चाहिये। तीन मूढ़ताएँ आठ मद छह अनायतन और आठ शंकादिक दोष ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष कहे जाते हैं ॥६६-६७॥

देव मूढ़ता, लोक मूढ़ता, समय मूढ़ता का स्वरूप—

चंडिका क्षेत्रपालेषु ब्रह्मकृष्णेश्वरादिषु। उपासनं कुदेवेषुयद्दैवमौढ्यमेवतत् ॥६८॥
मिथ्यामतानुसारेणलोकाचारोघकरकः। आचार्यंते शठैर्लोके लोकमूढत्वमेवतत् ॥६९॥
बौद्धमीमांसकादीनांसमयेष्वन्यवर्त्मसु। मूढभावेन यो रागस्तन्मौढ्यं समयाभिधम् ॥७०॥

अर्थ—चंडी क्षेत्रपाल वा ब्रह्मा विष्णु महेश आदि कुदेवों की उपासना करना देवमूढ़ता कहलाती है। मिथ्यामत के अनुसार जो लोकाचार है वह पाप उत्पन्न करने वाला है उसको जो अज्ञानी लोक आचरण करते हैं उसको लोकमूढ़ता कहते हैं। अपनी

अज्ञानतासे बौद्ध मीमांसक आदि के शास्त्रोंमें वा अन्य मतमें जो राग करना है उसको समय मूढ़ता कहते हैं ॥६८-७०॥

मूढ़ताओं के त्याग की प्रेरणा—

एतन्मूढत्रयंनिद्यं मूढलोकप्रतारकम् । धर्मध्वंसकरं त्याज्यंश्वभ्रदंदूरतो बुधैः ॥७१॥

अर्थ—ये तीनों प्रकार की मूढ़ताएं अत्यन्त निंद्य हैं अज्ञानी लोगों को ठगने वाली हैं धर्मको नाश करने वाली हैं और नरकादिक के दुःख देनेवाली हैं। इसलिये बुद्धिमानों को दूर से ही इनका त्याग कर देना चाहिये ॥७१॥

आठ मदों के नाम—

महाजातिकुलैश्वर्यरूपज्ञानतपो बलाः। शिल्पित्वं दुर्मदाएतेष्टौहंतव्यागुणान्वितैः ॥७२॥

अर्थ—उत्तम जाति, कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और शिल्पित्व इन आठों का मद करना दुर्मद है गुणी पुरुषों को इनका अवश्य त्याग कर देना चाहिये। ॥७२॥

उत्तम जाति कुल के मद के त्याग की प्रेरणा हेतू पूर्वक—

भिन्नभिन्नादिजातीनां स्त्रीणांचतिर्यग्योनिषु । अभ्द्भूर्यन्पयः पीतमब्ध्यंबोरधिकं हि तत् ॥७३॥
तिर्यग्मनुष्यनारीणां तुग्वियोगजशोकतः । अनन्तानांयदश्र्यंबु तत्समुद्रांभ शोधिकम् ॥७४॥
इतिस्वमातृपितृंश्च नोचोच्चांतातिगान्भवे । ज्ञात्वादक्षैर्मदस्त्याज्यः सज्जातिकुलयोस्त्रिधा ॥

अर्थ—तिर्यंच योनि में परिभ्रमण करने वाली भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों का जो दूध पिया गया है उसका प्रमाण भी समस्त समुद्रों के जल से भी बहुत अधिक है। तिर्यंच और मनुष्यों की स्त्रियों की अनंत पर्यायों में-अपने पुत्रके वियोग से उत्पन्न हुए शोक के कारण जो आंसू निकले हैं उनका प्रमाण भी समुद्रों के जलसे बहुत अधिक है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को अपने माता-पिता के कुलको ऊंच नीचसे रहित समझ कर मन-वचन-कायसे उत्तम जाति और उत्तम कुल का अभिमान छोड़ देना चाहिये। ॥७३-७५॥

ऐश्वर्य और रूप मदके त्याग की प्रेरणा हेतू पूर्वक—

क्षणविध्वंसि विज्ञायैश्वर्यंचक्र्यादिभूभृताम् । अरिचोरादिभिः सार्द्धंहेयोत्रैश्वर्यजोमदः ॥७६॥
रोगक्लेशविषास्त्राद्यैः स्वरूपं क्षणभंगुरम् । मत्वा न तत्कृतो गर्वो जातु कार्यो विचक्षणैः ॥७७॥

अर्थ—इस संसार में चक्रवर्ती आदि महाराजाओं का ऐश्वर्य भी क्षणभंगुर

है इसके सिवाय इस धनको चोर चुरा ले जाते हैं शत्रु ले जाते हैं। यही समझकर ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए मदका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। यह सुन्दर रूप रोग क्लेश विष और शास्त्रादिक के द्वारा क्षणभर में नष्ट हो जाता है। यही समझकर बुद्धिमानों को कभी भी अपने रूपका मद नहीं करना चाहिये ।।७६-७७।।

ज्ञान, तप, बल, कलाओं के मद त्याग की प्रेरणा—

अंगपूर्वाम्बुधेः संख्यां विदित्वाश्रीजिनागमे। किंचिच्छ्रुतंपरिज्ञाय नादेयस्तन्मदः क्वचित् ।।७८।।
उग्रोग्र्यादिमहाघोरतपोविधीन्सुयोगिनाम्। प्राक्तनानां मुदा ज्ञात्वा हंतव्यस्तत्कृतो मदः ।।७९।।
जिनचक्रिमहर्षीणामप्रमाणं महाबलम्। विदित्वा स्वबलस्यात्र न कार्यो बलिभिर्मदः ।।८०।।
शिल्पित्वंविविधं ज्ञात्वा विज्ञान लेखनादिजम्। जातुशिल्पमदोनात्रविधेयोज्ञानशालिभिः ।।८१।।

अर्थ—जैन शास्त्रों से ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों की संख्या समझकर थोड़े से श्रुतज्ञान को पाकर उसका मद कभी नहीं करना चाहिये। पहले के मुनि उग्र-उग्र तप महा घोर तपश्चरण का मद भी प्रसन्नता पूर्वक छोड़ देना चाहिये। भगवान तीर्थंकर परमदेव का बल भी बहुत अधिक है, चक्रवर्ती का बल भी बहुत है और महर्षियों का बल भी बहुत है, यही समझकर बलवान् पुरुषों को अपने अधिक बलका मद कभी नहीं करना चाहिये। इस संसार में विज्ञान और लेखन आदि की कलाएं भी अनेक प्रकार की हैं उन सबको जानकर ज्ञानी पुरुषों को उन कलाओं का मद भी कभी नहीं करना चाहिये ।।७८-८१।।

मद करने से हानि और कण्ठगत प्राण रहने पर भी मद नहीं करने का उपदेश—

एतेत्राष्ठौमदा निंद्या निंद्यकर्मकराभुवि। दृग्धर्मध्वंसकाहेया:शत्रवोत्रैव पंडितैः ।।८२।।
मदाष्टकमिदं योत्र विधत्ते मूढधीर्यतिः। तेनहत्वादृगादीन् सः नीचयोनीश्चिरंभ्रमेत् ।।८३।।
विज्ञायेति न कर्तव्योमदो जातु गुणान्वितैः। सज्जात्यादिषुसर्वेषुसत्सुप्राणात्ययेप्यहो ।।८४।।

अर्थ—ये आठों मद अत्यन्त निंद्य हैं निंद्यकर्म करनेवाले हैं और सम्यग्दर्शन रूपी धर्मको नाश करनेवाले शत्रु हैं। इसलिये विद्वान् लोगों को इन सबका त्याग कर देना चाहिये। जो अज्ञानी पुरुष इन आठों मदोंको धारण करते हैं वे सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयको नष्ट कर चिरकाल तक नीच योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। यही समझकर गुणी पुरुषों को कंठगत प्राण होने पर भी जाति आदि का मद कभी नहीं करना चाहिये ।।८२-८४।।

६ अनायतन और उनके त्याग की प्रेरणा—

मिथ्यासम्यक्त्वकुज्ञानकुचारित्राणिदुर्धियः । तद्वन्तस्त्रय एतानि निंद्यानायतनानिषट् ॥८५॥
श्वभ्रसंवलहेतूनिविश्वपापाकराणि च । त्याज्यानिदृष्टिघाती नीमान्यनायतनानिषट् ॥८६॥

अर्थ— मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और इन तीनों को धारण करनेवाले अज्ञानी ये छह निंद्य अनायतन गिने जाते हैं । ये छहों अनायतन नरक के कारण हैं समस्त पापों को करनेवाले हैं और सम्यग्दर्शनका घात करनेवाले हैं । इसलिये बुद्धिमानों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥८५-८६॥

शंकादि दोष के त्याग की प्रेरणा—

दृष्टेःप्रागुक्तनिःशंकादिभ्यः शंकादयोऽशुभाः । विपरीता बुधैर्ज्ञेया अष्टौदोषा मलप्रदाः ॥८७॥

अर्थ— पहले सम्यग्दर्शन के जो निःशंकित आदि आठ अंग बतलाये हैं उनसे विपरीत शंका कांक्षा आदि आठ दोष कहलाते हैं ये दोष भी सम्यग्दर्शन में मलिनता उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये बुद्धिमानों को इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । ॥१५८७॥

२५ दोषों के त्यागने की पुनः प्रेरणा—

एतेदोषा त्रिशुद्धयापरिहर्तव्यादृगन्तकाः । पंचविंशतिरात्मज्ञैर्दृग्विशुद्धयै ,कुमार्गदाः ॥८८॥

अर्थ— ये पच्चीसों दोष सम्यग्दर्शन को नाश करनेवाले हैं और कुमार्गको देने वाले हैं इसलिये आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले विद्वानों को अपना सम्यग्दर्शन विशुद्ध रखने के लिये मन-वचन-कायसे इनका त्याग कर देना चाहिये ॥८८॥

मलीन सम्यग्दर्शन मुक्ति का कारण नहीं—

मलिने दर्पणे यद्वत्प्रतिविम्बं न दृश्यते । सदोषेदर्शनेतद्वन्मुक्तिस्त्रीवदनाम्बुजम् ॥८९॥
मत्वेति दर्शनं जातुस्वप्नेपि मलसन्निधिम् । निर्मलंमुक्तिसोपानं न नेतव्यं शिवार्थिभिः ॥९०॥

अर्थ— जिसप्रकार मलिन दर्पण में अपना प्रतिबिंब दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मलिन वा सदोष सम्यग्दर्शनमें मुक्तिस्त्री का मुखकमल दिखाई नहीं देता । यही समझकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषों को मोक्षका कारणभूत अपना निर्मल सम्यग्दर्शन स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं करना चाहिये ॥८९-९०॥

निर्मल सम्यग्दर्शन की महिमा—

धन्यास्तएवसंसारे बुधैःपूज्याःसुरैःस्तुताः । दृष्टिरत्नं न यै नीतं कदाचिन्मलसन्निधौ ॥९१॥

तस्यैव सफलं जन्म मन्येहं कृतिनोभुवि । शशांकनिर्मलं येन स्वीकृतं दर्शनं महत् ॥९२॥

अर्थ—जिन लोगों ने अपना सम्यग्दर्शन रूपी रत्न कभी भी मलिन नहीं किया है वे ही मनुष्य इस संसार में धन्य हैं विद्वान लोग उनकी ही पूजा करते हैं और देव लोग उन्हीं की स्तुति करते हैं। जिस पुरुष ने चन्द्रमा के समान निर्मल सम्यग्दर्शन स्वीकार कर लिया है उसी महा पुण्यवान् का जन्म मैं सफल मानता हूं ॥९१-९२॥

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को मोक्ष प्राप्ति असम्भव है—

यतश्चारित्रतो भ्रष्टाः केचित्सम्यक्त्वशालिनः । सिद्धयन्ति तपसा लोके स्वीकृत्य चरणं पुनः ॥
ये भ्रष्टा दर्शनात्ते च भ्रष्टा एव जगत्त्रये । चारित्रेसत्यपि ज्ञानेमोक्षस्तेषां न जातुचित् ।९४॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि कितने ही सम्यग्दृष्टि ऐसे हैं जो चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं परन्तु वे फिर भी चारित्र को धारण कर तपश्चरण के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हो जाते हैं, वे चारित्र के होनेपर भी तथा ज्ञान के होने पर भी तीनों लोकों में कहीं भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥९३-९४॥

सम्यग्दर्शन की महिमा दृष्टान्त पूर्वक—

यस्माच्च ज्ञानचारित्रे मिथ्यात्वविषदूषिते । भवतो न क्वचित्काले परमेपि शिवाप्तये ॥९५॥
अतो विनात्रसम्यक्त्वं ज्ञानमज्ञानमेव भोः । दुश्चारित्रं च चारित्रं कुतपः सकलं तपः ॥९६॥
अन्यद्वादुष्करं कायक्लेशमातपनादिकम् । कथ्यते निष्फलंपुंसा तुषखंडन वज्जिनैः ॥९७॥
यथा बीजादृऋते जातु क्षेत्रे न प्रवरंफलम् । दर्शनेन बिना तद्वन्न चारित्रे शिवादि च ॥९८॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि मिथ्यात्वरूपी विषसे दूषित हुए ज्ञानको और चारित्र कितने ही उत्कृष्ट क्यों न हों फिर भी उनसे मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिये कहना चाहिये कि बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान अज्ञान है चारित्र मिथ्या चारित्र है और समस्त तप कुतप है। इनके सिवाय जो अत्यन्त कठिन आतपनादिक योग है वे भी सब बिना सम्यग्दर्शन के केवल शरीर को क्लेश पहुंचाने वाले हैं और चावल की भूसी को कूटने के समान सब निष्फल हैं ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जिसप्रकार बिना बीज के किसी भी खेत में कभी भी उत्तम फल उत्पन्न नहीं हो सकते उसी प्रकार बिना सम्यग्दर्शन के केवल चारित्र से कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥९५-९८॥

सम्यग्दर्शन का फल—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नंमातंगमपि भूतले । भाविमुक्तिवधूकान्तं देवा देवं वदन्त्यहो ॥९९॥

सम्यग्दृग्रत्नकंठस्थो निर्धनोपि जगत्त्रये। उच्यते पुण्यवान् सद्भिः स्तुत्यः पूज्योमहाधनी ।।१६००।।
यतोत्रैकभवेसौख्यं दुःखं वा कुरुतेधनम् । इहामुत्र च सम्यक्त्वं केवलंसुखमूर्जितम् ।।१६०१।।
सम्यक्त्वेन समं वासो नरकेपिवरंसताम् । सम्यक्त्वेन विनानैवनिवासोराजतेदिवि ।।१६०२।।
यतः श्वभ्राद्विनिर्गत्यक्षिपित्वाप्राक्तनाशुभम् । सम्यग्दर्शनमहात्म्यात्तीर्थनाथो भवेत्सुधीः ।।१६०३।।
सम्यक्त्वेन विनादेवा आर्तध्यानं विधाय भोः । दिवश्च्युत्वा प्रजायन्तेस्थावरेष्वत्रतत्फलात् ।।४।।
सम्यग्दृष्टिगृं हस्थोपि कुर्वन्नारंभमंजसा । पूजनीयो भवेल्लोकेनृनाकिपतिभिः स्तुतः ।।५।।
दृष्टिहीनोभवेत्साधुः कुर्वन्नपि तपोमहत् । दृष्टिशुद्धैःसुरैर्मर्त्यैर्निदनीयः पदेपदे ।।६।।
इन्द्राहमिन्द्रतीर्थेशलौकान्तिकमहात्मनाम् । बलादीनांपदान्यत्रमहान्ति च सुरालये ।।७।।
यानि तानि न लभ्यन्ते कुर्वद्भिः परमं तपः । मुनिभिश्चविनादृष्टिं संयमाद्यखिलैः परैः ।।८।।

अर्थ—यदि चांडाल भी सम्यग्दर्शन से सुशोभित हो तो गणधरादिक देव उसको होनहार मुक्ति रूपी स्त्री का स्वामी और इसीलिये देव कहते हैं । जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन रूपी रत्न शोभायमान है वह यदि निर्धन हो तो भी सज्जन पुरुष उसको तीनों लोकों में पुण्यवान कहते हैं उसको पूज्य समझते हैं उसकी स्तुति करते हैं और उसको महाधनी समझते हैं । इसका भी कारण यह है कि धन इसी एक भव में सुख वा दुःख देता है परंतु सम्यग्दर्शन इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सर्वोत्कृष्ट सुख देता है । सज्जन पुरुषों को इस सम्यग्दर्शन के साथ-साथ नरक में रहना भी अच्छा है परंतु सम्यग्दर्शन के बिना स्वर्ग में निवास करना भी सुशोभित नहीं होता । इसका भी कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष नरक में से निकल कर तथा उस सम्यग्दर्शन के माहात्म्य से पहले के समस्त अशुभ कर्मों को नाशकर महा बुद्धिमान तीर्थंकर हो सकता है । परंतु बिना सम्यग्दर्शन देव आर्तध्यान धारण कर लेते हैं और फिर मिथ्यात्व के माहात्म्य से स्वर्गसे आकर स्थावरों में उत्पन्न होता है । सम्यग्दृष्टि पुरुष गृहस्थ होकर भी तथा आरंभ करता हुआ भी इन्द्र नरेन्द्र आदि सबके द्वारा पूजनीय होता है और सब उसकी स्तुति करते हैं । परंतु साधु होनेपर भी जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह घोर तपश्चरण करता हुआ भी शुद्ध सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाले देव और मनुष्यों से पद-पद पर निंदनीय माना जाता है । इन्द्र अहमिंद्र तीर्थंकर लौकांतिक बलभद्र आदि के जो जो सर्वोत्कृष्ट पद हैं वे बिना सम्यग्दर्शन के परम तपश्चरण करते हुए भी तथा समस्त संयमादिकों को धारण करने पर भी मुनियों को भी कभी प्राप्त नहीं होते । ।।१५९९-१६०८।।

सम्यग्दृष्टि के अशुभ संयोगों की प्राप्ति का अभाव—

नारकत्वं च तिर्यक्त्वंकुगतिंनिंदितंकुलम् । स्त्रीत्वं च विकलांगत्वंक्लीवत्वं च कुजन्मताम् ।।९।।
अल्पायुस्त्वंदरिद्रत्वंकातरत्वममान्यताम् धर्मार्थकामदूरत्वं शुभभावादिविच्युतिम् ।।१०।।
रोगित्वं बहुपापित्वंदुःखित्वंमूर्खतादिकान् । अव्रतिनोपिदृष्टयाढया न लभन्तेत्र जातुचित् ।।११।।

अर्थ—जो पुरुष सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं वे चाहे अव्रती ही क्यों न हों तथापि वे नरक गति में, तिर्यंचगति में, कुगति में, निंदित कुल में, स्त्री पर्याय में, नपुंसक पर्याय में उत्पन्न नहीं होते । वे विकल वा अंगभंग शरीर को भी धारण नहीं करते, उनका कुजन्म भी नहीं होता, वे अल्पायु भी नहीं पाते, दरिद्री भी नहीं होते, कातर भी नहीं होते, अमाननीय भी नहीं होते, धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ से दूर भी नहीं रहते, शुभभावों से रहित भी नहीं होते, वे रोगी भी नहीं होते, अधिक पापी भी नहीं होते, दुःखी भी नहीं होते और मूर्ख भी नहीं होते । सम्यग्दृष्टि पुरुष इन अशुभ संयोगों को कभी प्राप्त नहीं होते ।।९-११।।

सम्यग्दृष्टि के ज्योतिषी आदि निंद्य देवों में उत्पन्न होने का निषेध—

ज्योतिर्भावनभौमेषुदिवि किल्विषिकेषु च । प्रकीर्णकाभियोग्येषु हीनेषुवाहनेषु च ।।१२।।
अन्येषुर्निद्यभोगेषुकुभूम्यादौदृगन्विताः । उत्पद्यन्ते कदाचिन्न व्रतादिरहिता अपि ।।१३।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष व्रत रहित होनेपर भी ज्योतिषी देवों में, भवनवासी देवों में, व्यंतर देवों में, वैमानिक देवों के किल्विषिक देवों में, प्रकीर्णक देवों में, आभियोग्य देवों में, वाहनादिक बनने वाले हीन देवों में उत्पन्न नहीं होते, जहांपर निंदनीय भोगोपभोग की सामग्री मिलती है वहां कहीं भी उत्पन्न नहीं होते तथा कुभोग भूमि में भी उत्पन्न नहीं होते । सम्यग्दृष्टि इन स्थानों में कभी उत्पन्न नहीं होते ।।१२-१३।।

सम्यग्दृष्टि को पूज्य पद की प्राप्ति—

किन्तुस्वर्गेप्रजायन्तेदृगाढ्याद्दृक्शुभोदयात् । इन्द्राः पूज्याः प्रतीन्द्राश्च लोकपालामहर्द्धिकाः ।।
लौकांतिकाश्चदेवाच्याः सामानिकादयोमराः । विश्वभोगोपभोगाढ्या जिनधर्मप्रभावकाः ।।१५।।
मनुजत्वेपि तीर्थेशाबलाः चक्रेश्वरादयः । कामदेवा गणेशाश्च पूजिता नृसुरासुरैः ।।१६।।
ओजस्तेजःप्रतापाढ्याः महाविद्यायशोंकिताः । जिनभक्ताश्च जायन्ते चतुर्नरार्थसाधकाः ।।१७।।
किमत्र बहुनोक्तेनसम्यग्दृष्टिसतांक्वचित् । सुदेवनृगती मुक्त्वान्यागतिविद्यते न भोः ।।१८।।

अर्थ—किंतु सम्यग्दृष्टि पुरुष सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्वर्गों में पूज्य इन्द्र होते हैं अहमिंद्र होते हैं प्रतीन्द्र होते हैं बड़ी ऋद्धिको धारण करनेवाले लोकपाल होते

हैं, देवों के द्वारा पूज्य ऐसे लौकांतिक देव होते हैं अथवा समस्त भोगोपभोगोंकी सामग्री से सुशोभित और जैन धर्मकी प्रभावना करनेवाले सामानिक जाति के देव होते हैं। यदि वे मनुष्य होते हैं तो तीर्थंकर बलभद्र चक्रवर्ती, कामदेव और गणधर होते हैं जो मनुष्य देव और विद्याधर आदि सबके द्वारा पूज्य होते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष बड़े ओजस्वी, तेजस्वी और प्रतापी होते हैं, अनेक महा विद्याएं तथा महा यश से सुशोभित होते हैं, भगवान जिनेन्द्रदेव के भक्त होते हैं और चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। बहुत कहने से क्या लाभ है थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि सज्जन पुरुषों को श्रेष्ठ देवगति और श्रेष्ठ मनुष्यगतिको छोड़कर अन्य कोई गति नहीं होती ।।१४-१८।।

सम्यग्दर्शन की उपसंहारादि विवरण—

इत्यादि प्रवरं ज्ञात्वा तन्माहात्म्यं सुखार्थिनः। सर्वयत्नेन कुर्वीध्वंदृग्विशुद्धिं जगत्सु ताम् ।।१६।।
निखिलगुणनिधानंमुक्तिसोपानमाद्यं दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थंप्रधानम्।
कुगतिगृहकपाटं धर्ममूलं सुखाब्धिं भजतपरम यत्नाद्दर्शनंपुण्यभाजः ।।२०।।

अर्थ—इसप्रकार इस सम्यग्दर्शन का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य समझ कर सुख चाहने वाले पुरुषों को अपने समस्त प्रयत्नों के साथ-साथ तीनों लोकों में स्तुति करने योग्य ऐसी इस सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताको धारण करना चाहिये। यह सम्यग्दर्शन समस्त गुणों का निधान है, मोक्षकी प्रथम सीढ़ी है, पापरूपी वृक्षको काटने के लिये कुठार के समान है, पुण्य बढ़ाने के लिये तीर्थ है, सब में प्रधान है, कुगति रूपी घरको बन्द करने के लिये कपाट के समान है, धर्मका मूल है और सुखका समुद्र है। इसलिये पुण्यवान पुरुषों को परम यत्न से इस सम्यग्दर्शन को शुद्धता पूर्वक धारण करना चाहिये। ।।१६-२०।।

शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्ति की भावना—

विश्वाभ्यर्चंमनन्तशर्मजनकंस्वर्मोक्षमार्गंपरं विश्वानर्थंहरंपरार्थंशिवदंपापारिनाशंकरम्।
सद्धर्मामृतसागरंनिरुपमं श्रीदर्शनं मेहृदि तिष्ठत्वत्रशिवाप्तयेप्यनुदिनंसंकीर्तितनंक्षायिकम् ।।२१।।

तीर्येशास्तीर्थंभूताजिनवरवृषभाः क्षायिकैर्दृक्चिदाद्यै-
रन्तातीतैर्गुणौघैस्त्रिभुवनमहिताभूषिताः संस्तुताश्च।
सिद्धाविश्वाग्रमूस्था हतभववपुषो ज्ञानदेहा अमूर्ताः
सर्वेश्रीसाधवोमेत्रिपदगुणयुतादृग्विशुद्धिं प्रदद्युः ।।१६२२।।

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते पंचाचार व्यावर्णने दर्शनाचारवर्णनो नामपंचमोधिकारः ।

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन तीनों लोकों में पूज्य है, अनंत सुख देनेवाला है, स्वर्ग मोक्षका सर्वोत्कृष्ट मार्ग है, समस्त अनर्थों को दूर करनेवाला है, मोक्षरूप परम पुरुषार्थ को देनेवाला है, पापरूप शत्रुको नाश करनेवाला है, सद्धर्मरूपी अमृतका समुद्र है, और समस्त उपमाओं से रहित है। ऐसा यह ऊपर कहा हुआ क्षायिक सम्यग्दर्शन मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन मेरे हृदयमें विराजमान रहो। भगवान तीर्थंकर परमदेव संसार भर में तीर्थभूत हैं, जिनवरों में भी श्रेष्ठ हैं, तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन आदि चैतन्यस्वरूप अनंत गुणों को धारण करने के कारण तीनों लोकों में पूज्य हैं, तीनों लोकों में सुशोभित हैं और तीनों लोक उनकी स्तुति करता है। इसी प्रकार भगवान सिद्ध परमेष्ठी समस्त लोकके ऊपर विराजमान हैं संसार तथा शरीर से रहित हैं ज्ञान ही उनका शरीर है और वे अमूर्त हैं। तथा आचार्य उपाध्याय साधुपरमेष्ठी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणों से सदा सुशोभित रहते हैं। इसप्रकार के ये पांचों परमेष्ठी मुझे शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रदान करें ॥१६२१-१६२२॥

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थमें पंचाचार के वर्णन में दर्शनाचार को वर्णन करनेवाला यह पांचवां अधिकार समाप्त हुआ।

षष्ठोधिकारः

मंगलाचरण और ज्ञानाचार के कथन की प्रतिज्ञा—

ज्ञानाचारफलप्राप्तानर्हत्सिद्धत्रियोगिनः । नत्वावक्ष्येष्टधा ज्ञानाचारं विश्वाग्रदीपकम् ।।१६२३।।

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी ज्ञानाचारके फलको प्राप्त हुए हैं इसलिये इनको नमस्कार कर समस्त लोक-अलोक को दिखलाने वाले आठ प्रकार के ज्ञानाचार का स्वरूप अब मैं कहता हूं ।।१६२३।।

ज्ञानाचार का स्वरूप और उसके भेद—

ये नात्माबुध्यते तत्वं मनो येन निरुध्यते । पापाद्विमुच्यतेयेनतज्ज्ञानं ज्ञानिनोविदुः ।।१६२४।।
येनरागादयो दोषाःप्रणश्यन्तिद्रुतसताम् । संवेगाद्याःप्रवर्द्धन्तेगुणा ज्ञानंतदूर्जितम् ।।२५।।
येनाक्षविषयेभ्योत्र विरज्यशिववर्त्मनि । ज्ञानीप्रवर्ततेनित्यं तज्ज्ञानं जिनशासने ।।२६।।
कालाख्यो विनयाचारः उपधानसमाह्वयः । बहुमानाभिदोनिह्नवाचारो व्यंजनाह्वयः ।।२७।।
अर्थाचाराभिधानश्च ततस्तदुभयाभिधः । ज्ञानाचारस्यविज्ञेया अष्टौभेदा इमे बुधैः ।।२८।।

अर्थ—जिस ज्ञानसे आत्माका स्वरूप जान जाय, जिस ज्ञानसे मन वशमें हो जाय और जिस ज्ञानसे समस्त पाप छूट जांय उसीको ज्ञानी पुरुष ज्ञान कहते हैं । जिस ज्ञानसे सज्जनोंके रागादिक दोष सब नष्ट हो जांय और संवेगादिक गुण वृद्धि को प्राप्त हो जांय उसको उत्तम ज्ञान कहते हैं । जिस ज्ञानसे ज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंसे विरक्त होकर मोक्षमार्ग में लग जाता है जिनशासनमें उसी को ज्ञान कहते हैं । इस ज्ञानाचारके आठ भेद हैं—कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार, अनिन्हवाचार, व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार । इसप्रकार विद्वान् लोग ज्ञानाचार के आठ भेद बतलाते हैं ।।१६२४-२८।।

स्वाध्याय करने के अयोग्य काल—

पूर्वाह्णेस्यापराह्णस्यंपूर्वंपश्चिमयामयोः । रजन्यामध्यवेलायाः पूर्वपश्चिमभागयोः ।।२९।।
तथामध्याह्नकालस्य कालंद्विघटिकाप्रमम् । प्रत्येकंविद्धि सिद्धांतपाठाद्ययोग्यमेव च ।।३०।।

अर्थ—प्रातःकालके एक पहर पहले, सायंकाल के एक पहर बाद, आधी रात के एक पहर पहले तथा एक पहर बाद और मध्याह्न काल की दो घड़ी ये सब काल

सिद्धांत शास्त्र के पढ़ने के अयोग्य हैं ।।२९-३०।।

निर्दोष काल में स्वाध्याय करने की प्रेरणा—

एतान् सदोषकालांश्च त्यक्त्वास्वाध्यायऊर्जितः । ग्राह्य आगमपाठाद्याः कार्याः कालेशुभेपरे ।।

अर्थ—इन सदोष कालों को छोड़कर श्रेष्ठ स्वाध्याय करना चाहिये । तथा आगम का पाठ आदि भी शुभ काल में ही करना चाहिये ।।३१।।

स्वाध्याय प्रारम्भ और समाप्ति के काल का वर्णन आषाढ़ादि माह की अपेक्षा—

पूर्वाह्णेत्र यदासप्तपादच्छाया भवेत्तदा । स्वाध्यायो हि गृहीतव्योनिर्विकल्पेनचेतसा ।।३२।।
आषाढे द्विपदच्छायापुष्यमासे चतुष्पदा । यदावतिष्ठते शेषा निष्ठापनीय एव सः ।।३३।।
तयोर्मासद्वयोर्मध्ये कालः स्वाध्यायमोचने । प्रत्येकं शेषमासानां वृद्धिहानियुतः स्फुटम् ।।३४।।
पादयोः षष्ठभागोत्र भवेत् ज्ञात्वेति योगिभिः । कर्तव्यो मुक्तये काले स्वाध्यायस्तत्वपूरितः ।।
अपराह्णेत्रमध्याह्नाद्विमुच्यघटिका द्वयम् । स्वाध्यायोह्यपराह्णाख्योग्राह्योदक्षैःप्रयत्नतः ।।३६।।
दिनस्य पश्चिमे भागे सप्तपादप्रमाणका । यदावतिष्ठते छाया तदा मोक्तव्य एव सः ।।३७।।
पूर्वरात्रेः परित्यज्य किलाद्यं घटिकाद्वयम् । गृह्णन्तु यतपः पूर्वरात्रिस्वाध्यायमंजसा ।।३८।।
त्यक्त्वामध्याह्नरात्रेश्च काले द्विघटिकामितम् । स्वाध्यायोत्रविधेयः पश्चिमरात्रिसमाह्वयः ।।३९।।
आद्यमध्यावसानानां प्रत्येकं दिनरात्रयोः । त्यक्त्वाद्विघटिकाकालंस्वाध्यायोयोग्यमंजसा ।।४०।।
पूर्वपश्चिमभागोत्थं शेषकालेषुसर्वदा । बुधा गृह्णन्तु मुंचन्तुसिद्धयै स्वाध्यायमूर्जितम् ।।४१।।

अर्थ—पूर्वाह्ण के समय जब सात पैर छाया हो जाय तब मुनियों को अपने सब विकल्प छोड़कर स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिये । आसाढ़ महीने में जब छाया दो पद रह जाय तथा पौष मास में जब छाया चार पैर रह जाय तब मुनियोंको स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिये । यह आषाढ़ और पौष महीने में स्वाध्याय समाप्त करने का काल बतलाया । बाकी के महीनों में छाया की हानि वृद्धि के अनुसार स्वाध्याय की समाप्ति करनी चाहिये । प्रत्येक महीने में दो पैर का छठवां भाग घटाना बढ़ाना चाहिये अर्थात् श्रावण में दो पैर और एक पैर का तीसरा भाग, भादों में दो पैर और एक पैर का दो भाग, आश्विन में तीन पैर, कार्तिक में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, मगसिर में तीन पैर एक पैर का दो भाग तथा पौष में चार पैर छाया रह जाय तब स्वाध्याय समाप्त करना चाहिये । मोक्ष प्राप्त करने के लिये इसप्रकार योग्य समय में तत्त्वों से भरा हुआ स्वाध्याय करना चाहिये । (माघ में तीन पैर एक पैर का दो भाग, फाल्गुन में तीन पैर एक पैर का तीसरा भाग, चैत में तीन पैर, बैसाख में दो पैर

और एक पैर का दो तिहाई भाग, जेठ में दो पैर एक पैरका तीसरा भाग और आषाढ़ में दो पैर छाया रहनेपर स्वाध्याय की समाप्ति का काल समझना चाहिये।) मध्याह्न काल की दो घड़ी छोड़ चतुर पुरुषोंको प्रयत्न पूर्वक अपराह्न समय का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिये। दिन के पश्चिम भाग में जब छाया सात पैर बाकी रह जाय तब स्वाध्याय समाप्त कर देना चाहिये। पूर्व रात्रि की दो घड़ी छोड़कर मुनियों को पूर्व रात्रि का स्वाध्याय स्वीकार करना चाहिये। तथा मध्य रात्रि की दो घड़ी छोड़ कर पिछली रात्रि का स्वाध्याय प्रारंभ करना चाहिये। दिन के आदि मध्य अंत में तथा रात्रि के आदि मध्य अंतमें दो-दो घड़ी छोड़कर स्वाध्याय करना चाहिये। दिनरात का पूर्व भाग और अंतिम भाग स्वाध्याय के अयोग्य काल है उसको छोड़कर बाकी के समय में बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये स्वाध्याय का प्रारंभ तथा समाप्ति करनी चाहिये ।।३२-४१।।

उल्कापातादि समय में सिद्धांत शास्त्र के स्वाध्याय का निषेध—

अग्निवण हि दिग्दाहउल्कापातो नभोंगणान् । विद्यु द्विन्द्रधनुःसंध्यापीतलोहितवर्णभा ।।४२।।
दुर्दिनोभ्रमसंयुक्तो ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः । कलहादिर्धराकंपो धूमाकारात्तमंवरम् ।।४३।।
मेघगर्जनमित्याद्यादोषाविघ्नादिहेतवः । त्याज्याः सिद्धांतसूत्रे स्वाध्यायस्यपाठकादिभिः ।।४४।।

अर्थ—जिस समय अग्निवर्ण का दिशाओं का दाह हो, आकाश से उल्कापात हो रहा हो, बिजली चमक रही हो, इन्द्रधनुष पड़ रहा हो, लाल पीले वर्ण की संध्या हो, भ्रमपूर्ण दुर्दिन हो, सूर्य वा चन्द्रमा का ग्रहण हो, युद्ध का समय हो, भूकम्प हो रहा हो, आकाश में धुएंके आकार का कुहरा फैला हो वा बादल गरज रहा हो ये सब दोष सिद्धांत सूत्रों के पढ़ने में विघ्न के कारण हैं। इसलिये पाठकों को इन समयों में स्वाध्याय नहीं करना चाहिये ।।४२-४४।।

काल शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय करने का फल—

कालशुद्धिविधायेमां ये पठन्तिजिनागमम् । निर्जरा विपुला तेषां कर्मणामास्रवोन्यथा ।।४५।।

अर्थ—जो मुनि इस काल शुद्धि को ध्यान में रखते हुए जिनागम का पठन-पाठन करते हैं उनके कर्मों की बहुत सी निर्जरा होती है। यदि वे अकाल में ही स्वाध्याय करते हैं तो उनके कर्मों का आस्रव ही होता है ।।४५।।

द्रव्य शुद्धि का स्वरूप, उसे रखने की प्रेरणा—

रुधिरं च वृणादीन मांसपूयविडादयः । इत्याद्यन्याशुचिद्रव्यादेहे स्वस्यपरस्य वा ।।४६।।

वर्जनीयाः प्रयत्नेनपाठकै द्रंव्यशुद्धये । स्वाध्यायस्यसमारंभेद्रव्यशुद्धिरियं मता ।।४७।।

अर्थ—स्वाध्याय करने वालों को अपनी द्रव्य शुद्धि बनाये रखने के लिये अपने वा दूसरे के शरीर पर रुधिर, घाव, मांस पीव विष्ठा आदि लगा हो वा ऐसे ही अन्य अशुद्ध द्रव्य लगे हों तो उनका प्रयत्न पूर्वक त्याग कर देना चाहिये तब स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिये । इसको द्रव्य शुद्धि कहते हैं ।।४६-४७।।

क्षेत्र शुद्धि का स्वरूप, क्षेत्र शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय की प्रेरणा—

चतुर्दिक्षु शुभंक्षेत्रं चतुःशतकरप्रमम् । रक्ताक्तिरहितं पूतं संशोध्यक्रियते बुधैः ।।४८।।
स्वाध्यायो योगपूर्वाणां ज्ञानायाज्ञानहानये । कर्मणां निजरायैवा क्षेत्रशुद्धिर्मतात्र सा ।।४९।।

अर्थ—बुद्धिमान पुरुषों को अपने ज्ञानकी वृद्धि के लिये अज्ञान को दूर करने के लिये और कर्मों की निर्जरा करने के लिये अंग पूर्वों का स्वाध्याय करना चाहिये और उस समय चारों ओर का सौ-सौ हाथ क्षेत्र शुद्ध रखना चाहिये । सौ-सौ हाथ दूर तक के क्षेत्र में रक्त, मांस, हड्डी आदि अपवित्र पदार्थ नहीं रहने चाहिये । इसको क्षेत्र शुद्धि कहते हैं ।।४८-४९।।

भाव शुद्धि का स्वरूप और इस पूर्वक स्वाध्याय करने की प्रेरणा—

क्रोधमानादिकान्सर्वान् क्लेशेर्ष्याशोकदुर्मदान् । हास्यारति भयादींश्च त्यक्त्वा प्रसन्नमानसम् ।।
कृत्वायोगूह्यतेदक्षैः स्वाध्यायोजिनसूत्रजः । त्रिशुद्धयासास्यविज्ञेयाभावशुद्धिर्विशुद्धिदा ।।५१।।

अर्थ—चतुर मुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, क्लेश, ईर्ष्या, शोक, दुर्मद, हास्य, रति, अरति, भय आदि सबका त्यागकर तथा मनको प्रसन्न कर मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक जिनसूत्रों का स्वाध्याय करते हैं । इसको विशुद्धता उत्पन्न करनेवाली भाव शुद्धि कहते हैं ।।५०-५१।।

द्रव्यादिक शुद्धि पूर्वक स्वाध्याय का फल—

इतिसत्कालसद्द्रव्यक्षेत्रभावाश्रितांपराम् । कृत्वा चतुर्विधां शुद्धिस्वाध्याये ये पठन्त्यहो ।।५२।।
वा पाठयन्ति सिद्धांततेषामाविर्भवेत्स्वयम् । ऋद्धयादिभिर्गुणैः सर्वैःसहाखिलं श्रुतंपरम् ।।५३।।

अर्थ—जो मुनि श्रेष्ठ कालशुद्धि, श्रेष्ठ द्रव्यशुद्धि, श्रेष्ठ क्षेत्रशुद्धि और श्रेष्ठ भावशुद्धि को धारण कर अर्थात् चारों प्रकार की शुद्धि को धारण कर स्वाध्याय में सिद्धांतशास्त्रों का पठन-पाठन करते हैं उनको समस्त ऋद्धि आदि श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ समस्त श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाता है ।।५२-५३।।

स्वाध्याय काल में पढ़ने योग्य शास्त्र—

अंगपूर्वाणिवस्तूनिप्राभृतादीनि यानि च। भाषितानि गणाधीशैःप्रत्येकबुद्धियोगिभिः ॥५४॥
श्रुतकेवलिभिर्विद्भिः दशपूर्वधरैर्भुवि। अप्रस्खलितसंवेगैस्तानि सर्वाणि योगिनाम् ॥५५॥
उक्तस्वाध्यायवेलायां युज्यन्ते चार्यिकात्मनाम्। पठितुं चोपदेष्टुं च न स्वाध्यायं विना क्वचित् ॥

अर्थ—अंग, पूर्व, वस्तु तथा जो प्राभृत गणधरों के कहे हुए हैं प्रत्येक बुद्ध योगियों के कहे हुए हैं, श्रुत केवलियों के कहे हुए हैं, दशपूर्वधारी विद्वानों के कहे हुए हैं अथवा जिनका संवेग कभी प्रस्खलित नहीं हुआ ऐसे योगियों के द्वारा कहे हुए हैं वे सब मुनियों को ऊपर लिखे हुए स्वाध्याय के समय में ही पढ़ने चाहिये तथा अन्य आर्य मुनियों को उनका उपदेश देना चाहिये। स्वाध्याय के बिना उनको अन्य किसी प्रकार से नहीं पढ़ना चाहिये ॥५४-५६॥

अन्य काल में पढ़ने योग्य शास्त्र—

चतुराराधनाग्रंथा मृत्युसाधनसूचकाः। पंचसंग्रहग्रंथाश्चप्रत्याख्यानस्तवोद्भवाः ॥५७॥
षडावश्यकसंदृब्धा महाधर्म कथान्विताः। शलाकापुरुषाणांचानुप्रेक्षादिगुणैर्भृताः ॥५८॥
इत्याद्या ये परे ग्रंथाश्चरित्रादय एव ते। सर्वदापठितुं योग्याः सत्स्वाध्यायंविनासताम् ॥५९॥

अर्थ—मृत्यु के साधनों को सूचित करनेवाले चारों आराधनाओंके ग्रंथ, पंचसंग्रह (गोमट्टसार आदि) प्रत्याख्यान स्तुति के ग्रंथ, छहों आवश्यकों को कहने वाले ग्रंथ, महाधर्म की कथाओं को कहने वाले ग्रंथ, शलाका पुरुषों के ग्रंथ, अनुप्रेक्षादिक गुणों से परिपूर्ण ग्रंथ तथा चरित्र आदि जितने अन्य ग्रंथ हैं उनको सज्जन पुरुष स्वाध्याय के बिना अन्य काल में भी पढ़ सकते हैं ॥५७-५९॥

अंग और पूर्वादि शास्त्र का प्रारम्भ उपवासादि पूर्वक करना चाहिये—

अंगानां सर्वपूर्वाणां वस्तूनां प्राभृतात्मनाम्। प्रारंभेत्रसमाप्तौचैकशोह्यनुज्ञया गुरोः ॥६०॥
उपवासो विधातव्यो व्युत्सर्गाः पंच वा बुधैः। अकालादिजदोषस्यविशुद्धयर्थंशिवाप्तये ॥६१॥

अर्थ—ग्यारह अंग चौदह पूर्व वस्तु और प्राभृत शास्त्रों का स्वाध्याय प्रारंभ करने के समय तथा समाप्ति के समय गुरु की आज्ञासे एक-एक उपवास करना चाहिये अथवा बुद्धिमानोंको पांच कायोत्सर्ग करना चाहिये। ये उपवास वा कायोत्सर्ग अकाल से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये करने चाहिये ॥६०-६१॥

विनयाचार का स्वरूप—

सुपर्यंकार्द्धपर्यंकवीरासनादिकान् वहून् । विधायहृदयेधृत्वाप्रतिलेख्य करद्वयम् ।।६२।।
नत्वा सिद्धांतसूत्राणि पठ्यन्ते यत्र योगिभिः । सूत्रार्थयोगशुद्धया स ज्ञानस्यविनयोमतः ।।६३।।

अर्थ—मुनि लोग जो पर्यंकासन अर्द्धपर्यंकासन वीरासन आदि में से कोई एक आसन लगा कर, हाथों को शुद्ध कर, सिद्धांत सूत्रों को ही नमस्कार कर तथा उन्हीं को हृदय में विराजमान मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक जो सूत्र वा सूत्रके अर्थ को पढ़ते हैं उसको ज्ञानका विनय वा विनयाचार कहते हैं ।।६२-६३।।

उपधान ज्ञानाचार का स्वरूप—

आचाम्लनिर्विकृताद्यैः पक्वान्नादिरसोज्झनैः । विधायनियमं ग्रंथसमाप्त्यन्तं श्रुतोत्सकैः ।।६४।।
सिद्धान्तं पठ्यते यत्राग्रहेण स्वार्थसिद्धये । आचार उपधानाख्यः स ज्ञानस्यस्मृतोमहान् ।।६५।।

अर्थ—शास्त्रज्ञानकी उत्कट इच्छा रखनेवाले मुनि ग्रंथकी समाप्ति तक केवल भात मिला माड़ खाने का निर्विकृति (विकार रहित पोष्टिक रहित) आहार ग्रहण करने का वा पकवान्न रसको त्याग करने का जो नियम लेते हैं और ऐसा नियम लेकर अपनी आत्माका कल्याण करने के लिये आग्रह पूर्वक जो सिद्धांतोंका पठन-पाठन करते हैं उसको ज्ञानका उपधान नामका आचार कहते हैं ।।६४-६५।।

बहुमान नामक ज्ञानाचार का स्वरूप—

अंगपूर्वश्रुतादीनां सूत्रार्थं च यथास्थितम् । तथैवाचोच्चरन् वाण्या यो न्येषांप्रतिपादयेत् ।।६६।।
कर्मक्षयाय कुर्यान्नसूरिश्रुतादियोगिनाम् । क्वचित्परिभवं गर्वाद्बहुमानं लभेत सः ।।६७।।

अर्थ—अंग पूर्व और अन्य शास्त्रों सूत्र अर्थ जैसा है उसीप्रकार जो वाणी से उच्चारण करते हैं उसीप्रकार दूसरों के लिये प्रतिपादन करते हैं । यह सब पठन-पाठन केवल कर्मों के क्षय के लिये करते हैं तथा अभिमान से आचार्य शास्त्र वा किसी योगी का कभी तिरस्कार नहीं करते उसको बहुमान नामका ज्ञानाचार कहते हैं ।।६६-६७।।

अनिह्नवाचार का स्वरूप—

सामान्यादि यतिभ्योपि पठित्वा श्रुतमूर्जितम् । महर्षिभ्योमयाधीतं मानिभिर्यन्निगद्यते ।।६८।।
अधीत्य प्रवरं शास्त्रं पार्श्वे निर्ग्रंथयोगिनाम् । कुलिंगिनिकटेऽधीतमुच्यते य ज्जडात्मभिः ।।६९।।
नाधीतं न श्चुतं वेद्मि नेत्यादि व्रूयते च यत् । पठितस्यापिशास्त्रस्य सर्वं निह्नवनं हि तत् ।।७०।।
इमं निह्नवदोषं च त्यक्त्वाचार्यादियोगिनाम् । गुरुपाठकशास्त्राणांश्रुतस्य पठितस्य वा ।।७१।।

गुणप्रकाशनं लोकेख्यांतिश्चत्र् यतेतराम्. । मुमुक्षुभिः स सर्वोप्यनिह्नवाचार उच्यते ।।७२।।

अर्थ—कोई अभिमानी पुरुष किसी उत्तम शास्त्र को किसी सामान्य मुनि से पढ़कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक महा ऋषिसे पढ़ा है। अथवा किसी उत्तम शास्त्र को किसी निर्ग्रंथ मुनि के समीप पढ़कर यह कहे कि मैंने तो यह शास्त्र अमुक मिथ्या साधु से, कुलिंगी से पढ़ा है। अथवा पढ़े हुये शास्त्रके लिये भी यह कहे कि मैंने यह शास्त्र नहीं पढ़ा है अथवा नहीं सुना है अथवा मैं इसको नहीं जानता इसप्रकार जो मूर्ख लोग कहते हैं उसको निह्नव कहते हैं। इस निह्नव दोषका त्याग कर आचार्य आदि योगियों की, गुरु की, उपाध्याय की, शास्त्रों की और सुनने वा पढ़नेकी प्रसिद्धि करना लोक में आचार्य गुरु उपाध्याय आदि के गुण प्रकाशित करना मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों के अनिह्नवाचार कहलाता है ।।६८-७२।।

व्यंजनाचार, अर्थाचार और उभयाचार का स्वरूप—

अक्षरस्वरमात्राद्यै र्यच्छुद्धं पठ्यतेश्रुतम् । दक्षैगुरूपदेशेन व्यंजनाचार एव सः ।।७३।।
अर्थेनात्रविशुद्धं यत्सदर्थालंकृतंश्रुतम् । पठ्यते पाठ्यतेऽन्येषांसोर्थाचारः श्रुतस्य वै ।।७४।।
अर्थाक्षरविशुद्धं यदधीयतेजिनागमम् । विद्भिस्तदुभयाचारो ज्ञानस्य कथ्यतेमहान् ।।७५।।

अर्थ—चतुर पुरुष गुरु के उपदेशके अनुसार जो अक्षर स्वर मात्राओं का शुद्ध उच्चारण करते हैं उसको व्यंजनाचार कहते हैं। अर्थ से अत्यंत सुशोभित शास्त्रों का शुद्ध अर्थ पढ़ना और शुद्ध ही अर्थ पढ़ाना ज्ञान का अर्थाचार कहलाता है। जो जिनागमको शब्द अर्थ दोनों से विशुद्ध अध्ययन करता है उसको विद्वान् लोग ज्ञानका महान् उभयाचार कहते हैं ।।७३-७५।।

विनयादि पूर्वक स्वाध्याय का फल—

एभिरष्टविधाचारैरधीतं यज्जिनागमम् । तदिहैवाखिलं ज्ञानं जनयेद्वाशु केवलम् ।।७६।।
विनयाद्यै रधीतं यत्प्रमादाद्विस्मृतंश्रुतम् । तथामुत्र च तद्ज्ञानं सूते च केवलोदयम् ।।७७।।
ज्ञानमष्टविधाचारैः पठितंयमिनांस्फुटम् । अनन्तकर्महान्यैस्यात् कर्मबंधाय चान्यथा ।।७८।।
विज्ञायेति विदो ज्ञानं कालेत्रविनयादिभिः । पठन्तु योगशुद्धया वा पाठयन्तुसतांचिदे ।।७९।।

अर्थ—इसप्रकार आठ प्रकार के ज्ञानाचारों के साथ-साथ जो जिनागम का अध्ययन किया जाता है उससे इसी लोकमें पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है तथा उसे शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। जो जिनागम विनयादिक के साथ अध्ययन किया गया है तथा प्रमाद के कारण वह भूला जा चुका है तो भी उसके प्रभाव से परलोकमें

उसको केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इन आठ प्रकार के आचारों के साथ पढ़ा हुआ ज्ञान मुनियोंके अनंत कर्मोंको नाश कर देता है यदि वही ज्ञान आठों प्रकार के आचारों के साथ न पढ़ा हो तो फिर उससे कर्मों का बंध ही होता है। यही समझकर विद्वान् पुरुषों को योग्य काल में विनयादिक के साथ मन-वचन-काय को शुद्ध कर ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये तथा आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसी प्रकार दूसरों को पढ़ाना चाहिये ॥७६-७९॥

ज्ञानाचार की महिमा—

ज्ञानेन निर्मला कीर्ति भ्रमत्येव जगत्त्रये । ज्ञानेन त्रिजगन्मान्यं ज्ञानेनातिविवेकता ॥८०॥
ज्ञानेन केवलज्ञानं ज्ञानेनपूज्यतापदम् । ज्ञानेन त्रिजगल्लक्ष्मी जिनशक्रादिसत्पदम् ॥८१॥
ज्ञानेनैवप्रभुत्वं च ज्ञानेन सकला कला । जायते ज्ञानिनां नूनं विज्ञानादिगुणोत्करः ॥८२॥
ज्ञानेन ज्ञानिनां सर्वेशमाद्याः परमाः गुणाः । आश्रयन्तिक्षयंयान्ति दोषाः क्रोधमदादयः ॥८३॥
सज्ञानश्रृंखलाबद्धो मनोदन्ती भ्रमन् सदा । दुर्धरोविषयारण्ये वशमायाति योगिनाम् ॥८४॥
ज्ञानपाशेन बद्धाः स्युः पंचेन्द्रियकुतस्कराः । क्षमा न विक्रियां कर्तुं धर्मरत्नापहारिणः ॥८५॥
मदनाग्निमहाज्वाला जगद्दाहविधायनी । सिक्ता ज्ञानाम्बुना नूनं पुंसांशाम्यतितत्क्षणम् ॥८६॥
ज्ञानेन ज्ञायते विश्वं हस्तरेखेव निस्तुषम् । लोकालोकं सुतत्त्वं च परतत्त्वं किलाखिलम् ॥८७॥
हेयोपादेयसर्वाणिहिताहितांश्च बोधतः । कृत्स्नधर्मविचारादीन् ज्ञानीवेत्ति नचापरः ॥८८॥
विश्वज्ञोत्रसमर्थः स्यात्तरितुं च भवाम्बुधिम् । परांस्तारयितुं ज्ञानी ज्ञानोपेतेन नापरः ॥८९॥
वीतरागस्त्रिगुप्तात्मान्तमुंहूर्तेन कर्मयत् । क्षिपेद्ज्ञानी न त च्चाज्ञस्तपसा भवकोटिभिः ॥९०॥
यतोज्ञो दुष्करं घोरं तपः कुर्वन्नपि क्वचित् । आस्रवाद्यपरिज्ञानान्मुच्यते कर्मणां नहि ॥९१॥
हेयादेयं विचारं च तत्त्वातत्त्वंशुभाशुभम् । सारासारास्रवादीनि ह्यज्ञानी जातुवेत्ति न ॥९२॥

अर्थ—इस ज्ञानसे मनुष्य की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है इस ज्ञानसे ही तीनों लोकों में मान्यता बढ़ जाती है और ज्ञानसे ही उत्कृष्ट विवेक शीलता आ जाती है। ज्ञानसे ही केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, ज्ञानसे ही पूज्यताके पद प्राप्त होते हैं, ज्ञानसे ही तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है और ज्ञानसे ही तीर्थंकर और इन्द्र आदि के श्रेष्ठ पद प्राप्त होते हैं। ज्ञानसे ही प्रभुत्व प्राप्त होता है, ज्ञानसे ही समस्त कलाएं प्राप्त होती हैं तथा ज्ञानी पुरुषों के ही विज्ञान आदि गुणोंके समूह प्रगट होते हैं। इस ज्ञानसे ही ज्ञानी पुरुषों को उपशम आदि समस्त परम गुण अपने आप आ जाते हैं तथा ज्ञानसें ही क्रोध मद आदिक दोष सब नष्ट हो जाते हैं। अत्यंत दुर्धर ऐसा यह मन रूपी हाथी विषयरूपी वनमें सदा परिभ्रमण किया करता है यदि उसको

ज्ञानरूपी सांकल से बांध लिया जाय तो फिर वह उन योगियों के वश में अवश्य हो जाता है। धर्मरूपी रत्नको अपहरण करनेवाले ये पंचेन्द्रियरूपी दुष्ट चोर जब ज्ञान के पाश में (जाल में) बंध जाते हैं तब फिर वे किसी प्रकार का विकार करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। यह कामदेव रूपी महा ज्वाला संसार भरमें दाह उत्पन्न करनेवाली है यदि इसको ज्ञानरूपी जलसे बुझा दी जाय तो फिर वह मनुष्योंकी मदनज्वाला उसी समय शांत हो जाती है। इस ज्ञानके ही द्वारा यह तीनों लोक हाथकी रेखा के समान स्पष्ट दिखाई पड़ता है तथा ज्ञानसे ही लोक, अलोक अपने तत्त्व और समस्त दूसरों के तत्त्व जाने जाते हैं। हेयोपादेय रूप समस्त तत्त्वों कों, हित-अहित को और समस्त धर्म के विचारों को ज्ञानी पुरुष ही अपने ज्ञानसे जानता है, दूसरा कोई नहीं जान सकता। समस्त तत्त्वों को जाननेवाला सर्वज्ञ ही संसाररूपी समुद्र से पार होने के लिये समर्थ हो सकता है तथा ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानरूपी जहाज के द्वारा अन्य पुरुषों को भी संसार समुद्र से पार कर सकता है। ज्ञानी पुरुषों के सिवाय अन्य कोई भी संसार से पार नहीं कर सकता। तीनों गुप्तियों को पालन करनेवाला वीतराग ज्ञानी अंतर्मुहूर्त में जितने कर्मों को नाश कर सकता है उतने कर्मों को अज्ञानी पुरुष करोड़ों भव के तपश्चरण से भी नहीं कर सकता। इसका भी कारण यह है कि अज्ञानी पुरुष घोर दुष्कर तपश्चरण करता हुआ भी आस्रवादि के स्वरूप को न जानने के कारण कभी कर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। अज्ञानी पुरुष हेय उपादेय को, विचार अविचार को, तत्त्व अतत्त्व को, शुभ अशुभ को, सार असार को और आस्रवादि को कभी नहीं जान सकता ॥८०-९२॥

ज्ञानाभ्यास की प्रेरणा—

मत्वेति कृत्स्नयत्नेनप्रत्यहं श्रीजिनागमम्। अधीध्वं मुक्तयेदक्षाविश्वविज्ञानहेतवे ॥९३॥
ज्ञानाभ्यासं विनाजातु न नेतव्या हितार्थिभिः। एका कालकलालोके प्रमादेनशिवाप्तये ॥९४॥

अर्थ— यही समझकर चतुर पुरुषों को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन पूर्ण प्रयत्न के साथ श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए आगम का अभ्यास करते रहना चाहिये। अपने आत्मा का हित करने वालों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस संसार में ज्ञान के अभ्यास के बिना प्रमाद से भी कभी समय की एक घड़ी भी कभी नहीं खोनी चाहिये ॥९३-९४॥

श्रुतज्ञान की महिमा—

अखिलगुणसमुद्रं चित्तमातंगसिंहं विषयसफर जालं मुक्तिमार्गैकदीपम् ।
सकलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानमूलं श्रुतनिखिलमदोषं धीधनाः संपठन्तु ।।६५।।
ज्ञानाचारमिमं सम्यगाख्याय ज्ञानशालिनाम् । त्रयोदशविधं वक्ष्ये चारित्राचारमूर्जितम् ।।६६।।

अर्थ—यह श्रुतज्ञान समस्त गुणों का समुद्र है, मनरूपी हाथी को वश करने के लिये सिंह के समान है, विषयरूपी मछलियों के लिये जाल है, मोक्षमार्गको दिखलाने वाला दीपक है, समस्त सुखों का निधान है और ज्ञान विज्ञान का मूल है, इसलिये बुद्धिमानों को ऐसे इस समस्त श्रुतज्ञान का पठन-पाठन निर्दोष रीति से करते रहना चाहिये। इसप्रकार ज्ञानियों के ज्ञानाचार का निरूपण अच्छी तरह किया। अब आगे तेरह प्रकार के उत्कृष्ट चारित्राचार का वर्णन करते हैं ।।६५-६६।।

चारित्राचार के कथन की प्रतिज्ञा—

महाव्रतानि पंचैव तथा समितयः शुभाः । पंचत्रिगुप्तयोभेदाश्चा रित्रस्यत्रयोदश ।।६७।।

अर्थ—पांच महाव्रत, पांच शुभ समिति और तीन गुप्ति ये तेरह चारित्र के भेद हैं ।।६७।।

चारित्राचार के भेद और महाव्रतों का स्वरूप—

सर्वस्मात्प्राणिघाताच्चमृषावादाच्चसर्वथा । अदत्तादानतो नित्यं मैथुनाद्धिपरिग्रहात् ।।६८।।
सामस्त्येन निवृतिर्या त्रिशुद्धयात्रकृतादिभिः । महान्ति तानि कथ्यन्ते महाव्रतानि पंच वै ।।६९।।
अमीषां लक्षणं पूर्वं प्रोक्तं मूलगुणेऽधुना । सप्रपंचं न वक्ष्यामि ग्रंथविस्तारभीतितः ।।१७००।।

अर्थ—मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक कृत कारित अनुमोदना से पूर्ण रूपसे समस्त हिंसा का त्याग कर देना, सर्वथा असत्य भाषण का त्याग कर देना, सर्वथा चोरी का त्याग कर देना, सदा के लिये अब्रह्म का मैथुन सेवन का त्याग कर देना और समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना महाव्रत कहलाता है। ये पांचों व्रत सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये इनको महाव्रत कहते हैं। इन सबका लक्षण विस्तार के साथ पहले मूलगुणों के वर्णन में कह चुके हैं अतएव ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहां नहीं कहते हैं। ।।६८-१७००।।

रात्रि भोजन त्याग और अष्ट प्रवचन मातृका पालन करने की प्रेरणा—

महाव्रतविशुद्धयर्थं त्याज्यं रात्रौ च भोजनम् । सेव्याः प्रवचनाख्याष्टमातरो यतिभिः सदा ।।

अर्थ—इन महाव्रतों की विशुद्धि के लिये रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिये तथा मुनियों को आठ प्रवचन मातृका का पालन करना चाहिये। (तीन गुप्ति और पांच समितियों का पालन करना अष्ट प्रवचन मातृका कहलाती है) ॥१७०१॥

रात्रि चर्या के दोष—

रात्रिचर्याटनेनैव सर्वव्रतपरिक्षयः। शीलभंगोपवादश्च जायते यमिनां द्रुतम् ॥१७०२॥
रात्रिभिक्षाप्रविष्टानां चौरैश्चारक्षकादिभिः। नाशः स्यान्महतीशंकासर्वत्र च व्रतादिषु ॥१७०३॥

अर्थ—मुनियों को रात्रि में चर्या करने से समस्त व्रतों का नाश हो जाता है, शील का भंग हो जाता है और सर्वत्र अपवाद वा निंदा फैल जाती है। भिक्षाके लिये रात्रि में जाने से चोर डाकू आदि के द्वारा नाश होने का डर रहता है तथा व्रतादिकों में सर्वत्र महा शंका बनी रहती है ॥१७०२-१७०३॥

अयोग्य काल में आहार की वाञ्छा का निषेध—

विदित्वेति गते योग्यकाले जातु न भोजनम्। चिन्तनीयं हृदादक्षै षष्ठाणुव्रतसिद्धये ॥१७०४॥

अर्थ—यही समझकर चतुर मुनियों को छठे रात्रिभोजन त्याग व्रत की रक्षा करने के लिये हृदयसे भी कभी अयोग्य कालमें आहार की वांछा नहीं करनी चाहिये। ॥१७०४॥

समिति के भेद—

ईर्याभाषेषणादाननिक्षेपणसमाह्वया। उत्सर्गाख्यात्रपंचेमाः शुभाः समितयोमताः ॥५॥
आसांसम्यक्पुराख्यातं लक्षणं विस्तरेण च। इतो ब्रुवे न शिष्याणांग्रंथगौरवजाद्भयात् ॥६॥

अर्थ—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति ये पांच शुभ समिति कहलाती हैं। शिष्यों के लिये विस्तारके साथ इनका वर्णन पहले अच्छी तरह कह चुके हैं। इसलिये अब ग्रन्थ के विस्तार के भय से यहां नहीं कहते हैं ॥५-६॥

गुप्ति के भेद और मनोगुप्ति का स्वरूप—

मनोगुप्तिश्च वाग्गुप्तिः कायगुप्तिरिमाः पराः। तिस्त्रोत्रगुप्तयोज्ञेयाः सर्वास्रवनिरोधिकाः ॥७॥
पंचाक्षविषयार्थेभ्यः समस्तबाह्यवस्तुषु। संकल्पेभ्यो विकल्पेभ्यः कषायादिभ्य एव च ॥८॥
गच्छन्मनोनिरुध्याशु ध्यानाध्ययनकर्मसु। यत्स्थिरं क्रियते लीनं सा मनोगुप्तिरद्भुता ॥९॥

अर्थ—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन गुप्तियां कहलाती हैं ये

तीनों गुप्तियां समस्त आस्रवों को रोकने वाली हैं। यह मन पांचों इन्द्रियों के विषयों में गमन करता है, समस्त बाह्य पदार्थोंके संकल्प विकल्पोंमें गमन करता है और समस्त कषायों में गमन करता है। अतएव इस मन को इन सबसे रोक कर शीघ्र ही ध्यान अध्ययन आदि क्रियाओं में स्थिर कर देना सर्वोत्तम मनोगुप्ति कहलाती है ॥७-९॥

मनोगुप्ति के पालने हेतु अशुभध्यान के त्याग की प्रेरणा—

मनोगुप्तौप्रयत्नेन प्रणिधानं कुकर्मदम्। अप्रशस्तं द्रुतं त्याज्यं ग्राह्यं प्रशस्तमंजसा ॥१०॥

अर्थ—इस मनोगुप्ति को पालन करने के लिये पाप कर्मों को उत्पन्न करने वाले समस्त अशुभ ध्यानों का त्याग कर देना चाहिये और शुभ ध्यान धारण करना चाहिये ॥१०॥

इन्द्रिय प्रणिधान और नो इन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप—

इन्द्रियप्रणिधानं च पंचाक्षविषयोद्भवम्। नोइन्द्रियाभिधं चान्यद्प्रशस्तमितिद्विधा ॥११॥

अर्थ—पांचों इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होनेवाला ध्यान इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है और नोइन्द्रिय वा मनसे उत्पन्न होनेवाला अशुभध्यान नोइन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है। इसप्रकार प्रणिधान के दो भेद हैं ॥११॥

अप्रशस्त इन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप—

शब्दे रूपे रसे गंधे स्पर्शे सारे मनोहरे। मनोज्ञे वामनोज्ञे च सुखदुःखविधायिनि ॥१२॥
रागद्वेषाक्षमोहाद्यैर्गमनंचिन्तनादि यत्। इन्द्रियप्रणिधानंतदप्रशस्तं च पंचधा ॥१३॥

अर्थ—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये पांचों इन्द्रियों के पांच विषय हैं ये पांचों विषय मनोज्ञ भी हैं और अमनोज्ञ भी हैं तथा सुख देनेवाले भी हैं और दुःख देने वाले भी हैं। इन मनोहर और सारभूत दिखने वाले विषयों में रागद्वेष इन्द्रियों की लंपटता और मोहायिक के कारण इन्द्रियों का प्राप्त होना वा इन विषयों में गमन करने के लिये इन्द्रियों की लंपटता होना अप्रशस्त इन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है। ॥१२-१३॥

अप्रशस्त नोइन्द्रिय प्रणिधान का स्वरूप—

क्रोधेमानेखिलेमायालोभेनर्थाकरेऽशुभे। रागद्वेषादिभावैश्चमनोव्यापार एव यः ॥१४॥
क्रूरोरक्तोथवा निंद्योविश्वासातनिबन्धनः। प्रणिधानाप्रशस्तंतन्नोइन्द्रियाभिधंमतम् ॥१५॥

अर्थ—अनेक प्रकार के अनर्थ करनेवाले और अशुभ क्रोध मान माया लोभमें

रागद्वेषमय परिणामों से मनका व्यापार होना नोइन्द्रिय प्रणिधान कहलाता है। यह नोइन्द्रिय प्रणिधान भी अप्रशस्त है, क्रूर है, निंद्य है, समस्त दुःखों का कारण है और त्याज्य है ॥१४-१५॥

अप्रशस्त प्रणिधान के त्याग की प्रेरणा—

प्रणिधानाप्रशस्तस्यैते भेदा बहवो परे। परद्रव्यममत्वादिजास्त्याज्यागुप्तिधारिभिः ॥१६॥

अर्थ—इस अप्रशस्त प्रणिधान के अनेक भेद हैं और वे परद्रव्यों में ममत्व करने से उत्पन्न होते हैं। इसलिये गुप्ति पालन करनेवालों को इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१६॥

प्रशस्त मनःप्रणिधान का स्वरूप—

व्रतगुप्तिसमित्यादिशीलानां रक्षणादिषु। दशलक्षणिके धर्मे ध्याने च परमेष्ठिनाम् ॥१७॥
स्वात्मनः श्रुतपाठार्थे यन्मनःप्रापणं सदा। प्रणिधानं प्रशस्तं तत्कार्यं यत्नात्मनोऽन्तकैः ॥१८॥

अर्थ—व्रत, गुप्ति और समितियों की रक्षा करने में, शीलों की रक्षा करने में, दशलाक्षणिक धर्म में, परमेष्ठियों के ध्यान में, अपने आत्मा के शुद्ध ध्यान में और शास्त्रों के पठन-पाठन में जो मनको लगाता है उसको प्रशस्त मनःप्रणिधान कहते हैं। मनको वश में करनेवाले मुनियों को यत्नपूर्वक प्रशस्त मनःप्रणिधान धारण करना चाहिये ॥१७-१८॥

प्रशस्त प्रणिधान मनोगुप्ति की पूर्णता का कारण—

निर्विविकल्पं मनः कृत्वानिवेश्यते यथा यथा। परमात्माविधे तत्त्वे चिदानन्दमये थवा ॥१९॥
सिद्धार्हद्योगिनां ध्याने वागमामृतसागरे। तत्वरत्नाकरे पूर्णा मनोगुप्तिस्तथा तथा ॥२०॥

अर्थ—मुनिराज अपने मनके समस्त विकल्पों को हटा कर चिदानंदमय परमात्म तत्त्व में अथवा अरहंत सिद्ध वा आचार्यों के ध्यान में अथवा रत्नों से परिपूर्ण ऐसे आगमरूपी अमृत के समुद्र में अपने मनको जैसे-जैसे लगाते हैं वैसे ही वैसे उनकी मनोगुप्ति पूर्णता को प्राप्त होती जाती है ॥१९-२०॥

मनोगुप्ति पालन का फल—

सम्पूर्णा सन्मनोगुप्तिर्यस्यासीद्विमलात्मनः। व्रतगुप्तिसमित्याद्यास्तस्य पूर्णा भवन्त्यहो ॥२१॥
यतो येन मनोरुद्धं संवेगादिगुणोत्करैः। तेन कर्मास्त्रवः कृत्स्नोरुद्धः कृतश्चसंवर ॥२२॥
तस्मात्कर्मास्त्रवाभावाज्जायन्तेनिर्मलागुणाः। सर्वेव्रतसमित्याद्याः सम्पूर्णाश्च क्षमादयः ॥२३॥

अर्थ—निर्मल आत्माको धारण करनेवाले जिस मुनि की मनोगुप्ति पूर्ण हो जाती है उन्हींके महाव्रत गुप्ति समिति आदि सब पूर्ण हुए समझना चाहिये। जो मुनि संवेग आदि गुणों के समूह से अपने मनको रोक लेते हैं वे अपने समस्त कर्मोंके आस्रव को रोक लेते हैं तथा पूर्ण संवर को धारण करते हैं। आस्रव के रुकने और संवर के होने से व्रत समिति आदि समस्त निर्मल गुण प्रगट हो जाते हैं तथा उत्तम क्षमादिक भी समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं ॥२१-२३॥

मनोगुप्ति पालन करने की प्रेरणा—

विज्ञायेति मनोगुप्तिस्तात्पर्येणसुखाकरा। विधेया सर्वदा दक्षैः समस्तव्रतसिद्धये ॥२४॥
बाह्यार्थंतोनिरोध्दुं योऽसमर्थश्चंचलं मनः। कुतस्तस्यापरे गुप्ती कथ शुद्धाव्रतादयः ॥२५॥
यतः कर्मप्रसूतेत्र वचः काय द्वयं क्वचित्। सर्वदा चंचलं चित्तं घोरं श्वभ्रपदं नृणाम् ॥२६॥

अर्थ—अतएव चतुर पुरुषों को अपने समस्त व्रतों का पालन करने के लिये पूर्णरूप से सुख देनेवाली इस मनोगुप्ति का पालन सर्वथा करते रहना चाहिये। जो मुनि अपने चंचल मनको बाह्य पदार्थों से नहीं रोक सकता उसके अन्य गुप्तियां भी कैसे हो सकती हैं तथा व्रत भी शुद्ध कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि वचन और काय से तो कभी कभी कर्म आते हैं परन्तु मनुष्यों के चंचल मनसे नरक देनेवाले घोर कर्म सदा ही आते रहते हैं ॥२४-२६॥

मनोगुप्ति की महिमा और उसका फल—

अतःकार्यामनोगुप्तिः सर्वसंवरदायनी। निर्जराकारिणी मुक्तिजननीसद्गुणाकरा ॥२७॥
मनोगुप्त्याक्षवाक्कायकषायाद्यखिलद्विषाम्। निरोधो जायते तस्मात्प्रशस्तं ध्यानमंजसा ॥२८॥
तेन स्यातां च सम्पूर्णे परेसंवरनिर्जरे। ताभ्यां घातिविधेर्नाशस्ततः प्रादुर्भवेत्सताम् ॥२९॥
केवलज्ञानमात्मोत्थं दिव्यैः सर्वैः गुणैःसमम्। ततो मुक्तिवधूसंगो ह्यनन्तसुखकारकः ॥३०॥
इत्यादि परमं ज्ञात्वातत्फलं मोक्षकांक्षिभिः। एकात्रैव मनोगुप्तिः कार्या सर्वार्थसिद्धये ॥३१॥
अतुलसुखनिधाना स्वर्गमोक्षैकमाता जिनगणधरसेव्या कृत्स्नकर्मारिहंत्री।
व्रतसकलसुवीथी चित्तगुप्तिः सदा तां श्रयतपरमयत्नाद्योगिनोयोगसिद्धयै ॥३२॥

अर्थ—अतएव मुनियों को मनोगुप्ति का पालन सदा करते रहना चाहिये। यह मनोगुप्ति पूर्ण संवर को उत्पन्न करनेवाली है, निर्जरा की करनेवाली है, मोक्ष की माता है और श्रेष्ठ गुणों की खानि है। इस मनोगुप्ति से ही इन्द्रियों का निरोध हो जाता है, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन हो जाता है और कषायादिक समस्त

शत्रुओं का निरोध हो जाता है तथा इन सबका निरोध होने से प्रशस्त ध्यानकी प्राप्ति हो जाती है, प्रशस्त ध्यान की प्राप्ति होने से पूर्ण संवर और निर्जरा से घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तथा घातिया कर्मों का नाश होने से समस्त दिव्य गुणों के साथ-साथ सज्जनों को आत्मासे उत्पन्न होनेवाला केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। तदनंतर केवलज्ञान प्रगट होने से अनंत सुख देनेवाला मोक्षरूप वधू का समागम प्राप्त हो जाता है। मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको इसप्रकार इस मनोगुप्ति का परम उत्तम फल समझकर अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये इस संसार में एक मनोगुप्ति का परम उत्तम फल समझकर अपने समस्त पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये इस संसार में एक मनोगुप्ति का ही पालन करना चाहिये। यह मनोगुप्ति अनुपम सुखोंकी खानि है, स्वर्ग मोक्षकी माता है, तीर्थंकर और गणधरादिकदेव भी इसका पालन करते हैं, यह समस्त कर्मों को नाश करनेवाली है और समस्त व्रतों के आने का मार्ग है अतएव मुनियों को ध्यान की सिद्धि के लिये प्रयत्न पूर्वक इस मनोगुप्ति का पालन करना चाहिये। ॥२७-३२॥

वचनगुप्ति का स्वरूप—

वार्तालापोत्तरादिभ्योऽशुभेभ्यो यन्निवर्तनम्। वाचो विधाय सिद्धयर्थं स्थापनं क्रियतेन्वहम् ॥३३॥
सर्वार्थसाधकेमौनेसिद्धान्ताध्ययनेऽथवा। सा वाग्गुप्तिर्मतासर्वा वचोव्यापारदूरगा ॥३४॥

अर्थ—मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने वचन योग को अशुभ बातचीत से तथा अशुभ उत्तर से हटा कर समस्त अर्थ को सिद्ध करनेवाले मौन में, अथवा सिद्धांतों के अध्ययन में प्रतिदिन स्थापन करते हैं, उसको समस्त वचनों के व्यापार से रहित वचनगुप्ति कहते हैं ॥३३-३४॥

श्रुतज्ञान की प्राप्ति हेतु वचन गुप्ति पालने की प्रेरणा—

यथा यथा वचोगुप्तिर्वर्द्धते धीमतां तराम्। तथा तथाखिलाविद्या विकथादिविवर्जनात् ॥३५॥
परिज्ञायेतिवाग्गुप्ति विद्यार्थिभिः श्रुताप्तये। विधेयालंवनं कृत्वा सिद्धान्ताध्ययने न्वहम् ॥३६॥
ज्ञातविश्वागमैर्नित्यं कर्तव्यं मौनमंजसा। पाठनं वा स्वशिष्याणामागमस्यप्रयत्नतः ॥३७॥
क्वचिद्वात्रविधातव्यं सतां धर्मोपदेशनम्। अनुग्रहाय कारुण्यान्मोक्षमार्गप्रवृत्तये ॥३८॥

अर्थ—बुद्धिमानों की वचनगुप्ति जैसी-जैसी बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे विकथाओं का त्याग होता जाता है और समस्त विद्याएं बढ़ती जाती हैं। यही समझ कर विद्या की इच्छा करनेवाले मुनियों को श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने वचनों

को प्रतिदिन सिद्धांत के अध्ययन में लगाकर इस वाग्गुप्ति का पालन करना चाहिये। समस्त आगम को जानने वाले मुनियों को या तो नित्य मौन धारण करना चाहिये अथवा प्रयत्न पूर्वक अपने शिष्यों को आगमका पाठ पढ़ाना चाहिये। अथवा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करने के लिये करुणा बुद्धि से सज्जनों का अनुग्रह करने के लिये कभी-कभी धर्मोपदेश देना चाहिये ॥३५-३८॥

मुनि को कैसे वचन नहीं बोलना चाहिये—

एहि गच्छ मुदा तिष्ठ कुरु कार्यमिदं द्रुतम्। इत्यादि न वचो वाच्यं प्राणत्यागेपि संयतैः ॥३९॥
यतोत्रा संयतावां ये प्रेषणांकारयन्ति वा। यातायातं कुतस्तेषां व्रताद्याः प्राणिघातनात् ॥४०॥

अर्थ—मुनियों को प्राणों के त्याग करने का समय आने पर भी "आओ जाओ, प्रसन्न होकर बैठो, इस काम को शीघ्र करो" इसप्रकार के वचन कभी नहीं बोलने चाहिये। क्योंकि जो मुनि अन्य असंयमी लोगोंको बाहर भेजते हैं अथवा उनसे आने जाने का काम लेते हैं उनके कारितजन्य प्राणियोंका घात होने से व्रतादिक निर्मल कैसे रह सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ॥३९-४०॥

श्रेष्ठ ध्यान के लिये मौन धारण करने की प्रेरणा—

यथा यथात्रबाह्यार्थे ब्रूयते वाक् तथा तथा। बध्यते कर्म लोकोक्तिरियं सत्या न चान्यथा ॥४१॥
वाचोऽप्यत्रनिरोधं यो विधातुमक्षमोधमः। स मनोक्षकषायाणां निग्रहं कुरुते कथम् ॥४२॥
विदित्वेति सदाकार्यं मौनं सद्ध्यानदीपकम्। निहत्यसिद्धये निंद्यं बाह्यं वाग्जालमंजसा ॥४३॥

अर्थ—"ये लौकिक प्राणी जैसे-जैसे बाह्य पदार्थों के लिये बातचीत करते हैं वैसे ही वैसे उनके कर्म बंधते जाते हैं"। यह जो लोकोक्ति है वह सत्य है इससे विपरीत कभी नहीं हो सकता। जो नीच मनुष्य वचनों को रोकने में भी असमर्थ है वह भला मन इन्द्रियां और कषायों का निग्रह कैसे कर सकता है ? अर्थात् कभी नहीं कर सकता। यही समझकर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अत्यंत निंद्य ऐसे अपने बाह्य वाग्जाल को रोक कर श्रेष्ठ ध्यानको प्रगट करने के लिये दीपक के समान ऐसे इस मौनव्रत को सदा धारण करते रहना चाहिये ॥४१-४३॥

मौन व्रत की महिमा—

यतोमौनेनदक्षाणांस्वप्नेपि कलहोस्ति न। मौनेनाशु म्रियन्तेहो रागद्वेषादयोरयः ॥४४॥
मौनेनगुणराशिश्च लभ्यते सकलागमम्। मौनेन केवलज्ञानं मौनेनश्रुतमुत्तमम् ॥४५॥
मौनेन ज्ञानिनां नूनं सर्वेषां निर्जयो महान्। परीषहोपसर्गाणां गुणाः सर्वे तिनिर्मलाः ॥४६॥

मौनेन मुक्तिकान्ता स्यासक्त्यावृणोति मौनिनम् । स्वभार्येवाचिरादेत्य का कथाहोद्यु योषिताम् ।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि इस मौनको धारण करनें से चतुर पुरुषों को स्वप्न में भी कभी कलह नहीं होता तथा इसी मौन व्रतसे रागद्वेषादिक शत्रु बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। इसी मौन से समस्त गुणों की राशि प्राप्त होती है, इसी मौन से समस्त शास्त्रों का ज्ञान होता है, इसी मौन से केवलज्ञान प्रगट होता है, इसी मौन से उत्तम श्रुतज्ञान प्राप्त होता है। इसी मौन व्रतसे ज्ञानी पुरुष समस्त परीषह और समस्त उपसर्गों का महान् विजय प्राप्त करते हैं और इसी मौनव्रत से समस्त निर्मल गुण प्राप्त होते हैं। इसी मौन व्रतसे मुक्तिरूपी स्त्री अत्यन्त आसक्त होकर अपनी स्त्री के समान बहुत शीघ्र मौनव्रती को स्वीकार करती है फिर भला देवांगनाओं की तो बात ही क्या है ।।१७४४-१७४७।।

असंख्यात गुणों के कारणभूत वाग्गुप्ति त्याग का निषेध—

इमान् मौनगुणान् ज्ञात्वा संख्यातीतान् विवेकिभिः। शश्वद्विश्वार्थनिष्पत्यै तत्कार्यं च सुखाकरम् ।।
तथा मौनव्रतायोच्चैर्विधातव्याघनाशिनी । वाग्गुप्तिः सर्वदा जातु न त्याज्या कार्यकोटिभिः ।।

अर्थ—विवेकी पुरुषोंको इसप्रकार मौनव्रतके असंख्यात गुण समझकर समस्त पुरुषार्थोंको सिद्ध करने के लिये सुख की खानि ऐसा यह मौनव्रत अवश्य धारण करना चाहिये। इस मौनव्रत को पालन करने के लिये समस्त पापों को नाश करनेवाली वाग्गुप्तिका पालन करना चाहिये तथा करोड़ों कार्य होनेपर भी इस वाग्गुप्ति का त्याग नहीं करना चाहिये ।।१७४८-१७४९।।

पुनः वचनगुप्ति की महिमा और उसे धारण करने की प्रेरणा—

शुभगुणमणिखानिं स्वर्गमोक्षादिधात्रीं दुरिततिमिरहंत्रीमर्गलां पापगेहे ।
वृषसुखजननीं वाग्गुप्तिमात्मार्थसिद्ध्यै कुरुतनिखिलयत्नान्मौनमाधायनित्यम् ।।१७५०।।

अर्थ—यह वचनगुप्ति शुभ गुणरूपी मणियों की खानि है, स्वर्ग मोक्ष को देने वाली है, पाप रूपी अंधकार को नाश करनेवाली है, पापरूपी घरको बंद करने के लिये अर्गल वा वेंडा के समान है तथा धर्म और सुख की माता है। अतएव शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिये समस्त यत्नों से सदा मौन धारण कर इस वचनगुप्ति का पालन करना चाहिये ।।१७५०।।

कायगुप्ति का स्वरूप—

हस्तांघ्र्यवयवादींश्च स्वेच्छयावर्त्तितोवलात् । आहृत्य निखिलं देहं विक्रियातिगमूर्जितम् ।।५१।।

कृत्वा यत्स्थाप्यते धीरैं व्युत्सर्गे वा दृढासने । निष्पंदं काष्ठवन्मुक्त्यै सा कायगुप्तिरुत्तमा ।।५२।।

अर्थ—जो मुनि अपने हाथ पैर आदि शरीर के अवयवों को अपनी इच्छानुसार नहीं हिलाते, और अपने शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होने देते, वे धीर वीर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने शरीर को कायोत्सर्ग में वा किसी दृढ़ आसनपर काठके समान निश्चल स्थापन करते हैं उसको उत्कृष्ट कायगुप्ति कहते हैं ।।५१-५२।।

कायगुप्ति पालने का फल—

कायगुप्त्यात्र धीराणां सर्वप्राणिदया भवेत् । निष्प्रकंपं परं ध्यानं संवरो निर्जरा शिवम् ।।५३।।

अर्थ—इस कायगुप्तिको धारण करने से धीर वीर मुनियों के समस्त प्राणियों की दया पल जाती है, निश्चल ध्यान की प्राप्ति हो जाती है तथा संवर निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।।१७५३।।

शारीरिक चंचलता से हानि व उसे रोकने की प्रेरणा—

कायचंचलयोगेन म्रियन्तेजन्तुराशयः । तन्मृते व्रतभंगः स्यात्ततो नर्थपरंपरा ।।१७५४।।
मत्वेति विक्रियां सर्वां त्यक्त्वा नेत्रमुखादिजाम् । निद्यांचपलतांरुध्द्वा शाम्यंचित्रोपमं वपुः ।।५५।।
कृत्वामोक्षाय संस्थाप्य कायोत्सर्गासनादिषु । कायगुप्तिर्विधातव्या प्रत्यहं ध्यानमातृका ।।१७५६।।

अर्थ—शरीर की चंचलता के निमित्त से बहुत से जीवों की राशि मर जाती है, उनके मरने से व्रतका भंग हो जाता है और व्रत भंग होने से अनेक अनर्थों की परम्परा प्रगट हो जाती है । यही समझकर नेत्र वा मुखसे होनेवाले समस्त विकारों का त्याग कर देना चाहिये, निंद्य चपलता को रोकना चाहिये और चित्रके समान शरीरको अत्यंत शांत और निश्चल रखकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये कायोत्सर्ग में वा किसी आसन पर दृढ़ रखना चाहिये । इसप्रकार ध्यान की माता के समान इस कायगुप्तिको प्रतिदिन पालन करना चाहिये ।।१७५४-१७५६।।

कायगुप्ति की महिमा—

सुरशिवगतिवीथीं दीपिकां ध्यानसौधे व्रतसकलवराम्बां कर्मवृक्षेकुठारीम् ।
जिनमुनिगणसेव्यां कायगुप्ति पवित्रां श्रयतजितकषाया यत्नतोमुक्तिसिद्धयै ।।१७५७।।

अर्थ—यह कायगुप्ति स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है, ध्यानरूपी राजभवन को दिखलाने के लिये दीपक के समान है, समस्त व्रतों की श्रेष्ठ माता है, कर्मरूपी वृक्षको काटने के लिये कुल्हाड़ी है, भगवान जिनेन्द्रदेव और मुनियों के समूह

सब इसको पालन करते हैं तथा यह अत्यंत पवित्र है। अतएव कषायों को जीतने वाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक इस कायगुप्ति का पालन करना चाहिये ।।१७५७।।

त्रिगुप्ति पालन करने की प्रेरणा—

अत्र: सद्गुप्तयोत्रंताविधेयाविधिनासदा। विघिघ्ना: शिवशर्माम्वा: कृत्स्नकर्मान्तकारिका: ।।

अर्थ—ये तीनों गुप्तियां कर्मों को नाश करनेवाली हैं, मोक्ष के सुखकी माता है, और समस्त कर्मों को नाश करनेवाली हैं अतएव मुनियों को विधि पूर्वक इनका पालन करना चाहिये ।।१७५८।।

गुप्तियों से सुरक्षित मुनि ही कर्म शत्रु से अपनी रक्षा कर सकता है—

बलवद्भिर्यथाविश्वैः शत्रुभिः स्वाश्रमान्नृपः। न नेतु शक्यतेगुप्तः प्राकारखातिकाभटैः ।।१७५९।।
तथामुनि रोगुप्तो मनोवाक्कायगुप्तिभिः। न जातु विक्रियां नेतु शक्यः कर्मारिसंचयैः ।।१७६०।।

अर्थ—जो राजा कोट खाई और योद्धाओंसे अत्यंत सुरक्षित है उसको अत्यंत बलवान समस्त शत्रु भी उसके घरसे बाहर नहीं ले जा सकते उसीप्रकार जो मुनि मन-वचन-काय की गुप्तियों से अत्यन्त सुरक्षित है उनकी आत्मा में कर्मरूप समस्त शत्रु कभी किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते ।।१७५९-१७६०।।

कौन योगी असंयमादि बाणों से घायल नहीं होता—

वर्मितः संगरे यद्वद्भटो वाणैर्न भिद्यते। तथा योगी त्रिगुप्तात्मा रागाद्यसंयमेषुभिः ।।१७६१।।

अर्थ—जिसप्रकार युद्ध में कवंच पहनने वाला योद्धा वाणों से घायल नहीं होता उसीप्रकार मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्तिको धारण करनेवाला योगी असंयमादिक वाणों से कभी चलायमान नहीं हो सकता ।।१७६१।।

अष्ट प्रवचममातृका किसे कहते हैं—

सार्थंसमितिभिः पंचभिरिमाः गुप्तयः पराः। प्रोक्ता प्रवचनाख्याष्टमातरो हितकारिकाः ।।६२।।

अर्थ—ये तीनों गुप्तियां तथा पांचों समितियां मिलकर आठों प्रवचनमातृका कहलाती है। ये आठों ही माताके समान हित करनेवाली हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं ।।६२।।

अष्ट प्रवचनमातृका नामकी सार्थकता—

रक्षन्ति मातरो यद्वन्मलादिस्पर्शनात्सुतान्। तथेमामुनिपुत्रांश्चदुष्कर्मास्रवपांशुतः ।।१७६३।।

विपत्तेः प्रतिपाल्यास्वाः पोषयन्ति यथात्मजान् । तथैतांश्च यतीन् सर्वैर्हितैः स्वमुक्तिशर्मभिः ॥
यथांगजान् जनन्यो न दद्य गंन्तुं कुविक्रियाम् । तथायमिसुतांश्चैताः पालयन्त्यः स्वशत्रुभिः ॥
शिवं कुर्वन्ति सूनोश्चयद्वदस्वाः निवार्यं भोः । दुःखक्लेशादिकांस्तद्वदेताः साधोः प्रपालिताः ॥
इत्यंवागुणसंयोगात्सार्थाख्या वरमातरः । उच्यन्ते श्रीजिनाधीशैः मातृतुल्यामहात्मनाम् ॥६७॥

अर्थ—जिसप्रकार माताएं अपने पुत्रों को धूलि मिट्टीसे बचाती हैं उसीप्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं मुनियों को कर्मास्रव रूपी धूलि से बचाती हैं। जिसप्रकार माताएं अपने पुत्रों को विपत्ति से बचाकर पालन पोषण करती हैं उसीप्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं मुनियों को सब तरह का हित कर तथा स्वर्ग मोक्ष के सुख देकर मुनियोंका पालन पोषण करती हैं। जिसप्रकार माताएं अपने पुत्रोंको किसी भी आपत्ति में जाने नहीं देतीं उसी प्रकार ये अष्ट प्रवचनमातृकाएं भी अपने मुनिपुत्रों को राग-द्वेषादिक समस्त शत्रुओं से रक्षा करती हैं। जिसप्रकार माताएं अपने पुत्रों के समस्त दुःख और क्लेशों को दूर कर उनका कल्याण करती हैं उसीप्रकार ये गुप्तिसमिति रूप माताएं भी साधुओं की रक्षा करती हैं दुःख देनेवाले रागद्वेष वा कर्मों को उत्पन्न नहीं होने देतीं। इसप्रकार इन गुप्ति समितियों में माताके समस्त गुण विद्यमान हैं इसीलिए भगवान जिनेन्द्रदेव ने अष्ट प्रवचनमातृकाएं ऐसा इनका सार्थक नाम बतलाया है। वास्तव में महात्माओं के लिए ये माता के ही समान हैं ॥१७६३-६७॥

चारित्र के भेद—

एषव्रतादिसम्पूर्णश्चारित्राचार ऊर्जितः । त्रयोदशविधोदक्षैर्विधातव्योतिनिर्मलः ॥१७६८॥

अर्थ—इसप्रकार पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियों से परिपूर्ण हुआ चारित्राचार तेरह प्रकार का है इसीलिए चतुर मुनियों को अत्यंत निर्मल और अत्यंत उत्कृष्ट ऐसा यह चारित्राचार अवश्य धारण करना चाहिए ॥१७६८॥

निर्मल चारित्र पालने का फल—

सर्वातिचारनिर्मुक्तं चारित्रं शशिनिर्मलम् । ये चरन्ति प्रयत्नेन तेषांमोक्षो न्त्यदेहिनाम् ॥६९॥
अन्ये ये मुनयोदक्षाश्चारित्राचार भूषिताः । त्रिजगच्छर्मं भुक्त्वा ते क्रमाद्यान्तिशिवालयम् ॥७०॥

अर्थ—जो पुरुष समस्त अतिचारों से रहित और चन्द्रमा के समान निर्मल ऐसे इस चारित्रको प्रयत्न पूर्वक धारण करते हैं उन चरमशरीरियों को अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। और भी जो चतुर मुनि इस चारित्राचार से सुशोभित होते हैं वे तीनों लोकोंके सुखोंको भोगकर अनुक्रम से मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ॥६९-७०॥

व्रतों के बिना जीवन की निष्फलता—

जीवितंप्रवरंमन्येदिनैकं व्रतभूषितम् । तद्विना विफलं पुंसां पूर्वं कोटयादिगोचरम् ॥१७७१॥

अर्थ—वृतों से सुशोभित होकर एक दिन भी जीवित रहना अच्छा परन्तु वृतों के बिना मनुष्यों का करोड़ पूर्व तक जीवित रहना भी निष्फल है ॥१७७१॥

चारित्रवान की महिमा—

नमन्ति त्रिजगन्नाथांश्चारित्रालंकृतात्मनाम् । पादपद्मान् मुदामूर्ध्ना प्रत्यहं किंकरा इव ॥१७७२॥
महाचारित्र भूषाणां प्रतापेन सुरेशिनाम् । आसनानि प्रकम्पन्ते शाम्यन्ति क्रूरजन्तवः ॥१७७३॥
धन्यः स एव लोकेस्मिन् सफलं तस्य जीवितम् । कदाचिच्चरणं येन न नीतं मलसंन्निधौ ॥७४॥

अर्थ—जिनका आत्मा इस चारित्र से सुशोभित है उन मुनियों के चरण कमलोंको तीनों लोकों के इन्द्र सेवक के समान प्रसन्नता पूर्वक मस्तक नवाकर प्रतिदिन नमस्कार करते हैं। जो मुनि इस महा चारित्र से सुशोभित हैं उनके प्रताप से इन्द्रों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं तथा उन्हीं मुनियों के प्रताप से सिंहादिक क्रूर घातक जन्तु भी शांत हो जाते हैं। जिन मुनियों ने अपने चारित्र को कभी भी मलिन नहीं किया है संसार में वे ही मुनि धन्य हैं और उन्हीं का जीवन सफल है ॥१७७२-७४॥

चारित्र के बिना उत्कृष्ट ज्ञान दर्शन मोक्ष का कारण नहीं—

चारित्रेण विना येनोत्कृष्टेपि ज्ञानदर्शने । समर्थे न शिवं कर्तुं तत्कथंश्लाघ्यते न भोः ॥१७७५॥

अर्थ—इस चारित्र के बिना अत्यंत उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट ज्ञान भी मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो सकते फिर भला इस ऐसे चारित्र की प्रशंसा क्यों नहीं करनी चाहिये अवश्य करनी चाहिये ॥१७७५॥

चारित्र से शिथिल मुनि लंगड़े सदृश—

महाज्ञानदृगाढ्योपि चारित्रशिथिलोयतिः । सन्मार्गगमनाशक्तः पंगुवद्भाति जातु न ॥१७७६॥

अर्थ—महा ज्ञान और महा सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला मुनि यदि चारित्र से शिथिल हो जाय तो वह लंगड़े के समान मोक्ष मार्ग में कभी गमन नहीं कर सकता तथा वह न कभी सुशोभित हो सकता है ॥१७७६॥

कौन निंदनीय और कौन वंदनीय—

वरंप्राणपरित्यागः संयतानां शुभप्रदः । शैथिल्यं चरणे कर्तुं मनागयोग्यं ननिन्दितम् ॥१७७७॥
यथात्रैवसुचारित्रो वंद्यः पूज्यः स्तुतोभवेत् । मान्योविश्वजनैर्योगी तथामुत्रजगत्त्रये ॥१७७८॥

अर्थ—मुनियों को कल्याणकारी प्राण त्याग कर देना अच्छा परन्तु चारित्र में शिथिलता धारण करना किंचित् भी योग्य नहीं है। क्योंकि चारित्र में शिथिलता धारण करना निंदनीय है। जिसप्रकार श्रेष्ठ चारित्र को धारण करनेवाला योगी इस लोक में भी समस्त लोगों के द्वारा वंदनीय पूज्य स्तुति करने योग्य और मान्य माना जाता है उसी प्रकार वह परलोक में भी तीनों लोकों में मान्य, पूज्य, वंदनीय माना जाता है ।।१७७७-१७७८।।

शिथिल चारित्र उभय लोकमें दुःख का कारण—

चारित्रशिथिलोयद्वन्निंद्योत्रैव पदेपदे । विश्वापमाननीयः स्यात्तथामुत्र च दुर्गतौ ।।१७७९।।

अर्थ—जिसप्रकार शिथिल चारित्र को धारण करनेवाला मुनि इस लोक में भी पद-पद पर निंदनीय माना जाता है तथा सबके द्वारा अपमानित होता है उसीप्रकार परलोक में दुर्गतियों में पड़कर निंदनीय और अपमानित होता है ।।१७७९।।

प्राण जानेपर भी चारित्र मलिन नहीं करें—

मत्वेति धीधनैर्जातु चारित्रं निर्मलं महत् । मलपार्श्वं ननेतव्यं प्राणान्तेपि विमुक्तये ।।१७८०।।

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्राणों के त्याग का समय आने पर भी अपने निर्मल और सर्वोत्कृष्ट चारित्रको कभी मलिन नहीं करना चाहिये ।।१७८०।।

चारित्राचार की महिमा—

एषोनन्तगुणाकरोशुभहरः स्वर्मोक्षशर्माकरः श्रीतीर्थेश्वरभाषितोमुनिगणैः संसेवितः प्रत्यहम् ।
संसाराम्बुधितारकोतिविमलोविश्वाग्रिमः सर्वं चारित्राचार इहोर्जितः प्रतिदिनंमेमानसे तिष्ठतु ।।

अर्थ—यह चारित्राचार अनंतगुणों की खानि है, पापों को हरण करनेवाला है, स्वर्गमोक्ष के सुख देनेवाला है, भगवान तीर्थंकर परमदेव का कहा हुआ है अनेक मुनिगण प्रतिदिन इसका सेवन करते हैं, यह संसाररूपी समुद्र से पार करनेवाला है, अत्यंत निर्मल है, सब में मुख्य है और सर्वोत्कृष्ट है। ऐसा यह पूर्ण चारित्राचार मेरे मनमें विराजमान रहो ।।१७८१।।

तपाचार के कथन की प्रतिज्ञा—

चारित्राचार एषोत्र वर्णितो हि महात्मनाम् । इतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तप आचारमद्भुतम् ।।८२।।

अर्थ—इसप्रकार महात्माओं के इस चारित्राचारका वर्णन किया। अब आगे

सर्वोत्कृष्ट तप आचार को कहता हूं ।।१७८२।।

तपाचार का स्वरूप व उसके भेद—

स्वेच्छाया अक्षशर्मादौ निरोधो यो विधीयते । तपोर्थिभिस्तपः सिद्धयै तदेव प्रवरं तपः ।।१७८३।।
बाह्याभ्यन्तरभेदाभ्यां द्विधासत्तपउच्यते । तद्बाह्यं षड्विधं सोढाभ्यन्तरं च भवान्तकम् ।।८४।।

अर्थ—तपश्चरण करनेवाले मुनि अपने तपश्चरणकी सिद्धि के लिये जो अपनी इच्छानुसार इन्द्रिय सुखों का निरोध करते हैं उसको श्रेष्ठ तप कहते हैं। इस तप के बाह्य अभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं उसमें भी बाह्य तप के छह भेद हैं और संसारको नाश करनेवाले अभ्यंतर तपके भी छह भेद हैं ।।१७८३-१७८४।।

बाह्य तपका स्वरूप और उसके भेद—

यत्तपः प्रकटं लोकेऽन्येषां वात्र कुदृष्टिभिः । कर्तुं च शक्यते बाह्यं तत्तपः सार्थकं भवेत् ।।८५।।
आद्यं चानशनं सारमवमौदर्यसंज्ञकः । द्वितीयं सत्तपोवृत्तिपरिसंख्यानमूर्जितम् ।।१७८६।।
ततोरसपरित्यागो विविक्तशयनासनम् । कायक्लेशोत्रषोढेति तपो बाह्यं सुखाकरम् ।।१७८७।।

अर्थ—जो तप संसार में प्रगट दिखाई देता है अथवा अन्य मिथ्यादृष्टि भी जिसको धारण कर सकते हैं वह सार्थक नामको धारण करनेवाला बाह्य तप कहलाता है। अनशन अवमोदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और काय क्लेश इसप्रकार सुख देनेवाला बाह्य तप छह प्रकार है ।।१७८५-१७८७।।

अनशन तप का स्वरूप व उसके भेद—

तत्साकांक्षनिराकांक्ष भेदाभ्यां श्रीजिनाधिपैः । द्विधानशनमाम्नातंसाकांक्षं बहुधाभवेत् ।।१७८८।।
अन्नपानकसत्वाद्यस्वाद्यभेदैश्चतुर्विधः । आहारस्त्यज्यतेमुक्त्यै यत्तपोनशनं हि तत् ।।१७८९।।

अर्थ— उसमें भी भगवान जिनेन्द्रदेव ने अनशन तप के दो भेद बतलाये हैं— एक साकांक्ष और दूसरा निराकांक्ष। इनमें से साकांक्ष तपके भी अनेक भेद बतलाये हैं। मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो अन्न पान स्वाद्य खाद्य के भेद से चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है उसको अनशन नाम का तप कहते हैं ।।१७८८-१७८९।।

साकांक्ष अनशन के भेद—

क्रियते चोपवासस्य धारणेपारणे बुधैः । यदेकभक्तमाप्तैः सः चतुर्थः कथ्यते बुधैः ।।१७९०।।
चतुर्भोजनसंत्यागाच्चतुर्थः सार्थकोमहान् । षड्वेलाशनसंत्यागात् षष्ठो द्विप्रोषधात्मकः ।।९१।।

अष्टवेलाशनत्यागादष्टमस्त्रिचतुर्थंजः । दशभोजनसंत्यागाद्दशमः कर्मनाशकः ।।१७९२।।
द्विषड्वेलाशनत्यागात्प्रोक्तो द्वादशमो जिनैः । इत्याद्याः प्रोषधाज्ञेया साकांक्षानशनस्य च ।।९३।।
पक्षमासोपवासादि षण्मासान्तं तपोऽनघम् । क्रियते यन्महाधीरैः सर्वं साकांक्षमेवतत् ।।१७९४।।
कनकैकावली सिंहनिःक्रीडितादयोखिलाः । भद्र त्रैलोक्यसाराद्याः साकांक्षेन्तर्भवामताः ।।१७९५।।

अर्थ—जिस उपवासमें धारणा पारणाके दिन एकाशन किया जाता है उसको भगवान सर्वज्ञदेव चतुर्थ नामसे कहते हैं। इस उपवास में चार समय के भोजन का त्याग किया जाता है इसलिये यह चतुर्थ नाम का महा उपवास सार्थक नाम को धारण करनेवाला है। यदि छह समय के आहार का त्याग कर धारणा पारणा के दिन एकाशन कर मध्यमें जो उपवास किये जांय तो उसको षष्ठ नाम का उपवास कहते हैं। जिसमें आठ समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य में तीन उपवास किये जांय उसको अष्टम उपवास कहते हैं। तथा जिस उपवास में दश समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणाके मध्य में चार उपवास किए जांय उसको कर्मों का नाश करनेवाला दशम उपवास कहते हैं। जिस उपवास में बारह समय के आहार का त्याग किया जाय अर्थात् धारणा पारणा के मध्य में पांच उपवास किये जांय तथा धारणा पारणा के दिन एकाशन किया जाय उसको द्वादशम उपवास कहते हैं। इसप्रकार के जो प्रोषधोपवास हैं वे सब साकांक्ष अनशनके भेद हैं। इसीप्रकार महा धीर वीर पुरुष जो एक पक्ष का वा एक मास का उपवास करते हैं वा छह महीने तक का उपवास करते हैं तथा इसप्रकार जो पाप रहित तपश्चरण करते हैं उस सबको आकांक्ष अनशन कहते हैं। इसी प्रकार कनकावली, एकावली, सिंह, निष्क्रीडित आदि व्रतों के जितने उपवास हैं वा भद्र त्रैलोक्यसार आदि व्रतों के जितने उपवास हैं, वे सब साकांक्ष अनशन में ही अंतर्भूत होते हैं ।।१७९०-१७९५।।

निराकांक्ष अनशन का स्वरूप व भेद—

मरणं भक्तप्रत्याख्यानमिंगिनीसमाह्वयम् । प्रायोपगमनंहीत्याद्यान्यानि मरणानि च ।।१७९६।।
यानि तानि समस्तानि यावज्जीवाश्रितान्यपि । निराकांक्षोपवासस्य बहुभेदानि विद्धि भो ।।९७।।

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यान मरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनसन्यास मरण इस प्रकारके जितने सन्यासमरण हैं उनमें जो जीवन पर्यंत आहारका त्याग कर दिया जाता है, उसको निराकांक्ष उपवास कहते हैं। उस निराकांक्ष उपवासके भी इसप्रकार के मरण के भेद से अनेक भेद हो जाते हैं ।।१७९६-१७९७।।

अनशन तपकी महिमा व उसे करने की प्रेरणा—

उपवासाग्निनापुंसां कायः संतप्यतेतराम् । दह्यन्ते सकलाक्षाणि कर्मेन्धनान्यनन्तश ।।१७९८।।
ढौकते त्रिजगल्लक्ष्मीर्नाक श्रीश्चसुशर्मदा । मुक्तिस्त्री सन्मुखं पश्येदुपवासफलात्सताम् ।।९९।।
इत्यस्य प्रवरं ज्ञात्वा फलं शक्त्या शिवाप्तये । बहूपवासभेदांश्च प्रकुर्वन्तु तपोधनाः ।।१८००।।

अर्थ—इस उपवास रूपी अग्नि से मनुष्यों का शरीर अत्यंत संतप्त हो जाता है और फिर उससे समस्त इन्द्रियां और अनंत कर्मरूपी ईंधन सब जल जाता है। इस उपवास के फल से सज्जनों को तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, स्वर्ग की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है, और श्रेष्ठ कल्याण करनेवाली मुक्तिस्त्री सामने आकर खड़ी हो जाती है। इसप्रकार इस उपवास का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अनेक भेद रूप उपवासों को सदा करते रहना चाहिये ।।१७९८-१८००।।

अवमोदर्य तपका स्वरूप और उसके जघन्यादि भेद—

सहस्र तंदुलैरेकः कवलोत्रादितो नृणाम् । द्वात्रिंशत्कवलैः पूर्ण आहारश्चागमेजिनैः ।।१८०१।।
एकेन कवलेनैवोनाहारो येन्नभुज्यते । तपोर्थं हि जघन्यं तदवमौदर्यसत्तपः ।।१८०२।।
अत्रैकग्रासमात्रो य आहारोगृह्यते चिदे । तपस्विभिस्तपोर्थं तदवमौदर्यमुत्तमम् ।।१८०३।।
जघन्योत्कृष्टयोर्मध्येत्रातृप्ति भोजनं हि यत् । बहुधातपसे तच्चावमौदर्यसुमध्वमम् ।।१८०४।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने मनुष्यों के लिये एक हजार चावलों का एक ग्रास बतलाया है, तथा जिनागम में बत्तीस ग्रासों का पूर्ण आहार बतलाया है। जो मुनि अपना तप बढ़ाने के लिये एक ग्रास कम आहार लेते हैं उसको जघन्य अवमोदर्य नामका श्रेष्ठ तप कहते हैं। जो तपस्वी अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिये वा आत्माको शुद्ध करने के लिये केवल एक ही आहार का ग्रास लेते हैं, वह उत्तम अवमोदर्य तप कहलाता है। एक ग्रास से अधिक और इकत्तीस ग्रास से कम ग्रासों का आहार लेना मध्यम अवमोदर्य है। यह अब मोदर्य तपश्चरणके ही लिये किया है और इसमें उतना ही आहार लिया जाता है जिसमें पूरी तृप्ति न हो ।।१८०१-१८०४।।

अवमोदर्य तपकी महिमा व उसे करने की प्रेरणा—

अनेन तपसा नृणां निद्राजयः स्थिराशनम् । ग्लानिहानिः श्रुतं ध्यानं स्याच्चाभुक्तिश्रमात्ययः ।।
इत्यादींस्तद्गुणान् ज्ञात्वावमौदर्यं तपोनघम् । ग्रासादिहापनैर्दक्षाः कुर्वन्तु ध्यान सिद्धये ।।१८०६।।

अर्थ—इस तपश्चरण से मनुष्यों का निद्रा का विजय होता है, आसन स्थिर

होता है, किसी प्रकार की ग्लानि नहीं होती, शास्त्रज्ञान की वृद्धि होती है, ध्यानकी वृद्धि होती है और भोजन न करने से जो परिश्रम होता है वह भी नहीं होता। इस प्रकार इस तपश्चरण के गुणों को जानकर चतुर पुरुषों को अपने ध्यान की सिद्धि के लिये अपने ग्रासों की संख्या घटाकर अवमोदर्य नामके निर्दोष तपश्चरणका पालन करते रहना चाहिये ॥१८०५-१८०६॥

वृत्तिपरिसंख्यान तपका स्वरूप—

चतुःपथाध्ववीथ्येकगृहादिपाटकैः परैः। नानावग्रहसंकल्पैर्दातृभोजन भाजनैः ॥१८०७॥
दुष्प्राप्याहारसंप्राप्त्यै या प्रतिज्ञात्रगृह्यते। तद्वृत्तिपरिसंख्यानं बहुभेदं तपोमहत् ॥१८०८॥

अर्थ—मैं चौराहे पर आहार मिलेगा तो लूंगा इस मार्ग में वा इस गली में आहार मिलेगा तो आहार लूंगा एक पहले ही घर में आहार मिलेगा तो लूंगा अथवा दाता ऐसा होगा उसके पात्र वा भोजन पात्र ऐसे होंगे तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं। इसप्रकार कठिनता से आहार प्राप्त होने के लिये प्रतिज्ञा कर लेना अथवा इसप्रकार पडगाहन होगा तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं, इसप्रकार की प्रतिज्ञा कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है यह तप सर्वोत्कृष्ट है और इसके अनेक भेद हैं ॥१८०७-१८०८॥

वृत्तिपरिसंख्यान तपका फल, उसे धारण करने की प्रेरणा—

तपसानेन जायेत धीरत्वंयोगिनां परम्। आशान्तरायकर्माणिप्रणश्यन्ति च लौल्यताः ॥१८०९॥
इत्याद्यस्य फलं मत्वादुर्लभाहारसिद्धये। चतुःपथादिभिर्धीराः प्रतिज्ञामाचरन्तु भोः ॥१८१०॥

अर्थ—इस तपश्चरण से योगियों में धीरवीरता उत्पन्न होती है, आशा और अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं तथा लोलुपता नष्ट होती है। इसप्रकार इस तपके फल को समझकर धीर वीर पुरुषों को कठिनता से आहार प्राप्त करने के लिये ऊपर कहे अनुसार चौराहे आदि पर आहार लेने की प्रतिज्ञा अवश्य करनी चाहिये ॥१८०९-१८१०॥

रस परित्याग तपका स्वरूप—

दधिदुग्धगुडानां च रसानां तैलसर्पिषोः। लवणस्य कषायाम्लमधुराणांजितेन्द्रियैः ॥१८११॥
तिक्तस्य कटुकस्यापि त्यागो गः क्रियतेजिनैः। उक्तं रसपरित्यागं तत्तपोक्षमदान्तकम् ॥१८१२॥

अर्थ— इन्द्रियोंको जीतने वाले मुनिराज जो दही, दूध, गुड़, तेल, घी, लवण, कषायला, खट्टा, मीठा, कड़वा, तीखा आदि रसों का त्याग कर देते हैं उसको इन्द्रिय

और मद को नाश करनेवाला रसपरित्याग नामका तप भगवान जिनेन्द्रदेव कहते हैं । ।।१८११-१८१२।।

मद्यादि त्याग की प्रेरणा—

मद्यमांसमधुन्येवनवनीतमिमाः सदा । निंद्या विकृतयस्त्याज्याश्यतस्त्रः पापखानय. ।।१८१३।।

अर्थ—मद्य, मांस, मधु और नवनीत ये चारों ही पदार्थ निंद्य हैं, विकार उत्पन्न करनेवाले हैं और पापकी खानि है । इसलिये इन चारों का सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ।।१८१३।।

आचाम्ल और निर्विकृत आहार का स्वरूप तथा उसे लेने की प्रेरणा—

सदुष्णेकांजिके शुद्धमाप्लाव्यभुज्यतेशनम् । जितेन्द्रियैस्तपोर्थं यदाचाम्लउच्यतेत्रसः ।।१८१४।।
आहारो भुज्यते दुग्धादिकपंचरसातिगः । दमनायाक्षशत्रूणां य सा निर्विकृतिर्मता ।।१८१५।।
आचाम्लनिर्विकृत्याख्ये तपसे तेनघे न्वहम् । पंचाक्षारातिघाताय कर्तव्येविधिवद्बुधैः ।।१८१६।।

अर्थ—जितेन्द्रिय पुरुष अपना तपश्चरण बढ़ाने वाले जो गर्म कांजी में (भात के मांड में) शुद्ध आहार मिलाकर आहार लेते हैं उसको आचाम्ल कहते हैं । मुनिराज अपने इन्द्रियरूपी शत्रुओं को दमन करने के लिये दूध, दही आदि पांचों रसों से रहित नीरस आहार लेते हैं उसको निर्विकृत कहते हैं । बुद्धिमान मुनियोंको अपना तपश्चरण बढ़ाने के लिये और पांचों इन्द्रियरूपी शत्रुओंको नाश करने के लिये विधि पूर्वक पाप-रहित ऐसे आचाम्ल और निर्विकृत नामका आहार प्रतिदिन लेना चाहिये ।।१८१४-१८१६।।

रस परित्याग तपका फल एवं उसे करने की प्रेरणा—

रसत्यागतपोभिश्चदुर्दान्तेन्द्रियनिर्जयः । रसर्ध्यादिमहद्वीर्यं जायते च शिवं सताम् ।।१८१७।।
विदित्वेति फलं चास्य महत्कुर्वन्तु संयताः । एक द्व्यादिरस त्यागैरसत्यागतपः सदा ।।१८१८।।

अर्थ—इस रसपरित्याग नामके तपसे प्रबल इन्द्रियों का विजय होता है, रस ऋद्धि आदि महा शक्तियां प्रगट होती हैं और सज्जनों को मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसप्रकार इस तपका फल समझकर मुनियों को एक दो आदि रसों का त्याग कर इस रसपरित्याग तपको सदा धारण करते रहना चाहिये ।।१८१७-१८१८।।

विविक्त शय्यासन तपका स्वरूप—

नारीदेवीपशुक्लीवगृहस्थादिविवर्जिते । शून्यागारेश्मशानेवा प्रदेशे निर्जनेवने ।।१८१९।।

विधीयतेगुहादौ वा यत्सदाशयनासनम् । ध्यानाध्ययनसिद्धचै तद्विविक्तशयनासनम् ।।१८२०।।

अर्थ—मुनिराज अपने ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिये स्त्री, देवी, पशु, नपुंसक आदि तथा गृहस्थ जहां निवास न करते हों ऐसे सूने प्रदेशों में वा श्मशान में वा निर्जन वन में अथवा गुफा आदि में शयन करते हैं वा बैठते हैं उसको विविक्त-शय्यासन नामका तप कहते हैं ।।१८१९-१८२०।।

विविक्त शय्यासन तपका फल उसे पालन करने की प्रेरणा—

ध्यानाध्ययननिर्विघ्नारागद्वेषादिहानयः । लभ्यन्तेतपसानेनसाम्यताद्या महागुणाः ।।१८२१।।
मत्वेतीदं तपः कार्यं ध्यानादिसिद्धये न्वहम् । सरागस्थानकांस्त्यक्त्वा स्थित्वाशून्यगृहादिषु ।।२२।।

अर्थ—इस तपश्चरण से ध्यान और अध्ययन निर्विघ्न रीति से होते हैं तथा रागद्वेष आदि कषायों का सर्वथा नाश हो जाता है । इसके सिवाय इस तपश्चरण से समता आदि अनेक महागुण प्रकट हो जाते हैं । यही समझकर ध्यान अध्ययन आदि की सिद्धि के लिये मुनियों को राग उत्पन्न करनेवाले स्थानों का त्याग कर और निर्जन एकांत स्थान में निवास कर प्रतिदिन इस तपश्चरण का पालन करते रहना चाहिये । ।।१८२१-१८२२।।

कायक्लेश तपका स्वरूप—

कायोत्सर्गैकपार्श्वादिशय्यावज्रासनादिभिः । आतपनादियोगैश्च त्रिकालगोचरैः परैः ।।१८२३।।
तपोवुद्धचा मनः शुद्धचा कायक्लेशोविधीयते । यः कायशर्मंहान्यै तत्कायक्लेशतपोमहत् ।।२४।।

अर्थ—मुनिराज शरीर के सुख की हानि के लिये तपश्चरण बढ़ाने के लिये मनकी शुद्धता के साथ-साथ कायोत्सर्ग धारण कर, एक कर्वटसे सोकर वज्रासन आदि कठिन आसन लगाकर, वा वर्षा ग्रीष्म आदि तीनों ऋतुओं में होनेवाले उत्कृष्ट आतापनादिक कठिन योग धारण कर जो कायक्लेश सहन करते हैं उसको सर्वोत्कृष्ट कायक्लेश नामका तप कहते हैं ।।१८२३-२४।।

कायक्लेश तप करने का फल एवं उसे धारण करने की प्रेरणा—

बलर्घ्याद्यामहद्धीश्च सुखं त्रैलोक्यसंभवम् । कामेन्द्रियजयादीनिलभन्तेस्यफलाद्विदः ।।१८२५।।
विज्ञायेति सदा कार्यः कायक्लेशोगुणाकरः । निजशक्त्यनुसारेण विद्वद्भिः शिवशर्मणे ।।१८२६।।

अर्थ—इस तपश्चरण के फल से विद्वानों को बल ऋद्धि आदि अनेक महा ऋद्धियां प्राप्त होती हैं तीनो लोकों में उत्पन्न होनेवाला सुख प्राप्त होता है और कामे-

न्द्रिय का विजय होता है। यही समझकर विद्वानों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार अनेक गुणों की खानि ऐसा यह कायक्लेश नामका तप अवश्य धारण करना चाहिये ।।१८२५-१८२६।।

बाह्य तपका स्वरूप—

येन नोत्पद्यते पुंसां संक्लेशो मनसोशुभः । वर्तते तपसांश्रद्धावुर्ध्यानादिपरिक्षयः ।।१८२७।।
न हीयन्ते महायोगा वर्द्धन्ते प्रवरागुणाः । अभ्यन्तरतपांस्यत्रतद्बाह्यं परमं तपः ।।१८२८।।

अर्थ—जिस तपश्चरणसे मनुष्यों के मनमें अशुभ संक्लेश उत्पन्न न हो, जिससे तपश्चरणमें श्रद्धा उत्पन्न होती रहे, अशुभध्यानों का नाश होता रहे, महायोग वा धर्म-शुक्ल ध्यान में किसी प्रकार की कमी न हो, श्रेष्ठ गुण बढ़ते जांय और अभ्यन्तर तपश्चरण भी जिससे बढ़ते जांय उसको बाह्य परम तपश्चरण कहते हैं ।।१८२७-२८।।

अभ्यन्तर तप की वृद्धि हेतु बाह्य तप करने की प्रेरणा—

अभ्यन्तरतपोवृद्धयर्थं बाह्यं निखिलं तपः । कीर्तितंवीतरागेणध्यानाध्ययनकारणम् ।।१८२९।।
मत्वेत्यन्तस्तपो वृद्धयै तपोबाह्यं तपोधनाः । सर्वशक्त्याप्रकुर्वन्तु कर्महान्यै शिवाय च ।।१८३०।।

अर्थ—भगवान सर्वज्ञदेव ने अभ्यन्तर तप को बढ़ाने के लिये ही ध्यान और अध्ययन का कारण ऐसा यह अनेक प्रकार का बाह्य तपश्चरण बतलाया है। यही समझकर तपस्वी लोगों को अपने अंतरंग तपकी वृद्धि के लिये, कर्मों को नाश करने के लिये और मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी समस्त शक्ति लगाकर इस बाह्य तपश्चरण को पालन करना चाहिये ।।१८२९-३०।।

अभ्यन्तर के कथन की प्रतिज्ञा और उसका स्वरूप—

इतिबाह्यं तपः सम्यग्व्याख्याय श्रीजिनागमात् । इत ऊर्ध्वं सतां सिद्धयै वक्ष्याम्यभ्यन्तरं तपः ।।
व्यक्तं यन्नापरेषां वा तपः कर्तुं न शक्यते । मिथ्यादृग्भिः शठैस्तच्चाभ्यन्तरं प्रवरं तपः ।।३२।।

अर्थ—इसप्रकार जैन शास्त्रों के अनुसार बाह्यतप का निरूपण अच्छी तरह से किया। अब आगे सज्जनों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अभ्यन्तर तपका निरूपण करते हैं। जो तप दूसरों के द्वारा प्रगट दिखाई न दे, तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जिस तपको धारण न कर सके उसको श्रेष्ठ अभ्यन्तर तप कहते हैं ।।१८३१-३२।।

अभ्यन्तर तप के भेद—

प्रायश्चित्तं च दोषघ्नं विनयं सद्गुणाकरम् । वैयावृत्यं तपः सारं स्वाध्यायो धर्मसागरः ।।३३।।

कायोत्सर्गः शुभध्यानमित्यन्तः शुद्धिकारणम् । अभ्यंतरं तपः षोढास्यादन्तः शत्रुघातकम् ।।३४।।

अर्थ—समस्त दोषों को दूर करनेवाला प्रायश्चित्त, श्रेष्ठ गुणोंकी खानि ऐसा विनय, तपश्चरण का सारभूत तप वैयावृत्ति, धर्मका सागर स्वाध्याय, तथा कायोत्सर्ग और अंतरंग को शुद्ध करनेवाला शुभध्यान यह छह प्रकार का अंतरंग तप है यह छहों प्रकार का अंतरंग तप समस्त अंतरंग शत्रुओं को नाश करनेवाला है ।।१८३३-३४।।

प्रायश्चित्त तपका स्वरूप व उसके भेद—

कृतदोषो मुनियेनविशुद्धयतितरां व्रतैः । सम्पूर्णं दशभेदंतत्प्रायश्चित्तं विशुद्धिदम् ।।१८३५।।
आलोचनं च दोषघ्नं प्रतिक्रमणमूर्जितम् । ततस्तदुभयं सारं विवेको गुणसागरः ।।१८३६।।
कायोत्सर्गस्तपश्च्छेदो मूलं दोषक्षयंकरम् । परिहारश्चश्रद्धानं प्रायश्चित्तं दश त्मकम् ।।१८३७।।

अर्थ—जिस ध्यानसे मुनियों के व्रतों में लगे हुए दोष शुद्ध हो जांय उसको प्रायश्चित्त कहते हैं, इस प्रायश्चित्त के दश भेद हैं और यह समस्त व्रतों को शुद्ध करने वाला है । दोषों को नाश करनेवाली आलोचना १, उत्कृष्ट प्रतिक्रमण २, सारभूत तदुभय ३, गुणोंका सागर ऐसा विवेक ४, कायोत्सर्ग ५, तप ६, छेद ७, दोषों को क्षय करनेवाला मूल ८, परिहार ९, और श्रद्धान १०, यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त कहलाता है ।।१८३५-३७।।

आलोचना प्रायश्चित्त का स्वरूप—

प्रायश्चित्तादिसिद्धांतविदः सूरेः रहस्यपि । पंचाचाररतस्यान्ते त्यक्त्वामायां निवेदनम् ।।३८।।
यद्विशुद्धयै व्रतादीनांयोगैः कृतादिकर्मभिः । कृतातीचारकृत्स्नानां तदालोचनमुच्यते ।।१८३९।।

अर्थ—जो आचार्य प्रायश्चित्त और सिद्धांतशास्त्रों के जानकार हैं और जो पंचाचार पालन करने में लीन हैं, उनके समीप एकांत में बैठकर अपने व्रत तप आदि की शुद्धि के लिये बिना किसी छलकपटके मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदना से किए हुए समस्त अतिचारोंका निवेदन करना आलोचना कहलाता है ।।१८३८-३९।।

आकंपितादि दोष से रहित आलोचना करना चाहिये—

आकंपिताख्यो दोषोऽनुमानितोदृष्टसंज्ञकः । वादरः सूक्ष्मदोषश्चछन्नः शब्दाकुलिताह्वयः ।।४०।।
दोषो बहुजनो व्यक्तस्तत्सेवितसमाह्वयः । दशदोषा अमीत्याज्या आलोचनस्य संयतैः ।।१८४१।।

अर्थ—इस आलोचना के आकंपित, अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवित ये दश दोष हैं । मुनियों को इन दश दोषों से

रहित आलोचना करनी चाहिये ।।१८४०-४१।।

आकंपित दोष का स्वरूपं—

रम्योपकरणे दत्ते ज्ञानादौसति चापरे । तुष्ट सूरिमंमप्रायश्चिक्षंस्तोकं हि दास्यति ।।१८४२।।
मत्वेतिप्राक्प्रदायोच्चं ज्ञानोपकरणादिकम् । सूरेरालोचनं यत्सदोष आकंपिताह्वयः ।।१८४३।।

अर्थ—यदि आचार्य महाराज को कोई सुन्दर ज्ञानोपकरण दे दिया जाय तो आचार्य सन्तुष्ट हो जायेंगे और मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे । यही समझकर जो आचार्य को पहले ज्ञानोपकरणादिक देता है और फिर उनके समीप जाकर आलोचना करता है उसको आकंपित नामका दोष कहते हैं ।।१,८४२-४३।।

अनुमानित दोष का स्वरूप—

पित्ताधिकः प्रकृत्याहं दुर्बलोग्लान एव च । नालं कर्तुं समर्थोऽस्म्युपवासादिकमुल्बणम् ।।१८४४।।
यदि मे दीयतेस्वल्पंप्रायश्चित्तं ततः स्फुटम् । करिष्येस्वस्यदोषाणां सर्वेषां च निवेदनम् ।।४५।।
नान्यथेतिवचोत्रोक्त्वा क्रियते सूरिसन्निधौ । शिष्यैरालोचनं यत्स दोषोनुमानिताभिधः ।।१८४६।।

अर्थ—मेरे शरीर में पित्त प्राकृतिका अधिक प्रकोप है अथवा मैं स्वभाव से ही दुर्बल हूं, अथवा मैं रोगी हूं इसलिये मैं अधिक वा तीव्र उपवासादिक नहीं कर सकता । यदि मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो मैं अपने समस्त दोषों का निवेदन प्रगट रीति से कर दूंगा अन्यथा नहीं इसप्रकार कहकर जो शिष्य आचार्य के समीप अपने दोष निवेदन करता है उसको अनुमानित दोष कहते हैं ।।१८४४-४६।।

दृष्ट दोष का स्वरूप—

अन्यैरदृष्ट दोषाणां कृत्वोपगूहनं च यत् । कथनं दृष्टदोषाणां दृष्टदोषः स उच्यते ।।१८४७।।

अर्थ—जो शिष्य दूसरों के द्वारा बिना देखे हुए दोषों को तो छिपा लेता है और देखे हुए दोषों को निवेदन कर देता है उसके आलोचना का दृष्ट नाम का दोष लगता है ।।१८४७।।

वादर दोष का स्वरूप—

आलस्यच्चप्रमादाद्वाह्य ज्ञानाद्वालसंयतैः । अल्पापराधराशीनां निवेदनादृते भुवि ।।१८४८।।
आचार्यनिकटेयच्चस्थूलदोषनिवेदनम् । विधीयते स दोषश्चतुर्थो वादरसंज्ञकः ।।१८४९।।

अर्थ—जो बालक मुनि वा अज्ञानी मुनि अपने आलस प्रमाद वा अज्ञान से छोटे-छोटे अपराधों को तो निवेदन नहीं करता किंतु अपने आचार्य से स्थूल दोषों को

निवेदन करता है उसको चौथा वादर नामका दोष कहते हैं ।।१८४८-४९।।

सूक्ष्म दोष का स्वरूप—

अयशो दुष्करप्रायश्चित्तादिभयतोथवा । अयं सूक्ष्मातिचाराणां परिहारक ऊर्जितः ।।१८५०।।
अहोमत्वेतियन्मूढैः स्वगुणख्यापनेच्छया । स्थूलदोषशतादीनां कृत्वासंवरणंमहत् ।।१८५१।।
सूरेर्महाव्रतादीनां स्वल्पदोषनिवेदनम् । मायया क्रियते यत्स दोषः सूक्ष्माभिधानकः ।।१८५२।।

अर्थ—जो अज्ञानी मुनि अपने अपयश के डर से अथवा कठिन प्रायश्चित्त के डरसे, अथवा "देखो इसके कैसे शुद्ध भाव हैं जो सूक्ष्म दोषों को भी अच्छी तरह प्रगट कर देता है" इसप्रकार के अपने गुणों के प्रगट होने की इच्छा से सैंकड़ों बड़े-बड़े स्थूल दोषों को तो छिपा लेता है तथा मायाचारी से आचार्यके सामने महाव्रतादिकों के सूक्ष्म दोषोंको निवेदन कर देता है उसको पांचवां सूक्ष्म नामका दोष कहते हैं ।।१८५०-५२।।

छन्न नामक दोष का स्वरूप—

ईदृशेसत्यतीचारे प्रायश्चित्तं हि कीदृशम् । इत्युपायेनपृष्ट्वा स्वगुरुं सुश्रूषया ततः ।।१८५३।।
स्वदोषहानयेशिष्यैः प्रायश्चित्तंविधीयते । यदकीर्तिभयाल्लोके छन्नदोषः स दोषदः ।।१८५४।।

अर्थ—जो शिष्य लोक में फैलने वाली अपनी अपकीर्ति के भयसे अपने दोषों को दूर करने के लिये सुश्रूषा करके गुरुसे पूछता है कि हे स्वामिन् "इसप्रकार अतिचार लगने पर कैसा प्रायश्चित्त होना चाहिये" इसप्रकार किसी भी उपाय से पूछकर वह जो प्रायश्चित्त लेता है, वह अनेक दोषों को उत्पन्न करने वाला छन्न नाम का दोष कहलाता है ।।१८५३-५४।।

शब्दाकुलित दोष का स्वरूप—

पाक्षिके दिवसे चातुर्मासिके शुभकर्मणि । वा सांवत्सरिके तीव समवाये महात्मनाम् ।।१८५५।।
स्वस्वालोचन संजाते बहुशब्दाकुलेसति । यद्दोष कथनं दोष शब्दाकुलित एव स ।।१८५६।।

अर्थ—जिस समय पाक्षिक आलोचना हो रही हो अथवा दैवसिक वा चातुर्मासिक आलोचना हो रही हो अथवा वार्षिक आलोचना हो रही हो अथवा किसी शुभ काम के लिये महात्माओं का समुदाय इकट्ठा हुआ हो, तथा सब इकट्ठे मिलकर अपनी-अपनी आलोचना कर रहे हों और उन सबके शब्द ऊंचे स्वर से निकल रहे हों उस समय अपने दोष कहना जिससे किसी को मालूम न हो सके उसको शब्दाकुलित दोष कहते हैं ।।१८५५-५६।।

बहुजन नामक दोष का स्वरूप—

गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं युक्तिमिदं नवा । प्रायश्चित्तादिसद्ग्रंथे हीतिशंका विधाय यत् ।।१८५७।।
निकटेऽपरसूरीणां प्रश्नो विधीयते बुधैः । दत्तदण्डस्य निंद्यः स दोषो बहुजनाख्यकः ।।१८५८।।

अर्थ—आचार्य ने किसी शिष्य को प्रायश्चित्त दिया हो और फिर वह यह शंका करे कि आचार्य महाराज ने जो यह प्रायश्चित्त दिया है वह प्रायश्चित्त ग्रंथों के अनुसार ठीक है वा नहीं तथा ऐसी शंका कर जो दूसरे किसी आचार्य से पूछता है उस समय उस प्रायश्चित्त लेनेवाले के बहुजन नामका दोष लगता है ।।१८५७-१८५८।।

अव्यक्त नामक दोष का स्वरूप—

स्वसमानयतेरन्ते यद्दोषालोचनं महत् । जिनागमानभिज्ञस्य दोषोऽस्याव्यक्तसंज्ञकः ।।१८५९।।

अर्थ—जो मुनि जिनागमको न जानने वाले अपने ही समान किसी मुनि के समीप जाकर अपने बड़े-बड़े दोषों की आलोचना करता है, आचार्य से आलोचना नहीं करता है उसके अव्यक्त नामका दोष लगता है ।।१८५९।।

तत्सेवित नामक दोष का स्वरूप—

समानोस्यापराधेन मेति चारो व्रतस्य वै । अस्मै यद्गुरुणा दत्तं प्रायश्चित्तं तदेव हि ।।१८६०।।
समाप्याचरितुं युक्तं मत्वेत्यालोचनां विना । तपोभिः शोधनं यत्स दोषस्तत्सेविताभिधः ।।६१।।

अर्थ—जो मुनि यह समझकर कि मेरे व्रतों में जो अतिचार लगा है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि अमुक मुनि के व्रतोंमें अतिचार लगा है इसलिये आचार्य महाराज ने जो प्रायश्चित्त इसको दिया है वही प्रायश्चित्त मुझे ले लेना चाहिये । यही समझकर जो बिना आलोचना के तपश्चरण के द्वारा अपने व्रतोंको शुद्ध करता है उसके तत्सेवित नामका दोष लगता है ।।१८६०-१८६१।।

दोष सहित आलोचना से व्रतों की शुद्धि नहीं—

अमीषां केनचिद्दोषेणान्वितालोचनं कृतम् । मायाविनां सशल्यानां मनाक्शुद्धिकरं न हि ।।६२।।

अर्थ— जो मायाचारी शल्यसहित मुनि इन दश दोषों में से किसी भी दोषके साथ आलोचना करते हैं उनकी उस आलोचना से व्रतों की शुद्धि थोड़ी सी भी नहीं होती ।।१८६२।।

दोष रहित आलोचना से ही व्रतों की शुद्धि—

दशदोषांनिमांस्त्यक्त्वा वालकैरिवसंयतैः । स्वदोषकथनं यत्क्रियते शुद्धिकरं हि तत् ।।१८६३।।

अर्थ—जो मुनि इन दश दोषोंको छोड़कर बालक के समान सरल स्वभाव से अपने दोषों को कह देते हैं उन्हीं की आलोचना से उनके सब व्रत शुद्ध हो जाते हैं। ॥१८६३॥

मलीन दर्पण सदृश्य आलोचना बिना महाव्रत सार्थक नहीं—

महत्तपोव्रतंसर्वं वानालोचनपूर्वकम् । न स्वकार्यंकरं जातु मलिनादर्शवद्भुवि ॥१८६४॥

अर्थ—जिसप्रकार मलिन दर्पण अपना कुछ काम नहीं कर सकता उसमें मुख नहीं दिख सकता उसी प्रकार महा तपश्चरण और महाव्रत भी बिना आलोचना के अपना कुछ भी काम नहीं कर सकते, अर्थात् उनसे कर्मों का संवर वा निर्जरा नहीं हो सकती ॥१८६४॥

शुद्ध हृदय से दोषों को प्रगट करना चाहिये—

विदित्वेतिचिरं चित्ते व्यवस्थाप्यस्वदूषणम् । प्रकाशनीयमत्यर्थं गुरोरन्तेशुभाशयैः ॥१८६५॥

अर्थ—यही समझकर अपने हृदय में अपने दोषोंको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये और फिर अपने शुद्ध हृदय से गुरु के समीप उन दोषों को प्रगट कर देना चाहिये ॥१८६५॥

दोषों की आलोचना कब किस विधि से करें—

सूरेरेकाकिनः पार्श्वे स्वदोषाणां प्रकाशनम् । अद्वितीयस्यशिष्यस्यैकान्तेप्युक्तं न चान्यथा ॥६६॥
प्रकाशे दिवसेसूरेरन्ते स्वालोचनादिकम् । आर्यिकायाः सतामिष्टं तृतीये सज्जनेसति ॥१८६७॥

अर्थ—जिस समय आचार्य एकांत में अकेले विराजमान हों उस समय अकेले शिष्य को उनके समीप जाकर अपने दोष कहने चाहिये किसी के सामने अपने दोष नहीं कहने चाहिये। अर्जिकाएं दिन में ही प्रकाश में ही किसी को साथ लेकर आचार्य के समीप जाकर अपने दोषों की आलोचना करती हैं ऐसा सज्जन लोग कहते हैं। ॥१८६६-१८६७॥

प्रायश्चित्त लेने में प्रमाद नहीं करना चाहिये—

कृतालोचनदोषो यो न तद्दोषापहं तपः । कुर्यात्तस्य न जायेत मनाक्शुद्धिः प्रमादिनः ॥१८६८॥
विज्ञायेति द्रुतं कार्यं प्रायश्चित्तं मलापहम् । न चास्याचरणेकिंचिद्विधेयं काललंघनम् ॥१८६९॥

अर्थ—जो मुनि दोषों की आलोचना कर लेता है परन्तु उस दोष को दूर करनेवाले तपश्चरणको नहीं करता उस प्रमादीके दोषों की शुद्धि कभी नहीं हो सकती।

यही समझकर शिष्यों को बहुत ही शीघ्र दोषों को दूर करनेवाला प्रायश्चित्त लेना चाहिये। प्रायश्चित्तके लेने में थोड़ीसी भी देर नहीं करनी चाहिये ।।१८६८-१८६९।।

प्रतिक्रमण का स्वरूप—

दिनादिजव्रत:तीचाराणां निंदनगर्हणैः। विशोधनंत्रिशुद्धया यत्प्रतिक्रमणमेवतत् ।।१८७०।।

अर्थ—दिन वा रात के व्रतों में जो अतिचार लगे हों उनको मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक निंदा, गर्हा आदि के द्वारा शुद्ध करना प्रतिक्रमण कहलाता है। ।।१८७०।।

आलोचना सहित प्रतिक्रमण का स्वरूप—

कश्चिद्दोषोव्रतादीनां नश्यत्यालोचनाद्द्रुतम्। दुःस्वप्नादिजकर्मा यःसत्प्रक्रमणेन च ।।१८७१।।
मत्वेत्यालोचनापूर्वं प्रतिक्रमणमंजसा। पाक्षिकादौगिरा यत्क्रियते तदुभयं हि तत् ।।१८७२।।

अर्थ—व्रतादिकों के कितने ही दोष आलोचना से नष्ट होते हैं और दुःस्वप्न आदि से उत्पन्न होनेवाले कितने ही दोष प्रतिक्रमण से नष्ट होते हैं। यही समझकर पाक्षिक चातुर्मासिक वार्षिक दोषों को दूर करने के लिये वचनपूर्वक जो आलोचना सहित प्रतिक्रमण किया जाता है उसको तदुभय कहते हैं ।।१८७१-१८७२।।

विवेक नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

द्रव्यक्षेत्रान्नपानोपकरणादिषु दोषतः। निर्वर्तनं हृदयात् सविवेको य नेकधाथवा ।।१८७३।।
प्रत्याख्यानस्य वस्तोर्ग्रहणेविस्मरणात्सति। स्मृत्वा पुनश्च तत्त्यागो यो विवेकः स कथ्यते ।।७४।।

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, अन्न, पान, उपकरण आदि के दोषों से शुद्ध हृदयसे अलग रहना विवेक है। यह विवेक अनेक प्रकार का है। अथवा मूल से त्याग की हुई वस्तु का ग्रहण हो जाय और स्मरण हो आने पर फिर उसका त्याग कर दिया जाय उसको विवेक कहते हैं ।।१८७३-१८७४।।

कायोत्सर्ग नामक प्रायश्चित्त का वर्णन—

दुश्चिन्तन.र्त्तं दुःस्वप्नदुर्ध्यानाद्यै मंल प्रदैः। मार्गव्रजननद्याद्यु त्तरणैरपरेदृशैः ।।१८७५।।
जातातीचारशुद्धयर्थमालंव्यध्यानमुत्तमम्। कायस्य त्यजनं युक्त्यायत्स व्युत्सर्गं ऊर्जितः ।।१८७६।।

अर्थ—अशुभ चितवन, आर्तध्यान, दुःस्वप्न, दुर्ध्यान आदि से उत्पन्न हुए दोषों को शुद्ध करने के लिये अथवा मार्ग में चलना, नदी में पार होना तथा और भी ऐसे ही ऐसे कामों से उत्पन्न हुए अतिचारों को शुद्ध करने के लिये उत्तम ध्यान को

धारण कर जो युक्तिपूर्वक शरीर के ममत्व का त्याग करता है उसको श्रेष्ठ कायोत्सर्ग कहते हैं ।।१८७५-१८७६।।

तप नामक प्रायश्चित्त का वर्णन—

व्रतातीचारनाशायोपवासाचाम्लयोर्मुदा । तथा निर्विकृतेरेकस्थानादेः करणं तपः ।।१८७७।।

अर्थ—व्रतों के अतिचारों को दूर करने के लिये उपवास करना, आचाम्ल करना, निर्विकृति (रसत्याग) करना अथवा एकाशन करना आदि तप कहलाता है। ।।१८७७।।

मुनि को उपरोक्त ६ प्रकार के यथायोग्य प्रायश्चित्त देना चाहिये—

भयोन्मादप्रमादानवबोधाशक्तिकारणैः । अन्यैर्विस्मरणाद्यैश्च जातातीचारहानये ।।१८७८।।
व्रतादीनां प्रदातव्यं पूर्वोक्तं षड्विधं यते । प्रायश्चित्तंयथायोग्यंशक्तस्येहे तरस्य च ।।१८७९।।

अर्थ—यदि किसी भयसे, उन्मादसे, प्रमादसे, अज्ञानतासे वा असमर्थता से अथवा विस्मरण हो जाने से वा और भी ऐसे ही ऐसे कारणों से व्रतोंमें अतिचार लगे हों तो उनको दूर करने के लिये समर्थ अथवा असमर्थ मुनि को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ऊपर लिखे छहों प्रकार के प्रायश्चित्त देने चाहिये ।।१८७८-१८७९।।

छेद नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

चिर प्रवृजितस्यैव शूरस्य गर्वितस्य वा । कृतदोषस्य मासादिविभागेन च योगिनः ।।१८८०।।
छित्वा प्रवृजनं तद्दीक्षया लघुमहात्मनाम् । अधोभागे किलावस्थापनं यच्छेद एव सः ।।१८८१।।

अर्थ—यदि कोई मुनि चिरकालका दीक्षित हो वा शूरवीर हो वा अभिमानी हो और वह अपने व्रतोंमें दोष लगावे तो उसको एक महीना, दो महीना, एक वर्ष, दो वर्ष आदि की दीक्षा का छेद कर देना और उसको उससे छोटे मुनियों से भी (उसके बाद दीक्षित हुए मुनियों से) नीचे कर देना छेद नाम का प्रायश्चित्त कहलाता है। ।।१८८०-१८८१।।

मूल नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

पार्श्वस्थादिकपंचानां महादोषकृतां पुनः। अब्रह्मसेविनां दीक्षादानं मूलमिहोच्यते ।।१८८२।।

अर्थ—जो महा दोष उत्पन्न करनेवाले पार्श्वस्थ आदि पांच प्रकार के मुनि हैं अथवा जिन्होंने अपने ब्रह्मचर्य का घात कर दिया है, ऐसे मुनियों की सब दीक्षा का

छेद कर उनको फिर से दीक्षा देना मूल नामका प्रायश्चित्त है ॥१८८२॥

परिहार नामके प्रायश्चित्त का स्वरूप व उसके भेद—

परिहारोनुस्थापनपारंचिक प्रभेदतः । द्विविधः प्रोदितो आदि त्रिक संहननस्य वै ॥१८८३॥

अर्थ—परिहार प्रायश्चित्तके दो भेद हैं एक अनुपस्थान और दूसरा पारंचिक। यही परिहार नामका प्रायश्चित्त पहले के तीन संहननों को धारण करने वालों को ही दिया जाता है ॥१८८३॥

अनुस्थापन प्रायश्चित्त का भेद—

स्वस्यापरस्यभेदाभ्यां गणस्य श्रीगणाधिपैः । अनुपस्थापनं द्वेधा कीर्तितं श्रीजिनागमे ॥१८८४॥

अर्थ—भगवान गणधरदेव ने अपने जिनागम में अनुस्थापन के भी दो भेद कहे हैं, एक तो अपने ही संघमें अपने ही आचार्य से परिहार नामका प्रायश्चित्त लेना और दूसरा दूसरे गण में जाकर प्रायश्चित्त लेना ॥१८८४॥

स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त किसे देवें—

अन्यसंयतसम्बन्धिनं यतिं चार्यिकांशुभम् । छात्रं बालं गृहस्थं वा परस्त्री चेतनेतरम् ॥१८८५॥
द्रव्यंपाषंडिनां वा योऽपहरे च्चौर्यं कमणा । मुनीन्हन्ति तथेत्यादि विरुद्धाचरणं चरेत् ॥१८८६॥
नवानां वा दशानां वा पूर्वाणां धारकोमहान् । चिरप्रवृजितः शूरोजिताशेषपरीषहः ॥१८८७॥
दृढधर्मी च तस्यैव प्रायश्चित्तं जिनैमतम् । अनुपस्थापनं स्वस्यगणाख्यं नापरस्य वै ॥१८८८॥

अर्थ—जो मुनि चोरी करकें अन्य मुनि के साथ रहनेवाले किसी मुनि को, अच्छी अर्जिका को, विद्यार्थी को, बालक को, गृहस्थ को वा परस्त्री को अथवा द्रव्य पाखंडियों के अन्य अचेतन पदार्थों को अपहरण करले अथवा किसी मुनिको मार डाले अथवा ऐसा ही कोई अन्य विरुद्धाचरण करे तथा वह मुनि नौ वा दश पूर्वका धारी हो उत्कृष्ट हो चिरकाल का दीक्षित हो; शूर हो, समस्त परीषहों को जीतनेवाला हो और दृढ़ धर्मी हो ऐसे मुनिको भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने ही गणका अनुस्थापन प्रायश्चित्त बतलाया है, उसकें लिये परगण सम्बन्धी अनुस्थापन प्रायश्चित्त नहीं बतलाया। ॥१८८५-१८८८॥

स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त को विधि—

तेन शिष्याश्रमाद्द्वात्रिंशद्दण्डान्तरभूतलम् । विहरेत वदन्ते नित्यं दीक्षया लघुसंयतान् ॥८९॥
लभते नहि तेभ्यः प्रतिवदनांसहाखिलम् । गुरूणां लोचनं कुर्यान्मौनं सार्द्धं च योगिभिः ॥९०॥

धृत्वापरान्मुखांपिच्छिकां चरेत्पारणं सदा। पंचपंचोपवासैर्जघन्येनोत्कृष्टतो मुदा ॥१८९१॥
षण्मासैर्मध्यमैः शक्त्या बहुभेदंर्महाबलः। प्रायश्चित्तं करोत्येवं द्विषड्वर्षान्तमद्भुतम् ॥१८९२॥

अर्थ—इस स्वगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त को धारण करनेवाला मुनि शिष्यों के आश्रम से बत्तीस दंड दूर रहता है, जों अन्य मुनि दीक्षासे छोटे हैं उनको भी वंदना करता है परन्तु वे छोटे मुनि भी उसको प्रतिवंदना नहीं करते। वह मुनि मौन धारण करता है अन्य मुनियों के साथ गुरु के सामने मौन धारण करता हुआ ही समस्त दोषों की आलोचना करता है और अपनी पीछीको उलटी रखता है। कम से कम पांच-पांच उपवास करके पारणा करता हैं तथा अधिक से अधिक छह महीने का उपवास कर पारणा करता है और मध्यम वृत्ति से छह दिन, पन्द्रह दिन, एक महीना आदि का उपवास कर पारणा करता है। इसप्रकार वह शक्तिशाली मुनि अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकार के उपवास करता हुआ पारणा करता है और इसप्रकार के अद्भुत प्रायश्चित्तको वह बारह वर्ष तक करता है ॥१८९१-१८९२॥

परगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त किसे देवें—

स एव दर्पतो दोषान्प्रागुक्तान् नाचरेद्यदि। अयेत्परगणोपस्थापनं दोष क्षयंकरम् ॥१८९३॥

अर्थ—यदि वही चिर दीक्षित शूरवीर मुनि अपने अभिमान के कारण ऊपर लिखे दोषों को लगावे तो उसके लिये आचार्यों ने समस्त दोषों को दूर करनेवाला परगणोपस्थापन नामका परिहार प्रायश्चित्त बतलाया है ॥१८९३॥

परगण अनुस्थापन प्रायश्चित्त की विधि—

सापराधः प्रहेतव्यः सूरिणा गणितंप्रति। सोप्याचार्यो गिराकर्ण्य तस्यालोचनमंजसा ॥१८९४॥
प्रायश्चित्तमदत्त्वाचार्यान्तरंप्रापयेच्च तम्। इत्येवं स प्रहेतव्योयावत्सूरिश्चसप्तमः ॥१८९५॥
प्रेषितः पश्चिमेनेष पूर्वाचार्यंप्रतिस्फुटम्। प्रायश्चित्त चरेत्सर्वंप्रागुक्त स बलान्वितः ॥१८९६॥

अर्थ—उसकी विधि यह है कि आचार्य उस अपराधी को अन्य संघके आचार्य के पास भेजते हैं। वे दूसरे आचार्य भी उसकी कही हुई सब आलोचना को सुनते हैं तथा बिना प्रायश्चित्त दिये उसको तीसरे आचार्यके पास भेज देते हैं। वे भी आलोचना सुनकर चौथे आचार्य के पास भेज देते हैं। इसप्रकार वह सात आचार्यों के पास भेजा जाता है। सातवें आचार्य आलोचना सुनकर उसको उसके ही गुरुके पास अर्थात् पहले ही आचार्य के पास भेज देते हैं। तदनन्तर वे आचार्य ऊपर लिखा परिहार नामका प्रायश्चित्त देते हैं और वह शक्तिशाली मुनि उस सब प्रायश्चित्त को धारण करता है।

।।१८९४-१८९६।।

पारंचिक प्रायश्चित्त कहने की प्रतिज्ञा—

परिहारस्य भेदोयं द्विधाप्रोक्तो जिनागमात् । पारंचिकमितो वक्ष्ये प्रायश्चित्तं सु दुष्करम् ।।९७।।

अर्थ—इसप्रकार जैन शास्त्रोंके अनुसार परिहार प्रायश्चित्तके दोनों भेद बतलाये । अब आगे अत्यंत कठिन ऐसे पारंचिक नामके प्रायश्चित्तको कहते हैं ।।१८९७।।

पारंचिक अनुपस्थान प्रायश्चित्त का स्वरूप—

तीर्थंकृद्गणभृत्संघजिनसूत्रादिधर्मिणाम् । करोत्यासादनं राजाननुमत्या ददाति यः ।।१८९८।।
जिनमुद्राममात्यादीनां भजेद्राजयोषितः । इत्याद्यन्यै दुं राचारैः कुर्याद्धर्मस्य दूषणम् ।।१८९९।।
तस्य पारंचिकप्रायश्चित्तं भवति निश्चितम् । चातुवर्णस्वसंघस्थाः संभूयश्रमणा भुवि ।।१९००।।
एषोऽवंधोमहापापी बाह्यः श्रीजिनशासनात् । घोषयित्वेतिदत्त्वानुपस्थापनं सुदुष्करम् ।।१९०१।।
प्रायश्चित्तं स्वदेशात्तं निर्घाटयन्तिदोषिणाम् । स्वधर्मरहिते क्षेत्रे सोपिगत्वा महावलः ।।१९०२।।
दृढसंहननो धीरः प्रागुक्त क्रमतश्चरेत् । प्रदत्तं गुरुणा सर्वं प्रायश्चित्तं विशुद्धिदम् ।।१९०३।।

अर्थ—जो मुनि तीर्थंकर, गणधर, संघ, जिनसूत्रकी निंदा करता है धर्मात्माओं की निंदा करता है अथवा बिना राजा की सम्मति के उसके मंत्री आदि को जिनदीक्षा दे देता है अथवा राजघराने की स्त्रियों को सेवन करता है अथवा और भी ऐसे ही ऐसे दुराचार कर जो जिनधर्मको दूषित करता है उसके लिये आचार्यों ने पारंचिक नामका प्रायश्चित्त निश्चित किया है । उस प्रायश्चित्त को देते समय अपने संघके चारों प्रकार के मुनि इकट्ठे होते हैं और मिलकर घोषणा करते हैं कि यह मुनि महा पापी है, इसलिये अवंदनीय है और श्री जिनशासन से बाहर है । तदनंतर वे आचार्य उसको अत्यंत कठिन अनुपस्थापन नामका प्रायश्चित्त देते हैं । तथा उस अपराधी मुनि को वे आचार्य अपने देश से निकाल देते हैं । मजबूत संहनन को धारण करनेवाला धीर और महाबलवान् वह मुनि भी जिस देश में जिनधर्म न हो उस क्षेत्र में जाकर गुरु के दिए हुए समस्त दोषों को शुद्ध करनेवाले पूर्ण प्रायश्चित्त को अनुक्रम से पालन करता है । इसको पारंचिक अनुस्थापन प्रायश्चित्त कहते हैं ।।१८९८-१९०३।।

श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त का स्वरूप—

मिथ्यादृष्ट्युपदेशाद्यै मिथ्यात्वं च गतस्य या । दृग्विशुद्ध्यै रुचिस्तत्त्वादौश्रद्धानं तदद्भुतम् ।।

अर्थ—मिथ्यादृष्टियों के उपदेशादिक से जिसने मिथ्यात्व को धारण कर

लिया है वह यदि अपना सम्यग्दर्शन शुद्ध करने के लिये तत्त्वों में वा देव शास्त्र गुरु में श्रद्धान कर लेता है उसको उत्तम श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त कहते हैं ।।१९०४।।

१० प्रकार के प्रायश्चित्त पालन करने की प्रेरणा—

एतद्दशविधंप्रायश्चित्तं तद्व्रतशुद्धये । युक्त्या कालानुसारेण कर्तव्यं मुनिभिः सदा ।।१९०५।।

अर्थ—श्रेष्ठ व्रतों को शुद्ध करने के लिये यह दश प्रकार का प्रायश्चित्त बतलाया है मुनियों को अपने-अपने समय के अनुसार युक्ति पूर्वक इनका पालन करना चाहिये ।।१९०५।।

प्रायश्चित्त नहीं लेने से हानि का वर्णन दृष्टान्त पूर्वक—

यो महत्स्वतपो मत्वा प्रायश्चित्तं करोति न व्रतादिदोषशुद्धयर्थं शठात्मा गर्विताशयः ।।१९०६।।
तस्यसर्वंतपोवृत्तं तद्दोषो नाशयेद्व्रुतम् । सहाखिलैर्गुणौघैः कुथितताम्बूलपत्रवत् ।।१९०७।।

अर्थ—जो मूर्ख अभिमानी मुनि अपने तपश्चरणको महा तपश्चरण समझकर व्रतादिक के दोषों को शुद्ध करने के लिये प्रायश्चित्त नहीं करता उसके समस्त व्रतों को तथा समस्त तपश्चरण को वे दोष शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं तथा उन व्रत और तपके नाश के साथ-साथ उसके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं । जैसे कि सड़ा हुआ एक पान अन्य सब पानों को सड़ा देता है । उसीप्रकार एक ही दोष से सब व्रत तप गुण नष्ट हो जाते हैं ।।१९०६-१९०७।।

प्रायश्चित्त पालन करने का फल—

प्रायश्चित्तेननिःशल्यंमनोभवति निर्मलाः । दृग्ज्ञानाद्यागुणौघाः स्युश्चारित्रं शशिनिर्मलम् ।।
संघमान्यमभीतिः स्यान्निः शल्यंमरणोत्तमम् । इत्याद्या बहवोऽन्येत्र जायन्ते सद्गुणाः सताम् ।।

अर्थ—इस प्रायश्चित्त को धारण करने से मन शल्य रहित हो जाता है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानादिक गुणों के समूह सब निर्मल हो जाते हैं, चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाता है, वे मुनि संघ में माननीय माने जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता और उनका मरण शल्य रहित सर्वोत्तम होता है । इसप्रकार प्रायश्चित्त धारण करने से सज्जनों को बहुत से गुण प्रगट हो जाते हैं ।।१९०८-१९०९।।

पुनः प्रायश्चित्त धारण करने की प्रेरणा—

विज्ञायेति यदा कश्चिद्दोषः उत्पद्यते व्रते । प्रायश्चित्तं तदैवात्र कर्तव्य तद्विशुद्धये ।।१९१०।।

अर्थ—यही समझकर मुनियोंको अपने वृतोंमें जब कभी दोष लग जाय उसी

समय में अपने व्रतोंको शुद्ध करने के लिये प्रायश्चित्त धारण करना चाहिये ॥१९१०॥

विनय का स्वरूप और उसके भेद—

कषायेन्द्रिय चौराणां शक्त्या विजयं बलात् । विनयो वा सतांनीचैवृं त्तिरत्नत्रयस्य यः ॥१९११॥
तद्वतांसज्जनैः प्रोक्तोविनयोऽनिष्टघात कः । विश्वविद्याकरीभूतः पंचधागुणसागरः ॥१९१२॥
दर्शनज्ञानचारित्रतपसां विनयोमहान् । उपचाराभिधश्चेति विनयः पंचधा मतः ॥१९१३॥

अर्थ—कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों को अपनी शक्ति के अनुसार बलपूर्वक जीतना विनय है । अथवा सज्जनों के प्रति नम्रता धारण करना वा रत्नत्रयकी विनय करना रत्नत्रय को धारण करनेवालों की विनय करना सज्जन पुरुषों के द्वारा विनय कहलाता है । यह विनय समस्त अनिष्टों को दूर करनेवाला है, समस्त विद्याओं की खानि है और गुणों का समुद्र है । ऐसा यह विनय तप पांच प्रकार का है । दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपविनय और सर्वोत्कृष्ट उपचारविनय इसप्रकार विनय के पांच भेद हैं ॥१९११-१९१३॥

दर्शन विनय का स्वरूप उसका फल—

ये पदार्थाः जिनैः प्रोक्तास्तथ्या त एव नान्यथा । वीतरागाश्चसर्वज्ञा यतो नासत्यवादिनः ॥१४॥
इतियुक्तिविचाराद्यै स्तत्त्वादौ निश्चयोऽचलः । क्रियते यो खिले जैनागमेदृ ढ्मंयोगिषु ॥१९१५॥
निःशंकितादिसर्वेषामंगानां यच्चधारणम् । शंकादि त्यजनं कृत्स्नं सूक्ष्मतत्त्वविचारणे ॥१९१६॥
भक्तिदृं ढतरायैकाश्रुताहंन्मुनिधर्मिषु । सम्यग्दृष्टजनादौ च रुचिमु क्तिपथेवृषे ॥१९१७॥
इत्यादि यच्छुभाचारसपरं वा विधीयते । विनयो दर्शनाख्यः स सर्वोगुणाकरोघहृत् ॥१९१८॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने जो तत्त्व बतलाये हैं तथा जिसप्रकार बतलाये हैं वे ही तत्त्व यथार्थ तत्त्व हैं तथा वे उसी प्रकार हैं अन्यथा नहीं हैं । क्योंकि भगवान जिनेन्द्रदेव वीतराग और सर्वज्ञ हैं इसलिये वे असत्यवादी कभी नहीं हो सकते । इस प्रकार युक्ति और विचार पूर्वक तत्त्वादिकों में अचल श्रद्धान करना, समस्त जैन शास्त्रों में श्रद्धान करना, देव, धर्म, गुरु में अचल श्रद्धान करना, निःशंकित आदि समस्त अंगों का पालन करना, सूक्ष्म तत्त्वोंका विचार करते समय समस्त शंकादिक दोषों का त्याग कर देना, देवशास्त्र गुरु और धर्म में अत्यंत दृढ़ भक्ति धारण करना, सम्यग्दृष्टि पुरुषों में, मोक्षके मार्ग में तथा जिनधर्म में गाढ़ रुचि वा प्रेम धारण करना तथा इसी प्रकार के और भी जो शुभाचार धारण करना है उसको दर्शनविनय कहते हैं । यह दर्शनविनय समस्त गुणोंकी खानि है और समस्त पापों को नाश करनेवाला है ॥१९१४-१९१८॥

ज्ञान विनय के स्वरूप का वर्णन—

कालाद्यै रष्टधाचारैर्विनयेनार्चनादिभिः । कृत्स्नानामंगपूर्वाणां ज्ञानायाज्ञानहानये ॥१९१९॥
त्रिशुद्धया पठनं शुद्धं पाठनं यच्चयोगिनाम् । चिन्तनं हृदयेत्यर्थं परिवर्तनमंजसा ॥१९२०॥
ख्यापनं कीर्तनं लोके प्रकाशनमनारतम् । ज्ञानिनां भक्तिसन्मानं ज्ञानादिगुणभाषणम् ॥१९२१॥
इत्याद्यन्यच्छ्रुतज्ञानगुणग्रहणमूर्जितम् । क्रियते स समस्तोपि ज्ञानाख्योविनयोद्भुतः ॥१९२२॥

अर्थ—अपने ज्ञान की वृद्धि करने के लिये और अज्ञान को दूर करने के लिये विनय के साथ तथा कालाचार, शब्दाचार, अर्थाचार आदि आठों आचारों के साथ-साथ समस्त अंग और पूर्वों की पूजा करना, मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक अंग पूर्वों को शुद्ध पढ़ना, अन्य योगियों को पढ़ाना, उनका चितवन करना, हृदय में बार बार विचार करना, उनकी प्रसिद्धि करना, प्रशंसा करना, लोक में निरन्तर उनका प्रचार करना, ज्ञानी पुरुषों की भक्ति और उनका सन्मान करना, ज्ञानादिक गुणों का उपदेश देना तथा और भी श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट गुणों को ग्रहण करना ज्ञानविनय कहलाता है। यह समस्त ज्ञानविनय बहुत ही अद्भुत है ॥१९१९-१९२२॥

चारित्र विनय के स्वरूप का वर्णन—

कषायेन्द्रियचौराणां प्रमादानां च वर्जनम् । व्रतगुप्तिसमित्याद्याचरणे यत्नमन्वहम् ॥१९२३॥
महातपोधनानां च श्रुत्वाचरणमद्भुतम् । अंजली करणं भक्त्या प्रणामं वृत्तशालिनाम् ॥२४॥
इत्याद्यन्यत्सुचारित्रमाहात्म्यस्य प्रकाशनम् । लोके विधीयते यत्स चारित्रविनयोखिलः ॥२५॥

अर्थ—कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों का सर्वथा त्याग कर देना, प्रमादों का सर्वथा त्याग कर देना, वृत समिति गुप्ति आदि के पालन करने में प्रतिदिन प्रयत्न करना, महातपस्वियों के अद्भुत आचरणों को सुनकर उनके लिये भक्ति पूर्वक हाथ जोड़ना, चारित्र पालन करनेवालों को भक्ति पूर्वक प्रणाम करना तथा इसीप्रकार और भी संसारमें चारित्र के माहात्म्य को प्रगट करना चारित्रविनय कहलाता है ॥१९२३-१९२५॥

तप विनय के स्वरूप का वर्णन—

आतापनादि सद्योगे ह्युत्तराख्ये गुणेद्भुते । दुष्करे च द्विषड्भेदे घोरे तपसि दुर्धरे ॥१९२६॥
श्रद्धोत्साहानुरोगाकांक्षादीनां करणं महत् । तपोधिकयतीनां च प्रणामस्तवनादिकम् ॥१९२७॥
षडावश्यकसम्पूर्णश्चित्तक्लेशादिवर्जनम् । तपसा करणे वीर्यादानं पंचाक्षनिर्जयः ॥१९२८॥
इत्याद्यन्यत्तपोऽनर्घ्यंगुणानां यत्प्रकीर्तनम् । सत्तपोजमहर्द्धीनां स तपोविनयोखिलः ॥१९२९॥

अर्थ—आतापन आदि श्रेष्ठ योगों में सर्वोत्कृष्ट उत्तरगुणों में तथा बारह प्रकार के घोर दुर्धर और कठिन तपश्चरणमें श्रद्धा करना, उत्साह धारण करना, अनुराग करना तथा बहुत बड़ी आकांक्षा करना, महातपस्वियों को प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, छहों आवश्यकों को पालन करना, हृदय के समस्त क्लेशों का त्याग कर देना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पालन करने के लिये अपनी शक्ति को प्रगट करना, पांचों इन्द्रियों को जीतना तथा इसी प्रकार तपश्चरण के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा और तपश्चरण से उत्पन्न हुई ऋद्धियों की प्रशंसा करना तपोविनय कहलाती है ।।१९२६-१९२९।।

उपचार विनय के भेद—

सत्कायवाग्मनोभेदैरुपचारो जिनागमे । विनयस्त्रिविधः प्रोक्तः कायवाक्चित्तशुद्धिदः ।।१९३०।।
स प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां प्रत्येकं द्विविधः स्मृतः । इत्येतेषट्प्रकारा उपचार विनये मताः ।।१९३१।।

अर्थ—जैन शास्त्रों में मन-वचन-कायको शुद्ध करनेवाला उपचार विनय तीन प्रकार का बतलाया है, काय से होनेवाला विनय वचन से होनेवाला विनय और मनसे होनेवाला विनय । यह मन-वचन-कायसे होनेवाला तीनों प्रकार का विनय प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो दो प्रकार है । इसप्रकार उपचारविनय छह प्रकार का हो जाता है ।।१९३०-१९३१।।

शारीरिक विनय का स्वरूप—

अभ्युत्थानं क्रियाकर्म मुदाभक्तित्रयांकितम् । प्रणामः शिरसा भाले स्वांजलीकरणं सदा ।।३२।।
गुरोरागच्छतश्चाभिमुखयानां प्रगच्छतः । अनुव्रजनमत्यर्थं भक्तिरागप्रकाशनम् ।।१९३३।।
नीचं स्थानं कियन्नीचं गमनं शयनासनम् । आसनज्ञानशौचोपकरणादिसमर्पणम् ।।१९३४।।
शून्यागारगुहादीनामन्विष्य च निवेदनम् । गुरुकायक्रमादीनां स्पर्शनं मर्दनं करैः ।।१९३५।।
आदेशकरणं संस्तरादिप्रस्तारणं निशि । ज्ञानोपकरणादीनां प्रतिलेखनमन्वहम् ।।१९३६।।
इत्याद्यन्योयथायोग्यउपकारो विधीयते । कायेन सद्गुरो यः स विनयः कायिकोखिलः ।।१९३७।।

अर्थ—गुरु को देखकर उठ कर खड़े होना, प्रसन्नता पूर्वक श्रुतभक्ति आदि तीनों भक्तियों को पढ़कर क्रियाकर्म वा वंदना करना, उनको प्रणाम करना, दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर रखना, गुरु के आनेपर उनके सामने जाना, गुरु के गमन करने पर उनके पीछे चलना, उनके प्रति अत्यन्त भक्ति और अनुराग प्रगट करना, नीचा स्थान हो तो कितना नीचा है यह बताना, गमन शयन आसन आदि का ज्ञान कराना, आसन

देना, ज्ञान और शौचके उपकरण समर्पण करना, सूने मकान वा गुफादिकों को ढूंढकर बतलाना, गुरु के शरीर को वा उनके चरणों को स्पर्श करना वा हाथों से दबाना, उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके लिये संस्तर बिछाना, रात्रि के समय प्रतिदिन ज्ञान के उपकरणों का प्रतिलेखन करना (पीछी से झाड़कर शुद्ध करना) तथा अपने शरीर से इसी प्रकार के गुरु वा आचार्य के अन्य उपकार करना यथायोग्य रीति से उपकार करना शारीरिक विनय कहलाती है ।।१९३२-१९३७।।

वाचनिक विनय का स्वरूप—

आचार्यभगवत्पूज्यपाद भट्टारकादिभिः । नामभिःप्रवरं पूज्य वचनं मधुरं वचः ।।१९३८।।
हिततथ्यमितादीनां वचसां भाषणं गिरा । जिनसूत्रानुसारेण भाषणं पापदूरगम् ।।१९३९।।
उपशान्त वचोवाच्यमगृहस्थवचः शुभम् । अकर्कशं वचः सारं सुस्पष्टमनिष्ठुरम् ।।१९४०।।
इत्यादिनिरवद्यं यद्ब्रूयते वचनं वरम् । गुरोरग्रे स सर्वोऽपि वाचिको विनयो महान् ।।१९४१।।

अर्थ—गुरुके समीप जाकर पूज्य और मधुर वचनों से आचार्य भगवान् पूज्यपाद भट्टारक आदि उत्तम नामों से गुरु को सम्बोधन करना, वचन से सदा हित मित तथा यथार्थ भाषण करना, सदा जैन शास्त्रों के अनुसार भाषण करना, पाप रहित वचन कहना, शांत वचन कहना, मुनियों के योग्य शुभ वचन कहना, सदा ऐसे वचन कहना जो कर्कश न हों सारभूत हों स्पष्ट हों कठिन न हों उत्तम और अनिंद्य हों, इसप्रकार गुरुके समीप वचन कहना सर्वोत्कृष्ट वाचनिक विनय कहलाता है ।।१९३८-१९४१।।

मानसिक विनय का स्वरूप—

दुष्कर्मागमनद्वारसन्मुखं स्वसुखावृतम् । दुर्ध्यानद्वेषरागादिलीनं चिन्ताशताकुलम् ।।१९४२।।
त्यक्त्वा स्वपरिणामं सुतत्त्ववैराग्यवासितम् । सदर्थधर्मसद्भावागमचिन्तादितत्परम् ।।१९४३।।
स्वान्येषां हितकृच्छुद्धं धार्यते यन्निजं मनः । गुरोः पार्श्वे स विश्वो मानसिको विनयो वरः ।।१९४४।।

अर्थ—जो परिणाम अशुभ कर्मों के आने के कारण हों, अपने सुखको चाहने वाले हों, अशुभध्यान वा रागद्वेष में लीन हों और सैकड़ों चिंताओं से व्याकुल हों ऐसे परिणामों को छोड़कर गुरु के समीप बैठना तथा अपने मनमें श्रेष्ठ तत्त्व और वैराग्य की वासना रखना, श्रेष्ठ अर्थ, श्रेष्ठ धर्म और श्रेष्ठ भावनाओं के चितवन में ही अपने मन को सदा लगाये रखना, अपने मन को सदा अपने और दूसरे के हित में लगाना तथा अपने मन को अत्यंत शुद्ध रखना, इसप्रकार गुरु के समीप अपने मन की शुद्धता

रखना उत्तम मानसिक विनय है ।।१९४२-१९४४।।

प्रत्यक्ष विनय का स्वरूप—

प्रत्यक्षे सद्गुरूणां यो विनयः क्रियते बुधैः । त्रिशुद्धया त्रिविधः सोत्र प्रत्यक्ष विनयो मतः ।।४५।।

अर्थ—विद्वान् लोग मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक मन-वचन-काय तीनों से जो श्रेष्ठ गुरुओं की प्रत्यक्ष विनय करते हैं उसको प्रत्यक्ष विनय कहते हैं ।।१९४५।।

परोक्ष विनय का स्वरूप—

परोक्षे सद्गुरूणां यत् प्रणामकरणादिकम् । कायेनवचसा नित्यंस्तवादिगुण कीर्तनम् ।।४६।।
हृदाज्ञापालनं सम्यक् सद्गुणग्रामचिन्तनम् । इत्यादिक्रियतेऽन्यत्सपरोक्षविनयोऽखिलः ।।१९४७।।

अर्थ—इसीप्रकार गुरुओं के परोक्षमें शरीर से तथा वचन से नित्य ही उनको प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, उनके गुण वर्णन करना, हृदय से उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके श्रेष्ठ गुणों के समूहको अच्छी तरह चितवन करना तथा और भी उनकी परोक्षमें उनकी विनय करना परोक्ष विनय कहलाती है ।।१९४६-१९४७।।

शारीरिक, वाचनिक एवं मानसिक विनय के भेद—

अथवा सप्तधाप्रोक्तः कायिकी विनयो जिनैः । चतुर्धावाचिकः सारो द्विधामानसिकोमहत् ।।४८।।

अर्थ—अथवा भगवान जिनेन्द्रदेव ने शरीर से होनेवाली विनय के सात भेद बतलाये हैं । वाचनिक विनय चार प्रकारकी बतलाई है और मानसिक विनय दो प्रकार बतलाई है ।।१९४८।।

७ प्रकार के कायिक विनय का स्वरूप—

अभ्युत्थानप्रणामोह्यासनदानं महागुरोः । पुस्तकादिप्रदानं च क्रियाकर्मत्रिभक्तिजम् ।।१९४९।।
स्वोच्चासनपरित्यागः पृष्टोनुव्रजनं कियत् । विनयाः कायिका एते सप्तभेदा वपुर्भवाः ।।१९५०।।

अर्थ—महा गुरुओं के आनेपर उठकर खड़े हो जाना, उनको प्रणाम करना, उनको आसन देना, पुस्तक देना, श्रुतभक्ति आदि तीनों भक्तियां पढ़कर उनकी वंदना करना उनके सामने अपने आसनको छोड़ देना, और उनके जाते समय थोड़ी दूर तक उनके पीछे जाना यह शरीर से होनेवाली सात प्रकार की कायिक विनय है ।।१९४९-१९५०।।

४ प्रकार के वाचनिक विनय का स्वरूप और धर्म वृद्धि का कारण—

हितभाषणमेकं च द्वितीयंमितभाषणम् । वचः परिमितं सूत्रानुवीचीभाषणं स्फुटम् ।।१९५१।।

वाचिका विनया एते चतुर्भेदा वचोभवाः । निरवद्याविधातारः स्वान्येषां धर्ममूर्जितम् ।।१९५२।।

अर्थ—हितरूप भाषण अर्थात् धर्मरूप वचन कहना, मित भाषण अर्थात् थोड़े अक्षरों में बहुत सा अर्थ हो ऐसे वचन कहना, परिमित भाषण अर्थात् कारण सहित वचन कहना और सूत्रानुवीची भाषण अर्थात् आगम के अविरुद्ध वचन कहना यह चार प्रकार की वाचनिक विनय है। जो मुनि इन चारों प्रकार की विनयों को निरवद्य (पापरहित) रीति से पालन करता है वह अपने और दूसरों के श्रेष्ठ धर्म को बढ़ाता है ।।१९५१-१९५२।।

२ प्रकार के मानसिक विनय का स्वरूप—

पापादानमनोरोधो धर्मध्यानप्रवर्तनम् । द्वेधेति विनयो ज्ञेयो द्विधामानसिकोऽमलः ।।१९५३।।

अर्थ—जिस मनसे पाप कर्मों का आस्रव होता है ऐसे मन को रोकना और अपने मनको धर्मध्यान में लगाना दो प्रकार की मानसिक विनय है। यह मानसिक विनय अत्यंत निर्मल है ।।१९५३।।

प्रणाम आदि के द्वारा अपने से बड़े का विनय करना चाहिये—

दीक्षाधिकयतीनां च तपोधिकमहात्मताम् । श्रुताधिकमुनीनां च सद्गुणाधिकयोगिनाम् ।।५४।।
दीक्षाशिक्षाश्रुतज्ञानगुरूणां यत्नतोऽनिशम् । कार्यः सर्वः प्रणामाद्यैः विनयोत्रैषसंयतैः ।।१९५५।।

अर्थ—जो मुनि अपने से अधिक कालके दीक्षित हैं, जो महात्मा बहुत अधिक तपस्वी हैं, जो मुनि अधिक श्रुतज्ञान को धारण करते हैं, जो मुनि अधिक गुणों को धारण करते हैं, जो दीक्षा गुरु हैं, शिक्षा के गुरु हैं, वा श्रुतज्ञान के गुरु हैं, उनके लिये प्रणाम आदि करके मुनियों को प्रतिदिन प्रयत्नपूर्वक सब तरह की विनय करनी चाहिये ।।१९५४-१९५५।।

अपने से छोटे को भी यथायोग्य विनय करना चाहिए—

दीक्षालघुतपोहीनस्वल्पश्रुताढ्ययोगिनाम् । यथायोग्य सदा कार्यो विनयो मुनिपुंगवैः ।।१९५६।।

अर्थ—जो मुनि दीक्षा से छोटे हैं, जो तपश्चरण में भी अपने से हीन हैं और जो थोड़े से श्रुतज्ञानको धारण करते हैं ऐसे मुनियों के लिये भी श्रेष्ठ मुनियों को यथायोग्य रीति से सदा विनय करते रहना चाहिये ।।१९५६।।

आर्यिका और श्रावक का भी यथायोग्य विनय करने चाहिये—

आर्यिकाश्राविकादीनां ज्ञान धर्मादिदेशनैः । जिनमार्गानुरागेण यथार्हः कार्य एव सः ।।१९५७।।

अर्थ—इसी प्रकार मुनियों को ज्ञान वा धर्मादिक का उपदेश देकर वा जिन मार्ग में अनुराग कर अर्जिका और श्रावकों का विनय भी यथायोग्य रीति से करते रहना चाहिये ॥१९५७॥

चतुसंघ का यथायोग्य विनय की प्रेरणा—

सर्वथा विनयो दक्षैः कर्तव्यः कार्यसाधकः । चातुर्वर्णस्वसंघानांयथायोग्यो हितंकरः ॥१९५८॥

अर्थ—चतुर पुरुषों को चारों प्रकार के संघ का विनय यथायोग्य रीति से सर्वथा करते रहना चाहिये । क्योंकि यह विनय समस्त कार्यों को सिद्ध करनेवाला है और सबका हित करनेवाला है ॥१९५८॥

विनय रहित जीव के शिक्षा निरर्थक है—

यतो विनय हीनानां शिक्षानिरर्थिकाखिला । श्रुतादिपठनं व्यर्थमकीर्तिवंर्द्ध तेतराम् ॥१९५९॥

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष विनय रहित हैं उनकी समस्त शिक्षा निरर्थक समझनी चाहिये तथा उनका शास्त्रादिक का पढ़ना भी व्यर्थ समझना चाहिये । इसके सिवाय अविनयी पुरुषों की अपकीर्ति सदा बढ़ती रहती है ॥१९५९॥

विनय रूपी जहाजपर बैठकर ही आगम रूपी महासागर को पार करते हैं—

महाविनयपोतेनगम्भीरमागमार्णवम् । भवाम्बुधिं च दुस्तीरं तरन्तियमिनोऽचिरात् ॥१९६०॥

अर्थ—मुनिलोग इस महा विनय रूपी जहाजपर बैठकर अत्यन्त गम्भीर ऐसे आगमरूपी महासागर को बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं तथा अत्यन्त कठिन ऐसे संसार-रूपी समुद्र को भी बहुत शीघ्र पार कर लेते हैं ॥१९६०॥

विनय से अनेक गुणों की प्राप्ति होती है—

विद्याविवेक कौशल्यशमाद्याः प्रवरा गुणाः । विनायासेन जायन्ते विश्वे विनयशालिनाम् ॥६१॥
विनयोत्था महाकीर्तिःप्रसर्पति जगत्त्रयम् । उत्पद्यते पराबुद्धिः सतां विश्वार्थदीपिका ॥१९६२॥
स्वसंघे मान्यतां पूजां ख्यातिं च स्तवनादिकान् । तपोरत्नत्रयं शुद्धं लभन्ते विनयांकिताः ॥६३॥
चतुराराधनांमैत्रीं क्षान्त्याजवादिलक्षणान् । मनोवाक्कायसंशुद्धीः श्रयन्ति विनयाद्बुधाः ॥६४॥
विनयाचारिणां नूनं शत्रुर्गच्छेत्सुमित्रताम् । उपसर्गाविलोयन्तेढौकन्तेत्रिजगच्छ्रियः ॥१९६५॥
अहोसद्विनयाकृष्टा मुक्तिस्त्री योगिनांस्वयम् । एत्यात्रालिंगनंदत्ते का कथामरयोषिताम् ॥६६॥
इत्यादिप्रवरं ज्ञात्वा विनयस्य फलं विदः । कुर्वन्तुसर्वसंघानां मुक्तये विनयं सदा ॥१९६७॥

अर्थ—विनय धारण करनेवाले पुरुषों के विद्या विवेक, कुशलता और उपशम

आदि अनेक उत्तम गुण बिना ही परिश्रम के अपने आप आ जाते हैं। इस विनय से उत्पन्न होनेवाली महा कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है तथा इसी विनय से सज्जनों के समस्त पदार्थों को जानने वाली सर्वोत्कृष्ट बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। विनय धारण करनेवाले मुनियों को अपने संघ में भी मान वा आदर सत्कार मिलता है, बड़प्पन मिलता है, कीर्ति मिलती है, सब लोक उनकी स्तुति करते हैं तथा विनय से मुनियोंको शुद्ध तपश्चरण और शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति होती है। विद्वान् पुरुषोंको इस विनय से ही चारों आराधनाओं की प्राप्ति होती है, मैत्री प्रमोद आदि गुण प्रगट होते हैं, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि गुण प्रगट होते हैं और मन-वचन-कायकी शुद्धता प्राप्त होती है। विनय करने वालों के शत्रु भी मित्र बन जाते हैं, उपसर्ग सब उनके नष्ट हो जाते हैं और उनको तीनों लोकों की लक्ष्मी आकर प्राप्त हो जाती हैं। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि इस श्रेष्ठ विनयसे अपने आप खिंची हुई मुक्तिरूपी स्त्री स्वयं आकर मुनियों को आलिंगन देती है। फिर भला देवांगनाओं की तो बात ही क्या है। इसप्रकार इस विनय का अत्यन्त श्रेष्ठ फल जानकर चतुर पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त संघ की सदा विनय करते रहना चाहिये ।।१६६१-१६६७।।

वैयावृत्य का स्वरूप—

आचार्यपाठकेषुस्थविरप्रवर्तकेषु च । शक्त्या गणधरेष्वत्रगच्छें वालेतराकुले ।।१६६८।।
कायपिण्डादिदुर्ध्यानहान्यै सद्ध्यानवृद्धये । सुश्रूषाक्रियतेयान्यैर्वैयावृत्यं तदुच्यते ।।१६६९।।

अर्थ—जो मुनि अशुभ ध्यान को नाश करने के लिये और श्रेष्ठ ध्यान की वृद्धि के लिये आचार्य उपाध्याय वृद्ध मुनि प्रवर्तक आचार्य और गणधर आदि महा मुनियों को तथा बाल मुनि वा वृद्ध मुनियों के कारण व्याकुल रहनेवाले गच्छ वा संघ को आहार औषधि आदि देकर तथा अन्य अनेक प्रकार से उनकी सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्य कहलाता है ।।१६६८-१६६९।।

दश प्रकार के मुनि का स्वरूप और १० प्रकार की वैयावृत्य का स्वरूप—

षट्त्रिंशद्गुणपंचाचारान्विताः सूरयोऽद्भुताः । पाठकाः सर्वपूर्वांगपारगाः पाठनोद्यताः ।।७०।।
सर्वतोभद्रघोरादितपसश्चतपस्विनः । सिद्धान्तशिक्षणोद्युक्ताः शिष्यकाः मुक्तिमार्गगाः ।।१६७१।।
रुजादिव्याप्तसर्वांगा ग्लाना व्रतगुणच्युताः । समवायोगणोभ्यर्च्यो बालवृद्धादियोगिनाम् ।।७२।।
आचार्यस्य च शिष्यस्यस्वाम्नायः कुलमुत्तमम् । ऋष्यादिश्रमणानां निवहः संघश्चतुर्विधः ।।७३।।
त्रिकालयोगधातारः साधवोमुक्तिसाधकाः । आचार्यसाधुसंघानां प्रियोमनोज्ञ ऊर्जितः ।।१६७४।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Nariá, Varanasi

अमीषां दशभेदानां रोगक्लेशादिकारणे । संजाते सति कर्तव्यं वैयावृत्यं दशात्मकम् ।।१९७५।।

अर्थ—जो आचार्यों के छत्तीस गुण और पंचाचारों का पालन करते हैं उनको उत्कृष्ट आचार्य कहते हैं, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पारगामी हैं तथा शिष्यों के पढ़ाने में सदा तत्पर रहते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं । जो सर्वतोभद्र आदि घोर तपश्चरण करते हैं उनको तपस्वी कहते हैं । जो सिद्धांतशास्त्रोंके पढ़ने में तत्पर हैं और मोक्षमार्ग में लगे हुए हैं उनको शैक्ष्य कहते हैं । जिनका शरीर किसी रोग से रोगी हो रहा है तथा जो अपने व्रत रूपी गुणों से च्युत नहीं हैं उनको ग्लान कहते हैं । बाल और वृद्ध मुनियों के पूज्य समुदाय को गण कहते हैं । आचार्यों के शिष्यों की परम्परा को उत्तम कुल कहते हैं । ऋषि मुनि यति और अनगार इन चारों प्रकार के मुनियोंके समुदाय को संघ कहते हैं । जो मुनि त्रिकाल योग धारण करते हैं और मोक्षकी सिद्धि में लगे रहते हैं उनको साधु कहते हैं । जो आचार्य साधु और संघ को प्रिय हों उनको उत्तम मनोज्ञ कहते हैं । ये दश प्रकार के मुनि होते हैं । इनके लिये रोग क्लेश आदि का कारण आ जानेपर उन सबका वैयावृत्य करना सेवा सुश्रूषा करना दश प्रकार का वैयावृत्य कहलाता है ।।१९७०-१९७५।।

अनेक प्रकार की वैयावृत्य करने की प्रेरणा—

पादादिमर्दनैर्दक्षैः सुश्रूषाकरणादिभिः । धर्मोपदेशनैश्चान्यैर्विण्मूत्राद्यपकर्षणैः ।।१९७६।।
दुर्मार्गश्रमखिन्नानां चौरभूपारिदुर्जनैः । सिंहादिजोपसर्गैश्चपीडितानां सुयोगिनाम् ।।१९७७।।
संग्रहानुग्रहैर्दानैरक्षणैःपालनादिभिः । वैयावृत्यं विधातव्यं धर्मबुद्ध्यासमाधये ।।१९७८।।

अर्थ—जो मुनि कंकरीले वा ऊंचे नीचे मार्ग में चलने के कारण खेद खिन्न हो रहे हैं अथवा जो किसी चोर वा राजा वा शत्रु वा दुष्ट अथवा सिंह आदि के उपसर्ग से अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, ऐसे मुनियों के पांव दाबना सेवा सुश्रूषा करना उनको धर्मोपदेश देना उनका भिष्ठा, मूत्र, कफ आदि हटाना उनको अपने पास रखना उनका अनुग्रह करना, उनकी रक्षा करना, आवश्यकतानुसार उनको उपकरण देना, उनके निर्वाह का प्रबन्ध कर देना आदि अनेक प्रकार का वैयावृत्य चतुर पुरुषों को ध्यानकी प्राप्ति के लिये केवल धर्म बुद्धि से सदा करते रहना चाहिये ।।१९७६-१९७८।।

पुनः वैयावृत्य का स्वरूप—

तपोदृग्ज्ञान चारित्र ध्यानाध्ययनकर्मसु । पुस्तकादिसुदानैश्चव्याख्याधर्मोपदेशनैः ।।१९७९।।
यत्साह्यकरणंयुक्त्यै साधर्मिणां विधीयते । निराकांक्षतया सर्वं वैयावृत्यं तदुच्यते ।।१९८०।।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप, ध्यान, अध्ययन आदि सार्धर्मियोंके कार्य के लिये पुस्तक आदि उपकरणों को देना, शास्त्रोंकी व्याख्या करना, धर्मोपदेश देना तथा युक्ति पूर्वक और भी सार्धर्मियों की सहायता करना तथा वह सहायता बिना किसी बदले की इच्छा के करना सो सब वैयावृत्य कहलाता है। ।।१९७९-१९८०।।

वैयावृत्य करने का फल—

वैयावृत्यविधातृणां विचिकित्सापरिक्षयः। तीर्थंकरादिसत्पुण्यंयशःस्वसंघमान्यता ।।१९८१।।
रत्नत्रयविशुद्धिःप्रवचनस्य च जायते। वत्सलत्वं तपोवृद्धिः परोपकार ऊर्जितः ।।१९८२।।
आचार्यपाठकादीनां वैयावृत्येन संभवेत्। धर्मध्यानं मनः स्वस्थं पीडादुर्ध्याननाशनम् ।।१९८३।।

अर्थ—वैयावृत्य करने वालों के विचिकित्सा का सर्वथा नाश हो जाता है अर्थात् निर्विचिकित्सा अंगका पूर्ण पालन होता है, तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य का बंध होता है समस्त संसार में यश फैलता है, अपने संघ में मान्यता बढ़ती है, रत्नत्रय की विशुद्धि होती हैं, साधर्मी जनों के साथ अत्यन्त प्रेम बढ़ता है, तपश्चरण की वृद्धि होती है और सर्वोत्कृष्ट परोपकार होता है। आचार्य वा उपाध्याय आदि की वैयावृत्य करने से धर्मध्यान उत्पन्न होता है मन निराकुल होता है तथा पीड़ा और दुर्ध्यान का सर्वथा नाश हो जाता है ।।१९८१-१९८३।।

वैयावृत्य करने की प्रेरणा—

इत्यत्र स्वान्ययोर्मत्वा वैयावृत्यं हितं महत्। सबलाः सर्वशक्तास्वेनान्यैः कुर्वंतुशुद्धये ।।१९८४।।

अर्थ—इसप्रकार वैयावृत्य के करने से अपना भी महा हित होता है और अन्य जीवों का भी महा हित होता है। यही समझकर बलवान और पूर्ण शक्तिशाली पुरुषों को अपना आत्मा शुद्ध करने के लिये स्वयं वैयावृत्य करना चाहिये और दूसरों से भी वैयावृत्य कराते रहना चाहिये ।।१९८४।।

स्वाध्याय तपका स्वरूप उसके भेद—

स्वस्य वा परभव्यानां हितोध्यायो विधीयते। ज्ञानिभिर्योघघाताय स स्वाध्यायोगुणाकरः ।।८५।।
वाचनापृच्छनाख्योऽनुप्रेक्षाथाम्नायऊर्जितः। धर्मोपदेशएवेति स्वाध्यायः पंचधा मतः ।।१९८६।।

अर्थ—जो ज्ञानी पुरुष अपना पाप नाश करने के लिये अपने आत्मा का हित करने के लिये तथा अन्य भव्य जीवों का हित करने के लिये सिद्धांत आदि ग्रंथों का

पठन-पाठन करते हैं उसको गुणों की खानि स्वाध्याय कहते हैं। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, श्रेष्ठ आम्नाय और धर्मोपदेश ये पांच स्वाध्याय के भेद हैं ।।१९८५-१९८६।।

वाचना नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

अंगपूर्वादिशास्त्राणां यथातथ्येन मुक्तये । व्याख्यानंक्रियतेयस्ययत्सतां वाचनात्र सा ।।१९८७।।

अर्थ— जो मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये सज्जनों को अंग पूर्व आदि शास्त्रों का यथार्थ व्याख्यान करते हैं उसको वाचना नामका स्वाध्याय कहते हैं ।।१९८७।।

पृच्छना नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

सन्देह हानयेन्येषां पार्श्वे प्रश्नं विधीयते । सिद्धातार्थंमहागूढं श्रूयते पृच्छनात्र सा ।।१९८८।।

अर्थ—अपना सन्देह दूर करने के लिये किसी अन्य के पास जाकर प्रश्न पूछना अथवा महागूढ़ सिद्धांतशास्त्रों के अर्थ को सुनना पृच्छना नामका स्वाध्याय है ।।१९८८।।

अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

तप्तायः पिंडसादृश्येनैकाग्रार्पित चेतसा । अभ्यासोधीतशास्त्राणां योनुप्रेक्षात्रसोत्तमा ।।१९८९।।

अर्थ—तपाये हुए लोहे के गोले के समान एकाग्रचित्तसे पढ़े हुए शास्त्रों का बार-बार अभ्यास करना उत्तम अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय कहलाता है ।।१९८९।।

आम्नाय नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

द्रुतलंवितमात्रादिच्युतदोषातिगं च यत् । परिवर्तनमभ्यस्तागमस्याम्नाय एव सः ।।१९९०।।

अर्थ—पढ़े हुए शास्त्रों का बार-बार पाठ करना और ऐसा पाठ करना जो न तो धीरे-धीरे हो, न जल्दी हो और न अक्षर मात्रा आदि से रहित हो ऐसे पाठ करने को आम्नाय नामका स्वाध्याय कहते हैं ।।१९९०।।

धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय का स्वरूप—

ख्यातिपूजादिलाभादीन् विना तीर्थंकृतांसताम् । सत्कथाख्यापनं यच्च धर्मोपदेश एव सः ।।९१।।

अर्थ—अपनी कीर्ति बड़प्पन वा लाभ आदि की इच्छाके बिना तीर्थंकर आदि सज्जन पुरुषोंको कथा का कहना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय कहलाता है ।।१९९१।।

५ प्रकार की स्वाध्याय करने की प्रेरणा—

इत्येवं पंचधा दक्षैः स्वाध्यायोविश्वदीपकः । कर्तव्यः प्रत्यहं सिद्धचै स्वान्येषां हितकारकः ।।९२।।

अर्थ—इसप्रकार यह पांच प्रकार का स्वाध्याय अपना और दूसरों का हित करनेवाला है और समस्त तत्त्वों के स्वरूप को दिखलाने के लिये दीपक के समान है। इसलिये चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये। ।।१९९२।।

स्वाध्याय ही परम तप और इसके फल का निरूपण—

समस्ततपसां मध्ये स्वाध्यायेन समं तपः। परंनास्ति न भूतं न भविष्यति विदांक्वचित् ।।९३।।
यतः स्वाध्यायमत्यर्थं कुर्वतां निग्रहो भवेत्। पंचाक्षाणांत्रिगुप्तश्चसंवरो निर्जरा शिवम् ।।९४।।
स्वाध्यायेनात्र जायेत योगशुद्धिश्चयोगिनाम्। तथा शुक्लं महाध्यानं ध्यानाद्यातिविघक्षयः ।९५।
तद्घातात्केवलज्ञानं लोकालोकार्थदीपकम्। शक्रादिपूजनं तस्माद्गमनं मुक्ति धामनि ।।१९९६।।
इत्यादि परमं ज्ञात्वाफलमस्य विदोन्वहम्। निष्प्रमादेन कुर्वंतु स्वाध्यायं शिवशर्मणे ।।१९९७।।

अर्थ—समस्त तपश्चरणों में विद्वान् पुरुषों को इस स्वाध्याय के समान न तो अन्य कोई तप आज तक हुआ है, न है, और न आगे होगा। इसका भी कारण यह है कि स्वाध्याय करने वालों के पंचेन्द्रियों का निरोध अच्छी तरह होता है तथा तीनों गुप्तियों का पालन होता है और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस स्वाध्याय से ही मुनियों के योगों की शुद्धि होती है, तथा महाशुक्लध्यान प्राप्त होता है, शुक्लध्यान से घातिया कर्मों का नाश होता है, घातिया कर्मोंके नाश होने से लोक अलोक सबको प्रगट करनेवाला केवलज्ञान प्रगट होता है, केवलज्ञान के होने से इन्द्र भी आकर पूजा करता है तथा अंत में मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसप्रकार इस स्वाध्याय का सर्वोत्कृष्ट फल समझकर विद्वान् पुरुषों को मोक्षके सुख प्राप्त करने के लिये प्रमाद छोड़कर प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये ।।१९९३-१९९७।।

उत्तम कायोत्सर्ग का स्वरूप—

बाह्याभ्यन्तरसंगाश्च त्यक्त्वामा वपुषासताम्। ध्यानपूर्वास्थितिर्यात्र कायोत्सर्गः स उत्तमः ।९८।
आवश्यकाधिकारेप्राक् तस्य लक्षणमंजसा। गुणदोषादिकं प्रोक्तं व्यासेन न व्रुवेधुना ।।१९९९।।

अर्थ—बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहों का त्याग कर तथा शरीर का ममत्व छोड़कर सज्जन पुरुष जो ध्यान पूर्वक स्थिर विराजमान होते हैं उसको उत्तम कायोत्सर्ग कहते हैं। आवश्यकों के अधिकार में पहले विस्तार के साथ इसका लक्षण तथा इसके गुण दोष आदि सब कह चुके हैं। इसलिये अब यहांपर नहीं कहते हैं ।।१९९८-१९९९।।

ध्यान का स्वरूप और उसके भेद—

एकाग्रचेतसायोत्र चिन्त्यते द्रव्यसंग्रहः । वहिश्चिन्ताविनिष्क्रान्तस्तद्धयानमुच्यते बुधैः ॥२०००॥
अप्रशस्तप्रशस्ताभ्यां द्विधाध्यानं तदिष्यते । आर्तरौद्रद्विभेदाभ्यामप्रशस्तं द्विधामतम् ॥२००१॥
धर्मशुक्लप्रकाराभ्यां प्रशस्तमपि धर्मिणाम् । ध्यानं जिनैर्द्विधाम्नातं नानाभेदयुतं च तत् ॥२००२॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष जो अन्य समस्त चितवनों को रोककर एकाग्रचित्तसे द्रव्यों के समूह का चितवन करते हैं उसको ध्यान कहते हैं। उस ध्यान के दो भेद हैं एक अप्रशस्त वा अशुभ ध्यान और दूसरा प्रशस्त वा शुभध्यान। उसमें भी अप्रशस्त ध्यानके भी आर्तध्यान और रौद्रध्यानके भेद से दो भेद कहे जाते हैं। भगवान जिनेन्द्रदेव ने धर्मात्माओं के लिये शुभध्यान के भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो भेद बतलाये हैं। तथा इनके भी फिर अनेक भेद होते हैं ॥२०००-२००२॥

अप्रशस्त आर्तध्यान का स्वरूप एवं उसके भेद—

बाह्याध्यात्मिक भेदाभ्यामार्तध्यानंद्विधाभवेत् । शोचनाक्रन्दनम्लानमुखादिवाह्यमुच्यते ॥२००३॥
अन्तस्तीव्राधिकालुष्यकरमाध्यात्मिकं च तत् । आद्यमनिष्टसंयोगसंज्ञमिष्टवियोगजम् ॥२००४॥
पीडाचिन्तननामाथनिदानकरणाभिधम् । इत्यार्त्तध्यानमाप्तैश्चचतुर्भेदमुदाहृतम् ॥२००५॥

अर्थ—इनमें से आर्तध्यान के भी बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो भेद होते हैं। शोक करना, रोना, मुख को मलिन करना आदि बाह्य आर्तध्यान कहलाता है। जो अंतरंग में अधिक तीव्र कलुषता करनेवाला है उसको अभ्यंतर आर्तध्यान कहते हैं। अनिष्टसंयोग से होनेवाला, इष्टवियोग से होनेवाला, रोग वा दुःख के चितवन से होने वाला और निदान करना इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने आर्तध्यान के चार भेद बतलाये हैं ॥२००३-२००५॥

प्रथम अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान का स्वरूप—

सर्पसिंहारि चौरादिकंटकाग्निदुरात्मनाम् । अन्येषां चामनोज्ञानांसंयोगेसतिभूतले ॥२००६॥
तद्वियोगायसंक्लेशमनसाचिन्तनंमुहुः । क्रियते क्लेशिभिर्यत्तदार्तमाद्यमघाकरम् ॥२००७॥

अर्थ—सर्प, सिंह, शत्रु, चोर, कांटा, अग्नि, दुष्ट तथा और अच्छे न लगने वाले अनिष्ट पदार्थों का संयोग होनेपर मनमें संक्लेश परिणाम धारण कर उसको दूर करने के लिये बार-बार चितवन करना अनिष्ट संयोगज नामका पहला आर्तध्यान है। यह दुःखी लोगों के होता है और पाप उत्पन्न करनेवाला है ॥२००६-२००७॥

द्वितीय इष्ट वियोगज आर्तध्यान का स्वरूप—

इष्टपुत्रकलत्रादिराजवन्धुजनात्मनाम् । मनोज्ञानांवियोगेत्रसति क्लेशात्तमानसैः ॥२००८॥
तत्संयोगाय यच्चाध्यवसानं हि विधीयते । लोभिभिप्रत्यहं तत्स्यादार्त्तमिष्टवियोगजम् ॥२००९॥

अर्थ—इष्ट पुत्र स्त्री राज्य भाई आदि मनोज्ञ पदार्थों का वियोग होनेपर लोभी पुरुष जो मनमें क्लेश उत्पन्न कर उनके संयोग के प्रतिदिन बार-बार चिंतवन करते हैं उसको इष्ट वियोगज नामका दूसरा आर्तध्यान कहते हैं ॥२००८-२००९॥

तीसरे पीड़ा चिन्तवन नामक आर्तध्यान का स्वरूप—

वातपित्तज्वरादीनां कुष्ठशूलरुजांसति । प्रादुर्भावे प्रतीकारशतैः क्लेशात्त चेतसा ॥२०१०॥
दुःखिभिस्तद्विनाशंयदन्वहंचिन्त्यतेभुवि । आरोग्यं च तदार्त्तः स्यात्पीडाचिन्तनसंज्ञकम् ॥२०११॥

अर्थ—पित्तज्वर, वातज्वर, कोढ़, शूल आदि रोगों के उत्पन्न होनेपर दुःखी पुरुष अपने चित्तमें क्लेश उत्पन्न कर सैंकड़ों उपायों के द्वारा प्रतिदिन जो उन रोगों के नाश होने का चिंतवन करते हैं अथवा नीरोग होने का चिंतवन करते हैं उसको पीड़ा चिंतवन नामका आर्तध्यान कहते हैं ॥२०१०-२०११॥

चौथे निदान नामक आर्तध्यान का स्वरूप—

तपश्चारित्रदानार्चोधर्मध्यानादिकान् वहून् । कृत्वा तेषां फलेनात्रपुत्रनार्यादिसम्पदाम् ॥२०१२॥
अमुत्रस्वर्गराज्यादिभोगानांस्वस्यरागिभिः । आकांक्षाकरणं यत्तदार्त्तं निदाननामकम् ॥२०१३॥

अर्थ—जो रागी पुरुष तप, चारित्र, दान, पूजा, धर्मध्यान आदि बहुत सा धर्म सेवन कर उसके फल से इस लोक में पुत्र स्त्री धन आदि संपदाओं की इच्छा करते हैं तथा भविष्य में स्वर्ग राज्य आदि के भोगों की आकांक्षा करते हैं उसको निदान नाम का आर्तध्यान कहते हैं ॥२०१२-२०१३॥

ध्यान, ध्याता, ध्येय और फल के भेद से आर्तध्यान के चार भेद एवं उनका स्वरूप—

ध्यानंध्येयं तथा ध्याता फलमस्यभवेद्भुवि । अप्रशस्तमनोवृत्ति ध्यानंनिद्यं चतुर्विधम् ॥२०१४॥
अप्रशस्त जगद्वस्तु ध्येयमस्याशुभाकरम् । कषायकलुषीभूतोध्याताक्लेशशताकुलः ॥२०१५॥
विश्वसंक्लेशसंपूर्णं तिर्यग्गतिकरं फलम् । मिथ्यादृशामति क्लेशात्सदृष्टीनां च तद्व्ययात् ॥१६॥
त्रिदुर्लेश्यावलाधानमन्तर्मुहूर्तंकालजम् । अयत्नजनितं चैतन्नृणां दुःखादिकारणम् ॥२०१७॥

अर्थ—यह ध्यान, ध्याता, ध्येय और फल के भेद से चार प्रकार का होता है । इस चारों प्रकार के आर्तध्यान में मन की प्रवृत्ति अत्यंत अशुभ होती है, इसलिये

यह ध्यान निंद्य कहलाता है। अशुभ करनेवाली संसार की अशुभ वस्तु ही इसका ध्येय है, सैंकड़ों क्लेशों से व्याकुल हुआ और कषायों से कलुषित हुआ आत्मा ही इसका ध्याता है और समस्त क्लेशों से भरा हुआ तिर्यंचगति का प्राप्त होना ही इसका फल है। मिथ्यादृष्टियों के अत्यंत क्लेश से यह ध्यान होता है। तथा सम्यग्दृष्टियों के बिना क्लेशके होता है। यह आर्तध्यान कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, अंतर्मुहूर्त इसका समय है, मनुष्यों के बिना ही यत्न के यह उत्पन्न होता है और दुःखादिक का होना ही इसका कारण है ।।२०१४-२०१७।।

आर्तध्यान का स्वामी एवं उससे उत्पन्न दोष का वर्णन

क्षायोपशमिको भावो दुष्प्रमादावलम्बनम् । दुध्यानानाममीषां स्याद्भवभ्रमणकारिणाम् ।।१८।।
उत्कृष्टं ध्यानमेतद्गुणस्थाने प्रथमे भवेत् । प्रमत्ताख्ये जघन्यं च तयोर्मध्येषुमध्यमम् ।।२०१९।।
निसर्गजनितं निंद्यं पूर्वसंस्कारयोगतः । विश्वदुःखाकरीभूत कृत्स्नपापनिबंधनम् ।।२०२०।।
समाधि धर्मशुक्लादिहंतृ दुर्ध्यानमंजसा । त्यजन्तु दुस्त्यजं दक्षा धर्मध्यानबलात्सदा ।।२०२१।।

अर्थ—संसार में परिभ्रमण कराने वाले इन सब दुर्ध्यानों में क्षायोपशमिक भाव होता है और अशुभ प्रमाद ही इनका अवलंबन होता है। यह आर्तध्यान उत्कृष्टता से पहले गुणस्थान में होता है, प्रमत्त नामके छठे गुणस्थान में जघन्य होता है और बाकी के गुणस्थानों में मध्यम होता है। यह आर्तध्यान पहले के संस्कारों के निमित्त से स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, निंद्य है, समस्त दुःखों की खानि है और समस्त पापों का कारण है। यह आर्तध्यान, अशुभध्यान है और समाधि, धर्मध्यान शुक्लध्यान को नाश करनेवाला है अतएव चतुर पुरुषों को धर्मध्यान के बल से इस कठिनता से छूटने योग्य आर्तध्यान को सदा के लिये छोड़ देना चाहिये ।।२०१८-२०२१।।

रौद्रध्यान का स्वरूप एवं उसके भेद—

रौद्रध्यानमपिद्वेधा बाह्याध्यात्मिकभेदतः । रक्ताक्षनिष्ठुराक्रोशनिर्भर्त्सनादिलक्षणम् ।।२०२२।।
वधबन्धान्यपीडादिकरं बाह्यमनेकधा । अन्तर्मथनशीलं स्वसंवेद्याध्यात्मिकमतम् ।।२०२३।।

अर्थ—आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी बाह्य और आभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं, लाल नेत्र होना, कठिन बचन कहना, किसी की निंदा करना, किसी का तिरस्कार करना, किसी को मारना वा बांधना वा और भी किसी प्रकार की पीड़ा देना बाह्य रौद्रध्यान है और वह अनेक प्रकार का है। जो अंतरंग में पीड़ा उत्पन्न करता रहे तथा किसी को मालूम न हो उसको अभ्यन्तर रौद्रध्यान कहते हैं।

।।२०२२-२०२३।।

रौद्रध्यान के अन्य ४ भेद—

हिंसानन्दंमृषानन्दंस्तेयानन्दंसमाह्वयम् । विषयाद्यंतसंरक्षणानन्दंतच्चतुर्विधम् ।।२०२४।।

अर्थ—हिंसानंद, मृषानंद, स्तेयानंद और विषय संरक्षणानंद के भेद से इस रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं ।।२०२४।।

हिंसानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

हिंसायां परपीडायां संरम्भाद्यैः कदर्थनैः । संकल्पकरणंयद्वा बाधितेष्वांगिराशिषु ।।२०२५।।
कलौहर्षश्चसंग्रामे जयाजयादिचिन्तनम् । तद् धियां समस्तं च हिंसानन्दं प्ररूपितम् ।।२०२६।।

अर्थ—हिंसा में आनंद मानना, दूसरे की पीड़ा में आनंद मानना, जीवों के छिन्न-भिन्न करने का संकल्प करना, अथवा किसी ऐसे काम का संकल्प करना जिसमें जीवघात होता हो, अथवा जीवोंकी राशिके घात होनेपर आनंद मानना, कलहमें आनंद मानना, युद्ध में जीत हार का चितवन करना आदि रूपसे जो दुर्बुद्धियों के ध्यान होता है उसको हिंसानंद नामका ध्यान कहते हैं ।।२०२५-२०२६।।

मृषानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

दुर्बुद्धिकल्पनायुक्त्यापरवंचनहेतवे । ब्रूयतेयन्मृषावादंपरवंचनपंडितैः ।।२०२७।।
मृषावादेऽथवा प्रोक्ते केनचित्कटुकाक्षरैः । हृदानुमननंयत्तन्मृषानन्दंकिलाखिलम् ।।२०२८।।

अर्थ—दूसरों को ठगने में अत्यंत चतुर पुरुष दूसरों को ठगने के लिये अपनी दुर्बुद्धि की कल्पना और युक्ति से जो मिथ्या वचन बोलते हैं अथवा कोई अन्य पुरुष कड़वे शब्दों से मिथ्या वचन कहते हैं उसमें जो हृदयसे अनुमोदना करते हैं उस सबको मृषानंद नामका रौद्रध्यान कहते हैं ।२०२७-२०२८।।

स्तेयानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

परश्रीः स्त्रीसुवस्त्वादिहरणे लोभिभिर्भृशम् । संकल्पः क्रियते चित्ते योशुभोवात्रतस्करैः ।।२९।।
नीतेसतिपरद्रव्ये घनेवृथानुमोदनम् । रौद्रध्यानं च तत्सर्वंस्तेयानन्दमघप्रदम् ।।२०३०।।

अर्थ—जो लोभी वा चोर दूसरों की लक्ष्मी, स्त्री वा अच्छी वस्तुओं के हरण करने के लिये अपने चित्त में अशुभ संकल्प करते हैं अथवा कोई बहुत सा द्रव्य मार लाया हो उसकी अनुमोदना करते हैं उस सबको पाप उत्पन्न करनेवाला स्तेयानंद नाम का रौद्रध्यान कहते हैं ।।२०२९-२०३०।।

विषय संरक्षणानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप—

मदीया वस्तुसद्राज्यरामासेनादिसम्पदः । यो हरेत्तं दुरात्मानं हन्मि पौरुषयोगतः ।।२०३१।।
इतिस्ववस्तुरक्षायांसंकल्पकरणंहृदि । दुर्धियां तत्समस्तं विषयसंरक्षणाभिधम् ।।२०३२।।

अर्थ—"ये पदार्थ, यह राज्य, यह सेना, यह स्त्री और यह सम्पत्ति सब मेरी है जो दुरात्मा इसे हरण करेगा उसे मैं अपने पुरुषार्थ से मारूंगा" इसप्रकार दुर्बुद्धि लोग अपने पदार्थों की रक्षा करने के लिये अपने हृदय में संकल्प करते हैं, वह सब विषयसंरक्षणानंद नामका रौद्रध्यान कहलाता है ।।२०३१-२०३२।।

रौद्रध्यान के ध्यानादि के भेद से चार प्रकार एवं उनका लक्षण—

ध्यानं ध्येयंभवेद्ध्याताफलमस्यशठात्मनाम् । ध्यानमध्यवसानं च रौद्रं वाक्चित्तकायजम् ।।३३।।
ध्येयंलोकत्रयोद्भूतं रौद्रवस्तुकदम्बकम् । रौद्रस्तीव्रकषायीस्याद्ध्यातास्याद्रक्तलोचनः ।।२०३४।।
अनन्तदुःखसन्तापपूरितं नरकप्रदम् । बहुसागरपर्यंतंफलमस्यदुरात्मनाम् ।।२०३५।।

अर्थ—इस रौद्रध्यान के भी ध्यान, ध्येय, ध्याता और फल के भेद से चार भेद होते हैं । मूर्ख लोगों के रुद्ररूप मन-वचन-कायसे जो चिंतवन होता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं । तीनों लोकों में उत्पन्न हुये रौद्रपदार्थों के समूह ही इसके ध्येय हैं तथा तीव्र कषाय और लाल नेत्रों को धारण करनेवाला रौद्र परिणामी जीव इसका ध्याता होता है । उन दुष्टों को अत्यन्त दुःख और संताप से भरे हुए नरक में अनेक सागर पर्यंत डाल रखना इसका फल है ।।२०३३-२०३५।।

रौद्रध्यान की सामग्री और उसके स्वामी का कथन—

उत्कृष्टाशुभलेश्यात्रयावलाधानमस्य च । भाव औदयिकोनिंद्यः क्षायोपशमिकोथवा ।।२०३६।।
दशपंचप्रमादाधिष्ठानं कषायजृम्भणम् । अन्तर्मुहूर्तकालश्च चतुर्विधस्य नान्यथा ।।२०३७।।
आदिमे च गुणस्थानेत्रैतदुत्कृष्टमंजसा । जघन्यं पंचमेस्याद्द्वित्रचतुर्थे च मध्यमम् ।।२०३८।।

अर्थ—इस ध्यानमें उत्कृष्ट अशुभ लेश्याएं होती हैं । इसका समय अंतर्मुहूर्त है, भाव निंद्य औदयिक है अथवा क्षायोपशमिक है, पन्द्रह प्रमाद ही इनका आधार है, कषायों से यह उत्पन्न होता है । इसप्रकार इन चारों प्रकार के रौद्रध्यान की सामग्री है । पहले गुणस्थान में उत्कृष्ट और पंचम गुणस्थान में जघन्य होता है और दूसरे तीसरे चौथे में मध्यम होता है ।।२०३६-२०३८।।

रौद्रध्यान से उत्पन्न दोष और इसे त्यागने की प्रेरणा—

रौद्रकर्मभवं रौद्रकर्मभावनिवन्धनम् । रौद्रदुःखंकरं रौद्रगतिदंरौद्रंयोगजम् ।।२०३९।।

रौद्रपापारिसन्तानं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् । त्याज्यं सर्वत्र यत्नेन धर्मध्यानेनधर्मिभिः ।।२०४०।।

अर्थ—यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान रौद्रकर्मों से उत्पन्न होता है, रौद्रकर्म और रौद्रभावों का कारण है, रौद्र वा भयानक दुःख उत्पन्न करनेवाला है, नरकादिक रौद्रगति में उत्पन्न करानेवाला है, रौद्ररूप मन-वचन-कायसे उत्पन्न होता है और रौद्ररूप पाप शत्रुओंको उत्पन्न करनेवाला है। इसप्रकार का यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान धर्मात्मा पुरुषों को धर्मध्यान धारण कर बड़े प्रयत्न से सर्वत्र छोड़ देना चाहिये। सब जगह इसका त्याग कर देना चाहिये ।।२०३९-२०४०।।

धर्मध्यान का स्वरूप और उसके बाह्य अभ्यन्तर भेदों का लक्षण—

बाह्याध्यात्मिकभेदेन धर्मध्यानमपि द्विधा । दृढव्रतसदाचारतत्त्वचिन्तादिलक्षणम् ।।२०४१।।
मनोवाक्कायनिःस्पन्दं बाह्यं व्यक्तं सतांभुवि । आध्यात्मिकस्वसंवेद्यमन्तःशुद्धिकरंपरम् ।।४२।।

अर्थ—व्रतों में दृढ़ रहना, सदाचार पालन करना और तत्त्वों का चिंतवन करना धर्मध्यान का लक्षण है। इस धर्मध्यानके भी बाह्य और अभ्यंतर के भेद से दो भेद हैं। ध्यान करते समय सज्जन लोगों के मन-वचन-कायकी क्रियाओं का जो बंद हो जाना है उसको बाह्य धर्मध्यान कहते हैं तथा जो अपने आत्माके ही गोचर है और अन्तःकरण को शुद्ध करनेवाला है उसको अंतरंग धर्मध्यान कहते हैं ।।२०४१-२०४२।।

धर्मध्यान के १० भेदों का कथन—

अपायवित्रयं ध्यानमुपायवित्रयं ततः । जीवादिविचयंध्यानमजीवविचयाह्वयम् ।।२०४३।।
विपाकविचयं ध्यानं विरागविचयंमहत् । भावादिविचयं ध्यानं संस्थानविचयाभिधम् ।।२०४४।।
तथाज्ञाविचयंहेतुविचयाख्यमितिस्फुटम् । धर्मध्यानंमहाधर्माकरं दशविधंमहत् ।।२०४५।।

अर्थ—अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय इसप्रकार इस धर्मध्यान के महा धर्म उत्पन्न करनेवाले दश भेद हैं ।।२०४३-२०४५।।

अपायविचय धर्मध्यान का लक्षण—

दुःखार्णवे भवेनादौयथेष्ट चारिणो मम् । अन्यस्य वा वपुर्वाक्यमनोर्जितकुकर्मणाम् ।।२०४६।।
विनाशः स्यात्कथंशीघ्रं ध्यानेन तपसाथवा । इतिचिन्ताप्रबंधो योऽत्रापायविचयं हि तत् ।।४७।।

अर्थ—अनेक दुःखों का समुद्र ऐसे इस अनादि संसारमें मैं तथा ये अन्य जीव अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करते चले आ रहे हैं। इसलिये ध्यानसे अथवा तपश्चरण

से मेरे अथवा अन्य जीवों के मन-वचन-कायसे उत्पन्न होनेवाले अशुभ कर्म शीघ्रता के साथ कब नष्ट होंगे इसप्रकार का चिंतवन करते रहना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ।।२०४६-२०४७।।

उपायविचय धर्मध्यान का क्षण—

मनोवाक्काययोगादि प्रशस्तं मे भवेत्कथम् । कर्मास्रवविनिष्क्रान्तंध्यानेनाध्ययनेन वा ।।२०४८।।
इत्युपायोऽत्र तच्छुद्धयै चिन्त्यते यो मुमुक्षुभिः । नानोपायैः श्रुताभ्यासैरुपायविचयं हि तत् ।।४९।

अर्थ—मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुष अपने मन-वचन-काय को शुद्ध करने के लिये यह चिंतवन करते हैं कि किस ध्यान वा अध्ययन से मेरे मन-वचन-काय शुभ हो जायेंगे अथवा मेरे मन-वचन-कायसे कर्मों का आस्रव कब रुक जायगा, इसप्रकार के चिंतवन करने को तथा श्रुताभ्यास आदि अनेक उपायों से योगों को शुद्ध करने का उपाय करना उपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ।।२०४८-२०४९।।

जीवविचय धर्मध्यान का लक्षण—

उपयोगमयोजीवोमूर्तोमूर्तोगुणीमहान् । शुभाशुभविधेभोक्तामोक्षगामी च तत्क्षयात् ।।२०५०।।
सूक्ष्मोसंख्यप्रदेशोऽत्रपराधीनोऽनिशंभ्रमेत् । इत्याद्यंगिस्वभावानां चिन्तनं तृतीयं हि तत् ।।५१।।

अर्थ—यह जीव उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्म के सम्बन्ध से मूर्त है, गुणी है, समस्त पदार्थों में उत्कृष्ट है, शुभ-अशुभ कर्मों का भोक्ता है और उन कर्मोंके नाश होने से उसी समय में मोक्षमें जा विराजमान होता हैं । यह जीव अत्यंत सूक्ष्म है, असंख्यात प्रदेशी है, और कर्मोंके अधीन होकर इस जन्म मरण रूप संसार में निरंतर परिभ्रमण करता रहता है । इसप्रकार जीवों के स्वरूप का चिंतवन करना जीवविचय नामका धर्मध्यान कहलाता हैं ।।२०५०-२०५१।।

अजीवविचय धर्मध्यान का लक्षण—

धर्माधर्मनभः कालयुद्गलानां जिनागमे । अचेतनमयानां च धर्मध्यानाय योगिनाम् ।।२०५२।।
अनेकगुणपर्यायैः स्वरूपचिन्तनं हृदि । ध्रौव्योत्पादव्ययैर्यत्तदजीवविचयं परम् ।।२०५३।।

अर्थ—योगी लोग अपने धर्मध्यानकी प्राप्ति के लिये अपने हृदय में जिनागम में कहे हुए धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गलरूप अचेतन समस्त पदार्थों का स्वरूप उनके अनेक गुण पर्यायों के द्वारा चिंतवन करते अथवा उनके उत्पाद व्यय ध्रौव्य गुणों के द्वारा चिंतवन करते हैं उसको अजीवविचय नामका उत्कृष्ट धर्मध्यान कहते हैं ।

।।२०५२-२०५३।।

विपाकविचय धर्मध्यान का लक्षण—

सत्पुण्यप्रकृतीनां गुडखंडशर्करामृतैः । समोह्यप्रकृतीनां च निम्बादिसदृशोशुभः ।।२०५४।।
विपाको बहुधावक्षैश्चिन्त्यते यत्रमानसे । तद्विपाकजयायोच्चैर्विपाकविचयं हि तत् ।।२०५५।।

अर्थ—श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियों का विपाक गुड़, खांड, मिश्री और अमृतके समान उत्तरोत्तर शुभ होता है तथा पाप प्रकृतियों का विपाक नीम, विष, हलाहल आदि के समान अत्यंत अशुभ होता है। इसप्रकार चतुर पुरुष कर्मों के विपाक को जीतने के लिये बार-बार चिंतवन करते हैं उसको विपाकविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं। ।।२०५४-२०५५।।

विरागविचय धर्मध्यान का लक्षण—

सप्तधातुमयान्निद्यात् कायादमेध्यमन्दिरात् । अतृप्तजनकाच्छ्वभ्रकारणाद्भोगसंचयात् ।।५६।।
अनन्तदुःखसम्पूर्णात्संसाराच्चसुखच्युतात् । विरक्ति या सतां चित्ते विरागविचयं हि तत् ।।५७।।

अर्थ—यह शरीर सप्त धातुओं से भरा हुआ है, अत्यंत निंद्य है और भिष्टा का घर है तथा ये भोगों के समूह नरक के कारण हैं और इनसे कभी तृप्ति नहीं होती और यह संसार भी अनंत दुःखों से भरा हुआ है और सुखसे सर्वथा दूर है, इसप्रकार चिंतवन करते हुए सज्जनों के हृदय में जो संसार शरीर और भोगों से वैराग्य उत्पन्न होता है उसको विरागविचय धर्मध्यान कहते हैं ।।२०५६-२०५७।।

भवविचय धर्मध्यान का लक्षण—

अनन्तदुःखसंकीर्णे भवेनादौसुखातिगे । सचित्ताचित्तमिश्रादिनानायोनिषुकर्मभिः ।।२०५८।।
भ्रमन्ति प्राणिनोश्रान्तंकमपाशावृता इति । भवभ्रमणदुःखानुचिन्तनंध्यानसप्तमम् ।।२०५९।।

अर्थ—यह संसार अनादि है सुखसे सर्वथा रहित है और अनंत दुःखों से भरा हुआ है ऐसे इस संसार में कर्मों के जालमें फंसे हुए ये प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से सचित्त अचित्त मिश्र आदि अनेक प्रकार की योनियों में निरंतर परिभ्रमण करते रहते हैं। इसप्रकार संसार के परिभ्रमण के दुःखों का बार-बार चिंतवन करना भवविचय नामका धर्मध्यान है ।।२०५८-२०५९।।

संस्थानविचय धर्मध्यान का लक्षण—

अनित्याद्या अनुप्रेक्षा द्वादशानन्तशर्मदाः । वैराग्यमातरो रागनाशिन्योमुक्तिमातृकाः ।।२०६०।।

चिन्त्यते रागनाशाय यत्रवैराग्यवृद्धये । योगिभिर्योगसंसिद्धयै संस्थानविचयंहि तत् ।।२०६१।।

अर्थ—योगी पुरुष अपने योग की सिद्धि के लिये, वैराग्य की वृद्धि के लिये और रागद्वेषको नष्ट करने के लिये मोक्षकी देनेवाली, रागद्वेष को नाश करनेवाली, वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली और अनंत सुखको देनेवाली ऐसी अनित्य अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का जो चिंतवन करते हैं उसको संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ।।२०६०-२०६१।।

आज्ञाविचय धर्मध्यान का लक्षण—

प्रमाणीकृत्य तीर्थेशान् सर्वज्ञान्दोषदूरगान् । तत्प्रणीतेषु सूक्ष्मेषुविश्वदृग्गोचरेषु च ।।२०६२।।
लोकालोकादितत्त्वेषु धर्मेषुमुक्तिवर्त्मसु । रुचिः श्रद्धाप्रतीतिर्या तदाज्ञाविचयंसताम् ।।२०६३।।

अर्थ—भगवान तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ हैं और समस्त दोषों से रहित हैं, इसलिये भगवान तीर्थंकर परमदेव को प्रमाण मानकर उनके कहे हुए केवलज्ञान वा केवलदर्शन के गोचर ऐसे सूक्ष्म तत्त्वोंमें लोक-अलोक आदि तत्त्वों में, उनके कहे हुए धर्म में वा मोक्षमार्गमें जो रुचि श्रद्धा वा प्रतीति करना है वह सज्जनों के लिये आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहा जाता है ।।२०६२-२०६३।।

हेतुविचय धर्मध्यान का लक्षण—

स्याद्वादनयमालंब्यहेतुदृष्टांतयुक्तिभिः । पूर्वापराविरोधेनतर्कानुसारि धीधनैः ।।२०६४।।
सर्वज्ञोक्ताः पदार्थाद्याः स्थाप्यन्ते यत्रभूतले । यथातथ्येनचित्तेवा तद्धेतुविचयाभिधम् ।।२०६५।।

अर्थ—स्याद्वाद नयको आलंबन कर हेतु दृष्टांत और युक्तियों से अथवा तर्क वा अनुमानसे बुद्धिमान लोग पूर्वापर विरोध रहित भगवान सर्वज्ञदेव के कहे हुए पदार्थों को जो संसारभर में स्थापन कर देते हैं अथवा उनके यथार्थ स्वरूप को अपने हृदय में स्थापन कर लेते हैं उसको हेतुविचय नाम का धर्मध्यान कहते हैं ।।२०६४-२०६५।।

१० प्रकार के ध्यान करने की प्रेरणा—

एतद्दशविधं धर्मध्यानं शुक्लनिबन्धनम् । ध्यातव्यं ध्यानिभिर्नित्यं विश्वश्रेयस्करंपरम् ।।२०६६।।

अर्थ—इसप्रकार यह दश प्रकार का धर्मध्यान मोक्ष का कारण है, समस्त जीवों का कल्याण करनेवाला है और परम उत्कृष्ट है । इसलिये ध्यान करनेवालों को सदा इसका ध्यान करते रहना चाहिये ।।२०६६।।

ध्यानादि के भेद से चार प्रकार के धर्मध्यान का स्वरूप—

ध्यानं ध्येयंबुधैध्याता फलमस्यनिगद्यते । ध्यानंप्रशस्तसंकल्पंपरमानन्दकारकम् ॥२०६७॥
विश्वद्रव्यपदार्थादिश्रीजिनागमर्मूजितम् । परमेष्ठिस्वरूपं च ध्येयमस्याखिलंमतम् ॥२०६८॥
व्रतशीलगुणैःपूर्णोविरागो विश्वतत्त्ववित् । एकान्तवाससंतुष्टोधीमान्ध्यातास्यकथ्यते ॥२०६९॥
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तम् सर्वाभीष्टार्थसाधकम् । तीर्थंकृतादिसत्पुण्यकरं ध्यानस्य सत्फलम् ॥२०७०॥

अर्थ—ध्यान, ध्येय, ध्याता और फलके भेद से इसके भी चार भेद हैं। जो परमानंद उत्पन्न करनेवाला शुभ संकल्प है उसको बुद्धिमान लोग ध्यान कहते हैं। श्री जिनागम में कहे हुए जो सर्वोत्कृष्ट जीवाजीवादिक समस्त तत्त्व वा पदार्थ हैं अथवा परमेष्ठियों का जो स्वरूप है वह सब इस ध्यानका ध्येय समझना चाहिये। जो व्रत शील और गुणों से सुशोभित है, जो वीतराग है, समस्त तत्त्वों को जानने वाला है, बुद्धिमान है और एकांतवासमें सदा संतुष्ट रहता है, वह इस ध्यानका ध्याता कहलाता है। तीर्थंकर आदि श्रेष्ठ पुण्य प्रकृतियोंको उत्पन्न करनेवाला और समस्त इष्ट पदार्थों को सिद्ध करनेवाला ऐसे सर्वार्थसिद्धि पर्यंत स्वर्गों का सुख प्राप्त होना इस ध्यान का फल समझना चाहिये ॥२०६७-२०७०॥

धर्मध्यान के स्वामी का निरूपण—

पीतादित्रिकलेश्योत्थंवलाधानंकिलास्य च। क्षायोपशमिको भावः काल आन्तमुंहूर्तकः ॥२०७१॥
गुणस्थानेषुतस्याच्चाविरतादिषुनिश्चितम् । सरागेषुकुरागघ्नं धर्मध्यानं शुभाकरम् ॥२०७२॥

अर्थ—पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याएं इस ध्यान का आलंबन है, इसमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं और इसका काल अंतर्मुहूर्त है। यह अशुभ रागको नाश करनेवाला और शुभ वा कल्याण करनेवाला धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक रहता है ॥२०७१-२०७२॥

धर्मध्यान का फल एवं उसे करने की प्रेरणा—

मोहप्रकृतिसप्तानां ध्यानमेतत्क्षयंकरम् । एकविंशतिमोहप्रकृतीनां शमकारणम् ॥२०७३॥
यत्नेन महता जातमेतद्ध्यानं सुखाकरम् । कुर्वन्तुध्यानिनो नित्यं शुक्लविश्वर्द्धिधर्मदम् ॥२०७४॥

अर्थ—यह धर्मध्यान सम्यग्दर्शन को नाश करनेवाली मोहनीय की सातों प्रकृतियों को नाश करनेवाला है और बाकी की मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों को उपशम करने का कारण है। यह धर्मध्यान बड़े प्रयत्न से उत्पन्न होता है, सुख की खानि है तथा शुक्लध्यान समस्त ऋद्धियां और उत्तम धर्मको देनेवाला है। इसलिये

ध्यान करने वालों को सदा इस ध्यान को धारण करना चाहिये ।।२०७३-२०७४।।

शुक्लध्यान के भेद, प्रभेदों का वर्णन—

शुक्लंपरमशुक्लं च शुक्लध्यानमिति द्विधा । सपृथक्त्वंवितर्काढ्यं वीचारं शुक्लमादिमम् ।।७५।।
तथैकत्ववितर्कावीचारशुक्लं द्वितीयकम् । इतिशुक्लंद्विधाध्यानं केवलज्ञाननेत्रदम् ।।२०७६।।
प्रतिपातिविनिष्क्रान्तं शुक्लंसूक्ष्मक्रियाह्वयम् । समुच्छिन्नक्रियं शुक्लंद्विधेति परमं स्मृतम् ।।७७।।
तद्बाह्याध्यात्मिकाभ्यां च शुक्लध्यानमपिद्विधा । अत्यन्तसाम्यतापन्नं नेत्रस्पंदादि वर्जितम् ।।७८।।
सवद्वन्द्वातिगं बाह्यं शुक्लं व्यक्तं सतां भुभि । मनः शुद्धिकरं तत्स्वसंवेद्यात्मिकंमहत् ।।२०७९।।

अर्थ—शुक्लध्यान के दो भेद हैं एक शुक्लध्यान और दूसरा परम शुक्लध्यान। उसमें भी पहले शुक्लध्यान के दो भेद हैं एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्कअवीचार। इसप्रकार पहले शुक्लध्यान के दो भेद हैं और दोनों केवलज्ञानरूपी नेत्रों को प्रगट करनेवाले हैं। पहले शुक्लध्यान के समान दूसरे परम शुक्लध्यान के भी दो भेद हैं, एक सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती और दूसरा समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति। इसके सिवाय बाह्य और अभ्यंतर के भेद से भी इस शुक्लध्यान के दो भेद हैं। जिस ध्यानमें अत्यंत उत्कृष्ट साम्यभाव प्रगट हो जाय, नेत्रोंका स्पंदन आदि सब छूट जाय, सज्जनों के सब संकल्प विकल्प छूट जाय और जो सज्जनोंको प्रगट मालूम हो उसको बाह्य शुक्लध्यान कहते हैं। तथा जो अपने आत्मा के ही गोचर है और मनको शुद्ध करनेवाला है, उस महान् शुक्लध्यानको अभ्यंतर शुक्लध्यान कहते हैं ।।२०७५-२०७९।।

पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान का स्वरूप—

नानाभेदंपृथक्त्वं च वितर्कश्चाखिलंश्रुतम् । अर्थव्यंजनयोगानां वीचारः संक्रमो भवेत् ।।२०८०।।
यत्पृथक्त्ववितर्काभ्यांवीचारेणमुनीश्वराः । ध्यायन्ति ध्यानमात्मज्ञाः शुक्लंतत्प्रथमंमतम् ।।८१।।

अर्थ—पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यानमें अनेक द्रव्योंका वा अनेक प्रकार के द्रव्यों का ध्यान होता है तथा मन-वचन-काय तीनों योगों से होता है इसलिये इस ध्यानको पृथक्त्व कहते हैं। वितर्क शब्दका अर्थ श्रुतज्ञान है, इस ध्यानको नौ दश वा चौदह पूर्व को जाननेवाला ही प्रारम्भ करता है। अर्थ शब्द और योगों के संक्रमण को वीचार कहते हैं, इस पहले ध्यानमें शब्दों से शब्दांतर, योग से योगांतर और अर्थ से अर्थांतर का चितवन होता है इसलिये यह ध्यान सवीचार है। आत्माको जानने वाले जो मुनिराज पृथक्त्व वितर्क और वीचार के साथ-साथ ध्यान करते हैं उसको पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका पहला शुक्लध्यान कहते हैं ।।२०८०-२०८१।।

एकत्ववितर्कअवीचार नामक शुक्लध्यान का स्वरूप—

एकत्वेन वितर्केण वीचारेणातिनिश्चलम् । ध्यायन्ति क्षीणमोहाय ध्यानं द्वितीयमेवतत् ॥८२॥

अर्थ—मोहनीय कर्मको क्षय करनेवाले जो मुनिराज शब्द अर्थ और योग के संक्रमण से रहित तथा नौ दश वा चौदह पूर्व श्रुतज्ञानके साथ-साथ किसी एक ही द्रव्य का निश्चल ध्यान करते हैं उसको एकत्ववितर्कअवीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं। ॥२०८२॥

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्लध्यान का स्वरूप—

काययोगेति सूक्ष्मेसंस्थितस्ययत्सयोगिनः । कथ्यतेऽओपचारेण तृतीयं निश्चलं हि तत् ॥२०८३॥

अर्थ—जिस समय संयोगिकेवली भगवान् अत्यन्त सूक्ष्म काय योग में निश्चल विराजमान होते हैं उस समय उनके निश्चल होने को उपचार से ध्यान कहते हैं। यह तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामका शुक्लध्यान है ॥२०८३॥

व्युपरीतक्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान का स्वरूप—

येन ध्यानेन चायोगोनिष्क्रियो योगवर्जितः । यातिमुक्तिपदं शुक्लं तच्चतुर्थं क्रियातिगम् ॥८४॥

अर्थ—अयोगकेवली भगवान क्रियारहित और योगरहित होकर जिस ध्यानसे मोक्ष पद प्राप्त करते हैं उसको व्युपरीत क्रियानिवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान कहते हैं ॥२०८४॥

ध्यानादि के भेद से शुक्लध्यान के भेद व स्वरूप—

ध्यानंध्येयमथास्यापिध्याताध्यानफलं भवेत् । सर्वसंकल्पनिष्क्रान्तं ध्यानं स्वात्मानुचिन्तनम् ॥८५।
स्वात्मतत्त्वं परंध्येयं ध्यानाद्ययोश्चपूर्ववित् । अन्तयोः केवलीप्रोक्तः उपचाराज्जिनाधिपैः ॥८६॥
त्र्यादिसंहननस्याद्यं शुक्लमेकस्य तत्त्रियम् । फलंसर्वार्थसिध्यन्तमाद्यशुक्लस्य कथ्यते ॥२०८७॥
केवलज्ञानसाम्राज्यं द्वितीयस्य परंफलम् । कृत्स्नकर्मक्षयो यस्यान्त्यस्यमुक्तिपदंध्रुवम् ॥२०८८॥

अर्थ—ध्यान, ध्येय, ध्याता और फल के भेद से इस ध्यान के भी चार भेद होते हैं। समस्त संकल्प विकल्पोंसे रहित होकर अपने आत्माका चिंतवन करना शुक्लध्यान है। अपना आत्मतत्त्व ही इस ध्यानका ध्येय है। भगवान जिनेन्द्रदेव ने पहले के दो शुक्लध्यानों ध्यान करनेवाला ध्याता ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंका जानकार बतलाया है तथा अंतके दो शुक्लध्यानों के ध्याता उपचार से केवली भगवान बतलाये हैं। पहले के तीन संहनन वालों के पहला शुक्लध्यान होता है, तथा प्रथम संहनन वालों के शेष

के तीन शुक्लध्यान होते हैं। प्रथम शुक्लध्यान का फल सर्वार्थसिद्धिपर्यंत गमन करना है, दूसरे शुक्लध्यान का फल केवलज्ञान की प्राप्ति होना है। तीसरे शुक्लध्यान का फल समस्त कर्मों का क्षय होना है और चौथे शुक्लध्यान का फल मोक्षकी प्राप्ति होना है ॥२०८५-२०८८॥

शुक्लध्यान के स्वामी आदि को अपेक्षा कथन—

उपशान्तकषायस्य शुक्लमाद्यं जिनोदितम्। तथा क्षीणकषायस्य निःकषायस्य चापरम् ॥२०८९॥
शुक्ललेश्या वलाधानं स्थितिरान्तर्मुहूर्तिकी। क्षायोपशमिकोभाव आद्यशुक्लस्य कथ्यते ॥९०॥
एतच्चतुर्विधं ध्यानंदृढसंहनना भुवि। यथातथ्येन कुर्वन्तु विकलातीतचेतसः ॥२०९१॥
भावनां भावयन्त्वत्रशुक्लानां स्वात्मतासमम्। हीनसंहननादक्षाः शुक्लध्यानाप्तयेनिशम् ॥९२॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने उपशांत कषाय वाले के पहला शुक्लध्यान बतलाया है तथा क्षीण कषाय वा अकषाय वाले के बाकी के तीनों शुक्लध्यान होते हैं। शुक्ललेश्या इस ध्यानका आलंबन है इसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त है, तथा पहले शुक्लध्यान में क्षायोपशमिक भाव रहते हैं। जिनके हृदय में किसी भी प्रकार की विकलता नहीं है और जो दृढ़ संहनन को धारण करनेवाले हैं उनको यह चारों प्रकार का शुक्लध्यान यथार्थ रीतिसे धारण करना चाहिये। जो हीन संहननको धारण करनेवाले चतुर पुरुष हैं उनको इस शुक्लध्यानकी प्राप्ति के लिये अपनी आत्माके साथ-साथ निरन्तर शुक्लध्यानकी भावना का चिंतवन करते रहना चाहिये ॥२०८९-२०९२॥

ध्यानकी महिमा—

यादृशं सिद्धसादृश्यंस्वात्मानंध्यायतिस्फुटम्। तादृशं निर्मलंयोगीनिश्चितंलभतेऽचिरात् ॥९३॥
निजात्मध्यानमात्रेणानन्तदुष्कर्मपुद्गलाः। क्षीयन्तेध्यानिनां नूनं यथा वज्रेण चाद्रयः ॥२०९४॥
ध्यानप्रदीपयोगेनमोहाज्ञानतमोखिलम्। प्रणश्यतिसतां शीघ्रं जायन्ते ज्ञानसम्मदः ॥२०९५॥
योगशुद्धिः प्रजायेत सद्ध्यानेन यथायथा। पुंसां महर्द्धयः सर्वा उत्पद्यन्ते तथा तथा ॥२०९६॥

अर्थ—योगी पुरुष सिद्धके समान अपने निर्मल आत्मा का जैसा ध्यान करते हैं वैसे ही शीघ्र निर्मल आत्माकी प्राप्ति उन्हें अवश्य हो जाती है। जिसप्रकार वज्र से पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं, उसीप्रकार अपने आत्मा का ध्यान करने मात्रसे ध्यानी पुरुषों के अनन्त अशुभ कर्मों के पुद्गल क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं। इस ध्यानरूपी दीपक के सम्बन्ध से सज्जन पुरुषों का मोह और अज्ञान रूपी समस्त अंधकार बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है और बहुत ही शीघ्र ज्ञानरूपी संपत्ति प्रगट हो जाती है। इस

श्रेष्ठ ध्यानके द्वारा जैसे-जैसे मनुष्यों के योगों की शुद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे उनको समस्त बड़ी-बड़ी ऋद्धियां प्राप्त होती जाती है ।।२०९३-२०९६।।

ध्यान के अभाव में कार्यसिद्धि का अभाव—

भग्नदन्तोयथाहस्ती दंष्ट्राहीनो मृगाधिपः । स्वकार्यसाधनेऽशक्तो ध्यानहीनस्तथायतिः ।।२०९७।।

अर्थ—जिसप्रकार बिना दांत का हाथी और बिना दाढ़का सिंह अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता उसीप्रकार मुनि भी बिना ध्यान के अपना कार्य सिद्ध नहीं कर सकता ।।२०९७।।

ध्यान करने की प्रेरणा—

मत्वेतिप्रवरंध्यानं कर्मारातिनिकन्दनम् । ध्यायन्तु योगिनो नित्यं मनः कृत्वातिनिश्चलम् ।।९८।।

अर्थ—इसप्रकार इस ध्यानको अत्यंत उत्तम और कर्मरूपी शत्रुओं को नाश करनेवाला समझकर योगियों को अपना मन निश्चल कर सदा इस ध्यान को धारण करते रहना चाहिये ।।२०९८।।

अतः १२ प्रकार के तपको धारण करने की प्रेरणा—

षोढेत्यभ्यन्तरं प्रोक्तं तपोन्तः शत्रुघातकम् । विधेयंपरया भक्त्यान्तस्थारि हानये बुधैः ।।२०९९।।
एतद्द्वादशधा प्रोक्तं समासेन मया तपः । सर्वयत्नेन मुक्त्यर्थमाचरन्तु तपोधनाः ।।२१००।।

अर्थ—इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने अंतरंग शत्रुओं को नाश करनेवाला यह अभ्यन्तर तप छह प्रकार का बतलाया है । अतएव बुद्धिमानों को अपने अंतरंग शत्रुओंको नाश करने के लिये परम भक्तिसे इस तपश्चरणको धारण करना चाहिये । इस प्रकार बारह प्रकार का यह तपश्चरण हमने अत्यंत संक्षेप से कहा है । तपस्वियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न कर इन तपश्चरणों को पालन करना चाहिये । ।।२०९९-२१००।।

यह तप स्वर्ण के लिये अग्नि, मलिन वस्त्र के लिये जल एवं जन्मादि रोग के लिये औषध सदृश्य—

यथाग्निविधिनातप्तं द्रुतं शुद्ध्यति कांचनम् । तथा कर्मकलंकी च स्वात्मा तपोऽग्निना भृशम् ।।
वस्त्राद्याः समलाद्रव्या यद्वद्धौताश्चवारिणा । भवन्ति निर्मला स्तद्वद्योगी तपोच्छवारिणा ।।
तपोभेषजयोगेन जन्ममृत्युजरारुजः । पंचाक्षारातिभिःसार्द्धं विलीयन्तेधराशयः ।।२१०३।।
चतुर्ज्ञानधरोमुक्तिगामीशक्रगणार्चितः । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य करोत्येव परं तपः ।।२१०४।।

अर्थ—जिसप्रकार अग्निसे तपाया हुआ सोना शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है उसी

प्रकार यह कर्ममलसे कलंकित हुआ आत्मा तपश्चरण रूपी अग्निसे बहुत शीघ्र शुद्ध हो जाता है। जिसप्रकार मलिन वस्त्र पानीसे धोनेपर निर्मल हो जाते हैं उसीप्रकार योगी पुरुष भी तपश्चरण रूपी स्वच्छ जलसे अत्यंत निर्मल हो जाते हैं। इस तपश्चरण रूपी औषधि से जन्म-मरण-बुढ़ापा आदि समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं, पंचेन्द्रिय रूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं और समस्त पापों की राशि नष्ट हो जाती है। जो मोक्षगामी पुरुष चारों ज्ञानों को धारण करनेवाले हैं और समस्त इन्द्र जिनकी पूजा करते हैं ऐसे योगी पुरुष अपनी शक्तिको प्रगट कर सदा उत्कृष्ट तपश्चरण करते हैं ।।२१०१-२१०४।।

तीर्थंकरादि के तपों का वर्णन—

आदिदेवोऽपि वर्षान्तेपारणं कृतवान् भुवि । अन्यैरपि जिनाधीशैः सर्वैः कृतं तपो महत् ।।२१०५।।
धीरोबाहुबलिः कृत्वा वर्षकप्रोषधान्परान् । व्युत्सर्गस्थः सुयोगेन केवलज्ञानमापभोः ।।२१०६।।
इत्याध्याः प्रवराः सर्वे पुराणपुरुषा अहो । बलाद्यन्ये तपः कृत्वा घोरं मुक्तिपदंययुः ।।२१०७।।

अर्थ—देखो भगवान वृषभदेव ने एक वर्षके बाद पारणा किया था। तथा अन्य समस्त तीर्थंकरों ने सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण किया था। अत्यंत धीरवीर बाहुबलि ने भी एक वर्षका उत्कृष्ट उपवास किया था तथा श्रेष्ठ योग धारण कर कायोत्सर्ग से विराजमान होकर केवलज्ञान प्राप्त किया था। इसप्रकार समस्त श्रेष्ठ महापुरुष अपनी शक्ति के अनुसार घोर तपश्चरण करके ही मोक्ष पद में जा विराजमान हुए हैं। ।।२१०५-२१०७।।

तप से ही जीव तीनों कालमें सिद्ध हुए हैं—

गता याति च यास्यन्ति मुक्तिं येत्र मुमुक्षवः । कर्मारीन् केवलं हत्वातपोभिस्ते न चान्यथा ।।८।।

अर्थ—मोक्षकी इच्छा करनेवाल जो पुरुष आज तक मोक्ष गये हैं, अब जा रहे हैं वा आगे जायेंगे वे सब तपश्चरण से ही कर्मरूप शत्रुओं को नाश कर मोक्ष गये हैं वा जायेंगे। बिना तपके न तो कोई मोक्ष गया है और न कभी जा सकता है। ।।२१०८।।

तप का महात्म्य—

मुक्तिमार्गंप्रवृत्तानांत्रिरत्नश्रीयुतात्मनाम् । विघटन्तेक्षचौराद्यास्तपःसुभटताडिताः ।।२१०९।।
सहायीकृत्य यो धीमान् तपःसुभटमूर्जितम् । व्रजेन्मुक्तिपथेक्षाद्यं विघ्नं तस्य न जातुचित् ।।१०।।
तपोलंकारिणो नूनमत्यासक्ता शिवात्मजा । वृणोत्यत्र न संदेहः का वार्ता शक्रयोषिताम् ।।११।।
अहमिन्द्रपदं पूज्यं देवराजपदंमहत् । चक्रनाथपदं चान्यद्बलदेवादिसत्पदम् ।।२११२।।

लौकान्तिकपदंसारं गणेशादिपदंपरम् । तपः फलेन जायेत तपस्विनां जगन्नुतम् ।।२११३।।
अनन्तमहिमोपेतास्तीर्थनाथविभूतयः । तपसा धीमतांसर्वा जायन्ते मुक्तिमातृकाः ।।२११४।।
त्रिजगन्नाथसंसेव्यान् भोगान् पंचाक्षपोषकान् । तपोधना लभन्ते च सौख्यं वाचामगोचरम् ।।१५।।
तपोमंत्रवराकृष्टासम्पल्लोकत्रयोद्भवा । तपोमहात्म्यतो गुर्वी सपद्यते तपस्विनाम् ।।२११६।।
तपश्चिन्तामणिर्दिव्यस्तपः कल्पद्रुमोमहान् । तपो नित्यं निधानं तपः कामधेनुर्र्र्जिता ।।२११७।।
यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च लोकत्रये स्थितम् । अनर्घ्यं वस्तु तत्सर्वं प्राप्यते तपसाचिरात् ।।१८।।

अर्थ—जो पुरुष मोक्षमार्ग में लग रहे हैं और रत्नत्रयकी लक्ष्मी सुशोभित है, उनके इन्द्रियरूपी चोर तपश्चरण रूपी सुभट से ताड़ित होकर अपने आप भाग जाते हैं। जो बुद्धिमान इस तपश्चरण रूपी उत्कृष्ट योद्धा को साथ लेकर मोक्षमार्ग में गमन करता है उसके लिये इन्द्रियां आदि कभी भी विघ्न नहीं कर सकतीं। जो पुरुष तपश्चरणरूपी अलंकार से सुशोभित हैं उनको मोक्षरूपी कन्या अत्यंत आसक्त होकर स्वयं आकर स्वीकार करती है इसमें कोई सन्देह नहीं है। फिर भला इन्द्रकी इन्द्राणियों की तो बात ही क्या है। तपस्वी पुरुषोंको इस तपश्चरणके ही फलसे तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसा पूज्य अहमिन्द्रपद उत्कृष्ट इन्द्रपद, चक्रवर्ती का पद, श्रेष्ठ बलभद्र का पद, सारभूत लौकान्तिक का पद और उत्कृष्ट गणधरका पद प्राप्त होता है। इस तपश्चरण से ही बुद्धिमानों को अनंत चतुष्टय की महिमा से सुशोभित सबको सुख देनेवाली और मोक्षकी जननी ऐसी तीर्थंकरकी उत्कृष्ट विभूति प्राप्त होती है। तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही प्रभाव से तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवन करने योग्य और पांचों इन्द्रयों को पुष्ट करनेवाले ऐसे भोग प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर ऐसे सुख प्राप्त होते हैं। तपस्वी पुरुषों को इस तपश्चरण के ही माहात्म्य से तपश्चरणरूपी श्रेष्ठ मंत्रसे आकृष्ट हुई तीनों लोकों की सर्वोत्कृष्ट संपत्तियां प्राप्त हो जाती है। यह तपश्चरण ही चिंतामणि रत्न है, तपश्चरण ही महान् कल्पद्रुम है, तप ही सदा रहने वाला निधान वा खजाना है और तप ही उत्कृष्ट कामधेनु है। तीनों लोकोंमें रहनेवाले जो बहुमूल्य पदार्थ अत्यन्त दूर हैं और जो कठिनता से प्राप्त हो सकते हैं वे सब पदार्थ इस तपश्चरण से बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं ।।२१०९-२११८।।

तपके अभाव में हानि—

ये तपः कुर्वंते नाहो सत्वहीनाः खलपटाः । भवेद्रोग व्रजस्तेषामत्र लंघनराशिदः ।।२११९।।
ततस्तीव्रमहादुःखक्लेशादिशतसंकुलम् । अक्षोत्थपापपाकेन जन्मश्वभ्रादिदुर्गतौ ।।२१२०।।

अर्थ— इन्द्रियों में लंपटी और शक्तिहीन जो मनुष्य तपश्चरण नहीं करते हैं उन्हें अनेक लंघन कराने वाले बहुत से कठिन रोग आकर प्राप्त हो जाते हैं। उन इन्द्रियों से उत्पन्न हुए महापाप के फलसे उन लंपटियों का जन्म नरकादिक दुर्गतियों में होता है, जहां कि तीव्र महा दुःख और सैंकड़ों महा क्लेश हर समय प्राप्त होते रहते हैं ॥२११९-२१२०॥

तपश्चरण करने की प्रेरणा—

इति मत्वा बुधानित्यंजित्वापंचाक्षतस्करान् । स्वशक्ति प्रकटीकृत्यचरन्त्वत्र तपोनघम् ॥२१२१॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषों को अपने पांचों इन्द्रियरूपी चोरों को जीतकर और अपनी शक्तिको प्रगट कर निरंतर पापों से सर्वथा रहित ऐसा तपश्चरण करते रहना चाहिये ॥२१२१॥

वीर्याचार का स्वरूप—

बलं वीर्यं निजं सर्वं प्रकटीकृत्य योगिनाम् । संयमाचरणं यत्सवीर्याचारोजिनैर्मतः ॥२१२२॥

अर्थ—योगी लोग जो अपना बल वीर्य आदि सब प्रगट करके संयमाचरणका पालन करते हैं उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव वीर्याचार कहते हैं ॥२१२२॥

बल और वीर्य का स्वरूप—

रसाहारौषधाद्यैश्चजनितं वलमुच्यते । वीर्यं वीर्यान्तरायस्यक्षयोपशमसम्भवम् ॥२१२३॥

अर्थ—सरस आहार और औषधि आदि से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको बल कहते हैं तथा वीर्यांतराय कर्मके क्षयोपशम से जो सामर्थ्य उत्पन्न होती है उसको वीर्य कहते हैं ॥२१२३॥

तपादि ग्रहण करने की प्रेरणा—

अनयोः प्राप्यसामर्थ्यं तपोयोगादिसंयमान् । व्युत्सर्गादींश्च कुर्वन्त्वनिगूहितपराक्रमा ॥२१२४॥

अर्थ—इन दोनों की सामर्थ्य प्राप्त कर तथा अपनी शक्ति को न छिपा कर मुनियों को तप, योग, संयम और कायोत्सर्ग आदि धारण करना चाहिये ॥२१२४॥

संयम के भेद का कथन—

प्राणीन्द्रियद्विभेदाभ्यां संयमोद्विविधोमतः । सत्प्राणिसंयमः सप्तदशप्रकार एव हि ॥२१२५॥

अर्थ—यह संयम प्राणि संयम और इन्द्रिय संयम के भेद से दो प्रकार का है।

उसमें भी प्राणिसंयम के सत्रह भेद हैं ।।२१२५।।

काय, त्रस एवं अजीव संयम का स्वरूप—

पृथ्व्यप्तेजोमरुत्कायानां वनस्पतिदेहिनाम् । यत्नेनरक्षणं यत्सपंचधा कायसंयमः ।।२१२६।।
द्वित्रितुर्यक्षपंचेन्द्रियाणां यत्प्रतिपालनम् । त्रसभेदेन सप्रोक्तश्चतुर्द्धासंयमः सताम् ।।२१२७।।
अजीवानां तृणादीनामच्छेदनं नखादिभिः । यत्ससंयमिनां प्रोक्तः संयमोऽजीवसंज्ञकः ।।२१२८।।

अर्थ—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना पांच प्रकार का काय संयम है । दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करना सज्जन लोगों के लिये चार प्रकार का त्रस संयम कहलाता है । संयमी लोग जो तृण आदि अजीव पदार्थों को भी नाखून आदि से भी कभी नहीं छेदते उसको अजीवसंयम कहते हैं ।।२१२६-२१२८।।

प्रतिलेखन एवं दुःप्रतिलेखन संयम का स्वरूप—

ज्ञानोपकरणादीनांयच्चासत्प्रतिलेखनम् । नेत्रेणादर्शनं तस्ययत्नात्संयमनं महत् ।।२१२९।।
मृदुपिच्छिकया वारं वारं यत्प्रतिलेखनम् । दर्शनं नयनाभ्यां सः प्रतिलेखनसंयमः ।।२१३०।।
जीवमर्दनवाधादिकरंदुष्प्रतिलेखनम् । तस्यसंयमनंसर्वप्रमादमन्तरेणयत् ।।२१३१।।
सूक्ष्मप्राणिदयाहेतु प्रमार्जनंमुहुर्मुहुः । उक्तः स जिननाथैर्दुष्प्रतिलेखनसंयमः । २१३२।।

अर्थ—ज्ञानादिक के उपकरणों का ठीक-ठीक अच्छी तरह प्रतिलेखन न हुआ हो वा वे उपकरण नेत्रों से अच्छी तरह न देखे गये हों ऐसे पदार्थों को कोमल पीछी से प्रतिलेखन करना बार-बार प्रतिलेखन करना और बार-बार नेत्रोंसे देखना इसप्रकार प्राणियों की रक्षा करना प्रतिलेखन संयम कहलाता है । जीवोंको मर्दन करनेवाला वा जीवों को बाधा देनेवाला जो किसी ने प्रतिलेखन किया है उसके लिये संयम पालन करना, सब तरह के प्रमाद छोड़कर सूक्ष्म प्राणियों की दया पालन करने के लिये उन पदार्थों को बार-बार प्रमार्जन करना पीछी से शोधना भगवान जिनेन्द्रदेव के द्वारा दुःप्रतिलेखन नामका संयम कहा जाता है ।।२१२९-२१३२।।

उपेक्ष संयम एवं अपहरण संयम का स्वरूप—

उपेक्षणमुपेक्षा च धर्मोपकरणादिकम् । व्यवस्थाप्यातिकालेनादर्शनं तत्रजन्मिनाम् ।।२१३३।।
सम्मूर्च्छनं विलोक्योपेक्षायाः संयमनं मुहुः । प्रत्यहं दर्शनंयत्किलोपेक्षासंयमोऽत्र सः ।।२१३४।।
अथापहरणं पिच्छिकयैकाक्षादिदेहिनाम् । अन्यत्रक्षेपणं तस्मात्तस्य संयमनं परम् ।।२१३५।।
अनिराकरणं यत्नात्तत्रैव परिरक्षणम् । यत्सोपहरणस्योत्रसयमो यमिनां स्मृतः ।।२१३६।।

अर्थ—संयममें मन न लगाना उपेक्षा है। धर्मोपकरणों को रखकर बहुत दिन तक भी उनको न देखा हो तो उनमें उत्पन्न हुए सम्मूर्छन जीवों को देखकर उपेक्षा का संयमन वा निग्रह करना प्रतिदिन बार-बार उसे देखना उपेक्षासंयम कहलाता है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदि जीवों को पीछी से हटाकर दूसरी जगह स्थापन करना अपहरण कहलाता है उसका संयमन वा निग्रह करना, जीवों को न तो अन्यत्र स्थापन करना न जाने से रोकना प्रयत्न पूर्वक वहींपर उनकी रक्षा करना मुनियों का अपहरण नामका संयम कहलाता है ।।२१३३-२१३६।।

तीन प्रकार के योग संयम का स्वरूप—

मनो वचनकायानांनिसर्गं चंचलात्मनाम् । ध्यानाद्यैर्निग्रहो यः सः त्रिविधो योगसंयमः ।।२१३७।।

अर्थ—मन-वचन-काय ये तीनों स्वभाव से ही चंचल हैं उनको ध्यानादिक द्वारा निग्रह करना तीन प्रकार का योगसंयम कहलाता है ।।२१३७।।

गणधरादिकदेव ने संयम के १७ भेद कहे हैं—

एतेऽत्रयोगिनां सप्तदशभेदाः प्ररूपिताः । संयमस्यगणाधीशैरागमे व्रतशुद्धिदाः ।।२१३८।।

अर्थ—भगवान गणधरदेव ने अपने आगम में योगियों के लिये व्रतों को शुद्ध करनेवाले ये संयम के सत्रह भेद बतलाये हैं ।।२१३८।।

इन्द्रिय संयम का स्वरूप—

पंचाक्षव्रजतांस्वस्वविषयेषु विरागिभिः । व्रताद्यैर्दमनं यत्स पंचधेन्द्रियसंयमः ।।२१३९।।

अर्थ—पांचों इंद्रियां जो अपने-अपने विषयोंमें गमन करती हैं उनको रागरहित व्रती पुरुष जो दमन करते हैं उसको पांच प्रकार का इन्द्रियसंयम कहते हैं ।।२१३९।।

मन संयम का स्वरूप—

स्वेच्छयागच्छतो लोके मनसो यन्निरोधनम् । ध्यानाध्ययनकर्माद्यैर्मनः संयम एव सः ।।२१४०।।

अर्थ—इसप्रकार यह मन भी तीनों लोकों में अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण करता है उसको ध्यान अध्ययन आदि कार्यों से निग्रह करना मनसंयम कहलाता है। ।।२१४०।।

उत्कृष्ट प्राणी संयम का स्वरूप—

चतुर्दशविधा जीवसमासा यत्र यत्नतः । रक्ष्यन्ते योगिभिर्मुक्त्यै स प्राणिसंयमोद्भुतः ।।२१४१।।

अर्थ—योगी पुरुष मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो जीव समासों के भेद से चौदह प्रकार के जीवों की प्रयत्न पूर्वक रक्षा करते हैं उसको भी उत्कृष्ट प्राणिसंयम कहते हैं ।।२१४१।।

संयम पालन करने की प्रेरणा—

इत्येते संयमाः सर्वे प्राणीन्द्रियाभिधाबुधैः । विधेया बलवीर्याभ्यां संवराय शिवाय च ।।२१४२।।

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषों को कर्मों का संवर करने और मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपना बल और वीर्य प्रगट कर ऊपर लिखे हुए प्राणी और इन्द्रिय के भेद से अनेक प्रकार के संयमों का सदा पालन करते रहना चाहिये ।।२१४२।।

तपश्चरण करने में शक्ति नहीं छिपानी चाहिए—

अनुगूहितवीर्याणां स्युर्विश्वेसंयमाः पराः । सत्तपांसि च सर्वाणिगुणा ज्येष्ठाः शिवादयः ।।४३।।
मत्वेतिसंयमाचारे तपसां करणे खिले । योगाद्यन्यत्र वा कार्यं न वीर्याच्छादनंमनाक् ।।२१४४।।

अर्थ—जो संयमी अपनी शक्तिको नहीं छिपाते हैं उन्हीं के समस्त उत्कृष्ट संयम होते हैं, उत्कृष्ट समस्त तपश्चरण होते हैं, उत्तम गुण प्रगट होते हैं और उन्हीं को मोक्षकी प्राप्ति होती है । यही समझकर संयमोंके पालन करने में समस्त तपश्चरणों के करने में वा आतापनादि योग धारण करने में अथवा और ऐसे ही कार्यों में अपनी शक्तिको कभी नहीं छिपाना चाहिये । अपने वीर्य को कभी ढकना नहीं चाहिये । ।।२१४३-२१४४।।

पंचाचार पालन करने की प्रेरणा और उसकी महिमा—

एवंपंचविधान्जिनेन्द्रगदितानाचारभेदात्परान्,
मुक्त्यै ये निपुणा भजन्ति परया भक्त्यात्रिशुद्ध्याखिलान् ।
हत्वाघातिरिपून्समाप्यपरमं ज्ञानं सुरैः पूजनं,
तेऽन्त्यांगाश्चनिहत्यकर्मवपुसोयान्त्येवमुक्त्यालयम् ।।२१४५।।
येन्येश्रीमुनिनायकाः सुरनताः शक्त्या चरन्त्युर्जितान्,
एतान्पंचविधानविमुक्तिजनकान् आचारसारान्सदा ।
ते भुक्त्वात्रिजगद्भवं वरसुखंसर्वार्थसिद्ध्यादिजं,
राज्यं चानुसमाप्यसंयममतोगच्छन्तिमोक्षंक्रमात् ।।२१४६।।
इति विदिततदर्थाः पंचधाचारसारान्, शिवसुखगतिहेतून् कर्ममातंगसिंहान् ।
कुगतिगृहकपाटान् तीर्थनाथैःनिषेव्यान्, भजत शिवसुखाप्त्यैमोहशत्रुं निहत्य ।।२१४७।।

अर्थ—ये पांचों प्रकार के आचार भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए हैं और सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये जो चरम शरीरी चतुर पुरुष मन-वचन-कायको शुद्ध कर परम-भक्ति से मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन पांचों आचारों का पालन करते हैं वे महापुरुष घातिया कर्मरूपी शत्रुओं को नाश कर परम केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय वे देवोंके द्वारा पूजे जाते हैं और अंतमें समस्त कर्म और शरीर को नाशकर परम मोक्ष-स्थान में जा विराजमान होते हैं। अनेक देव जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे और भी अनेक मुनिराज जो अपनी शक्तिके अनुसार मोक्ष देनेवाले सर्वोत्कृष्ट इन सारभूत पांचों आचारों का पालन करते हैं, वे तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले सर्वार्थ सिद्धि आदि के श्रेष्ठ सुख भोगते हैं, श्रेष्ठ राज्य का अनुभव करते हैं और अंतमें संयम पालन कर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। ये पांचों आचार सारभूत हैं, स्वर्ग मोक्षके कारण हैं, कर्मरूपी हाथियों के लिये सिंह के समान हैं, कुगति रूपी घर को बंद करने के लिये कपाटके समान हैं और तीर्थंकर परमदेव भी इनका पालन करते हैं। अतएव इन पंचाचारों के अर्थ को समझने वाले पुरुषों को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये मोहरूपी शत्रु को नाश कर इन पांचों आचारों का पालन करना चाहिये ॥२१४५-२१४७॥

तीर्थंकर देव प्ररूपित पंचाचार का फल—

नाभेयाद्यैर्जिनेशैस्त्रिभुनमहितैर्यैःप्रणीताधरित्र्यामाचारा-
मुक्तिसिद्धयै गणधरसहितैस्तत्फलेनात्र लब्धः ।
मोक्षो यैः सिद्धनाथैस्त्रिविधमुनिगणैरादृता येऽत्र,
यत्नात् ते सर्वधर्मनाथास्त्रिजगतिगुरुवो मेप्रदुद्यु:स्वभूतीः ॥२१४८॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्ये महाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते पंचाचार व्यावर्णने ज्ञानचारित्रतपो वीर्याचार वर्णनो नाम षष्ठोधिकारः ।

अर्थ— तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे जिन वृषभदेव आदि तीर्थंकरों ने वा जिन गणधरदेवों ने मोक्षकी सिद्धि के लिये इन पांचों आचारों का इस लोकमें निरूपण किया है तथा जिन सिद्ध भगवान ने इन पंचाचारों के फल से मोक्ष की प्राप्ति की है और जिन आचार्य उपाध्याय साधुओं ने प्रयत्नपूर्वक इन आचारों का पालन किया है, वे सब धर्मके स्वामी और तीनों लोकों के गुरु भगवान पंचपरमेष्ठी मेरे लिये अपनी-अपनी विभूति प्रदान करें ॥२१४८॥

इसप्रकार आचार्य सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थमें पंचाचारके वर्णनमें ज्ञान चारित्र तप वीर्याचार को निरूपण करनेवाला यह छठा अधिकार समाप्त हुआ।

सप्तमोधिकारः

मंगलाचरण

श्रीमतस्तीर्थनाथांश्चसमाचारप्ररूपकान् । सिद्धान्साधून्जगत्पूज्यान्गुणाब्धीन्नौमिसिद्धये ।।४९।।

अर्थ—मैं अपने कार्य की सिद्धि के लिये अंतरंग बहिरंग विभूतिसे सुशोभित और समाचार नीतिको प्ररूपण करनेवाले तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करता हूं, जगतपूज्य सिद्धों को नमस्कार करता हूं और गुणों के समुद्र ऐसे साधुओं को नमस्कार करता हूं ।।२१४९।।

समाचार के स्वरूप का निर्देश—

अथ यः सम्यगाचारः समानः सर्वयोगिनाम् । समजातोथवा वक्ष्येसमाचाराख्यमेव तम् ।।२१५०।।

अर्थ—जो समस्त मुनियों को समान रीति से पालन करने पड़े ऐसे श्रेष्ठ आचरणों को समाचार कहते हैं । ऐसे समाचारों को अब आगे इस अध्याय में निरूपण करते हैं ।।२१५०।।

समाचार के मूल उत्तर भेद का कथन—

एकः औघिकः संगोद्वितीय पदविभागिकः । इत्यत्र स समाचारोद्विधोक्तः श्रीजिनागमे ।।२१५१।।
औघिकोऽपिसमाचारो दशभेदोजिनाधिपैः । मतोऽनेकविधोमूलाचारेपदविभागिकः ।।२१५२।।

अर्थ—यह समाचार भगवान जिनेन्द्रदेव के आगममें दो प्रकार का बतलाया है । एक औघिक और दूसरा पदविभागिक । भगवान जिनेन्द्रदेव ने औघिक समाचार के दश भेद बतलाये हैं और मूलाचार ग्रंथों में पदविभागिक के अनेक भेद बतलाये हैं ।।२१५१-२१५२।।

औघिक समाचार के इच्छाकारादि भेद—

इच्छाकारो हि मिथ्याकारस्तथाकार आसिका । निषेधिका किलापृच्छाप्रतिपृच्छा च छन्दनम् ।।
सन्निमन्त्रण एव वाथोपसंपद्योगिनामिमे । दशभेदाःसमाख्याता औघिकस्य समासतः ।।२१५४।।

अर्थ—इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, आसिका, निषेधिका, आपृच्छा, प्रतिपृच्छा, छंदन, सन्निमंत्रण और उपसंपत् ये औघिक समाचार के संक्षेप से दश भेद कहलाते हैं ।।२१५३-२१५४।।

इच्छाकारादि भेदों के स्वरूप का निर्देश—

इष्टेरत्नत्रयादौवेच्छाकारः शुभकर्मणि । अपराधेऽखिलेमिथ्याकारोव्रताद्यतिक्रमे ॥२१५५॥
प्रतिश्रवणयोगेसिद्धान्तार्थानां तथैव हि । गुहाशून्यगृहादेर्निर्गमनैत्रासिकास्मृता ॥२१५६॥
देवगेहगुहाद्यंतःप्रवेशे च निषेधिका । स्वकार्यारम्भनेकार्या पृच्छागुर्वादियोगिनाम् ॥२१५७॥
गुरुसाधर्मिकाद्यन्यैः पूर्वं निःसृष्टवस्तुनि । पुनस्तद्ग्रहणे युक्त्या प्रतिपृच्छा शुभप्रदा ॥२१५८॥
सूरिसाधर्मिकादीनांगृहीते पुस्तकादिके । सेवनं तदभिप्रायेण यच्छंदनमेव तत् ॥२१५९॥
गुरूपाध्यायसाधूनां धर्मोपकरणे शुभे । अगृहीते तदर्थं या यांचा सा सन्निमंत्रणा ॥२१६०॥
युष्माकमह मेवेतिनिजेगुरुकुलेशुभे । निसर्गःस्वात्मनस्त्याग उपसम्यत्सुवाक्व्रजा ॥२१६१॥

अर्थ—रत्नत्रयादिक इष्ट पदार्थोंमें वा शुभ कामों में इच्छाकार किया जाता है। व्रतोंके अतिचारों में वा अपराध हो जानेपर मिथ्याकार किया जाता है। सिद्धांत-शास्त्रके अर्थ सुनने पर वा ग्रहण करनेपर तथाकार किया जाता है। किसी गुफा वा सूने मकान में से जाते समय आसिका की जाती है। किसी देव के मंदिर में वा गुफादिक में प्रवेश करते समय निषेधिका की जाती है। अपने किसी कार्य के प्रारम्भ करते समय गुरु आदि योगियों से आपृच्छा की जाती है। किसी गुरु वा साधर्मी मुनिके पास पहले कोई वस्तु रखदी हो और फिर उसके लेने की इच्छा हो तो शुभ देनेवाली प्रतिपृच्छा युक्तिपूर्वक की जाती है। किसी आचार्य वा अन्य साधर्मी मुनि की पुस्तक आदि वस्तु उनकी इच्छानुसार अपने कामके लिये लेनी हो तो छंदन नामका समाचार किया जाता है। आचार्य उपाध्याय वा साधु के शुभ धर्मोपकरण अपने काम के लिये लेने हों तो उसके लिये जो याचना करना है, उस समय सन्निमंत्रण नामका समाचार किया जाता है। मैं आपका हूं इसप्रकार कहकर अपने शुभ गुरुकुलमें स्वभावसे अपने आत्मा को समर्पण कर देना, श्रेष्ठ वचनों को कहलाने वाला उपसंपत् नाम का समाचार कहलाता है ॥२१५५-२१६१॥

पदविभागी समाचार के कथन की प्रतिज्ञा—

एष उक्तः समाचारोदशधौघिक आगमे । समासेन ततश्चोर्ध्वं वक्ष्ये पदविभागनम् ॥२१६२॥

अर्थ—इसप्रकार जिनागम में संक्षेप से औघिक समाचार के दश भेद बतलाये हैं। अब आगे पदविभागी नामके समाचार को कहते हैं ॥२१६२॥

पदविभागी समाचार का स्वरूप—

सूर्यस्योद्गममारभ्य कृत्स्नेऽहोरात्रमडले । यन्नियमादिकं सर्वमाचरन्ति निरन्तरम् ॥२१६३॥

आचारांगभवंयत्नाच्छ्रमणाभवहानये । समाचारो जिनैः सोऽत्र प्रोक्तः पदविभागकः ।।२१६४।।

अर्थ—मुनिलोग अपने संसारको नाश करने के लिये सूर्योदय से लेकर समस्त दिन और रात में आचारांग सूत्र के अनुसार जो यत्नपूर्वक समस्त नियमों का पालन करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव पदविभागिक नामका समाचार कहते हैं ।।२१६३-२१६४।।

पुनः इच्छाकार समाचार का स्वरूप निर्देश—

पुनर्येप्रोदिताःपूर्वमिच्छाकारादयो दश । संक्षेपाद्विस्तरेणात्र वक्ष्ये तेषांसुलक्षण ।.२१६५ ।
संयमज्ञानधर्मोपकरणादिकयाचने । आतापनादियोगनांग्रहणेतपसां सताम् ।।२१६६।।
करणेपठनेंगानां सर्वत्रशुभकर्मणि । इच्छाकारश्च कर्तव्यः परिणामोमुमुक्षुभिः ।।२१६७।।

अर्थ—ऊपर औधिक समाचार कें जो संक्षेप से दश भेद बतलाये हैं अब आगे विस्तार के साथ उन्हीं का लक्षण कहते हैं । संयमोपकरण, ज्ञानोपकरण वा धर्मोपकरण की याचना करते समय आतापन आदि योगों को ग्रहण करते समय, किसी तपश्चरण को ग्रहण करते समय, अंगों का पठन-पाठन करते समय वा अन्य समस्त शुभ कार्यों में मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियों को अपने इच्छाकार रूप परिणाम रखने चाहिये । ।।२१६५-२१६७।।

मिथ्याकार समाचार का स्वरूप—

अतीचारे व्रतादीनां जातेंगवाक्यमानसैः । अशुभैश्चप्रमादाक्षैरेतन्मेदुष्कृतंकृतम् ।।२१६८।।
मिथ्यास्तुनिष्फलंसर्वंकरिष्येजातुनेदृशम् । त्रिशुद्धयेत्यपराधस्यमिथ्याकारः सतांमतः ।।२१६९।।

अर्थ—अशुभ मन-वचन-कायसे, प्रमादसे वा इन्द्रियों से व्रतादिकों में अतिचार लग जाय तो यह मैंने बुरा किया वा पाप किया यह सब मिथ्या हो, निष्फल हो, अब मैं ऐसा पाप कभी नहीं करूंगा । इसप्रकार मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक अपराधका पश्चात्ताप करना सज्जनों के द्वारा मिथ्याकार कहलाता है ।।२१६८-२१६९।।

तथाकार का स्वरूप—

सिद्धांतादिमहार्थानां श्रवणेचोपदेशने । गुरुणाक्रियमाणेत्रवितथेयन्निरूपितम् ।।२१७०।।
भवद्भिः सकलार्थं तदेवमेव न चान्यथा । इत्युक्त्वा श्रवणंतेषांयत्तथाकार एव सः ।।२१७१।।

अर्थ—सिद्धांत आदि महा शास्त्रों के अर्थ सुनने पर अथवा गुरु के यथार्थ उपदेश देनेपर यह कहना कि "आपने जो कहा है सो सब यथार्थ कहा है वह अन्यथा

नहीं" इसप्रकार कहकर उन शास्त्रोंका सुनना तथाकार कहलाता है ।।२१७०-२१७१।।

निषेधिका एवं आसिका का स्वरूप–

गिरिकन्दरजीर्णोद्यानगुहापुलिनादिषु । प्रवेशसमये कार्याङ्गयवधायनिषेधिका ।।२१७२।।
तेभ्योद्रचादिप्रवेशेभ्योन्येनिर्गमनेसदा । विधातव्यासिका व्यंतरादिप्रीत्यैविचक्षणैः ।।२१७३।।

अर्थ—किसी पहाड़ की गुफामें, पुराने वनमें, कंदरा में किसी नदी के किनारे पर प्रवेश करना हो तो उस समय जीवों का बध न हो इसलिये मुनियों को निषेधिका करनी चाहिये। णिसही णिसही ऐसा उच्चारण करना चाहिये। चतुर मुनियों को व्यंतरादिक देवों को प्रसन्न करने के लिये पर्वत की गुफा सूने मकान आदि से बाहर जाते समय असही असही ऐसा कहकर आसिका करनी चाहिये ।।२१७२-२१७३।।

आपृच्छा नामक समाचार का स्वरूप—

आतापनादियोगानांग्रहणे तपसां भुवि । करणे कार्यसंस्थित्यैचर्यादिव्रजनेपरे ।।२१७४।।
ग्रामादिगमने चान्याखिले कार्येशुभेनिजे । सूर्यादीन् विनयेनैत्यापृच्छा कार्यासुशिक्ष्यकैः ।।२१७५।।

अर्थ—शिष्य मुनियोंको आतापन आदि योगके धारण करते समय, तपश्चरण धारण करते समय, शरीर को स्थिर रखने के लिये चर्या करने को जाते समय, दूसरे गांव को जाते समय तथा और भी अपने शुभ समस्त कार्यों के करनेपर विनयपूर्वक आचार्यों से पूछना चाहिये, इसी को आपृच्छा नाम का समाचार कहते हैं ।।२१७४-२१७५।।

प्रतिपृच्छा नामक समाचार का स्वरूप—

यत्किंचिच्चमहत्कार्यं दुष्करं धर्मसम्भवम् । करणीयंप्रणम्यात्मगुर्वाचार्यादिकाखिलान् ।।२१७६।।
पृष्ट्वापुनर्मुदासाधून्साधुपृच्छतिसिद्धये । निजकार्यस्य तांविद्धि-प्रतिपृच्छां शुभप्रदाम् ।।२१७७।।

अर्थ—यदि किसी साधु को धर्म सम्बन्धी कोई अत्यंत कठिन और बहुत बड़ा कार्य करना हो तो वह पहले अपने गुरु आचार्य वा वृद्ध मुनि आदि सबको पूछ लेता है तथा अपने कार्य की सिद्धि के लिये फिर भी वह साधु अन्य साधुओं को भी पूछता है, इस कल्याण-करनेवाले समाचार को प्रतिपृच्छा कहते हैं ।।२१७६-२१७७।।

छंदन नामक समाचार का स्वरूप—

पुस्तकादिगृहीतेषु विनये वन्दनादिके । जैनागमपदार्थानांप्रश्नेऽन्येधर्मकर्मणि ।।२१७८।।
गणेशवृषभादीनांविश्वभव्यहितात्मनाम् । दक्षैरिच्छानुवृत्तिर्याचर्यतेछन्दनं च तत् ।।२१७९।।

अर्थ—चतुर मुनि किसी आचार्य आदि से पुस्तकादि के ग्रहण करते समय, विनय करते समय, वंदना आदि करते समय, अथवा जैन शास्त्रों में कहे हुए पदार्थों के स्वरूपको पूछते समय अथवा और भी किसी शुभ कार्यों के करते समय समस्त भव्य जीवों का हित करनेवाले वृषभसेन आदि गणधरों की वा आचार्य आदि की इच्छानुसार अपनी प्रवृत्ति करना अथवा उस उपकरण के स्वामी की इच्छानुसार उस उपकरण को लेना छंदन नामका समाचार कहलाता है ॥२१७८-२१७९॥

निमंत्रण नामक समाचार का स्वरूप—

गुरुसाधर्मिकान्येषांपुस्तकादिपरिग्रहम् । धर्मोपकरणंवाऽन्यदिच्छन्गृहीतुमात्मवान् ॥२१८०॥
तदानींविनयेनैत्य तेषां नत्वा पदाम्बुजान् । कुर्यान्निमंत्रणांयोगीयाचनां कार्यसिद्धये ॥२१८१॥

अर्थ—यदि किसी साधु को अपने गुरु से वा अन्य साधर्मी मुनियों से कोई पुस्तक वा कोई धर्मोपकरण लेने की इच्छा हो तो लेते समय उस साधुको उन गुरु वा अन्य साधर्मी साधुओं के समीप विनयपूर्वक जाना चाहिये उनके चरण कमलों को नमस्कार करना चाहिये और फिर अपने कार्य की सिद्धि के लिये उनसे याचना करनी चाहिये इसको निमंत्रण नामका समाचार कहते हैं ॥२१८०-२१८१॥

उपसम्पत् समाचार के भेद—

उपसम्पज्जिनैः प्रोक्ता पंचधा विनयेसताम् । क्षेत्रेमार्गे तथासौख्येदुःखेसूत्रेमहात्मनाम् ॥२१८२॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने सज्जन पुरुषोंके लिये उपसंपत् नामका समाचार पांच प्रकार का बतलाया है। विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुखदुःख और सूत्रके विषय में महात्माओं के लिये अपनी सेवा का निवेदन करना पांच प्रकार की उपसंपत् है ॥२१८२॥

विनयोपसम्पत् समाचार का स्वरूप—

प्राघूर्णकयतीनांविनयोपचार ऊर्जितः । अंगांघ्रिमर्दनैःसंस्तरासनादिनिवेदनम् ॥२१८३॥
आवासभूमिसंपृच्छापुस्तकादिसमर्पणम् । इत्यादिकरणयद्विनयोपसम्यदेव सा ॥२१८४॥

अर्थ—जो मुनि बाहर से आये हैं और अपने स्थान में आकर ठहरे हैं उनका उत्कृष्ट विनय और उपचार करना, उनके शरीर को दाबना, पैरों को दाबना, उनके लिये सोने तथा बैठने का आसन देना, उनके स्थानको वा उनके गुरुके स्थानको पूछना तथा उनके मार्गको पूछना (कहां से आये कहां जायेंगे आदि पूछना) उनके लिये पुस्तक उपकरण आदि देना आदि कार्योंके करने को विनयोपसंपत् कहते हैं ॥२१८३-२१८४॥

क्षेत्रसम्पत् समाचार का स्वरूप—

दृग्ज्ञानसंयमाद्याश्चसत्तपोनियमादयः । यमशीलव्रताचाराः क्षमादिगुणराशयः ।।२१८५।।
यस्मिन्साम्येशुभेक्षेत्रेवर्द्धन्तेधीमतां सताम् । तस्मिन्क्षेत्रेनिवासो यः क्षेत्रोपसम्पदेव सा ।।२१८६।।

अर्थ—जिस शुभ और समानशीतोष्ण क्षेत्रमें बुद्धिमान सज्जनों के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम, श्रेष्ठतप, यम, नियम, शील, व्रत, आचार, क्षमा आदि अनेक गुण बढ़ते जांय ऐसे क्षेत्रमें निवास करना क्षेत्रसंपत् कहलाता है ।।२१८५-२१८६।।

मार्गोसम्पत् समाचार का स्वरूप—

पादोष्णागतवास्तव्यमुनीनां योगधारिणाम् । तपः संयमयुक्तानां गमनागमनादिकैः ।।२१८७।।
परस्परं सुखप्रश्ने व्रतदृग्ज्ञानवृद्धये । यो जिनैर्गदिता शास्त्रे मार्गोपसम्पदेव सा ।।२१८८।।

अर्थ—जो मुनि तप और संयमको धारण करनेवाले हैं और योग को धारण करनेवाले हैं तथा बाहर से आकर अपने स्थान में ठहरे हैं अथवा अपने ही संघके मुनि बाहर जाकर आए हैं उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और व्रतों की वृद्धि के लिये आने जाने के समय की कुशल वार्ता पूछना, परस्पर सुखका प्रश्न करना भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने शास्त्रों में मार्गोपसंपत् बतलाई है ।।२१८७-२१८८।।

सुखदुःखोपसम्पत् समाचार का स्वरूप—

उपचारोमुनीन्द्राणांनिमित्तेसुखदुःखयोः । मठपुस्तकधर्मोपदेशदानादिभिः परैः ।।२१८९।।
युष्माकमहमत्राशुकरिष्येनिखिलं वचः । इत्यादिकथनंशर्मदुःखोपसम्पदेव च ।।२१९०।।

अर्थ—यदि किसी मुनि पर कोई सुख वा दुःख आ पड़े तो उस समय मठ पुस्तक धर्मोपदेश वा आवश्यकतानुसार अन्य पदार्थों को (आहार औषधि आदि को) देकर उनका उपचार वा उपकार करना अथवा हम सब आपके हैं, हम लोग आपके कहे हुए सब वचनों का पालन करेंगे इसप्रकार उनसे कहना सुखदुःखोपसंपत् कहलाती है ।।२१८९-२१९०।।

सूत्रसम्पत् समाचार के भेद एवं उनका स्वरूप—

सूत्रोपसम्पदेकान्यार्थोपसम्पत्समाह्वया । तदा तदुभयात्रेधासूत्रोपसम्पदित्यपि ।।२१९१।।
यः सूत्रपठनेयत्नःसूत्रोपसम्पदत्र सा । अर्थादानेत्र यो यत्नः सार्थोपसम्पदूर्जिता ।।२१९२।।
यत्नस्तदुभयेयोत्रसोपसम्पद्द्वयात्मिका । अधुनालक्षणंकिंचिद्व्रवेपदविभागिनः ।।२१९३।।

अर्थ—सूत्रसंपत्के तीन भेद हैं—सूत्रसंपत्, अर्थसंपत् और उभयसंपत् । सूत्रों

के पढ़ने में प्रयत्न करना सूत्रसंपत् है। अर्थ के पढ़ने में प्रयत्न करना श्रेष्ठ अर्थसंपत् है। सूत्र और अर्थ दोनों के पढ़ने में प्रयत्न करना तदुभयसंपत् है। अब आगे पद-विभागी समाचार का थोड़ा सा लक्षण कहते हैं ।।२१९१-२१९३।।

पदविभागी समाचार का लक्षण—

अथकश्चिद्महाप्राज्ञः समर्थः सकलैर्गुणैः । वीर्यधैर्यतपोयोगोत्सहाद्यैः संयताग्रणीः ।।२१९४ ।
स्वगुर्वादिगतंसर्वं श्रुतज्ञात्वापरागमम् । ज्ञातुमिच्छन्प्रणम्योच्चैःपृच्छतीतिनिजंगुरुम् ।।२१९५।।
युष्मत्पादप्रसादेन¹ भवन्सूरिमूर्जितम् । सर्वागमपरिज्ञान कुशलं चापरं प्रति ।।२१९६।।
गन्तुमिच्छामिशक्त्यान्यागमाध्ययनहेतवे । इतितिस्रोथवा पंच षट्वापृच्छाः करोति सः ।।२१९७।।

अर्थ—जो कोई उत्तम मुनि अत्यंत बुद्धिमान् हो, समस्त गुणों से, वीर्य, धैर्य, तप, योग और उत्साह आदि समस्त गुणोंसे सुशोभित हो और उसने अपने गुरुसे उनके जाने हुए समस्त शास्त्र पढ़ लिये हों तथा फिर अन्य शास्त्रों के पढ़ने को उसकी इच्छा हो तो वह अपने गुरुको प्रणाम कर पूछता है कि हे प्रभो ! अब मैं आपके चरणों की आज्ञानुसार किसी ऐसे उत्तम और पूज्य आचार्य के पास जाना चाहता हूं जो समस्त आगम के ज्ञानमें कुशल हों तथा वहां जाकर अपनी शक्तिके अनुसार अन्य आगमों का अध्ययन करना चाहता हूं। इसप्रकार वह शिष्य तीन बार, पांच बार वा छह बार पूछता है ।।२१९४-२१९७।।

अन्य संघमें मुनि को अकेला नहीं जाना चाहिए—

एवमापृच्छ्ययोगीन्द्रंप्रेषितोगुरुणा यतिः । आत्मचतुर्थएवात्मतृतीयो वा जितेन्द्रियः २१९८।।
अथवात्मद्वितीयोसौनत्वाचार्यादिपाठकान् । निर्गच्छति ततः संघादेकाकी नतुजातुचित् ।।२१९९।।

अर्थ—इसप्रकार वह अपने गुरुसे पूछता है और यदि गुरु जाने की आज्ञा दे देते हैं तो वह मुनि अन्य तीन साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा अन्य दो साधुओं को अपने साथ लेकर अथवा कम से कम एक अन्य मुनिको अपने साथ लेकर अत्यन्त जितेन्द्रिय वह साधु आचार्य और उपाध्यायों को नमस्कार कर तथा वृद्ध मुनियों को नमस्कार कर उस संघ से निकलता है। किसी भी मुनिको अकेले कभी नहीं निकलना चाहिये ।।२१९८-२१९९।।

---

1 विख्यातं ।

जिनेन्द्र भगवान प्ररूपित गृहीतार्थ विहार एवं गृहीतार्थाश्रित विहार का स्वरूप—

यतः एकोगृहीतार्थोविहारोखिलसद्गुणैः । समर्थानां द्वितीयोन्योगृहीतार्थेनसंश्रितः ।।२२००।।
सामान्ययोगिनांयुक्त्यात्रैताभ्यां नापरः क्वचित् । विहारस्तृतीय:सर्वैरनुज्ञातोजिनेश्वरैः ।।२२०१।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि भगवान जिनेन्द्रदेव ने दो प्रकार का ही विहार बतलाया है—एक गृहीतार्थ विहार और दूसरा गृहीतार्थ के आश्रय होनेवाला विहार । जो समर्थ मुनि हैं, समस्त तत्त्वोंके जानकार हैं, अपने मार्ग का चरणानुष्ठान अच्छी तरह कर सकते हैं ऐसे मुनियों का समस्त गुणों से सुशोभित होनेवाला विहार गृहीतार्थ विहार कहलाता है । यदि ऐसी सामर्थ्य न हो फिर समस्त मार्गानुष्ठान को जानने वाले किसी मुनि के साथ विहार करना चाहिये । इसको गृहीतार्थाश्रित विहार कहते हैं । यह विहार सामान्य मुनियोंके लिये निरूपण किया गया है । इन दो विहारों के सिवाय तीसरा कोई भी विहार भगवान् जिनेन्द्रदेव ने नहीं बतलाया है ।।२२००-।।२२०१।।

कैसे गुणों से युक्त मुनि एकल विहार करने योग्य है—

सर्वोत्कृष्टतयाद्वादशांगपूर्वाखिलार्थवित् । सद्वीर्यधृतिसत्त्वाद्यस्त्र्यादिसंहननोवली ।।२२०२।।
एकत्वभावनापन्नः शुद्धभावोजितेन्द्रियः । चिरप्रवृजितो धीमान् जिताशेषपरीषहः ।।२२०३।।
इत्याद्यन्यगुणग्रामोमुनिः समतो जिनैः । श्रुतेत्रैकविहारीहि नान्यस्तद्गुणवर्जितः ।।२२०४।।

अर्थ—जो मुनि अत्यन्त उत्कृष्ट होने के कारण ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के पाठी हैं, श्रेष्ठ वीर्य, श्रेष्ठ धैर्य और श्रेष्ठ शक्ति को धारण करते हैं जो पहले के तीन संहननों में से किसी एक संहनन को धारण करनेवाले हैं, बलवान् हैं, जो सदा एकत्व भावना में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं जो जितेन्द्रिय हैं, चिरकाल के दीक्षित हैं, बुद्धिमान् हैं, समस्त परीषहों को जीतनेवाले हैं तथा और भी अन्य समस्त गुणों से सुशोभित हैं, ऐसे मुनियोंको शास्त्रोंमें एकविहारी (अकेले विहार करनेवाले) होने की आज्ञा है । जो इन गुणों से रहित है उनको भगवान जिनेन्द्रदेव ने एकविहारी होने की आज्ञा नहीं दी है ।।२२०२-२२०४।।

मेरे शत्रुओं को भी अकेले विहार नहीं करना चाहिए—

भिक्षोत्सर्गादिकालेषुगमनागमनदिकम् । अकालेशयनंनिद्यमुपवेशनमात्मनः ।।२२०५।।
विकथाकरणं यस्यस्वेच्छया जल्पनंसच । मामूदीदृशएकाकी मे शत्रुरपि भूतले ।।२२०६।।

अर्थ—जो मुनि भिक्षाके समय में वा मल मूत्रादिकके समय में गमन आगमन

करते हैं, असमय में सोते हैं वा निंदनीय आसन लगाकर बैठते हैं, जो विकथायें कहते हैं और अपनी इच्छानुसार बहुत बोलते हैं, ऐसे मेरे शत्रुओं को भी अकेले विहार नहीं करना चाहिये फिर भला मुनियों की तो बात ही क्या है ।।२२०५-२२०६।।

अकेले विहार करने से हानि—

गुरोः परिभवः शास्त्रव्युच्छेदो जडताभुवि । मलिनत्वं च तीर्थस्यविह्वलत्वंकुशीलता ।।२२०७।।
पार्श्वस्थताप्यनाचारइत्याद्यन्योगुणव्रजः । स्वेच्छयास्वगुणं त्यक्त्वाजायतैकविहारिणः ।।२२०८।।

अर्थ—अकेले विहार करने से गुरु का तिरस्कार वा उनकी निंदा होती है, श्रुतज्ञान का विच्छेद होता है, मूर्खता वा अज्ञानता बढ़ती है, जिनशासन मलिन होता है, विह्वलता तथा कुशीलता बढ़ती है, पार्श्वस्थ आदि मुनियों में रहनेवाले अवगुण आ जाते हैं और अनाचार बढ़ जाते हैं । इसप्रकार अकेले विहार करने से गुण सब चले जाते हैं और अवगुणों का समूह सब आ जाता है ।।२२०७-२२०८।।

अकेला विहार अनेक आपत्ति का कारण—

कंटकप्रत्यनीकश्वगवादिसर्पसूरिभिः । म्लेच्छाद्यै दुर्जनैर्दुष्टैर्विसूचिकाविषादिकैः ।।२२०९।।
अन्यैरुपद्रवैर्घोरैरेकाकीविहरन् भुविः । प्राप्नोत्यात्मविपत्तिं च दृगादिसद्गुणैःसमा ।।२२१०।।

अर्थ—इसके सिवाय अकेले विहार करने से आपत्तियां भी बहुत आती हैं, कांटे, शत्रु, कुत्ते, पशु, सर्प, बिच्छू, म्लेच्छ आदि दुर्जन, दुष्ट आदि अनेक जीवोंके द्वारा तथा विसूचिका आदि रोगों के द्वारा विषादिक आहार के द्वारा तथा और भी अनेक घोर उपद्रवोंके द्वारा अनेक प्रकार की आपत्तियां आती हैं । तथा सम्यग्दर्शनादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ अन्य गुण भी सब नष्ट हो जाते हैं ।।२२०९-२२१०।।

शिथिल मुनि अन्य की सहायता नहीं चाहता—

कश्चिदगौरवकोमन्दोगृद्धिकः कुटिलाशयः । दृक्च्युतोविषयासक्तोमायावीशिथिलोधमः ।।२२११।।
आलस्यप्रसितोलुब्धोनिर्धर्मः पापधीः शठः । स्वेच्छाचारणशीलोत्र संवेगादिगुणातिगः ।।२२१२।।
कुशीलः कुत्सिताचारोजिनाज्ञाद्दूरगोनिजे । संवसन्नपि गच्छे नेच्छति संघाटकंपरम् ।।२२१३।।

अर्थ—जो मुनि गौरव सहित है अर्थात् किसी ऋद्धि आदि का जिसको अभिमान है, जो मंदबुद्धि है, लोभी है, हृदय का कुटिल है, सम्यग्दर्शन से रहित है, विषयासक्त है, मायाचारी है, शिथिल है, नीच है, आलसी है, लंपटी है, धर्महीन है, पापी है, मूर्ख है, जो इच्छानुसार अपने आचरण करता है, संवेग आदि गुणोंसे रहित है, कुशील

है, कुत्सित आचरणोंको पालन करनेवाला है और भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञासे दूर रहता है, ऐसा कोई मुनि अपने गच्छमें[1] रह जाय वा निवास करता हो तो वह अन्य किसी की भी सहायता नहीं चाहता। क्योंकि वह स्वयं शिथिल है ॥२२११-२२१३॥

अकेले विहार करना पांच पाप के स्थान का कारण—

जिनाज्ञोल्लंघनंचैकमनवस्थास्वशासने। मिथ्यात्वाराधनंस्वात्मनाशःसार्द्धं दृगादिभिः ॥२२१४॥
समस्तसंयमस्यात्रविराधनाह्यमूनि भोः। निकाचितानिपंचस्यु स्थानान्येकविहारिणः ॥२२१५॥

अर्थ—अकेले विहार करनेवाले मुनि के पांच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं। एक तो भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन होता है, दूसरे जिन शासन में अव्यवस्था हो जाती है अर्थात् सभी मुनि अकेले विहार करने लग जाते हैं, तीसरे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है, चौथे सम्यग्दर्शनादिक गुणों के साथ-साथ अपने आत्माका ज्ञान चारित्र आदि सब गुणोंका नाश हो जाता है और पांचवें समस्त संयम की विराधना हो जाती है। इसप्रकार एक विहारी के पांच पापों के स्थान उत्पन्न हो जाते हैं। ॥२२१४-२२१५॥

किस गुरुकुल में सज्जन मुनि निवास नहीं करें—

न तत्र कल्पते वासः सतां गुरुकुले भुवि। यत्रैतेगुणवृद्धयै न पंचाधाराभवन्त्यहो ॥२२१६॥
महान्सूरिरुपाध्यायः प्रवर्तको गुणाकरः। स्थविरश्चगणाधीशः पंचाधारापराइमे ॥२२१७॥

अर्थ—जिस गुरुकुल में गुणों की वृद्धि के लिये महान् आचार्य उपाध्याय, गुणोंके समुद्र प्रवर्तक स्थविर और गणाधीश ये पांच उत्कृष्ट आधार न हों उस गुरुकुलमें सज्जन मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिये ॥२२१६-२२१७॥

आचार्य एवं उपाध्याय का लक्षण—

पंचाचाररतःशिष्यानुग्रहे कुशलोमहान्। दीक्षाशिक्षादिसंस्कारैराचार्यः स्याद्गुणार्णवः ॥२२१८॥
धर्मोपदेशकोधीमान् धीमतांपाठनोद्यतः। अंगपूर्वप्रकीर्णानांयोत्रतंविद्धिपाठकम् ॥२२१९॥

अर्थ—जो पंचाचार पालन करने में तत्पर हों, जो शिष्यों का अनुग्रह करने में कुशल हों, जो दीक्षा शिक्षा आदि संस्कारों से सर्वोत्कृष्ट हों और जो गुणों के समुद्र हों, उनको आचार्य कहते हैं। जो सदा धर्म का उपदेश देते हों, अत्यन्त बुद्धिमान हों और बुद्धिमान शिष्यों के लिये जो अंग पूर्व वा प्रकीर्णक शास्त्रोंके पढ़ाने में सदा तत्पर

---

[1] १—तीन मुनियों का गण और सात मुनियों का गच्छ कहलाता है।

रहते हों उनको पाठक वा उपाध्याय कहते हैं ।।२२१८-२२१९।।

प्रवर्तक एवं स्थविर मुनि का लक्षण—

चतु:श्रमणसंघानांचर्यादिमार्गदेशने । प्रवृत्याद्युपकारान् यः करोति स प्रवर्तकः ।।२२२०।।
बालवृद्धयादिशिष्याणांसन्मार्गस्योपदेशकः । यः सर्वज्ञाज्ञयायुक्त्यास्थविरःसोन्यमानितः ।।२१।।

अर्थ—जो श्रेष्ठ मुनि चारों प्रकार के मुनियों को चर्या आदि के मार्ग को दिखलाने में वा प्रवृत्ति कराने में उपकार करते हों उनको प्रवर्तक साधु कहते हैं । जो मुनि सर्वज्ञदेव की आज्ञाके अनुसार युक्तिपूर्वक बालक वा वृद्ध शिष्यों को श्रेष्ठ मार्गका उपदेश देते हैं तथा जिन्हें सब मानते हैं उनको स्थविर कहते हैं ।।२२२०-२२२१।।

गणधर मुनि का लक्षण—

गणस्य सर्वसंघस्य पालकः परिरक्षकः । यो नानोपायशिक्षाद्यै र्ज्ञेयोगणधरोत्रसः ।।२२२२।।

अर्थ—जो शिक्षा आदि अनेक उपायोंसे समस्त संघकी रक्षा करते हों, सबका पालन करते हों, उनको गणधर कहते हैं ।।२२२२।।

कैसे आचार्य का सामिप्य ही गुण वृद्धि का कारण है—

अमीषां निकटेनूनंवसतांगुणराशयः । वर्द्धन्तेसाहचर्येणयथाब्धौवायुनोर्मयः ।।२२२३।।

अर्थ—जिसप्रकार वायुसे समुद्र की लहरें बढ़ती हैं, उसीप्रकार इन आचार्य आदि के समीप निवास करने से उनके सहवास से अनेक गुणों के समूह बढ़ते हैं । ।।२२२३।।

इच्छानुसार विहार करोड़ों दोषों का कारण है—

स्वेच्छावासविहारादिकृतामेकाकिनांभुवि । हीयन्तेसद्गुणानित्यं वर्द्धन्ते दोषकोटयः ।।२२२४।।

अर्थ—जो मुनि अकेले ही अपनी इच्छानुसार चाहे जहां निवास करते हैं, चाहे जहां विहार करते हों उनके श्रेष्ठ गुण सब नष्ट हो जाते हैं और करोड़ों दोष प्रतिदिन बढ़ते रहते हैं ।।२२२४।।

पंचम कालमें २-३ साधु सहित विहार ही कल्याणकारी है—

अद्याहोपंचमेकालेमिथ्यादृग्दुष्टपूरिते । हीनसंहननानां च मुनीनां चंचलात्मनाम् ।।२२२५।।
द्वित्रितुर्यादिसंख्येनसमुदायेन क्षेमकृत् । प्रोक्तोवासोविहारश्चव्युत्सर्गकरणादिकः ।।२२२६।।

अर्थ—यह पंचमकाल मिथ्यादृष्टि और दुष्टों से ही भरा हुआ है । तथा इस

कालमें जो मुनि होते हैं वे हीन संहनन को धारण करनेवाले और चंचल होते हैं। ऐसे मुनियों को इस पंचम कालमें दो तीन चार आदि की संख्या के समुदाय से ही निवास करना समुदायसे ही विहार करना और समुदाय से ही कायोत्सर्ग आदि करना कल्याणकारी कहा है ॥२२२५-२२२६॥

आगम विरुद्ध अन्यथा प्रवृत्ति करने का निषेध—

सर्वोयतिशुभाचारो यत्याचारो जिनेश्वरैः। आचारगुणचिद्वृद्धयं नान्यथाकार्यकोटिभिः ॥२७॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने यत्नाचार ग्रंथोंमें यतियोंके समस्त शुभ आचार गुण और आत्माकी शुद्धता की। वृद्धिके लिये कहे हैं इसलिये करोड़ों कार्यों के होनेपर भी अन्यथा प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये ॥२२२७॥

पुनः संघ सहित विहार करने की प्रेरणा—

यतोत्रविषमेकालेशरीरेचान्नकीटके। निसर्गचंचले चित्तेसत्वहीनेखिले जने ॥२२२८॥
जायतेकाकिनां नैवनिर्विघ्नेनव्रतादिकः। स्वप्नेपि न मनः शुद्धिः निष्कलंकंनदीक्षणम् ॥२२२९॥
विज्ञायेत्यखिलाः कार्याः संघाटकेन संयतैः। विहारस्थितियोगाद्यास्तन्निर्विघ्नायशुद्धये ॥२२३०॥

अर्थ—क्योंकि यह पंचम काल विषम काल है, इसमें मनुष्यों के शरीर अन्न के कीड़े होते हैं, तथा उनका मन स्वभाव से ही चंचल होता है और पंचमकाल के सब ही मनुष्य शक्तिहीन होते हैं। अतएव एकाकी विहार करनेवालों के व्रतादिक स्वप्न में भी कभी निर्विघ्न नहीं पल सकते। तथा उनके मनकी शुद्धि भी कभी नहीं हो सकती और न उनकी दीक्षा कभी निष्कलंक रह सकती है। इन सब बातों को समझकर मुनियों को अपने विहार निवास वा योगधारण आदि समस्त कार्य निर्विघ्न पूर्ण करने के लिये तथा उनको शुद्ध रखने के लिये संघके साथ ही विहार आदि समस्त कार्य करने चाहिये, अकेले नहीं ॥२२२८-२२३०॥

तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा उल्लंघन से हानि—

इमां तीर्थंकृतामाज्ञामुल्लंघ्य ये कुमार्गगाः। स्वेच्छावासविहारादीन्कुर्वंतेदृष्टिदूरगाः ॥२२३१॥
तेषामिहैव नूनंस्याद्दृग्ज्ञानचरणक्षयः। कलंकता च दुस्त्याज्या ह्यपमानः पदेपदे ॥२२३२॥
परलोकेसर्वज्ञाज्ञोल्लंघनाद्यतिपापतः। श्वभ्रादिदुर्गतौघोरं भ्रमणं च चिरंमहत् ॥२२३३॥

अर्थ—जो कुमार्गगामी इस तीर्थंकर परमदेव की आज्ञा को उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार विहार वा निवास आदि करते हैं उनको सम्यग्दर्शन से ही रहित

समझना चाहिये । ऐसे मुनियों के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इसी लोकमें नष्ट हो जाते हैं, इसी लोकमें वे कलंकित हो जाते हैं, संघके बाहर करने योग्य हो जाते हैं और पद-पद पर उनका अपमान होता है । भगवान सर्वज्ञदेव की आज्ञा को उल्लंघन करने रूप महापाप से वे लोक-परलोकमें भी नरकादिक दुर्गतियोंमें चिरकाल तक महा घोर परिभ्रमण किया करते हैं ।।२२३१-२२३३।।

जिनेन्द्रदेव की आज्ञा उल्लंघन का निषेध—

इत्यपायं विदित्वात्रामुत्रचैकविहारिणाम् । अनुल्लंघ्यांजिनेन्द्राज्ञांप्रमाणीकृतमानसे ।।२२३४।।

अर्थ—इसप्रकार अकेले विहार करनेवाले मुनियों का इस लोकमें नाश होता है और परलोक भी नष्ट होता है, यही समझकर अपने मनमें भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञाको ही प्रमाण मानना चाहिये और उसको प्रमाण मानकर उसका उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिये ।।२२३४।।

पुनः अकेले रहने का एवं विहार करने का निषेध—

स्थितिस्थानविहारादीन्समुदायेनसंयताः । कुर्वन्तुस्वगुणादीनां वृद्धये विघ्नहानये ।।२२३५।।

अर्थ—मुनियों को अपने गुणों की वृद्धि करने के लिये तथा विघ्नों को शांत करने के लिये अपना निवास वा विहार आदि सब समुदाय के साथ ही करना चाहिये अकेले न रहना चाहिये, न विहार करना चाहिये ।।२२३५।।

विद्या प्राप्ति हेतु मुनि कैसे आचार्य के निकट जावें—

गच्छतातेनयल्लब्धंकिंचिद्विद्यार्थिनायदि । सचित्ताचित्तमिश्रं च द्रव्यं सत्पुस्तकादिकम् ।।२२३६।।
अन्तरालेत्र तस्यार्हः एषसूरिर्नंचापरः । एवं गुणविशिष्टःस्यात्सोपि विश्वहितंकरः ।।२२३७।।
संग्रहानुग्रहाभ्यां च कुशलोधर्मप्रभावकः । सतांविख्यातकीर्तिर्जिनसूत्रार्थविशारदः ।।२२३८।।
सत्क्रियाचरणाधारः षट्त्रिंशद्गुणभूषितः । गम्भीरोब्धिरिवाक्षोभ्यःक्षमयाक्ष्मासमोमहान् ।।३९।।
सौम्येन चन्द्रसादृश्यःस्वच्छाम्बुवत्प्रशान्तवान् । पंचाक्षारि जयेशूरोमिथ्यात्वशत्रुघातकः ।।४०।।
इत्याद्यन्यगुणाधारोयोत्राचार्योजगद्धितः । अजय्यःप्राप्तवान्शिष्यः स विद्याप्त्यैक्रमेणतम ।।४१।।

अर्थ—मार्ग में चलते हुए उस विद्यार्थी मुनि को पुस्तक आदि अचित्त वा विद्यार्थी आदि सचित्त अथवा मिले हुए पदार्थ मिले तो उसको ग्रहण करने के अधिकारी आचार्य ही होते हैं । तथा वे आचार्य भी ऐसे होने चाहिये जो समस्त जीवों का हित करनेवाले हों, संग्रह (दीक्षा देकर अपना बनाना वा संघ बढ़ाना) और अनुग्रह (संस्कारों

से दीक्षितों के गुण बढ़ाना) करने में कुशल हों, धर्म की प्रभावना करनेवाले हों, सज्जनों में जिनकी कीर्ति प्रसिद्ध हो, जो जिनसूत्रों के अर्थ कहने में निपुण हों, श्रेष्ठ क्रिया और आचरणों के आधार हों, छत्तीस गुणोंसे विभूषित हों, समुद्रके समान गंभीर हों, परंतु जो कभी भी क्षुब्ध न होते हों, क्षमा गुणके कारण जो पृथ्वी के समान सर्वोत्कृष्ट हों, सौम्यता गुणसे जो चन्द्रमा के समान हों, निर्मल जलके समान अत्यन्त शांत वा शीतल हों, पंचेन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतने में जो अत्यन्त शूरवीर हों, मिथ्यात्व रूपी शत्रुओं को घात करनेवाले हों, तथा और भी अनेक गुणों के आधार हों, तीनों लोकों का हित करनेवाले हों और जो किसी से भी नहीं जीते जा सकते हों, उनको आचार्य कहते हैं। वह शिष्य अपनी विद्या की प्राप्ति के लिये अनुक्रम से चलता हुआ ऐसे आचार्य के समीप पहुंचता है ।।२२३६-२२४१।।

पर संघ से आये मुनि को देखकर संघ के मुनि किस प्रकार उसका विनय करें—

आगच्छन्तंनिजास्थानंप्राघूर्णकं सुसंयतम् । तं वीक्ष्यसहसासर्वेसमुत्तिष्ठन्तिसंयताः ।।२२४२।।
वात्सल्यहेतवेदक्षाजिनाज्ञापालनाय च । परस्परंप्रणामायह्यात्मीयकरणाय वा ।।२२४३।।

अर्थ—उस शिष्यके वहां पहुंचनेपर उस संघके सब मुनि अपने स्थान में आए हुए उन अभ्यागत मुनि को देखकर अपना वात्सल्य दिखलाने के लिये, भगवान् जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का पालन करने के लिये उनके साथ परस्पर नमस्कार करने के लिये और उनको अपना बनाने के लिये एक साथ उठकर खड़े हो जाते हैं ।।२२४२-२२४३।।

वन्दना प्रतिवन्दना योग्यता अनुसार करते हैं—

ततः सप्तप्रदान्गत्वा भक्त्या तत्सन्मुखं च ते । प्रकुर्वन्तियथायोग्यं वंदनांप्रतिवंदनाम् ।।२२४४।।

अर्थ—तदनन्तर वे सब मुनि भक्तिपूर्वक सात पेंड तक उनके सन्मुख जाते हैं तथा अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार वंदना अथवा प्रतिवंदना करते हैं ।।२२४४।।

तदनन्तर आगन्तुक मुनि की रत्नत्रय विशुद्धि पूछें—

यस्यागतस्य यत्कृत्यंकृत्वांघ्रिमर्दनादितत् । रत्नत्रयपरिप्रश्नंप्रीत्यैकुर्युस्तपोधनाः ।।२२४५।।

अर्थ—फिर संघके वे सब मुनि उन आये हुए मुनिके पादमर्दन (पैर दाबना) आदि करने योग्य कार्य करते हैं और फिर अपना प्रेम दिखलाने के लिये रत्नत्रय की विशुद्धि पूछते हैं ।।२२४५।।

तीन रात दिन तक आगन्तुक मुनि की सहायता करते हैं—

आयातस्यत्रिरात्रंसत्परीक्षाकरणाय च । संघाटकः प्रदातव्योनियमात्तेन सूरिणा ।।२२४६।।

अर्थ—तदनंतर उस संघके आचार्य आये हुए, उन मुनि की परीक्षा करने के लिये तीन रात तक नियम से उनकी सहायता करते हैं । रहने, चर्या करने, साथ रहने आदि में सहायता करते हैं ।।२२४६।।

आगन्तुक मुनि के चारित्रादि की परीक्षा करना चाहिये—

आगन्तुकाश्च वास्तव्याः परीक्षन्ते परस्परम् । अवबोधायवृत्तानांयत्नेनाचरणाय च ।।२२४७।।
आवश्यकतनूत्सर्गस्वाध्यायकरणादिषु । भिक्षाकाले मलोत्सर्गेसमित्यादिप्रपालने ।।२२४८।।

अर्थ—उन आये हुए मुनियों को अपने यहां निवास कराना चाहिये और उनके चारित्रका ज्ञान तथा परस्पर का ज्ञान करने के लिये प्रयत्नपूर्वक आचरण कराने के लिये आवश्यक करते समय, कायोत्सर्ग करते समय, स्वाध्याय करते समय, भिक्षा करते समय, मलमूत्र त्याग करते समय और समितियों के पालन करते समय उनकी परीक्षा करनी चाहिये ।।२२४७-२२४८।।

आगन्तुक मुनि भी आचार्य की परीक्षा कर अपने प्रयोजन का निवेदन करे—

विश्रान्तस्तद्दिनं स्थित्वा परीक्ष्याचार्यमुत्तमम् । स्वास्यागमनकार्यं स विनयेन निवेदयेत् ।।२२४९।।

अर्थ—वे आये हुए मुनि उस दिन ठहर कर विश्राम लेते हैं अथवा दो तीन दिन तक विश्राम करते हैं और फिर उत्तम आचार्य की परीक्षा कर बड़ी विनयके साथ उनसे अपने आने का प्रयोजन निवेदन करते हैं ।।२२४९।।

आचार्य आगन्तुक मुनि से नाम आदि पूछते हैं—

ततस्तस्यकुलंनामगुरुं दीक्षादिनानि च । श्रुतागमनकष्टाटीन्गणीपृच्छतिचादरात् ।।२२५०।।

अर्थ—तदनंतर वे आचार्य आदर के साथ उनसे पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या है, तुम किस गुरुके शिष्य हो, दीक्षा किससे ली है, दीक्षा लिये कितने दिन हो गये, तुम्हारा श्रुतज्ञान कितना है और किस दिशा से कहांसे आये हो । ये सब बातें आचार्य उनसे पूछते हैं ।।२२५०।।

आगन्तुक मुनि परीक्षा में शुद्ध हृदय वाला सिद्ध हो जानेपर श्रुतके पठनादि करने की आज्ञा देते—

इतिप्रश्नपरीक्षाद्यैर्यद्यसौशुद्धमानसः । विनीतउद्यमीधीमान् व्रतशीलापरिच्युतः ।।२२५१।।
तदास्यसूरिणा तेन निजशक्त्यासमीहितम् । श्रुतादिपाठनंसर्वंविधेयंविधिपूर्वकम् ।।२२५२।।

अर्थ—इसप्रकार के प्रश्नों से तथा परीक्षा आदि से यदि वे मुनि शुद्ध हृदय वाले सिद्ध हो जाते हैं तथा वे मुनि विनयवान् उद्यमी बुद्धिमान् हैं, व्रतशील से परिपूर्ण हैं तो वे आचार्य उनसे कह देते हैं कि तुम जो अपनी इच्छानुसार श्रुतादिका पठन-पाठन करना चाहते तो वह अपनी शक्तिके अनुसार विधि पूर्वक करो ।।२२५१-२२५२।।

व्रताचरण से अशुद्ध आगन्तुक मुनि को छेदोपस्थापना आदि तपश्चर [प्रायश्चित्त] देते हैं—

यद्यशुद्धो व्रताचारैरागन्तुकस्ततोस्य च । दातव्यंगणिना छेदोपस्थापनादिकं तपः ।।२२५३।।

अर्थ—यदि उस परीक्षा में आचार्य यह समझते हैं कि इनके व्रत आचरण आदि शुद्ध नहीं है तो वे आचार्य उनको व्रतोंकी शुद्धि के लिये छेदोपस्थापना आदि तपश्चरण करने के लिये कहते हैं ।।२२५३।।

प्रायश्चित्त स्वीकार नहीं करनेवाले मुनि को संघ में नहीं रखते—

यदीच्छति न शिष्योसौ तत्प्रायश्चित्तमंजसा । वर्जनीयस्ततस्तेनस्वसंघाच्छिथिलोद्धतम् ।।२२५४।।

अर्थ—यदि वे आये हुये शिष्य मुनि उन आचार्यों के दिये प्रायश्चित्त को स्वीकार नहीं करते हैं तो वे आचार्य ऐसे शिथिलाचारियों को शीघ्र ही छोड़ देते हैं अपने संघमें नहीं रखते ।।२२५४।।

शिथिलाचारियों को सघ में रखने से आचार्य छेद प्रायश्चित्त के भागी होते हैं—

व्यामोहेनाथवाचार्योऽशुद्ध गृह्णातितादृशम् । ततः सोपि गणी नूनंछेदार्हःस्यान्नचान्यथा ।।२२५५।।

अर्थ—यदि वे आचार्य किसी मोह वा अज्ञानता के कारण उस अशुद्ध आचरण वाले शिथिलाचारी को अपने संघ में रख लेते हैं तो फिर वे आचार्य भी छेद नाम के प्रायश्चित्त के भागी हो जाते हैं । फिर बिना छेद प्रायश्चित्त के वे आचार्य भी शुद्ध नहीं हो सकते । २२५५।।

आगन्तुक मुनिको आत्मशुद्धि के लिये द्रव्यादि शुद्धि पूर्वक आगम का अभ्यास करना चाहिए—

एवमुक्तक्रमेणंषप्राघूर्णकउपस्थितः । गृहीतोविधिनानेनकुर्यादेवं ततश्चिदे ।।२२५६।।
सम्यग्द्रव्यधरांगाद्यान् प्रतिलेख्यप्रयत्नतः । क्षेत्रकालविशुद्धि च भावशुद्धिश्रुताम्बिकाम् ।।२२५७।।
विधायसूरिमानम्योपचारविनयादिभिः । शिष्येणात्रत्रिशुद्धयासदाध्येतव्यंजिनागमम् ।।२२५८।।

अर्थ—यदि आचार्य ने विधि पूर्वक उन आए हुए मुनियोंको ग्रहण कर लिया हो तो फिर उन आये हुये शिष्यों को अपनी आत्मशुद्धि के लिये नीचे लिखे अनुसार कार्य करने चाहिये । सबसे पहले उपकरण आदि द्रव्यों को, पृथ्वी को, अपने शरीर

आदि को प्रतिलेखन करना चाहिये, फिर क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि धारण कर आचार्य और जिनवाणी माता को नमस्कार करना चाहिये। और उस शिष्य को उपचारादिक विनय के साथ मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक जिनागमका सदा अभ्यास करते रहना चाहिये ।।२२५६-२२५८।।

अविनय पूर्वक जिनागम अभ्यास का निषेध एवं उससे होनेवाली हानि का निर्देश—

सुसूत्रार्थात्मसंस्कारशिक्षालोभादिभिर्न सः। कुर्यात्परिभवंशास्त्राणांद्रव्यादिव्यतिक्रमैः ।।२२५६।।
यतःपरिभवान्नूनंज्ञानस्याचार्यशिष्ययोः। अप्रीतिर्बुद्धिनाशश्च ज्ञानावरणकर्म च ।।२२६०।।
असमाधिजिनेन्द्राज्ञोल्लंघनंदृग्विनाशनम् । कलहः श्रुतहानिश्चरुग्वियोगादिकं भवेत् ।।२२६१।।

अर्थ— उस शिष्य को सूत्र और अर्थके ज्ञानके लोभसे द्रव्य क्षेत्र आदि के अविनयसे शास्त्रोंका अविनय वा तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि ज्ञानका अविनय करने से आचार्य और शिष्यों में प्रेम नहीं रहता, बुद्धि का नाश हो जाता है, ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है, समाधि का नाश होता है, भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन होता है, सम्यग्दर्शन का नाश होता है, परस्पर गुरु शिष्योंमें कलह हो जाती है, श्रुतज्ञान की हानि हो जाती है, अनेक रोगादिक हो जाते हैं और इष्ट वियोग हो जाता है ।।२२५९-२२६१।।

कालशुद्धि पूर्वक आगम अभ्यास करने की प्रेरणा—

विज्ञायेत्याखिलैर्दक्षैः कालादिशुद्धमंजसा। कृत्वाजिनागमंनित्यमध्येतव्यंविशुद्धये ।।२२६२।।

अर्थ—यही समझकर समस्त चतुर पुरुषों को अपने आत्माको शुद्ध करने के लिये कालशुद्धि आदि को धारण कर प्रतिदिन जिनागम का अभ्यास करते रहना चाहिये ।।२२६२।।

संस्तर शुद्धि की प्रेरणा—

संस्तरावासकादीनामुभयोः कालयोः सदा। प्रकाशे वसता तत्र कर्तव्यंप्रतिलेखनम् ।।२२६३।।

अर्थ—वहांपर रहते हुए उस शिष्यको प्रातःकाल और संध्याकाल दोनों समय अपने संस्तर और रहने के अवकाश को प्रकाश में ही प्रतिलेखन कर लेना चाहिये। पीछीसे शोध लेना और नेत्रोंसे देख लेना चाहिये ।।२२६३।।

परगण में भी आचार्य से पूछकर ही भिक्षादि चर्या करनी चाहिये—

ग्रामादिगमनेभिक्षादानेकार्येष्वखिले। उत्तरादिसुयोगेचापृच्छाकार्यात्रपूर्ववत् ।।२२६४।।

अर्थ—किसी गांवको जाते समय भिक्षार्थ चर्याके लिये जाते समय वा और भी समस्त शुभ कार्यों के करते समय उस आये हुए शिष्य को पहले के समान आचार्य से वा अन्य साधुओं से पूछना चाहिये। जिसप्रकार अपने गणमें रहकर आचार्य आदि से पूछकर कार्य करता था उसीप्रकार परगणमें रहते हुए भी आचार्य आदि से पूछकर ही सब काम करना चाहिये ॥२२६४॥

आचार्यादि की वैयावृत्य करने की प्रेरणा—

वसतान्यगणेतेनात्र चर्यादि तपोभृताम्। वैयावृत्यंयथायोग्यं कर्तव्यं दशधादरात् ॥२२६५॥

अर्थ—दूसरे के गणमें रहते हुए भी उस शिष्य मुनिको आचार्य तपस्वी आदि दश प्रकार के मुनियों का वैयावृत्य यथायोग्य रीति से आदर के साथ करते रहना चाहिये ॥२२६५॥

प्रतिक्रमणादि एवं मिथ्याकारादि द्वारा व्रत शुद्धि करने की प्रेरणा—

अहोरात्रभवाः पक्षचतुर्मासाब्दगोचराः। सर्वाक्रियाविधातव्यास्तेन तैर्योगिभिःसमम् ॥२२६६॥
यस्मिन् गच्छेतिचारोत्र जातोवाक्कायमानसैः। मिथ्याकारादिभस्तत्रकार्यंतस्यविशोधनम् ॥६७॥

अर्थ—उस समय आए हुए शिष्यको उस संघके मुनियों के साथ ही दैवसिक रात्रिक पाक्षिक चातुर्मासिक वा वार्षिक प्रतिक्रमण आलोचना आदि समस्त क्रियाएं करनी चाहिये। जिस गण वा गच्छमें अतिचार लगा हो उसको मन-वचन-कायसे होने वाले मिथ्याकारादिक के द्वारा उसी गण वा गच्छ में शुद्ध करना चाहिये ॥२२६६-२२६७॥

अकेले मुनि को आर्यिका के साथ ठहरने का निषेध—

आर्यिकाद्यखिलस्त्रीणांकालेचागमने क्वचित्। स्थातव्यं विजने नैव मुनिनैकाकिना भुवि ॥६८॥

अर्थ—अर्जिका आदि समस्त स्त्रियां यदि आने के समय भी आवें तो भी निर्जन स्थान में अकेले मुनि को कभी नहीं ठहरना चाहिये ॥२२६८॥

अकेली आर्यिका से बातचीत करने से उत्पन्न दोषों का कथन—

ताभिरार्यादियोषिद्भिः सहालापोतिदोषकृत्। अकार्येण न कर्तव्योमुनिर्भिर्निर्मलाशयैः ॥२२६९॥

अर्थ—उन अर्जिका आदि स्त्रियों के साथ बातचीत करना भी अनेक दोष उत्पन्न करनेवाला है। अतएव निर्मल हृदय को धारण करनेवाले मुनियोंको बिना काम के उनके साथ कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये ॥२२६९॥

मुनि आर्यिका को कब प्रश्न का उत्तर देवें और कब नहीं देवें—

एकाकिन्यार्यिकायाश्च कृतं प्रश्नं सुसूत्रजम् । मुनिनैकाकिना जातु कथनीयं न शुद्धये ।।२२७०।।
गणिनीमग्रतः कृत्वा यदि प्रश्नं करोतिसा । तदास्याः कथयेन्नूनं तदर्थंसंयमीस्फुटम् ।।२२७१।।

अर्थ—यदि कोई अकेली अर्जिका अकेले मुनि से शास्त्र के भी प्रश्न करे तो उन अकेले मुनि को अपनी शुद्धि बनाये रखने के लिये कभी उसका उत्तर नहीं देना चाहिये । यदि वह अर्जिका अपनी गणिनी को (गुराणी को) आगे कर कोई प्रश्न करे तो उन अकेले संयमी मुनि को उस सूत्रका अर्थ समझा देना चाहिये वा प्रश्न का उत्तर दे देना चाहिये ।।२२७०-२२७१।।

तरुण मुनिकों तरुण आर्यिका से बातचीत करंने से पांच दोष लगते हैं उसका वर्णन—

तरुणोयदिसद्योगीतरुण्यार्यिकयासमम् । कथालापादिकं कुर्यात्तस्येदं दोषपंचकः ।।२२७२।।
आज्ञाभंगोजिनेन्द्रस्यानवस्थाजिनशासने । मिथ्यात्वाराधनासार्द्धं मात्मनाशोगुणव्रतैः ।।२२७३।।
समस्तसंयमस्यैवविराधनानिकाचिताः । इमे पंच महादोषाः कृतास्तेनवृथात्मनः ।।२२७४।।

अर्थ—यदि कोई तरुण श्रेष्ठ मुनि किसी तरुणी अर्जिका के साथ कथा वा बातचीत करे तो उसको नीचे लिखे पांचों दोष लगते हैं । पहले तो भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का भंग होता है । दूसरे जिनशासनमें अव्यवस्था हो जाती है सब लोग ऐसा ही करने लग जाते हैं । तीसरे मिथ्यात्व की आराधना हो जाती है । चौथे गुण और व्रतों के साथ-साथ उसके आत्माका नाश हो जाता है और पांचवें उसके समस्त संयम की विराधना हो जाती है । इसप्रकार महापापों के स्थान ऐसे पांचों दोष उस मुनिको व्यर्थ ही लग जाते हैं ।।२२७२-२२७४।।

मुनिको आर्यिका की एवं आर्यिका को मुनिकी वसतिकामें स्वाध्यायादि क्रियायें नहीं करना चाहिये—

मुनीनामार्यकास्थानेस्थातुं जातुनयुज्यते । स्वाध्यायश्चतनूत्सर्गोगृहीतु शयनासनम् ।।२२७५।।
विधातुंनोचितंकर्तुं प्रतिक्रमणसत्क्रिया । अन्यद्वा श्रुतपाठादिरोगक्लेशादिकारणैः ।।२२७६।।
एताः सर्वाः क्रिया चान्ये पादप्रक्षालनादयः । जातुकर्तुं न युज्यन्तेव्रार्याणांसंयताश्रमे ।।२२७७।।

अर्थ—मुनियों को अर्जिकाओं के स्थान में कभी नहीं ठहरना चाहिये, न वहां स्वाध्याय करना चाहिये, न कायोत्सर्ग करना चाहिये, न शयन वा आसन ग्रहण करना चाहिये, प्रतिक्रमण आदि श्रेष्ठ क्रियाएं भी वहां नहीं करनी चाहिये अथवा शास्त्रों का पठन-पाठन भी वहांपर नहीं करना चाहिये । किसी रोग वा क्लेश हो जाने के कारण

भी ये सब क्रियाऐं अर्जिकाओं के आश्रम में मुनियोंको नहीं करनी चाहिये। तथा इनके सिवाय पादप्रक्षालन आदि क्रियाएं भी मुनियों को अर्जिकाओं के आश्रम में नहीं करनी चाहिये। इसी प्रकार अर्जिकाओं को भी मुनियों के आश्रम में ये सब क्रियाएं नहीं करनी चाहिये ।।२२७५-२२७७।।

काम विकार से मलिन मुनि सबका तिरस्कार कर गुणों को नष्ट कर देता है—

यतःस्थविरमात्मानंचिरप्रवृजितंगुरुम् । बहुश्रुतागमज्ञंचाचार्यंपूज्यंतपस्विनम् ।।२२७८।।
महागुणपदारूढवंद्यं न गणयेद्यमी । कामार्तःमलिनः शीघ्रं कुलं चापि विनाशयेत् ।।२२७६।।

अर्थ—इसका भी कारण यह है कि जिसका हृदय काम के विकार के दुःख से मलिन हो रहा है, ऐसा मुनि न तो किसी वृद्ध मुनिको समझता है, न अपने आत्मा को समझता है, न चिरकाल के दीक्षित मुनि को गिनता है, न गुरु को गिनता है, महा श्रुतज्ञान और आगम को जानने वाले उपाध्याय को गिनता है, न आचार्य को गिनता है, न किसी पूज्यको समझता है, न घोर तपस्वी को गिनता है, न महा गुण और महा पदों पर आरूढ़ हुए महा मुनियों को गिनता है और न किसी वंदनीय मुनि को गिनता है। वह काम सेवन की इच्छा करनेवाला मुनि शीघ्र ही अपने कुल तक को नाश कर देता है। भावार्थ—वह मुनि सबका तिरस्कार करता है और अपने समस्त गुणों को नष्ट कर देता है ।।२२७८-२२७६।।

स्त्रियों के साथ बातचीत निंदा का कारण है—

कन्यकां विधवां वृद्धांस्वैरिणींयौवनात्मिकाम् । राज्ञीं विलासिनींदासींलिंगिनीं वा तपस्विनीम् ।।
वार्तादिजल्पनैरेषोलीयमानो चिरादपि । अपवादमवाप्नोतिसंयमी विश्वनिन्दितम् ।।२२८१।।

अर्थ—जो संयमी किसी कन्या, विधवा, वृद्धा, इच्छानुसार घूमने वाली, यौवनवती, रानी, वेश्या, दासी, तपस्विनी, स्वमत वा अन्य मतकी दीक्षिता आदि किसी भी प्रकार की स्त्रियों के साथ बातचीत कर उनके साथ संलग्न होता है वह मुनि बहुत ही शीघ्र संसारभर में अत्यन्त निंदनीय अपवाद को प्राप्त होता है अर्थात् तीनों लोकों में उसकी निंदा फैल जाती है ।।२२८०-२२८१।।

आर्यिकाओं को प्रतिक्रमणादि करवाने वाले आचार्य का लक्षण—

दृढधर्मोतिसंविग्नोऽवद्यभीरुमहातपाः । धीरःस्थिरमनाः शुद्धोविक्रियाकौतुकातिगः ।।२२८२।।
संग्रहानुग्रहादौ च कुशलः संघयोगिनाम् । गम्भीरोमितवादी च ज्येष्ठो दीक्षाश्रुतादिभिः ।।८३।।

इत्याद्यन्यगुणैःपूर्णोयोजय्यःसूरिरुत्तमः । सः स्याद्गणधरोत्रार्याणांप्रतिक्रमणादिषु ।।२२८४।।

अर्थ—अतएव जो अपने धर्म में दृढ़ हैं, जो धर्म और धर्मके फलमें हर्ष मनाने वाले हैं, जो पापोंसे भयभीत हैं, महातपस्वी हैं, धीर वीर हैं, जिनका मन अत्यंत स्थिर है जो अत्यंत शुद्ध हैं, जो विकार और कौतुक से सर्वथा दूर रहते हैं जो संग्रह और अनुग्रह करने में कुशल हैं, गम्भीर हैं, आवश्यकता के अनुसार उतना ही भाषण करते हैं, जो दीक्षा और श्रुतज्ञान से सबसे बड़े हैं, जो अजेय हैं तथा जो ऐसे ही ऐसे अन्य अनेक गुणोंसे परिपूर्ण हैं, ऐसे जो सर्वोत्कृष्ट आचार्य हैं उनको गणधर कहते हैं। समस्त संघके मुनि और अर्जिकाओं के प्रतिक्रमण आदि कार्यों को ऐसे गणधर ही कराते हैं। ।।२२८२-२२८४।।

गुणरहित आचार्य चार उत्तम कालों की विराधना करता है—

एवंसूरिगुणैःसारैर्व्यतिरिक्तः करोतियः । मुधागणधरत्वंसंयतीनांसत्क्रियादिषु ।।२२८५।।
गणपोषणमेवात्मसंस्कारकालऊर्जितः । सल्लेखनातथैवोत्तमार्थकालइमेपराः ।।२२८६।।
चत्वारःउत्तमाःकालाःपरमार्थविधायिनः । विराधिता निजास्तेनगुणरिक्तेनसूरिणा ।।२२८७।।

अर्थ—इसप्रकार उत्तम आचार्यों के सारभूत गुणों से रहित जो आचार्य अर्जिकाओं के प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में गणधर बनकर बैठता है वह आचार्य गणपोषण काल, उत्तमआत्मसंस्कार काल, सल्लेखना काल और उत्तमार्थ काल इन परमार्थ को सिद्ध करनेवाले चारों उत्तम कालों की विराधना करता है। गुणरहित आचार्य इन सबका नाश कर देता है ।।२२८५-२२८७।।

आगन्तुक साधुको परगण के आचार्य की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना चाहिये—

बहुनोक्तेन किं साध्व्यंयेच्छाचार्यस्यसाखिला । कर्तव्या वसतातत्रतेन पुण्याकरोचिता ।।२२८८।।

अर्थ—बहुत कहने से क्या लाभ थोड़े से में इतना समझ लेना चाहिये कि वहां रहते हुए उस शिष्यको, पुण्यको बढ़ाने वाली और उचित ऐसी आचार्य की जो-जो इच्छाएं हैं वे सब करनी चाहिये ।।२२८८।।

पुनः परगण के आचार्य की वन्दना, सुश्रूषा करने की प्रेरणा—

सुश्रूषावंदनाभक्त्यनुकूलाचरणादिभिः । एषएवविधिः कार्यस्तच्छिष्यापरयोगिभिः ।।२२८९।।

अर्थ—उन बाहर से आए हुए शिष्यों को तथा अन्य योगियों को अपनी-अपनी भक्ति के अनुसार आचरणादि करके आचार्य की सुश्रूषा और वंदना करनी

चाहिये ।।२२८६।।

आर्यिका समाचार विवरण नीति—

अयमेवसमाचारो यथाख्यातस्तपस्विनाम् । तथैवसंयतीनां च यथायोग्यंविचक्षणैः ।।२२६०।।
अहोरात्रेखिलो मुक्त्यैविज्ञयोहितकारकः । वृक्षमूलादिसद्योगरहितोजिनभाषितः ।।२२६१।।
परस्परानुकूलाः सदान्योन्यरक्षणोद्यताः । लज्जामर्यादसंयुक्तामायारागादिदूरगाः ।।२२६२।।
आचारादिसुशास्त्राणां पठनेपरिवर्तने । तदर्थकथनेविश्वानुप्रेक्षा गुणचिन्तने ।।२२६३।।
सारार्थश्रवणेशुद्धध्यानेसंयमपालने । तपोविनयसद्योगेसदाकृतमहोद्यमाः ।।२२६४।।

अर्थ—यह जो समाचार मुनियों के लिये कहा है उसीप्रकार चतुर पुरुषों ने अर्जिकाओं के लिये भी यथायोग्य रीतिसे यही समाचार बतलाया है । अर्जिकाओं को मोक्ष प्राप्त करने के लिये हित करनेवाला यही समाचार दिन रात करना चाहिये । वृक्षके नीचे योग धारण करना आदि कठिन योग अर्जिकाओं को नहीं करने चाहिये ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है । अर्जिकाओंको परस्पर एक दूसरे के अनुकूल रहना चाहिये, परस्पर एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिये, लज्जा और मर्यादा के साथ रहना चाहिये, मायाचारी, लोभ, राग आदि से अलग रहना चाहिये, आचारादिक शास्त्रोंके पढ़ने में, पाठ करने में, उसके अर्थ कहने में, समस्त अनुप्रेक्षाओं के तथा गुणों के चिंतवन करने में उन शास्त्रों के श्रेष्ठ अर्थ सुनने में, शुद्धध्यान में, संयम के पालन करने में, तप और विनयके करने में और योग धारण करने में सदा महा उद्यम करते रहना चाहिये ।।२२६०-२२६४।।

आर्यिका को शरीर संस्कार त्याग, विकार जनित वस्त्रों के धारण करने का निषेध, संवेदादि भावना में तत्पर रहने की प्रेरणा—

मलजल्लविलप्तांगा वपुसंस्कारवर्जिताः । विक्रियातिगवस्त्रैर्वृताः शान्ताचलासनाः ।।२२६५।।
संवेगतत्परादक्षाःधर्मध्यानपरायणाः । कुलकीर्तिजिनेन्द्राज्ञारक्षणोद्यतमानसाः ।।२२६६।।
दुर्बलीकृतसर्वांगास्तपसासकलार्यिकाः । द्वि त्र्यादिगणनायुक्ता निवसन्तिशुभाशयाः ।।२२६७।।

अर्थ—यदि उनकें शरीर पर पसीना आ गया हो वा उस पसीना पर धूल जम गई हो वा अन्य किसी अंग का नाक, कान आदि का मल लगा हो तो कोई हानि नहीं परन्तु उन अर्जिकाओं को अपने शरीर का संस्कार नहीं करना चाहिये, जिनसे विकार उत्पन्न न हों ऐसे वस्त्रोंसे अपना शरीर ढकना चाहिये, शांत और अचल आसन से बैठना चाहिये; संसार से भयभीत रहने रूप संवेग में सदा तत्पर रहना चाहिये,

चतुरता से रहना चाहिये, धर्मध्यानमें लीन रहना चाहिये, अपने मनमें कुल, कीर्ति और भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा की रक्षा करने में सदा तत्पर रहना चाहिये, उनको इतना तपश्चरण करना चाहिये जिससे उनका शरीर भी दुर्बल हो जाय। उन अर्जिकाओं को दो तीन वा अधिक दस बीस आदि अर्जिकाओं के साथ रहना चाहिये अर्थात् तीन से कम नहीं रहना चाहिये। इसप्रकार अपने हृदयको शुद्धकर उन अर्जिकाओं को निवास करना चाहिये ॥२२९५-२२९७॥

अर्जिका कैसी वसतिका में निवास करे—

असंयतजनातीतेगृहस्थपशुवर्जिते। एकान्तस्थेगृहेगूढेमलोत्सर्गार्हे सूयुते ॥२२९८॥

अर्थ—उन अर्जिकाओं को ऐसे एकांत और गूढ़ वा छिपे हुए घर में रहना चाहिये जो असंयमी लोगों से दूर हो, गृहस्थ और पशुओं के स्थान से दूर हो और मलमूत्रके लिये योग्य स्थान की जहां व्यवस्था हो ॥२२९८॥

धर्म कार्य बिना मुनि आदि के आश्रम में जाने का निषेध—

स्वकार्यमन्तरेणैव जातु गच्छन्ति नार्यिकाः। गृहस्थनिलवं वा कुलिंग्यन्तंसंयताश्रमम् ॥२२९९॥

अर्थ—अर्जिकाओं को बिना अपने काम के न तो गृहस्थोंके घर जाना चाहिए न किसी कुलिंगिनी के घर जाना चाहिए और न मुनियों के आश्रम में कभी जाना चाहिए ॥२२९९॥

धर्म कार्य के लिये भी आचार्याणी की आज्ञा लेकर २-३ आर्यिका के साथ जावें—

अवश्यंगमनेकार्ये सतिभिक्षाविगोचरे। सिद्धान्तार्थादिपृच्छादौप्रायश्चितादियाचने ॥२३००॥
आपृच्छ्यगणिनीं नत्वा संघाटकेनतद्गृहे। गन्तव्यमार्यिकाभिश्चधर्मकार्यायनान्यथा ॥२३०१॥

अर्थ—भिक्षा लेने के लिये किसी शास्त्र के अर्थ आदि को पूछने के लिये वा प्रायश्चित्त लेने के लिये जाना आवश्यक हो तो अपनी गणनी आचार्याणी को पूछकर उनको नमस्कार कर दो चार अर्जिकाओंके साथ ही जाना चाहिये, सो भी धर्म कार्य के लिये ही जाना चाहिये, अन्य किसी काम के लिये कभी नहीं जाना चाहिये ॥२३००-२३०१॥

निरंकुश घूमने में दोष—

या हो निरंकुशा नार्यो भ्रमन्तिस्वेच्छयाभुवि। गृहियत्याश्रमादौ क्व तासांशीलंशुभाक्रिया ॥

अर्थ—जो निरंकुश स्त्रियां अपनी इच्छानुसार गृहस्थों के घर वा मुनियों के

आश्रम में घूमती फिरती हैं, उनका शील और उनकी शुभ क्रियाएं कभी नहीं फल सकतीं ।।२३०२।।

अकेली आर्यिका को इच्छानुसार घूमने का निषेध एवं उससे होनेवाली हानि का निर्देश—

यतोयथात्रसिद्धान्नंभोक्तु ं सुखेनशक्यते । तथाचास्वामिकांनारींस्वाश्रमेस्वयमागताम् ।।२३०३।।
अतो जातु न विद्यते क्वचित्काले निजेच्छया । एकाकिन्यार्यिकायाश्चविहारोगमनादिकः ।।२३०४।

अर्थ—जिसप्रकार पकाया हुआ भात आसानी से खाया जा सकता है उसी प्रकार बिना स्वामी की स्त्री यदि स्वयं अपने आश्रम में वा घर में आ जाय तो वह आसानीसे भोगी जा सकती है। इसलिये अकेली अर्जिका को अपनी इच्छानुसार किसी भी समय में विहार और गमन आदि कभी नहीं करना चाहिये ।।२३०३-२३०४।।

मुनिको बिना प्रयोजन आर्यिका के आश्रम में जाने का निषेध—

संयता वा गृहस्थानामार्यिकाणां च मन्दिरम्। कलंकशंकया जातुविनाकार्यं न यान्तिभोः ।।

अर्थ—इसीप्रकार संयमी मुनियों को भी कलंक के डरसे बिना काम के न तो गृहस्थोंके घर जाना चाहिये और न अर्जिकाओं के आश्रम में ही कभी जाना चाहिये। ।।२३०५।।

मुनि, आर्यिकाओं को घर-घर घूमने का निषेध—

यतो रंडासमा येत्र वानवस्थवृषोपमाः । स्त्रीवृन्दसंकुलंरागादिगेहंगेहमटन्ति च ।।२३०६।।

अर्थ—क्योंकि जो साधु रागपूर्वक स्त्रियों के समूह से भरे हुए घरों में घूमते रहते हैं उन्हें जंगली बैलों के समान समझना चाहियें। इसीप्रकार घर-घर घूमने वाली अर्जिकाओं को भी रंडाओं के समान समझना चाहिये ।।२३०६।।

घर-घर घूमने से मुनिका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है—

निर्विकारंस्थिरंचितंक्वस्त्रीश्रृंगारदर्शनात् । ब्रह्मचर्यं न नश्येत्किंतेषांकुटिलचेतसाम् ।।२३०७।।

अर्थ—जो साधु बिना कामके घर-घर फिरते हैं उनका चित्त स्त्रियोंके श्रृंगार देखने से विकार रहित और स्थिर कभी नहीं रह सकता तथा कुटिल हृदय को धारण करनेवाले उन साधुओं का ब्रह्मचर्य भी अवश्य नष्ट हो जाता है ।।२३०७।।

अर्जिका को दूसरे घर जाकर हीनक्रिया नहीं करना चाहिये—

स्नपनंरोदनंश्रेष्ठान्नादिपाकनिवर्तनम् । सत्सूत्रकरणंगीतगानंवादित्रवादनम् ।।२३०८।।

षड्विधारम्भकर्माणि पदप्रक्षालनादिकान् । संयतानां च बालानां स्नेहलोभादिकारणैः ।।२३०९।।
दुर्गोष्ठीविकथादीनिहीन्याद्याअपराक्रियाः । परगेहं गता जातु न कुर्युरार्यिकाःशुभाः ।।२३१०।।

अर्थ—श्रेष्ठ अर्जिकाओं को दूसरे के घर जाकर स्नान नहीं करना चाहिये, रोना नहीं चाहिये, श्रेष्ठ अन्न पानके बनाने का काम वा पकाने का काम नहीं करना चाहिये, सूत नहीं कातना चाहिये, गीत नहीं गाना चाहिये, बाजे नहीं बजाना चाहिये, असि मसि आदि छहों प्रकार के कार्य नहीं करने चाहिये, किसी के स्नेह वा लोभादिक के कारण भी किसी संयमी वा बालक के पादप्रक्षालन (पैर धोना) आदि कार्य नहीं करने चाहिये, शृंगारादिक की कथाएं वा विकथाएं वा और भी ऐसी ही ऐसी हीन क्रियाएं कभी नहीं करनी चाहिये ।।२३०८-२३१०।।

आर्यिका की भिक्षा एवं वन्दना विधि का वर्णन—

तिस्रःपंचाथवा सप्तस्थविरान्तरिताभुवि । अन्योन्यरक्षणोद्युक्ताःशुद्धाहारगवेषिकाः ।।२३११।।
पर्यटन्तिप्रयत्नेनभिक्षायैगृहपंक्तिषु । वा व्रजन्तिमुनीन्द्राणां वंदनायैव क्षान्तिकाः ।।२३१२।।

अर्थ—वे अर्जिकाएं शुद्ध आहार ढूंढने के लिये जब भिक्षाके लिये जाती हैं तब तीन पांच या सात वृद्ध अर्जिकाओं के बीचमें चलती हैं अर्थात् कुछ अर्जिकाएं आगे पीछे कुछ अंतर से रहती हैं उस समयमें भी वे सब एक दूसरे की रक्षा करने में तत्पर रहती हैं । इसप्रकार वे अर्जिकाएं प्रयत्न पूर्वक पंक्तिबद्ध घरों में भिक्षाके लिये जाती हैं । अथवा मुनियों की वंदना के लिये भी वे इसीप्रकार जाती हैं ।।२३११-२३१२।।

आर्जिका, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु की वन्दना कितनी दूर बैठकर करें—

पंचषट्सप्तहस्तान्तमन्तरालेमहीतलम् । सूरिपाठकसाधूनां भक्तिपूर्वकमार्जिकाः ।।२३१३।।
मूर्ध्नागवासनेनैवप्रणामंकुर्वतेन्वहम् । विनयेयोग्यकाले वा श्रुतार्थश्रवणादिके ।।२३१४।।

अर्थ—वे अर्जिकाएं प्रतिदिन वंदना करने के लिये वा शास्त्रों के अर्थ को सुनने आदि के लिये योग्य समय पर जब मुनियों के पास जाती हैं तब वे आचार्य से पांच हाथ दूर, उपाध्याय से छः हाथ दूर और साधुओं से सात हाथ दूर गवासनसे बैठ कर मस्तक झुकाकर उनको भक्तिपूर्वक नमस्कार करती हैं ।।२३१३-२३१४।।

समाचार की महिमा एवं उसको पालन करने का फल—

एवयुक्तःसमाचारः समासेन तपस्विनाम् । बहुभेदोबुधैर्ज्ञेयोविस्तरेणजिनागमात् ।।२३१५।।
विश्वंसर्वंगुणाकरंशिवकरं चेमंमया वर्णितं, ह्याचारं च चरन्तियेत्रनिपुणाः सद्योगिनोचार्यिकाः ।

तेतादिव्यसुखंजगत्त्रयभुवं,भुक्त्वापुनःसंयम, मासाद्यानु च केवलंसुतपसायान्त्येवमोक्षंक्रमात् ।२३१६।

अर्थ—इसप्रकार अत्यंत संक्षेप से मुनियों का समाचार बतलाया । बुद्धिमानों को इसके विस्तार पूर्वक बहुत से भेद जिनागम से जान लेना चाहिए । यह समाचार जो मैंने बतलाया है वह सब समस्त गुणोंकी खानि है और मोक्ष प्राप्त करानेवाला है । जो चतुर और उद्योगी मुनि वा अर्जिकाएं इन समाचारों का पालन करते हैं वे मुनि वा अर्जिकाएं पहले तो तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाले दिव्य सुखोंका अनुभव करते हैं और फिर संयम धारण कर अनुक्रमसे केवल श्रेष्ठ तपश्चरणसे ही मोक्षपद प्राप्त करते हैं ।।२३१५-२३१६।।

समाचार की उपसंहारात्मक महिमा एवं उसे धारण करने की प्रेरणा

असमगुणनिधानं नाकनिर्वाणहेतुं, जिनवरमुखजातं धारितं सर्वशक्त्या ।
गणधरमुनिवृन्दैर्मुक्तिकामाःप्रयत्नात्, चरतशिवसुखाप्त्यै कृत्स्नमाचारसारम् ।।२३१७।।

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचितेसमाचारवर्णनो नाम सप्तमोऽधिकारः ।

अर्थ—ये समस्त समाचार अनुपम गुणोंके निधान हैं, स्वर्ग मोक्षके कारण हैं, भगवान जिनेन्द्रदेवके मुखसे प्रगट हुए हैं, और गणधरदेव वा मुनियोंके समूह ही अपनी शक्ति के अनुसार इनको धारण करते हैं । इसलिए मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को वा अर्जिकाओं को मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक इन समस्त सारभूत समाचारों का पालन करना चाहिए ।।२३१७।।

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थ में समाचारों को वर्णन करनेवाला यह सातवां अधिकार समाप्त हुआ ।

अष्टमोधिकारः

मंगलाचरण

त्रैलोक्यतिलकान्सर्वान् जगन्मंगलकारिणः । लोकोत्तमान्शरण्यांश्चार्हंतःसिद्धान्नमाम्यहम् ॥

अर्थ—जो अरहंत वा सिद्ध भगवान् तीनों लोकों के तिलक हैं, तीनों लोकों में मंगल करनेवाले हैं, तीनों लोकों में उत्तम हैं और तीनों लोकों में शरणभूत हैं ऐसे समस्त अरहंत और सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूं ॥२३१८॥

दशप्रकार की शुद्धि के लिये आचार्यादि की स्तुति—

दशधाशुद्धिमापन्नास्त्रिजगच्छुद्धिदायिनः । सूरींश्चपाठकान्साधून्मंगलादिकरान्स्तुवे ॥२३१९॥

अर्थ—जो आचार्य उपाध्याय साधु दश प्रकारकी शुद्धिको प्राप्त हुए हैं, तीनों लोकों को शुद्ध करनेवाले हैं और तीनों लोकोंमें मंगल करनेवाले हैं ऐसे समस्त आचार्य उपाध्याय और साधुओं की मैं स्तुति करता हूं ॥२३१९॥

सरस्वती देवी की हृदय में स्थापना—

श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नांवाग्देवींभुवनाम्बिकाम् । विश्वशुद्धिकरांचित्तेस्थापयाम्यर्थसिद्धये ॥२३२०॥

अर्थ—जो सरस्वती देवी भगवान जिनेन्द्रदेव के मुखसे प्रगट हुई है जो तीनों लोको की माता है, और समस्त भव्य जीवों को शुद्ध करनेवाली है ऐसी सरस्वती देवी को मैं अपने अर्थकी सिद्धि के लिये अपने हृदय में स्थापन करता हूं ॥२३२०॥

मुनि भावना के निरूपक अध्याय के निरूपण की प्रतिज्ञा—

इत्यर्हत्सिद्धगुर्वादीन्नत्वामांगल्यहेतवे । अनगारमंहर्षीणा मिन्द्रनागेन्द्रचक्रिभिः ॥२३२१॥
भव्यैर्वंद्यार्च्यसंसेव्यपादाब्जानांहिताप्तये । वक्ष्याम्यहमनागारभावनाग्रंथमुत्तमम् ॥२३२२॥

अर्थ—इसप्रकार मैं अपनी मंगल कामनाके लिये अरहंत सिद्ध और गुरुओं को नमस्कार करता हूं और फिर इंद्र नागेन्द्र चक्रवर्ती और समस्त भव्य जिनके चरण कमलों की पूजा करते हैं, वंदना करते हैं और सेवा करते हैं, ऐसे महा ऋषि महा मुनियों का हित करने के लिये मुनियों की भावनाओंको निरूपण करनेवाला उत्तम ग्रंथ (अध्याय) निरूपण करता हूं ॥२३२१-२३२२॥

ग्रन्थ सुनने मात्र का फल—

श्रुतेनयेनभव्यौघामहापापकलंकिताः । अग्निनाकनकानीवशुद्धयन्तिश्रद्धयाभृशम् ॥२३२३॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्निसे सोना शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार श्रद्धा पूर्वक इस ग्रन्थ के सुनने मात्र से महा पाप से कलंकित हुए समस्त भव्य जीव शुद्ध हो जाते हैं । ॥२३२३॥

भावनाओं के आचरण का फल—

यदाचरणयोगेनहत्वाकर्मकदम्बकम् । यान्तिधीराहिनिर्वाणंतस्य कावर्णनापरा ॥२३२४॥

अर्थ—जिन भावनाओं के आचरण करने से धीर वीर मुनि अपने समस्त कर्मों के समूहको नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं उन भावनाओं की प्रशंसा भला क्या करनी चाहिये ॥२३२४॥

दश प्रकार की शुद्धि के नाम निर्देश—

लिंगसद्व्रतशुद्धीवसतिकाशुद्धिरूर्जिता । विहारशुद्धिसंज्ञाथभिक्षाज्ञानसमाह्वये ॥२३२५॥
शुद्धिरुज्झननाम्नी वाक्तपः ध्यानाख्यशुद्धयः । इमा दशविधाः प्रोक्ताः शुद्धयोत्र महात्मनाम् ॥

अर्थ—लिंगशुद्धि, श्रेष्ठव्रतशुद्धि, वसतिकाशुद्धि, उत्तमविहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वचनशुद्धि, तपशुद्धि और ध्यानशुद्धि । इसप्रकार मुनियों के लिये ये दस शुद्धियां कही गई हैं ॥२३२५-२३२६॥

लिंग शुद्धि का स्वरूप—

विद्युत्स्फुरणसादृश्यं जीवितं धनयौवनम् । स्वजनादिकमन्यद्वा ज्ञात्वाहत्वाजगद्विषम् ॥२३२७॥
तद्गतंमोहमात्मज्ञैर्धीरैर्यद्धार्यंतेमुदा । विशुद्धं जिनलिंगं सा लिंगशुद्धिःसुयोगिनाम् ॥२३२८॥

अर्थ—यह धन, जीवन, यौवन, कुटुम्बी लोग तथा और भी यह समस्त संसार बिजली की चमक के समान क्षणभंगुर है यही समझकर और इस जगतरूपी शत्रुको मारकर जो आत्माको जाननेवाले धीर वीर पुरुष प्रसन्न होकर उस धन यौवन आदि से मोह का त्याग कर देते हैं और विशुद्ध जिनलिंग धारण कर लेते हैं वह मुनियों की लिंगशुद्धि कहलाती है ॥२३२७-२३२८॥

जिनलिंग शुद्धि का स्वामी कौन होता है—

प्रस्वेदलग्नसर्वांगमलाः कर्ममलातिगाः । तीव्रशीतोष्णंतापादिदग्धवृक्षोपमाविदः ॥२३२९॥
निर्विण्णाः कामभोगादौ वपुःसंस्कारदूरगाः । दिगम्बरधरा धीराः कृत्स्नसंगपराङ्मुखाः ॥२३३०॥

जन्ममृत्युजरोद्विग्नाभवाब्धिपातभीरव: । निर्विकारमनोनेत्रमुखाः सत्पिच्छिकांकिताः ॥२३३१॥
लिंगशुद्धिविधायोच्चैः प्रवर्तन्तेमहर्षयः । निर्ममा निरहंकाराधर्मशुक्लपरायणाः ॥२३३२॥
अंगपूर्वामृतैःपूर्णस्वान्तः कर्ममलापहम् । जगच्छुद्धिकरं धर्मतीर्थं तीर्थकृतांपरम् ॥२३३३॥
भावयन्ति त्रिशुद्धयाते भवाग्निदाहशान्तये । अस्मान्नान्यद्धितं श्रेष्ठं मत्वेतित्रिजगत्यपि ॥२३३४॥
द्विषड्भेदेमहाघोरे तपस्युत्साहकारिणः । पंचाक्षशर्मजेच्छायाः सर्वदानिग्रहोद्यताः ॥२३३५॥
क्षमादिलक्षणैःसाध्यं दशभिर्धर्ममुत्तमैः । चारित्राचरणैः शुद्धं निष्प्रमादाश्चरन्ति च ॥२३३६॥
इत्याद्यं निर्मलैर्वान्यैः शुद्धाचारान् भजन्ति ये । लिंगशुद्धिर्मतातेषांधृतार्हल्लिंगयोगिनाम् ॥२३३७॥

अर्थ—जिन मुनियों के समस्त शरीर पर पसीने का वा पसीने में मिली हुई धूलि का मल लगा हुआ है, परन्तु जो कर्म मलसे सर्वथा दूर रहते हैं, जो अत्यन्त चतुर हैं, अत्यन्त तीव्र शीत वा उष्णता के संताप से जले हुए वृक्ष के समान हो रहे हैं, जो काम और भोग से सदा विरक्त रहते हैं, अपने शरीर का संस्कार कभी नहीं करते, जिन्होंने दिगम्बर मुद्रा धारण कर रक्खी है, जो धीर वीर हैं, समस्त परिग्रह से रहित हैं, जन्म-मरण और बुढ़ापे से जो अत्यन्त दुःखी हैं, जो संसाररूपी समुद्र में पड़ने से बहुत डरते हैं, जिनके नेत्र मन और मुख में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता जो श्रेष्ठ पीछी धारण करते हैं, जो महा ऋषि हैं, जो लिंगशुद्धि को धारण कर ही सदा अपनी प्रवृत्ति करते हैं, जो मोह रहित हैं, अहंकार रहित हैं, जो धर्मध्यान वा शुक्लध्यान में सदा लीन रहते हैं, जो संसाररूपी अग्निके दाह को शांत करने के लिये मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूपी अमृतसे भरे हुए, अपने अंतःकरणके कर्ममलको दूर करनेवाले तीनों लोकों को शुद्ध करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट ऐसे तीर्थंकरों के धर्म तीर्थ को ही जो सदा चितवन करते रहते हैं, इस तपश्चरण से बढ़कर तीनों लोकों में और कोई श्रेष्ठ हित करनेवाला नहीं है यही समझकर जो बारह प्रकार के महा घोर तपश्चरण के करने में सदा उत्साह करते रहते हैं, जो पंचेन्द्रियों के सुख में उत्पन्न हुई इच्छा का निरोध करने में सदा उद्यत रहते हैं और जो प्रमाद रहित होकर शुद्ध चारित्राचरण को पालन कर तथा उत्तम क्षमा आदि दस प्रकार के उत्तम धर्मों को धारण कर सर्वोत्तम धर्म का पालन करते हैं। ऐसे भगवान अरहंतदेव के लिंग को (निर्ग्रंथ अवस्था को) धारण करनेवाले महा मुनि ऊपर लिखे अनुसार निर्मल उपायों से अपने शुद्ध आचरणों को पालन करते हैं उनके ही लिंगशुद्धि मानी गई है। ॥२३२९-२३३७॥

व्रतशुद्धि का स्वरूप—

अष्टप्रवचनाख्याभिर्मातृभिर्यतिमातृभिः । त्रिशुद्धया सार्द्धमादायमहाव्रतानि पंच च ।।२३३८।।
यत्नेन प्रतिपाल्यन्ते यत्ररागातिगैर्बुधैः । अप्रमत्तैः सदामुक्त्यैव्रतशुद्धिः स्मृताव्रसा ।।२३३९।।

अर्थ—रागद्वेष रहित प्रमाद रहित जो बुद्धिमान् मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक मुनियों की माताके समान अष्ट प्रवचन मातृकाओं के साथ-साथ (पांच समिति और तीन गुप्तियों के साथ-साथ) पंच महाव्रतों को धारण करते हैं और फिर प्रयत्न पूर्वक उनका पालन करते हैं उनके ही व्रतशुद्धि आचार्यों ने बतलाई है ।।२३३८-२३३९।।

व्रतशुद्धि का स्वामी कौन होता है—

समस्तग्रंथनिर्मुक्तास्त्रिरत्नग्रन्थभूषिताः । त्यक्तदेहप्रतीकाराःसर्वारम्भविवर्जिताः ।।२३४०।।
मौनव्रतधराःसत्यधर्मसूचनतत्पराः । अदत्तं तृणमात्रं न गृह्णन्ति शीलमंडिताः ।।२३४१।।
बालाग्रकोटिमात्रं श्रामण्यायोग्यंपरिग्रहम् । स्वप्नेपि जातुनेच्छन्ति सन्तोषिणोदिगम्बराः ।।४२।।
काये वा तत्प्रतीकारे ममतां जातु कुर्वते । न निस्पृहा य यथाजातरूपालंकृतविग्रहाः ।।२३४३।।
यत्रारण्येश्मशाने वा रविरस्तं प्रयातिभोः । तत्रैवाप्रतिवद्धास्ते वसन्तिव्रतशुद्धये ।।२३४४।।
इत्याद्यैर्निर्मलाचारैर्निर्मलानिव्रतानि ये । चरन्ति सर्वथा तेषां व्रतशुद्धिर्मतागमे ।।२३४५।।

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित हैं, किन्तु रत्नत्रय रूपी परिग्रह से सुशोभित हैं, जो अपने शरीर का प्रतिकार कभी नहीं करते, जो समस्त आरम्भों से रहित हैं; सदा मौनव्रत धारण करते हैं, जो सत्यधर्मका उपदेश देने में सदा तत्पर रहते हैं जो बिना दिया हुआ तृणमात्र भी कभी ग्रहण नहीं करते और जो शीलों से सदा सुशोभित रहते हैं जो मुनियों के अयोग्य बाल के अग्रभाग के करोड़वें भाग के समान परिग्रह को धारण करने की स्वप्न में भी कभी इच्छा नहीं करते, जो अत्यन्त संतोषी हैं दिगम्बर अवस्था को धारण करते हैं जो अपना निस्पृहत्व गुण धारण करने के लिये शरीर में वा शरीर की स्थिरता के कारणों में कभी भी मोह वा ममता नहीं करते और जो उत्पन्न हुए बालक के समान निर्विकार दिगम्बर शरीर को धारण करते हैं। जो मुनि अपने व्रतों को शुद्ध रखने के लिये जिस वनमें वा जिस श्मशान में सूर्य अस्त हो जाता है वहीं पर बिना किसी के रोके निवास कर लेते हैं। इसप्रकार जो सर्वथा निर्मल आचरणों को पालन कर अपने व्रतोंको निर्मल रीतिसे पालन करते हैं उनके ही जैन शास्त्रों में व्रतशुद्धि बतलाई है ।।२३४०-२३४५।।

वसतिका शुद्धि का स्वरूप निर्देश—

अरण्येनिर्जनेस्थाने शून्यगेहे गुहादिषु । निरवद्ये प्रदेशे वा श्मशानेतिभयंकरे ।।२३४६।।
वासो यः क्रियतेधीरैर्निःसंगैर्निर्मलाशयैः । एकान्ते ध्यानसिद्धयर्थं सा शुद्धिवसतिकाह्वया ।।२३४७।।

अर्थ—जो समस्त परिग्रहों से रहित शुद्ध हृदय को धारण करनेवाले धीर वीर मुनि अपने ध्यानकी सिद्धि के लिये किसी वनमें, निर्जन स्थानमें, सूने घरमें किसी गुफा में, वा अन्य किसी एकान्त स्थान में, वा अत्यन्त भयंकर श्मशान में निवास करते हैं उसको वसतिका शुद्धि कहते हैं ।।२३४६-२३४७।।

वसतिका शुद्धि का स्वामी कैसे मुनिराज होते हैं—

ग्रामेत्रैकमहोरात्रं नगरेदिनपंचकम् । वसन्ति प्रासुकावासाविविक्तैकान्तवासिनः ।।२३४८।।
अन्वेषयन्तएकान्तं शुक्लध्यानार्पिताशयाः । लभन्ते त्रैवगन्धेभाध्यानानन्दसुखंमहत् ।।२३४९।।
अहीनमानसाधीराएकाकिनो ह्यविह्वलाः । वपुरादौ न कुर्वन्तोममत्वं वनवासिनः ।।२३५०।।
सर्वत्राप्रतिबद्धाश्च भीमाद्रिकन्दरादिषु । तिष्ठन्तिरममाणास्तेश्रीवीरवचनेन्वहम् ।।२३५१।।
सिंहव्याघ्रादिचौराद्यैः श्मशानकन्दरादिषु । भीतिदेषुप्रदेशेषु नृणां कापुरुषात्मनाम् ।।२३५२।।
सदा वसतिकां वीरमहापुरुषसेविताम् । महापुरुषसिंहाश्च सेवन्ते ध्यानसिद्धये ।।२३५३।।
एकान्तेद्रिगुहादौ ते वसन्तोनिशिभीषणम् । शृण्वन्तः शब्दसंघातमत्यासन्नंभयानकम् ।।२३५४।।
सिंहव्याघ्रादिदुष्टानां नरसिंहाश्चनिर्भयाः । चलन्ति न मनाग्ध्यानादचलाइवसंस्थिताः ।।२३५५।।
अनुद्विग्नाशया दक्षा महोपद्रवकोटिभिः । श्रद्दधानाजिनेन्द्राज्ञां वसन्त्यद्रिगुहादिषु ।।२३५६।।
ध्यानाध्ययनसंयुक्ताजागरूका अहर्निशम् । अप्रमादाजिताक्षास्ते यान्ति निद्रावशं न च ।।२३५७।।
पर्यंकेणार्द्धपर्यंकेणसद्वीरासनेन च । उत्कटेन तथा हस्तिशौंडेन च निषद्यया ।।२३५८।।
आसनैर्मकरास्याद्यैःकायोत्सर्गेण चापरैः । रात्रिं नयन्ति ते द्रघादावेकपार्श्वादिशय्यया ।।२३५९।।
उपसर्गाग्निसंयाते महापरीषहा कुले । रौद्रसत्त्वभृतेभीमे वनादौसुष्टु दुष्करे ।।२३६०।।
वसन्तिमोक्षमार्गस्था वज्रसंहनना अहो । शुद्धिं वसतिकाख्यां चापन्नाः सद्ध्यानसिद्धये ।।२३६१।।
इत्याद्यामसमांशुद्धां वसतिं मे श्रयन्तिभोः । तेषां वसतिकाशुद्धिर्भवेद्विरागयोगिनाम् ।।२३६२।।

अर्थ—प्रासुक स्थान में रहनेवाले और विविक्त एकांत स्थानमें निवास करने वाले मुनि किसी गांव में एक दिन रहते हैं और नगर में पांच दिन रहते हैं । सर्वथा एकांत स्थानको ढूंढने वाले और शुक्लध्यान में अपना मन लगाने वाले मुनिराज इस लोक में भी गंध गज (मदोन्मत्त) हाथी के समान ध्यानके आनन्द का महा सुख प्राप्त करते हैं । जिन मुनियों का हृदय विशाल है, जो धीर वीर हैं, एकविहारी हैं, अत्यन्त निर्भय हैं, जो वनमें ही निवास करते हैं अपने शरीर आदि से कभी ममत्व नहीं करते

और जो सर्वत्र विहार करते हैं कहीं किसी से रोके नहीं जा सकते ऐसे मुनि प्रतिदिन भगवान महावीर स्वामी के वचनों में क्रीड़ा करते हुए भयानक गुफाओंमें वा कंदराओं में ही निवास करते हैं। वे महा पुरुषरूपी सिंह मुनिराज अपने ध्यानकी सिद्धिके लिये सिंह, बाघ, सर्प और चोर आदि के द्वारा पुरुष वा भयभीत मनुष्यों को अत्यन्त भय उत्पन्न करनेवाले श्मशान कंदरा आदि प्रदेशों में धीर वीर महापुरुषों के द्वारा सेवन की हुई वसतिका को ही सदा सेवन करते हैं अर्थात् सदा ऐसी ही वसतिका में ठहरते हैं। अत्यन्त निर्भय और नरसिंह वृत्ति को धारण करनेवाले वे महा मुनिराज रात्रि में पहाड़ों की गुफा आदि अत्यन्त एकान्त स्थानमें रहते हुए तथा सिंह, बाघ आदि अत्यंत दुष्ट जीवों के भयानक और भीषण शब्दों को अत्यन्त समीप ही सुनते हुए भी अपने ध्यानसे रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते हैं, पर्वतके समान वे निश्चल ही बने रहते हैं। करोड़ों महा उपद्रव होनेपर भी जो अपने मनमें कभी चंचलता धारण नहीं करते ऐसे चतुर मुनिराज भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा पर अटल श्रद्धान रखते हुए पर्वतों की गुफाओं में ही निवास करते हैं। सदा ध्यान और अध्ययन में लगे रहनेवाले तथा रात दिन जगने वाले और प्रमाद रहित जितेन्द्रिय वे मुनिराज निद्रा के वश में कभी नहीं होते। वे मुनिराज पहाड़ों पर ही पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन वा उत्कृष्ट वीरासन धारण कर वा हाथी की सूंडके समान आसन लगाकर अथवा मगरके मुखकासा आसन लगा कर अथवा कायोत्सर्ग धारण कर वा अन्य किसी आसन से बैठकर अथवा एक कवंटसे लेटकर अथवा अन्य कठिन आसनों को धारण कर पूर्ण रात्रि बिता देते हैं। वसतिका शुद्धि को धारण करनेवाले, वज्रवृषभनाराच संहनन को धारण करनेवाले और मोक्षमार्गमें निवास करनेवाले वे मुनिराज अपने श्रेष्ठ ध्यानकी सिद्धि के लिये सैकड़ों उपसर्ग आ जानेपर, अग्नि लग जानेपर तथा महा परीषहों के समूह आ जानेपर भी भयानक जीवों से भरे हुए भयंकर और अत्यंत घोर दुष्कर वनमें ही निवास करते हैं। इसप्रकार जो वीतराग मुनि अत्यन्त शुद्ध और ऊपर कहे अनुसार विषम वसतिका का आश्रय लेते हैं उन्हीं के वसतिका शुद्ध होती है ॥२३४८-२३६२॥

उत्तम विहार शुद्धि का स्वरूप—

उदयेसतिसूर्यस्यप्रासुकेपथ्यनस्तमे। धर्मप्रवृतयेलोकेगमनंयद्विधीयते ॥२३६३॥
महीतलेमुनीन्द्रौघैः सत्स्वच्छंदविहारिभिः। युगान्तरेक्षणाभ्यां सा विहारेशुद्धिरुत्तमा ॥२३६४॥

अर्थ—स्वतंत्र विहार करनेवाले एकविहारी मुनिराज सूर्य उदय होने के बाद

तथा सूर्य अस्त होने के पहले प्रासुक मार्गमें केवल धर्म की प्रवृत्ति के लिये गमन करते हैं तथा आगे की चार हाथ भूमि अपने दोनों नेत्रों से देखते हुए ही गमन करते हैं। उन मुनियोंके ऐसे शुद्ध गमन करने को उत्तम विहार शुद्धि कहते हैं ।।२३६३-२३६४ ।

उत्तम विहार शुद्धिके धारक मुनि नवकोटि से समस्त जीवों की विराधना नहीं करते—

जीवयोनिसमासादीन् सूक्ष्मवादरकायिकान् । ज्ञानेनसुष्टुविज्ञायविश्वजन्तु कृपापराः ।।२३६५।।
ज्ञाननेत्रा मरुत्तुल्या सावद्यं त्रिविधेन च । यत्नात्परिहरन्तस्ते कस्यचित्कारणादिभिः ।।२३६६।।
एकेन्द्रियादिजन्तूनां वाधां वात्रविराधनम् । विहरन्तोपिभूभागे न कुर्युः कारयन्ति न ।।२३६७।।
तृणपत्रप्रवालाविहरितांकुरजन्मिनाम् । कंदवीजफलादोनांवनस्पत्यखिलांगिनाम् ।।२३६८।।
पादाद्यैर्मर्दनं नूनं छेदनं वातिपोडनम् । स्पर्शनं वा न कुर्वन्ति कारयन्ति न संयताः ।।२३६९।।
पृथिव्याःखननाद्यैर्जलानांप्रक्षालनादिभिः । अग्नेर्विध्यापनाद्यैश्च वातक्षेपादिभिः क्वचित् ।।७०।।
वायोस्त्रसात्मनांस्थाननिशद्यागमनादिभिः । पीडांविराधनां दक्षाः कृताद्यैर्नच कुर्वते ।।२३७१।।

अर्थ—जो मुनि जीवों की योनि, जीवसमास, सूक्ष्मकाय, वादरकाय आदि जीवों को अपने ज्ञानसे जानकर समस्त जीवों पर कृपा करने में तत्पर रहते हैं, जो ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करते हैं और वायुके समान परिग्रह रहित हैं, ऐसे मुनि मन-वचन-कायसे प्रयत्नपूर्वक पापों का त्याग करते रहते हैं। वे मुनि समस्त पृथ्वीपर विहार करते हुए भी किसी भी कारण से एकेन्द्रियादिक जीवों की बाधा वा विराधना न तो कभी स्वयं करते हैं और न कभी किसी से कराते हैं। वे मुनिराज तृण, पत्र, प्रवाल (कोमल पत्ते) हरे अंकुरे, कंद, बीज, फल आदि समस्त वनस्पतिकायिक जीवों को पैर आदि से न तो कभी मर्दन करते हैं, न मर्दन कराते हैं, न उनको छेदते हैं, न छिदवाते हैं, न स्पर्श करते हैं, न स्पर्श कराते हैं और न उनको पीड़ा पहुंचाते हैं वा पहुंचवाते हैं। वे चतुर मुनि न तो खोद पीट कर पृथ्वीकायिक जीवों को बाधा पहुंचाते हैं, न प्रक्षालनादि के द्वारा जलकायिक जीवों को बाधा पहुंचाते हैं, न बुझाकर वा जलाकर अग्निकायिक जीवों को बाधा पहुंचाते हैं, न पंखादिक से हवा कर वायुकायिक जीवों को बाधा पहुंचाते हैं और न गमन करने बैठने वा सोने में त्रस जीवोंको बाधा पहुंचाते हैं। वे चतुर मुनि मन-वचन-काय और कृतकारित अनुमोदना से इन समस्त जीवों को कभी भी पीड़ा वा विराधना नहीं पहुंचाते ।।२३६५-२३७१।।

वे मुनि शस्त्र रहित निःशंक होकर विहार करते हैं—

दण्डादिसर्वहिंसोपकरणातीतसत्कराः । निर्मसाभवभीमाब्धेः पतनाच्छंकिताशयाः ।।२३७२।।

अर्थ—उन मुनिराज के श्रेष्ठ हाथों में दंडा आदि हिंसा का कोई उपकरण नहीं होता, वे सर्वथा मोह रहित होते हैं और संसाररूपी भयानक समुद्र में पड़ने से सदा शंकित और भयभीत रहते हैं ।।२३७२।।

चर्यापरिषह को जीतते हुए आत्माके परिभ्रमण का चिंतवन करते हैं—

तीक्ष्णैःपाषाणखण्डैश्चकंटकाद्यैः क्रमादिषु । पीडयमाना अपि प्राज्ञा मनःक्लेशादिदूरगाः ।।७३।।
चर्यापरीषहारातेर्विजये कृतसूद्यमाः । चतुर्गतिषुरौद्रासुरौद्रश्वभ्रादियोनिषु ।।२३७४।।
भ्रमणं सुचिरंनिंद्यं कृत्स्नदुःखभराकरम् । पराधीनंविधेः स्वेषांचिन्तयन्तोनिरन्तरम् ।।२३७५।।

अर्थ—यदि उनके पैरमें कांटा लग जाय वा तीक्ष्ण पत्थर के टुकड़ों की धार छिद जाय और उनसे उनको पीड़ा होती हो तो भी वे बुद्धिमान मुनि अपने मनमें कभी क्लेश नहीं करते हैं । क्लेश से वे सदा दूर ही रहते हैं । वे मुनिराज चर्यापरीषह रूपी शत्रुओं को जीतने के लिये सदा उद्योग करते रहते हैं, तथा मेरा यह आत्मा भयानक रूप चारों गतियों में चिरकालसे परिभ्रमण करता रहता है अथवा भयानक नरकादिक योनियों में चिरकालसे परिभ्रमण करता रहा है, यह मेरे आत्मा का परिभ्रमण अत्यंत निंद्य है, समस्त दुःखों की खानि है और कर्म के आधीन है । इसप्रकार वे मुनिराज अपने आत्माके परिभ्रमण को निरंतर चिंतवन करते रहते हैं ।।२३७३-२३७५।।

परीषहों को जीतने के लिये मुनिराज पृथ्वीपर विहार करते हैं—

संवेगं त्रिविधंचित्ते भावयन्तोखिलागमम् । ज्ञानध्यानसुधापानं कुर्वन्तोतिनिराकुलाः ।।२३७६।।
पुरपत्तनखेटाद्रिग्रामाटवीवनादिषु । रम्यारम्येषु सर्वत्र विहरन्तोनिजेच्छया ।।२३७७।।
पश्यन्तोपिपथं चान्धा रामारूपादिवीक्षणे । व्रजन्तोपि सुतीर्थादौ कुतीर्थेपंगवोविदः ।।२३७८।।
सुकथाः कथयन्तोपिमूकादुर्विकथादिषु । उपसर्गजयेशूराः कातराःकर्मबन्धने ।।२३७९।।
निस्पृहा निजदेहादौसस्पृहामुक्तिसाधने । सर्वत्राप्रतिबद्धाः प्रतिबद्धा जिनशासने ।।२३८०।।
निममत्वाय दुष्कर्मपरीषहजयाय च । विहरन्तिमहीं वह्वीमतन्द्रामुनिनायकाः ।।२३८१।।

अर्थ—अत्यंत निराकुल हुए वे मुनिराज अपने हृदय में संसार शरीर और भोगों से संवेग धारण करते रहते हैं, समस्त आगम का चिंतवन करते रहते हैं, और ज्ञान तथा ध्यानरूपी अमृत का पान सदा करते रहते हैं । वे मुनिराज अपनी इच्छानुसार नगर पत्तन, खेट, पर्वत, गांव, जंगल, वन आदि सुन्दर असुन्दर समस्त स्थानोंमें विहार करते रहते हैं, उस समय यद्यपि वे मार्ग को देखते हैं तथापि स्त्रियों के रूप आदि को देखने में वे अंधे ही बने रहते हैं । यद्यपि वे चतुर मुनि श्रेष्ठ तीर्थों की वंदना

के लिये विहार करते हैं, चलते हैं तथापि कुतीर्थों के लिये वे लंगड़े ही बने रहते हैं, यद्यपि वे श्रेष्ठ कथाओं को कहते हैं तथापि विकथाओं को कहने के लिये वे गूंगे बन जाते हैं। यद्यपि उपसर्गों को जीतने के लिये वे शूरवीर हैं तथापि कर्म बंधन करने के लिये वे कायर बन जाते हैं। यद्यपि अपने शरीर आदि से वे अत्यन्त निस्पृह हैं तथापि मुक्ति को सिद्ध करने के लिये वे तीव्र लालसा रखते हैं। यद्यपि वे सर्वत्र अप्रतिबद्ध हैं, किसी के बंधे हुए वा किसी के आधीन नहीं हैं तथापि वे जिनशासन के सदा आधीन रहते हैं। ऐसे वे प्रमाद रहित मुनिराज मोहका ममत्व का सर्वथा त्याग करने के लिये तथा अशुभ कर्म और परीषहों को जीतने के लिये बहुत सी पृथ्वी पर विहार करते हैं।।२३७६-२३८१।।

यत्नाचार रहित चलने वाले मुनि के विहार शुद्धि नहीं होती—

सिंहसादृश्यवृत्तीनां निष्पापमार्गचारिणाम्। विहारशुद्धिरेवात्रामीषां नायत्नचारिणाम्।।२३८२।।

अर्थ—इसप्रकार सिंहके समान अपनी निर्भय वृत्ति रखनेवाले और पापरहित मार्गमें चलने वाले इन मुनियों के विहार शुद्धि कही जाती है। जो मुनि यत्नाचार पूर्वक नहीं चलते उनके विहार शुद्धि कभी नहीं हो सकती।।२३८२।।

भिक्षाशुद्धि का स्वरूप—

कृताद्यैः सकलैर्दोषैस्त्यक्तः शुद्धोमलातिगः। भुज्यते भिक्षयाहारोयोग्यगेहे जितेन्द्रियैः।।२३८३।।
तपोयोगवपुःस्थित्यैषष्ठाष्ठमपारणे। पक्षमासोपवासादौ वा भिक्षाशुद्धिरेव सा।।२३८४।।

अर्थ—जो जितेन्द्रिय मुनिराज तपश्चरण योग और शरीर की स्थिति के लिये वेला, तेला के बाद के पारणा के दिन, एक पक्षके उपवास के बाद के पारणा के दिन अथवा महीना दो महीना के उपवास के बाद पारणा के दिन योग्य घरमें जाकर कृत-कारित अनुमोदना आदि के समस्त दोषों से रहित वा अपना समस्त दोषों से रहित अत्यंत शुद्ध आहार भिक्षावृत्ति से लेते हैं उसको भिक्षाशुद्धि कहते हैं।।२३८३-२३८४।।

वे मुनि नवकोटि से शुद्ध ४६ दोषों को टालकर आहार लेते हैं—

नवकोटिविशुद्धं द्व्यैकविशुद्दोषवर्जितम्। संयोजनाप्रमाणाख्यधूमांगारमलोज्झितम्।।२३८५।।
अशनं विधिनादत्तं योग्य कालेसुगेहिभिः। पाणिपात्रेस्थितिं कृत्वा ते भजन्तिशिवाप्तये।।२३८६।।

अर्थ—वे मुनिराज केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये सागृहस्थों के द्वारा योग्य कालमें विधि पूर्वक पाणिपात्रमें दिया हुआ मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदना

की शुद्धता पूर्वक ब्यालीस दोषों से रहित, संयोजना प्रमाण धूम अंगार नामके दोषों से रहित शुद्ध आहार खड़े होकर करते हैं ।।२३८५-२३८६।।

कैसे आहार को मुनिराज छोड़ देते हैं—

उद्देशकं तथा ज्ञात कृतमन्नं स्वशंकितम् । दूरागतंसदोषं ते वर्जयन्तिविषान्नवत् ।।२३८७।।

अर्थ—वे मुनिराज विष मिले हुए अन्न के समान सदोष आहार को छोड़ देते हैं. दूरसे आए हुए आहार को छोड़ देते हैं जिसमें कुछ शंका उत्पन्न हो गई हो उसको भी छोड़ देते हैं, उद्दिष्ट और जाने हुए आहार को भी छोड़ देते हैं और स्वयं बनाये हुए अन्नको भी छोड़ देते हैं ।।२३८७।।

मुनिराज भोजन की चर्या में छोटे बड़े का भेद नहीं करते—

विज्ञातानुमतातीतं नीचोच्चगृहपंक्तिषु । मौनेनेवव्रजन्तोऽत्रभिक्षां गृह्णन्तिनिस्पृहाः ।।२३८८।।

अर्थ—वे निस्पृह मुनि जाने हुए और अनुमोदना किये हुए आहार को भी छोड़ देते हैं तथा मौन धारण कर छोटे बड़े सब घरों की पंक्तियों में घूमते हुए आहार ग्रहण करते हैं ।।२३८८।।

रसना इन्द्रियजयी मुनि अयाचक वृत्ति से शुद्ध आहार लेते हैं—

उष्णं वा शीतलंशुष्कंरूक्षंशुद्धं रसान्वितम् । क्षारं वा लवणातीतंसुस्वादंस्वादद्दूरगम् ।।२३८९।।
अयाचितंयथालब्धमाहारंपारणादिषु । स्वादं त्यक्त्वा च भुञ्जन्तिजिह्वाहिकीलनोद्यताः ।।२३९०।।

अर्थ—जिह्वा आदि समस्त इन्द्रियों को कीलित करने में (वश करने में) सदा उद्यत रहनेवाले वे मुनिराज पारणा के दिन बिना याचना किया हुआ ठंडा, गर्म, सूखा, रूखा, सरस, लवण सहित, लवण रहित, स्वादिष्ट, स्वाद से रहित ऐसा जो शुद्ध आहार मिल जाता है उसको ही बिना स्वाद के ग्रहण कर लेते हैं ।।२३८९-२३९०।।

मुनिराज स्वाद के लिये आहार नहीं लेते हैं प्राणों की रक्षा के लिये आहार लेते हैं—

अक्षम्रक्षणमात्रान्नं प्राणस्थित्यैभजन्ति ते । प्राणान् रक्षन्तिधर्मार्थं धर्मंचरन्तिमुक्तये ।।२३९१।।
इत्यादिलाभसंसिद्धयै तत्परंपरयाविदः । अयंत्यशनमात्मार्थंनचस्वादादिहेतवे ।।२३९२।।

अर्थ—जिसप्रकार गाड़ी को चलाने के लिये पहिया ओंगते हैं, उसमें तेल देते हैं, उसी प्रकार प्राणों को स्थिर रखने के लिये वे मुनिराज थोड़ासा आहार लेते हैं। वे मुनिराज धर्मके लिये प्राणों की रक्षा करते हैं और मोक्ष के लिये धर्म का साधन करते

हैं। वे मुनिराज परम्परा से चले आए इसप्रकार के लाभ की सिद्धि के लिये तथा आत्मा शुद्ध करने के लिये आहार लेते हैं स्वाद के लिये आहार नहीं लेते ॥२३९१-२३९२॥

सुन्दर-असुन्दर आहार मिलने पर मुनि सन्तुष्ट और खेद खिन्न नहीं होते—

आहारेशोभनेलब्धेसंतुष्टास्ते भवन्ति न। अलाभेवाशुभान्नाप्तेदुर्मनस्का न जातुचित् ॥२३९३॥

अर्थ—यदि अच्छा सुन्दर आहार मिल जाय तो वे सन्तुष्ट नहीं होते और यदि आहार न मिले वा मिले भी तो अशुभ अन्न मिले तो वे मुनिराज अपने मन में कभी खेद खिन्न नहीं होते हैं ॥२३९३॥

प्राण जानेपर भी मुनिराज भोजन की याचना नहीं करते—

देहीति दीनवाक्यं ते प्राणान्तेपि वदन्ति न। स्तुवत्यन्यं न दानायसन्मौनव्रतधारिणः ॥२३९४॥

अर्थ—'मुझे दो' इसप्रकार के दीन वचन वे प्राण नाश होनेपर भी कभी नहीं करते हैं तथा श्रेष्ठ मौनव्रत को धारण करनेवाले वे मुनिराज दानके लिये कभी किसी की स्तुति भी नहीं करते ॥२३९४॥

मुनि अयोग्य आहार की इच्छा नहीं करते—

अनशनीयमाहारं कंदवोजफलादिकम्। अपक्वमग्निनांकिचिद्धीरानेच्छन्तिदोषदम् ॥२३९५॥

अर्थ—जो आहार ग्रहण करने योग्य नहीं है ऐसे अग्निमें बिना पके हुए और इसीलिये अत्यन्त दोष उत्पन्न करनेवाले कंद, बीज, फल आदि को ग्रहण करने की कभी इच्छा भी नहीं करते हैं ॥२३९५॥

मुनि कैसा भोजन ग्रहण नहीं करते—

रात्रौस्थितंयदन्नादिसुस्वादचलित तथा। तद्दिनोत्थं न गृह्णन्तितत्सर्वं मुनयः क्वचित् ॥२३९६॥

अर्थ—वे धीर वीर मुनिराज रात्रि में रक्खें हुए अन्न को कभी ग्रहण नहीं करते, तथा उसी दिन के बनाये हुए परन्तु स्वाद से चलित हुएं अन्नको भी कभी ग्रहण नहीं करते हैं ॥२३९६॥

निर्दोष आहार करके भी मुनि प्रतिक्रमण करते हैं—

निर्दोषाशनमप्यत्र भुक्त्वा तद्दोषशंकिताः। प्रतिक्रमणमात्मज्ञाः कुर्वन्ति व्रतशुद्धये ॥२३९७॥

अर्थ—आत्माके स्वरूप को जानने वाले वे मुनिराज अपने व्रतों की शुद्धि के

लिये आहार के दोषों से सदा डरते रहते हैं और निर्दोष आहार को ग्रहण करके भी प्रतिक्रमण करते हैं ।।२३९७।।

भिक्षाशुद्धि किस मुनि के होती है ?

इत्यादि यत्नजांभिक्षामेषणाशुद्धिपूर्विकाम् । ये श्रयन्ति सदातेषां भिक्षाशुद्धिर्न चान्यथा ।।२३९८।।

अर्थ—इसप्रकार जो मुनिराज एषणाशुद्धि पूर्वक, यत्नाचार पूर्वक आहार ग्रहण करते हैं उन्हीं के यह भिक्षाशुद्धि होती है, अन्य किसी के नहीं ।।२३९८।।

ज्ञानशुद्धि का स्वरूप—

कालक्षेत्रादिशुद्धयाविनयेनैकाग्रचेतसा । अंगपूर्वादिसूत्राणां पठनं परिवर्तनम् ।।२३९९।।
पाठनं व सतां मुक्त्यै क्रियते यन्मुनीश्वरैः । ज्ञाननेत्रैर्मदातीतैर्ज्ञानशुद्धिःस्मृतात्रसा ।।२४००।।

अर्थ—ज्ञानरूपी नेत्रों को धारण करनेवाले और ज्ञानके अभिमान से सर्वथा रहित ऐसे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये कालशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि आदि समस्त शुद्धियों के साथ-साथ विनयपूर्वक एकाग्रचित्त से अंगपूर्व वा सूत्रों का जो पठन-पाठन करते हैं वा पाठ करते हैं उसको सज्जन पुरुष ज्ञानशुद्धि कहते हैं ।।२३९९-२४००।।

ज्ञान शुद्धि धारी मुनिराज की प्रवृत्ति—

महातपोभराक्रांता दृढ चारित्रधारिणः । शुष्कचर्मास्थिसर्वांगाविश्वासाख्यातिवर्जिताः ।२४०१।
महाष्टांगनिमित्तज्ञाःसर्वांगमाब्धिपारगाः । द्वादशांगार्थवेत्तारः परार्थार्पितचेतसः ।।२४०२।।
धारणग्रहणे शक्ता अंगार्थानां मतेर्बलात् । पादानुसारिणो बीजबुद्धयः कोष्ठबुद्धयः ।।२४०३।।
संभिन्नबुद्धयोदक्षाः सप्तर्द्धिभूषिता विदः । श्रुतामृतात्तसत्कर्णामहाबुद्धिविशारदाः ।।२४०४।।
मतिश्रुतावधिज्ञानमनःपर्ययमंडिताः । ज्ञातविश्वार्थसाराश्चसद्ध्यानलीनमानसाः ।।२४०५।।
त्रिशुद्धयानिखिलांगानांपठनैःपाठनैःसताम् । तदर्थचिन्तनैर्लोके वर्तन्ते ज्ञानिनोन्वहम् ।।२४०६।।

अर्थ—जो मुनिराज महातपश्चरण के बोझ से दबे हुए हैं, दृढ़ चारित्र को धारण करनेवाले हैं, जिनका चमड़ा, हड्डी आदि समस्त शरीर सूख गया है, जो अपने मनमें विश्वास और प्रसिद्ध आदि को कभी नहीं चाहते, जो महा अष्टांग निमित्तशास्त्रों के जानकार हैं, समस्त आगम रूपी समुद्र के पारगामी हैं, द्वादशांग के अर्थ को जानने वाले हैं, अपने मनको सदा दूसरे के उपकार में ही लगाते रहते हैं, जो अपनी बुद्धि की प्रबलता से अंगों के अर्थ को ग्रहण करने और धारण करने में समर्थ हैं, जो अत्यन्त चतुर हैं, पादानुसारी बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, संभिन्नबुद्धि आदि सातों प्रकार की ऋद्धियों

से सुशोभित हैं, जो महाज्ञानी हैं, शास्त्ररूपी हैं, अमृतके पान से जिन्होंने अपने कानों को अत्यन्त श्रेष्ठ बना लिया है, जो महा बुद्धिमान और महा चतुर हैं, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन चारों ज्ञानों से सुशोभित हैं जो समस्त पदार्थों के सार को जानते हैं और जो अपने मनको सदा श्रेष्ठ ध्यान में ही लीन रखते हैं, ऐसे महाज्ञानी पुरुष मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक समस्त अंगों को स्वयं पढ़ते हैं, सज्जनों को पढ़ाते हैं और अनेक अर्थों को चितवन करते रहते हैं। इसप्रकार इस संसार में ज्ञानी पुरुषों की प्रतिदिन प्रवृत्ति रहती है ।।२४०१-२४०६।।

वे मुनिराज जिनवाणी रूपी अमृत का पान करते एवं करवाते हैं—

विदोपिसकलांगानां तद्गतं न मनाग्मदम् । कुर्वन्ति न समीहन्ते ख्यातिपूजादिकं क्वचित् ।।७।।
जिनवाक्यसुधापनं जन्ममृत्युविषापहम् । विश्वक्लेशहरं पंचेन्द्रियतृष्णाग्नि वारिदम् ।।२४०८।।
विज्ञायजन्मदाहार्त्तिशान्तये शिवशर्मणे । कुर्वन्ति कारयन्त्यन्यान् विस्तारयन्ति ते भुवि ।।२४०९।।

अर्थ— मुनिराज यद्यपि समस्त अंगों को जानते हैं तथापि वे किंचित भी उसका अभिमान नहीं करते तथा उससे अपनी प्रसिद्ध वा बड़प्पन पूजा आदि की भी कभी इच्छा नहीं करते। यह जिनवाणी रूपी अमृत का पान करना जन्ममृत्युरूपी विष को नाश करनेवाला है, समस्त क्लेशों को दूर करनेवाला है, और पंचेन्द्रियों की तृष्णा रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ के समान है। यही समझकर वे मुनिराज जन्म-मरणरूपी दाह को शांत करने के लिये और मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये स्वयं जिनवाणी रूपी अमृत का पान करते रहते हैं, दूसरों को उसका पान कराते रहते हैं और इस लोकमें उस जिनवाणीरूपी अमृतका विस्तार करते रहते हैं ।।२४०७-२४०९।।

ज्ञान शुद्धि का स्वामी कौन मुनि होते हैं—

अत्यभीक्ष्णमहाज्ञानोपयोगवशवर्तिनाम् । ज्ञान शुद्धिर्मतासद्भिर्नान्येषां च प्रमादिनाम् ।।२४१०।।

अर्थ—जो मुनिराज निरंतर ही महाज्ञानमय अपने उपयोग के वशीभूत हैं अर्थात जो निरंतर ज्ञानमें ही अपना उपयोग लगाये रहते हैं, उन्हीं सज्जन मुनियों के ज्ञानशुद्धि कही जाती है, अन्य प्रमादी पुरुषों के ज्ञानशुद्धि कभी नहीं हो सकती। ।।२४१०।।

उज्झन शुद्धि का स्वरूप—

'आत्मीये यः शरीरेपि संस्कारः क्षालनादिभिः । वध्वादिविषयेस्नेहो मोहारि जनकोऽशुभः ।।११।।
संगेममत्वभावो वा निर्ग्रंथैः क्रियते न च । क्वचित्कालेमतादक्षैः शुद्धिः सात्रोज्झनाभिधा ।।१२।।

अर्थ—अपने शरीर में प्रक्षालन आदि का संस्कार करना भी स्त्रियों में स्नेह उत्पन्न करनेवाला है, मोहरूपी शत्रु को उत्पन्न करनेवाला है और अत्यंत अशुभ है, इसलिये चतुर मुनिराज शरीर का संस्कार कभी नहीं करते हैं तथा किसी भी परिग्रह में किसी समय भी ममत्व भाव धारण नहीं करते इसको आचार्य लोग उज्झन शुद्धि कहते हैं ।।२४११-२४१२।।

उज्झन शुद्धिधारी मुनिराज शरीर संस्कार नहीं करते—

धावनंमुखदन्तानामुद्वर्तनं च मर्दनम् । पादप्रक्षालनं नेत्रांजनं च कायधूपनम् ।।२४१३।।
मज्जनं मंडनं जातु वमनं च विरेचनं । इत्याद्यापरसंस्कारं निर्ममास्ते न कुर्वते ।।२४१४।।

अर्थ—मोहरहित वे मुनिराज मुख और दांतों को न कभी धोते हैं, न कुल्ला करते हैं, न घिसते हैं, न पैर धोते हैं, न नेत्रों में अंजन लगाते हैं, न शरीर को धूप में सुखाते हैं, न स्नान करते हैं, न शरीर की शोभा बढ़ाते हैं, न वमन विरेचन करते हैं तथा और भी ऐसे ही ऐसे शरीर के संस्कार वे मुनिराज कभी नहीं करते ।।२४१३-२४१४।।

वे मुनिराज रोगके प्रतिकार के लिये औषध की इच्छा नहीं करते—

कुष्ठज्वरमरुत्पित्ताद्यसाध्यरुक्शतादिषु । दुस्सहेष्वत्र जातेषु पूर्वासातोदयेन भोः ।।२४१५।।
स्वकर्मपाकवेत्तारः औषधाद्यं नं जातुचित् । तच्छान्तयेप्रतीकारमिच्छन्तिपातहानये ।।२४१६।।

अर्थ—अपने कर्मों के विपाक को जानने वाले वे मुनिराज पहले के असाता कर्मके उदय से अत्यन्त असह्य और असाध्य ऐसे कोढ़, ज्वर, वायु का विकार वा पित्त का विकार आदि सैकड़ों रोग उत्पन्न हो जांय तो वे मुनि अपने पापों को नाश करने के लिये उस दुःख को सहते रहते हैं उन रोगों को दूर करने के लिये औषधि आदि के द्वारा कभी प्रतिकार नहीं करते, तथा न कभी प्रतिकार करने की इच्छा ही करते हैं । ।।२४१५-२४१६।।

वे मुनिराज रोगके होनेपर भी खेदखिन्न नहीं होते—

दुर्व्याधिवेदनाव्याप्तसर्वांगा अपि निस्पृहाः । भवन्ति दुर्मनस्का न स्वस्था प्राग्वन्नचान्यथा ।२४१७।

अर्थ—निस्पृह वृत्ति को धारण करनेवाले उन मुनिराजों का समस्त शरीर अनेक असाध्य रोगों की वेदना से व्याप्त हो रहा हो तो भी वे अपने मनमें खेद खिन्न नहीं होते वे पहले के ही समान स्वस्थ बने रहते हैं उन रोगों से उनके मनमें कभी

विकार उत्पन्न नहीं होता है ॥२४१७॥

वे मुनिराज सदा रत्नत्रय औषध का सेवन नहीं करते—

तपोरत्नत्रयं जन्ममृत्युकृत्स्नरुजान्तकम् । विश्वक्लेशहरं चैकं सेवन्ते ते नचापरम् ॥२४१८॥

अर्थ—वे मुनिराज समस्त क्लेशों को दूर करनेवाले और जन्ममरणरूपी समस्त रोगों को नाश करनेवाले रत्नत्रय को तथा तपश्चरण को सेवन करते रहते हैं, रत्नत्रय और तपके सिवाय वे अन्य किसी का सेवन नहीं करते ॥२४१८॥

वे मुनिराज सदा शरीर के स्वरूप का विचार करते हुए उसे आत्मा से भिन्न मानते हैं—

रोगोरगविलंनिंद्यं कृतान्तमुखमध्यगम् । शुक्रश्रोणितवीजोत्थंसप्तधातुकुलालयम् ॥२४१९॥
क्रमिकोटिशता कीर्णं वीभत्सं च घृणास्पदम् । विष्ठादिनिचितासारं मलमूत्रादिभाजनम् ।२४२०।
पंचाक्षतस्करावासं विश्वदुःखनिबन्धनम् । कृत्स्नाशुच्याकरीभूतं शुचिद्रव्याशुचिप्रदम् ॥२४२१॥
क्षुत्तृषाकामकोपाग्निदीपितं भववर्द्धकम् । रागादिपूरितं पूतिगंधदुष्कर्मकारणम् ॥२४२२॥
इत्याद्यन्यमहादोषमूलं कायकलेवरम् । पश्यन्तश्चिन्तयन्तस्तेभावयन्तोनिरन्तरम् ॥२४२३॥
तस्मात्सदापृथग्भूतंस्वात्मानं सद्गुणार्णवम् । कथं कुर्वन्तिरागादीन्निर्विण्णाः कायशर्मणि ॥२४।

अर्थ—यह शरीर रोगरूपी सर्पों का बिल है, अत्यंत निंद्य है, यमराजके मुख में ही उसका सदा निवास है, यह शुक्र रुधिर रूपी बीजसे उत्पन्न हुआ है, सप्त धातुओं से भरा हुआ है, करोड़ों अरबों कीड़ों से भरा हुआ है, अत्यन्त भयानक है, अत्यन्त घृणित है, मल मूत्र आदि असार पदार्थों से भरा हुआ है, विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थों का पात्र है, पांचों इन्द्रियरूपी चोर इसमें निवास करते हैं, समस्त दुःखों का यह कारण है, समस्त अपवित्र पदार्थों की खानि है, पवित्र पदार्थों को भी अपवित्र करनेवाला है, भूख, प्यास, काम, क्रोधरूपी अग्नि से सदा जलता रहता है, जन्ममरणरूप संसार को बढ़ाने वाला है । रागद्वेष से भरा हुआ है, दुर्गंध और अशुभ कर्मों का कारण है, तथा और भी अनेक महा दोषों का मूल कारण ऐसे शरीरको देखते हुए वे मुनिराज निरंतर उसी रूपसे चिंतवन करते हैं तथा अनन्त गुणोंका समुद्र ऐसे अपने आत्माको उस शरीर से सदा भिन्न मानते हैं । इसप्रकार शरीर के सुखसे विरक्त हुए वे मुनिराज उस शरीर में राग कैसे कर सकते हैं ॥२४१९-२४२४॥

भोगों की असारता का चिन्तवन करते हुये वे मुनिराज भोगों की इच्छा नहीं करते—

स्वान्यांगजनितान्भोगांश्चतुर्गतिनिबन्धनान् । जगद्दुःखाकरीभूतान् महापापकरान् बुधैः ॥२५॥
निंद्यान् दाहार्तरुग्हेतून् पशुम्लेच्छादिसेवितान् । निंद्यकर्मभवान् शत्रूनिवेहन्ते न ते क्वचित् ॥२६॥

अर्थ—अपने शरीर से वा अन्य पदार्थों से उत्पन्न हुए ये भोग चारों गति के कारण हैं, संसार के समस्त दुःखों की खानि हैं, महापाप उत्पन्न करनेवाले हैं, विद्वान् लोग सदा इनकी निंदा करते रहते हैं, दाह दुःख और अनेक रोगों के ये कारण हैं पशु और म्लेच्छ लोग ही इनका सेवन करते हैं और निंद्य कर्मों से ये उत्पन्न होते हैं · इस प्रकार शत्रु के समान इन भोगों की इच्छा वे मुनिराज कभी नहीं करते हैं ।।२४२५-२४२६।।

बन्धुवर्ग में भी स्नेह नहीं करते—

मोहशात्रवसन्तानेबंधुवर्गे तिदुस्त्यजे । धर्मघ्ने पापवीजे ते स्नेहं जातु न कुर्वते ।।२४२७।।

अर्थ—ये बंधुवर्ग भी मोहरूपी शत्रु की संतान हैं, पाप के कारण हैं, धर्म को नाश करनेवाले हैं और अत्यन्त कठिनता से छोड़े जा सकते हैं, ऐसे बंधुवर्ग में वे मुनिराज कभी स्नेह नहीं करते ।।२४२७।।

कौन मुनिराज उज्झन शुद्धि के धारी होते हैं—

इत्यादिनिर्मलाचारः स्वतो विश्वान्यवस्तुषु । त्यक्तरागाश्च ये तेषांस्याच्छुद्धिरुज्झनाह्वया ।।२८।।

अर्थ—जो मुनिराज इसप्रकार स्वयं निर्मल आचरणोंको पालन करते हैं और अन्य समस्त पदार्थों में कभी राग नहीं करते ऐसे मुनियों के उज्झन नाम की शुद्धि होती है ।।२४२८।।

वाक्य शुद्धि का स्वरूप—

जिनसूत्राविरुद्धं यदनेकांतमताश्रितम् । एकांतदूरगं तथ्यं विश्वजन्तुहितावहम् ।।२४२९।।
मितं च ब्रूयतेसारं वचनं धर्मसिद्धये । उन्मार्गहानये दक्षैः सा वाक्यशुद्धिरुत्तमा ।।२४३०।।

अर्थ—चतुर मुनि कुमार्गको नाश करने के लिये और धर्म की सिद्धि के लिये सदा ऐसे वचन बोलते हैं जो जिनशास्त्रों के विरुद्ध न हों, अनेकांत मतके आश्रय हों, एकांत मतसे सर्वथा दूर हों, यथार्थ हों, समस्त जीवों का हित करनेवाले हों, परिमित हों और सारभूत हों । ऐसे वचनों का कहना उत्तम वाक्यशुद्धि कहलाती है ।।२४२९-२४३०।।

कैसे वचन मुनिराज नहीं बोलते—

वाक्यं च विनयातीतं धर्महीनमकारणम् । विरुद्धं ते परैः पृष्टा अपृष्टा वा वदन्ति न ।।२४३१।।

अर्थ—जो वचन विनय से रहित हैं, धर्म से रहित हैं, विरुद्ध हैं और जिनके

कहने का कोई कारण नहीं है ऐसे वचन दूसरों के द्वारा पूछने पर वा बिना पूछे वे मुनिराज कभी नहीं बोलते हैं ।।२४३१।।

वे मुनिराज दूसरों की निंदा स्तुति में गूंगे समान होते हैं—

पश्यन्तोविविधानर्थान्नैत्रैः शृण्वन्तऊर्जितान् । कर्णैश्च ते हि जानन्तश्चित्तेसारेतरान् भुवि ।।३२।।
मूकीभूता इवात्यर्थं लोके तिष्ठन्ति साधवः । कुर्वन्त्यन्यस्य निन्दां न वार्तां स्तुत्यकारणम् ।।३३।।

अर्थ—यद्यपि वे मुनिराज अपने नेत्रों से अनेक प्रकार के अनर्थ देखते हैं, कानों से बड़े-बड़े अनर्थ सुनते हैं, और अपने हृदय में सार असार समस्त पदार्थों को जानते हैं तथापि वे साधु इस लोकमें गूंगेके समान सदा बने रहते हैं, वे कभी किसी की निंदा नहीं करते और न किसी की स्तुति करनेवाली बात कहते हैं ।।२४३२-२४३३।।

वे मुनिराज विकथा नहीं तो करते हैं एवं न ही सुनते हैं—

स्त्रीकथार्थकथाभक्तराजचौरमृषाकथाः । खेटकर्वटदेशाद्रिपुराकरादिजाः कथाः ।।२४३४।।
नटानां सुभटानां च मल्लानामिन्द्रजालिनाम् । द्यूतकारकुशीलानां दुष्टम्लेच्छादिपापिनाम् ।।
वैरिणां पिशुनानां च मिथ्यादृशां कुलिंगिनाम् । रागिणां द्वेषिणांमोहार्तादीनांविकथाः वृथा ।।
इत्याद्या अपरा वह्वीः कथाः पापखनींर्विदः । कथयन्ति न मौनाढ्याः जातुश्रृण्वन्तिनाशुभाः ।।

अर्थ—मौन धारण करनेवाले वे मुनिराज स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा, राजकथा, चोरकथा वा मिथ्या कथाएं कभी नहीं कहते हैं। इसीप्रकार खेट, कर्वट, देश, पर्वत, नगर, खानि आदि की कथाएं भी कभी नहीं कहते हैं। तथा वे मुनिराज नट, सुभट, मल्ल इन्द्रजालिया, जूआ खेलने वाले, कुशील सेवन करनेवाले, दुष्ट, म्लेच्छ, पापी, शत्रु, चुगलखोर, मिथ्यादृष्टि, कुलिंगी, रागी-द्वेषी, मोही और दुःखी जीवों की व्यर्थ की विकथाएं कभी नहीं कहते हैं। वे चतुर मुनि पाप की खानि ऐसी और भी अनेक प्रकार की विकथाएं कभी नहीं कहते हैं तथा न कभी ऐसी अशुभ विकथाओं को सुनते हैं ।।२४३४-२४३७।।

विकथा करनेवाले की मुनिराज संगति भी नहीं करते हैं—

विकथाचारिणां स्वान्यवृथाजन्मविधायनाम् । दुर्धियां क्षणमात्रं न संगमिच्छन्ति धीधनाः ।।३८।।

अर्थ—जो विकथा कहने वाले लोग अपना और दूसरों का जन्म व्यर्थ ही खोते हैं, ऐसे मूर्ख लोगों की संगति वे बुद्धिमान मुनिराज एक क्षणभर भी नहीं चाहते ।।२४३८।।

मुनिराज कैसे वचन नहीं कहते—

कौत्कुच्यमथकन्दपं मोखयं साधुनिन्दितम् । हास्यादिप्रेरकं जातु दुर्वचो न ब्रु वन्ति ते ।।२४३९।।

अर्थ—वे मुनिराज शरीर में विकार उत्पन्न करनेवाले वचन कभी नहीं कहते, कामवासना को बढ़ाने वाले वचन कभी नहीं कहते, साधुओं के द्वारा निंदनीय ऐसी बकवाद कभी नहीं करते और हंसी को उत्पन्न करनेवाले दुर्वचन कभी नहीं कहते हैं। ।।२४३९।।

वे मुनिराज धर्मोपदेश एवं श्रेष्ठ कथा ही कहते हैं—

निर्विकाराविचारज्ञाः शिवश्रीसाधनोद्यताः । शिवाय धीमतां नित्यं दिक्षन्तिधर्मदेशनाम् ।।४०।।
श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्नामहापुरुषसम्भवाः । संवेगजननीःसारास्तत्त्वगर्भाः शिवंकराः ।।२४४१।।
रागारिनाशिनीश्चित्तपंचेन्द्रियनिरोधिनीः । सत्कथाः धर्मसंबद्धाः कथयन्तिसतां विदः ।।२४४२।।

अर्थ—विकार रहित, विचारशील और मोक्ष लक्ष्मी को सिद्ध करने में सदा तत्पर ऐसे वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये बुद्धिमानों को सदा धर्मोपदेश ही देते हैं। जो धर्म संबंधिनी श्रेष्ठ कथा भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई है, जिसमें तीर्थंकर ऐसे महापुरुषों का कथन है, जो संवेग को उत्पन्न करनेवाली है, सारभूत है, तत्त्वों के स्वरूपको कहने वाली है, मोक्ष देनेवाली है, रागद्वेष रूपी शत्रुको नाश करने वाली है, तथा मन और पंचेन्द्रियों को रोकने वाली है, ऐसी श्रेष्ठ कथा ही वे चतुर मुनिराज सज्जनों के लिये कहते हैं ।।२४४०-२४४२।।

कैसे मुनिराज वाक्यशुद्धि धारी होते हैं—

सत्त्वाधिका अनगारभावनारतमानसाः । स्वात्मध्यानपरास्तेस्युस्तत्त्वचिन्तावलम्बिनः ।।२४४३।।
इत्याद्यन्यगुणग्रामाः ये मौनव्रतधारिणः । मूका इवात्र तिष्ठन्ति ते वाक्यशुद्धिधारका ।।२४४४।।

अर्थ—जो मुनिराज समर्थशाली हैं, अपने मनको सदा मुनियों की भावना में लगाये रहते हैं जो अपने आत्मध्यानमें सदा तत्पर रहते हैं और तत्त्वोंके चिंतवन करने का ही जिनके सदा अवलंबन रहता है। इसप्रकार के और भी अनेक गुणों को जो धारण करते हैं तथा गूंगे के समान मौनव्रत धारण कर ही अपनी प्रवृत्ति रखते हैं ऐसे मुनियों के उत्तम वाक्यशुद्धि कही जाती हैं ।।२४४३-२४४४।।

तपशुद्धि का स्वरूप—

द्विषड्भेदं तपः सारं सर्वशक्त्याजिनोदितम् । दुष्कर्मारातिसन्तानोन्मूलनंशिवकारणम् ।।२४४५।।

अप्रमत्तैर्महायोगव्रतगुप्त्यादिमंडितैः । क्रियते ज्ञानपूर्वं यत्सा तपः शुद्धिरुद्धृता ।।२४४६।।

अर्थ—महायोग व्रत और गुप्ति समिति आदि से सुशोभित रहनेवाले और प्रमाद रहित जो मुनि अपनी शक्तिके अनुसार अशुभ कर्मरूप शत्रुओं की संतान को भी जड़मूल से उखाड़ देनेवाले तथा मोक्ष के कारण, भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए और सारभूत ऐसे बारह प्रकार के तपश्चरण को ज्ञानपूर्वक धारण करते हैं उसको उत्तम तप शुद्धि कहते है ।।२४४५-२४४६।।

वे मुनिराज अनेक उपवास धारण कर तप करते हैं—

तपोग्निशुष्ककर्माणांप्रादुर्भूतास्थिसंचयाः । सात्विका निष्कषायास्ते क्षीणगात्राधृतेर्बलात् ।।४७।।
बहून् षष्ठाष्टमादींश्च पक्षमासादिगोचरान् । उपवासांश्चरन्त्यत्रनिःशक्ता अपि मुक्तये ।।२४४८।।

अर्थ—तपरूपी अग्निसे जिनके कर्म सब सूख गये हैं, जिनके शरीर में हड्डी-मात्र रह गई है जो कषाय रहित हैं तथापि जो शक्तिशाली हैं, ऐसे शरीर से अशक्त मुनि भी केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने धैर्यके बलसे वेला, तेला, पंद्रह दिन का उपवास, एक महीने का उपवास, दो महीने का उपवास इसप्रकार अनेक उपवासों को धारण करते हैं ।।२४४७-२४४८।।

वे मुनिराज तपशुद्धि के लिये उनोदर एवं वृति-संख्यान तप करते हैं—

पक्षमासोपवासादि पारणाहनिनिस्पृहाः । ग्रासमात्रादिकाहारं भुजन्ति शिवशर्मणे ।।२४४९।।
कृत्वामासोपवासादीन्पारणे चत्वरादिभिः । गृह्णन्त्यवग्रहं धीराभिक्षालाभाय दुर्घटम् ।।२४५०।।

अर्थ—वे निस्पृह मुनिराज मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिये पंद्रह दिन का वा एक महीने का अथवा और भी अधिक उपवास करके पारणा के दिन एक ग्रास वा दो ग्रास आहार लेकर ही चले जाते हैं । वे धीर वीर मुनि मासोपवास आदि करके भी पारणा के भिक्षा लेने के लिये "आज चौराहे पर आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं" अथवा "पहले घरमें आहार मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं" इसप्रकार पडगाहन की प्रतिज्ञा कर वृत्तिपरिसंख्यान तप धारण करते हैं ।।२४४९-२४५०।।

वे मुनिराज रस परित्याग एवं विविक्त शय्यासन तप करते हैं—

त्यक्त्वापंचरसान् षड्वा धौतान्नमुष्णवारिणा । पंचाक्षसुखहान्यै ते भजन्ति पारणे मुदा ।२४५१।
भीमारण्ये श्मशाने वा मांसाशिक्रूरसंकुले । स्त्र्यादिदूरे भयातीताः श्रयन्तिशयनासनम् ।।२४५२।।

अर्थ—अथवा वे मुनिराज पांचों इन्द्रियों के सुख नष्ट करने के लियें पारणा

के दिन छहों रसों का त्याग कर अथवा पांचों रसों का त्याग कर आहार लेते हैं अथवा गर्म जलसे धोये हुए अन्नको ही वे ग्रहण करते हैं। वे निर्भय मुनिराज स्त्रियों के संसर्ग से अत्यन्त दूर तथा हड्डी मांस वा क्रूर जीवों से भरे हुए श्मशान में वा भयानक वनमें अर्थात् एकांत स्थान में ही शयन वा आसन ग्रहण करते हैं ।।२४५१-२४५२।।

शीतकाल में चौराहे पर खड़े होकर ध्यान करते हैं—

हेमन्ते चत्वरे घोरे शीतदग्धद्रुमे निशि । ध्यानोष्मणाष्टदिग्वस्त्रा। शीतबाधां जयन्ति ते ।।५३।।

अर्थ—वे मुनिराज जिसकी ठंडसे वृक्ष भी जल जाते हैं, ऐसे जाड़े के दिनों में रात के समय आठों दिशारूपी वस्त्रों को धारण कर तथा ध्यानरूपी गर्मी से तपते हुए घोर चौराहे पर खड़े होकर शीतबाधा को जीतते हैं ।।२४५३।।

उष्ण कालमें पर्वत के शिखर पर ध्यान करते हैं—

ग्रीष्मेसूर्यांशु संतप्ते तुंगाद्रिस्थशिलातले । तापक्लेशासहाधीरास्तिष्ठन्तिभानुसन्मुखा: ।।२४५४।।

अर्थ—गर्मी के क्लेश को सहन करने में अत्यन्त धीर वीर वे मुनिराज गर्मी के दिनों में सूर्य की किरणों से तप्तायमान ऐसे ऊंचे पर्वतों की शिलापर सूर्य के सामने खड़े होते हैं ।।२४५४।।

वर्षा कालमें वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए उपद्रव सहते हैं—

स्रवद्विन्दूत्करेवृक्षमूलेसर्पादिवेष्टिते । प्रावृट्कालेऽ:थता: शक्त्याश्रयन्त्युपद्रवान् बहून् ।।२४५५।।

अर्थ—वे मुनिराज वर्षा के दिनों में जहां पर बहुत देर तक पानी की बूंदें झरती रहती हैं और जिसकी जड़ में अनेक सर्पादिक जीव लिपटे हुए हैं ऐसे वृक्षों के नीचे खड़े रहते हैं तथा वहांपर अपनी शक्ति के अनुसार अनेक उपद्रवों को सहन करते रहते हैं ।।२४५५।।

तीनों कालों में योग धारण करते हुए उपसर्ग एवं परीषहों को सहन करते हैं—

एवं त्रिकालयोगस्था ऋतुजोपद्रवान्परान् । क्षुत्तृट्शीतोष्णदंशाहि वृश्चिकादिपरीषहान् ।।५६।।
देवतिर्यग्नराचेतनोत्थोपसर्गदुर्जयान् । सहन्ते सर्वशक्त्या च मनाक् क्लेशंव्रजन्ति न ।।२४५७।।

अर्थ—इसप्रकार तीनों ऋतुओं में योग धारण करनेवाले वे मुनिराज ऋतुओं से उत्पन्न हुए अनेक उपद्रवों को सहन करते हैं, क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण की परीषह सहन करते हैं, सांप, बिच्छुओं के काटने की परीषह सहन करते हैं देव मनुष्य तिर्यंच और अचेतनों से उत्पन्न हुए घोर दुर्जय उपसर्गों को सहन करते हैं। वे मुनिराज अपनी

पूर्ण शक्ति से उपसर्ग और परीषहों को सहन करते हैं, अपने मन में रंचमात्र भी खेद उत्पन्न नहीं करते ।।२४५६-२४५७।।

अन्तरंग तपों को कौन मुनि धारण करने में समर्थ होते हैं—

इति बाह्यं तपोघोरमाचरन्तस्तपोधनाः । प्रायश्चित्तादि सर्वेषां षडन्तस्तपसां क्रमात् ।।२४५८।।
आरोहन्ति परां कोटिं निष्प्रमादा जितेन्द्रियाः । द्विधारत्नत्रयाशक्ताः बाह्यान्तः संगदूरगाः ।।५९।।

अर्थ—व्यवहार निश्चय दोनों प्रकार के रत्नत्रय को धारण करने में लीन रहनेवाले, बाह्य, अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह से सर्वथा दूर तथा जितेन्द्रिय और प्रमाद रहित वे मुनिराज ऊपर लिखे अनुसार बाह्य घोर तपश्चरणों को धारण करते हुए भी प्रायश्चित्त आदि छहों प्रकार के समस्त अंतरंग तपश्चरणों को अनुक्रम से सर्वोत्कृष्ट रूपसे धारण करते हैं ।।२४५८-२४५९।।

वे मुनिराज दुर्जनों के दुष्ट वचनों से क्षुब्ध नहीं होते—

मिथ्यादृग्दुर्जनादीनांदुर्वाक्यादन्तकोपमात् । ताडनात्तर्जनाद्घाताद्यान्ति क्षोभं न ते क्वचित् ।।६०।

अर्थ—वे मुनिराज यमराज के समान मिथ्यादृष्टि और दुष्ट मनुष्यों के दुर्वचनों से उनकी ताड़ना से, तर्जना से, वा उनकी मार से कभी भी क्षुब्ध नहीं होते हैं ।।२४६०।।

इन्द्रियों को वैराग्य जाल से बांधते हैं—

पंचाक्षविषयाकांक्षाविश्वानर्थखनी नृणाम् । या तां वैराग्यपाशेनतेवध्नन्तिमृगीमिव ।।२४६१।।

अर्थ—जिसप्रकार किसी जाल से हिरण को बांध लेते हैं उसी प्रकार वे मुनिराज समस्त अनर्थों की खानि ऐसी मनुष्यों की पांचों इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाली विषयों की आकांक्षा को अपने वैराग्य-रूपी जाल से बहुत शीघ्र बांध लेते हैं । ।।२४६१।।

तपशुद्धि का अधिकारी कौन होता है—

इत्याद्यन्यमहाघोरोग्रतपश्चरितात्मनाम् । जिताक्षाणां तपः शुद्धि केवलं विद्यतेनघा ।।२४६२।।

अर्थ—जो मुनिराज इनके सिवाय और भी महा घोर और उग्र तपश्चरणों को धारण करते हैं तथा समस्त इन्द्रियों को जीतते हैं, उन्हीं मुनियों के पापरहित निर्दोष तपःशुद्धि होती है ।।२४६२।।

ध्यान शुद्धि का स्वरूप—

निर्विकल्पं मनः कृत्वा त्यक्त्वार्त्तरौद्रमंजसा । स्थित्वागिरिगुहादौसद्ध्यानमेकाग्रचेतसा ।।२४६३।।
धर्मंशुक्लाभिधं दक्षैः सिद्धये यद्विधीयते । कर्मारण्ये ज्वलज्ज्वालाध्यानशुद्धिरिहास्ति सा ।।६४।।

अर्थ—जो चतुर मुनि अपने मनके समस्त संकल्प विकल्पों को दूर कर तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर पर्वतों की गुफा आदि में बैठकर एकाग्रचित्त से धर्मध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करते हैं तथा इन दोनों ध्यानों को मोक्ष के ही लिये धारण करते हैं, उनके कर्मरूपी वन को जलाने के लिये की ज्वाला के समान ध्यानशुद्धि कही जाती है ।।२४६३-२४६४।।

बुद्धिमान लोग मनरूपी हाथी को किससे वश करते हैं—

भ्रमतिविषयारण्ये दुर्द्धरं स्वमनोगजम् । ध्यानांकुशेनचाहृत्यानयन्ति स्ववशं बुधाः ।।२४६५।।

अर्थ—यह अपना मनरूपी दुर्धर हाथी विषयरूपी वनमें घूमता रहता है । इसको ध्यानरूपी अंकुश से पकड़ कर बुद्धिमान लोग ही अपने वश में कर लेते हैं । ।।२४६५।।

योगीजन इन्द्रिय और कषाय रूपी सेना को किसके द्वारा जीतते हैं—

चंचलान् कुर्वंतः क्रीडां पंचेन्द्रियजलोद्भवान् । रत्यब्धौ ध्यानजालेनवध्नन्तिध्यानिनोद्रुतम् ।।६६।।
कषायतस्करानीकं मनोभूपेन्द्रपालितम् । विश्वसन्तापिनं घ्नन्तिध्यानखड्गेनयोगिनः ।।२४६७।।

अर्थ—पंचेन्द्रियरूपी जलसे उत्पन्न हुईं और रति रूप समुद्र में क्रीड़ा करती हुईं चंचल मछलियों को ध्यानी पुरुष ही ध्यानरूपी जालमें शीघ्र बांध लेते हैं । मनरूपी उत्कृष्ट राजा के द्वारा पाली हुई और समस्त जीवों को दुःख देनेवाली ऐसी इस कषायरूपी चोरों की सेना को योगी पुरुष ही ध्यानरूपी तलवार से मारते हैं ।।२४६६-२४६७।।

योगीजन ध्यान के द्वारा क्या-क्या करते हैं—

ध्यानेन निखिलान्योगान्मूलोत्तरगुणान्परान् । [illegible]मेन्द्रियदमादींश्च नयन्ति पूर्णतां विदः ।।६८।।

अर्थ—चतुर पुरुष इस ध्यान के ही द्वारा समस्त योगों को, उत्कृष्ट मूलगुण तथा उत्तरगुणों को उपशम परिणामों को और इन्द्रियों के दमन को कर्मरूप से धारण कर लेते हैं ।।२४६८।।

योगीजन ध्यान के द्वारा अशुभकर्म पर्वतों को चूर्ण करते हैं—

सद्ध्यानवज्रघातेन द्रुतं दुष्कर्मपर्वतान् । सार्द्धं मोहादिवृक्षैः प्रापयन्तिशतचूर्णताम् ।।२४६९।।

अर्थ—वे मुनिराज श्रेष्ठध्यानरूपी वज्र की चोट से मोहादिक वृक्षों के साथ साथ अशुभकर्मरूपी पर्वतों के सैकड़ों टुकड़े कर डालते हैं ।।२४६९।।

मुनिराज किसी भी अवस्था में ध्यान नहीं छोड़ते—

गच्छन्ता वा सुखासीना वह्वीः सुखसुखादिकाः । अवस्था मुनयः प्राप्ताः क्वचिद्ध्यानं त्यजन्ति न ।।

अर्थ—वे मुनि चाहे चल रहे हों, चाहे आराम से बैठे हों वा सुख दुःख की बहुत सी अवस्था को प्राप्त हो रहे हों तथापि वे ध्यान को कभी नहीं छोड़ते हैं । ।।२४७०।।

शुभध्यान को करनेवाले मुनि अशुभध्यान के वश नहीं होते—

आर्तरौद्रकुलेश्यानां धर्मशुक्लार्पिताशयाः । स्वप्नेपि न वशं यान्ति शुक्ललेश्यामहोदयाः ।।२४७१।

अर्थ—शुक्ललेश्या को धारण करनेवाले और अपने मन में धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को चिंतवन करनेवाले वे मुनिराज स्वप्न में भी कभी आर्तध्यान और रौद्रध्यान के वश में नहीं होते हैं ।।२४७१।।

परीषहादिकों के आनेपर भी ध्यान से च्युत नहीं होते—

परीषहमहासैन्यैरुपसर्गव्रजैः क्वचित् । चलन्ति न मनाग्ध्यानादद्रीन्द्रइवनिश्चलाः ।।२४७२।।

अर्थ—मेरु पर्वत के समान निश्चल रहनेवाले वे मुनिराज परीषहों की महासेना तथा उपसर्गोंके समूह आ जानेपर भी अपने ध्यानसे रंचमात्र भी कभी चलायमान नहीं होते हैं ।।२४७२।।

ध्यान रूपी रथमें कौनसे घोड़े जोतते हैं—

रागद्वेषहयौ दुष्टौ नयन्तावुत्पथं वलात् । सद्ध्यानरथमात्मध्यानरज्वा स्थापयन्ति ते ।।२४७३।।

अर्थ—ये रागद्वेष रूपी घोड़े बड़े ही दुष्ट हैं, ये मनुष्यों को जबर्दस्ती कुमार्ग में ले जाते हैं, ऐसे इन घोड़ों को योगी पुरुष ही अपने आत्मध्यानरूपी लगाम से श्रेष्ठ ध्यानरूपी रथ में जोत देते हैं ।।२४७३।।

ध्यान रूप परमानन्द को पीने से क्षुधा तृषा को नहीं जानते—

पिवन्तः परमात्मोत्थं ध्यानानन्दामृतं सदा । मुख्यवृत्या न जानन्ति क्षुत्तृषादिपरीषहान् ।।२४७४।।

अर्थ—वे मुनिराज परमात्मा से उत्पन्न हुए ध्यानरूपी आनंदामृत को सदा पीते रहते हैं, इसलिये वे क्षुधातृषा आदि की परीषहों को मुख्यवृत्ति से कभी नहीं जानते ॥२४७४॥

श्रेष्ठ ध्यानरूपी नगर एवं उसके स्वामी का वर्णन—

जिनशासनभूमिस्थं चारित्रशीलवेष्ठितम् । विवेकगोपुराकीर्णंजिनज्ञाखातिका वृतम् ॥२४७५॥
गुप्तिवज्रकपाटंसत्तपः सुभटपूरितम् । क्षमादिमंत्रिवर्गाढ्यंसद्ज्ञानतलरक्षकम् ॥२४७६॥
संयमारामसीमान्तं ह्यगम्यं भंगवर्जितम् । कषायमदनारातिव्रजैः पचाक्षतस्करैः ॥२४७७॥
साधुलोक भृतंरम्यंसद्ध्याननगरंपरम् । अधिष्ठितामहाशीलसन्नाहाखिलवर्मिताः ॥२४७८॥
समतुंगगजारूढा धैर्यचापकरांकिताः । रत्नत्रयशरोपेताःमुनीन्द्रसुभटोत्तमाः ॥२४७९॥

अर्थ—देखो यह श्रेष्ठध्यान एक उत्कृष्ट नगर है, यह नगर जिनशासन की भूमि पर बसा हुआ है, चारित्ररूपी परकोट से घिरा हुआ है, विवेकरूपी बड़े दरवाजों से सुशोभित है, भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञारूपी खाई से वेष्ठित है, इसके गुप्तिरूपी वज्रमय किवाड़ हैं, श्रेष्ठ तपश्चरणरूपी योद्धाओं से यह भर रहा है, उत्तम क्षमा आदि मंत्रियों के समूह से यह सुशोभित है, सम्यग्ज्ञानरूपी कोतवाल इसकी रक्षा करते हैं, इसकी सीमा के अंतमें संयमरूपी बगीचे लग रहे हैं, कषाय और कामरूपी शत्रुओं के समूह तथा पंचेन्द्रियरूपी चोर इसमें प्रवेश नहीं कर सकते, न इस नगर का भंग कभी हो सकता है, यह ध्यानरूपी नगर साधु लोगों से भरा हुआ है और परम मनोहर है, इस नगर के स्वामी वे ही मुनि होते हैं जो महाशीलरूपी उत्तम कवचों को सदा पहने रहते हैं जो समतारूपी ऊंचे हाथी पर चढ़े रहते हैं, जिनके हाथ में धैर्यरूपी धनुष सदा सुशोभित रहता है तथा जो रत्नत्रयरूपी वाणों को धारण करते रहते हैं, ऐसे उत्तम सुभटरूपी मुनिराज इस श्रेष्ठध्यानरूपी नगर के राजा होते हैं ॥२४७५-२४७९॥

वे ध्यान रूपी नगरी के स्वामी मोहरूपी शत्रुको जीतकर मोक्ष साम्राज्य को प्राप्त करते हैं—

निःशंकगुणमाकृष्यदृगादिशरवर्षणैः । मोक्षराज्याय निघ्नन्तिससैन्यं मोहविद्विषम् ॥२४८०॥
ततोहतमहामोहानिर्द्धूतकर्मशात्रवाः । व्रजन्ति मुक्तिसाम्राज्यं शाश्वतं ते सुरार्चिताः ॥२४८१॥

अर्थ—वे ध्यानरूपी नगर के स्वामी मुनिराज निःशंकितरूपी डोरी को खींच कर रत्नत्रयरूपी वाणों की वर्षा करते हैं और मोक्षरूपी राज्यको प्राप्त करने के लिये समस्त सेना के साथ मोहरूपी शत्रु को मार डालते हैं । तदनंतर मोहरूपी महाशत्रु के मर जानेपर उन मुनियों के कर्मरूपी सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और देवों के द्वारा पूज्य

वे मुनिराज सदाकाल रहनेवाले मोक्षरूपी साम्राज्यको प्राप्त कर लेते हैं ।२४८०-२४८१।

मुनिराज को श्रमण आदि अनेक सार्थक नामों का स्वरूप—

श्रमयन्ति तपोभिर्ये स्वात्मानं श्रमणा हि ते । शमयन्तिकषायान् वा खानि ये तेत्रसंयताः ।।८२।।
अर्पयन्ति स्वकर्माणि गमयन्ति किलर्षयः । मन्यन्ते स्वपरार्थानां सिद्धि ये मुनयोत्रते ।।२४८३।।
मत्याद्यैः पंचसद्ज्ञानैर्युता वा मुनयोद्धुताः ।।२४८४।।
साधयन्तिदृगादीनि त्रीणि ये तेत्रसाधवः । येषां न विद्यतेगारमनगारास्तएव हि ।।२४८५।।
येषां वीतोविनष्ठो हि रागोदोषाखिलः समम् । वीतरागास्तेएवात्र त्रिजगन्नाथपूजिताः ।।२४८६।।

अर्थ—वे मुनिराज तपश्चरण करके अपने आत्माको श्रम वा परिश्रम पहुंचाते हैं इसलिये वे श्रमण कहलाते हैं । वे कषाय तथा इन्द्रियों को शांत करते हैं इसलिये संयत कहलाते हैं । वे मुनिराज अपने कर्मों को अर्पण करते हैं, भगा देते हैं वा नष्ट कर देते हैं, इसलिये ऋषि कहे जाते हैं । वे सप्त ऋद्धियों को प्राप्त होते हैं इसलिये महर्षि कहे जाते हैं । वे मुनिराज अपने आत्मा का अथवा अन्य पदार्थों का मनन करते हैं इसलिये मुनि कहलाते हैं अथवा मतिज्ञाम श्रुतज्ञान आदि पांचों ज्ञानों से वे सुशोभित रहते हैं इसलिये भी वे मुनि कहलाते हैं । वे मुनिराज सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को सिद्ध करते हैं इसलिये साधु कहे जाते हैं । उनके रहने का कोई नियत स्थान नहीं रहता इसलिये वे अनगार कहलाते हैं । उनके रागद्वेष आदि समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं इसलिये वे वीतराग कहलाते हैं और तीनों लोकों के इन्द्र उनकी पूजा करते हैं । ।।२४८२-२४८६।।

वीतरागी के ध्यान की सिद्धि एवं रागी के ध्यानकी सिद्धि का अभाव—

इतिसार्थकनामाप्तवीतरागतपस्विनाम् । ध्यानिनां परमाध्यानशुद्धिर्न रागियोगिनाम् ।।२४८७।।

अर्थ—इसप्रकार अनेक सार्थक नामों को धारण करनेवाले वीतराग ध्यानी तपस्वियों के परम ध्यानकी शुद्धि होती है, रागी मुनियों के ध्यानकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती ।।२४८७।।

दशों शुद्धियों की उपसंहारात्मक महिमा—

इतिजिनमुखजाता ये त्र शुद्धिर्दशैव ह्यशुभसकलहंत्रीस्वर्गमोक्षादिकर्त्री ।
परम चरणयत्नैपालयन्त्यात्मशुद्धयै रहितविधिमलांगास्तेऽचिरात्स्युर्महान्तः ।।२४८८।।

अर्थ—इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई ये दस शुद्धियां

समस्त अशुभों को नाश करनेवाली हैं और स्वर्गमोक्ष की देनेवाली हैं। जो महापुरुष अपने आत्माको शुद्ध करने के लिये प्रयत्नपूर्वक धारण किये हुए परम चारित्र के द्वारा इन दशों शुद्धियों को पालन करते हैं, वे बहुत ही शीघ्र कर्ममल कलंक से सर्वथा रहित हो जाते हैं ।।२४८८।।

मुनियों की श्रेष्ठ भावनाओं की महिमा—

एता मुक्तिवधूसखीश्चपरमानागारसद्भावना ये शृण्वंति च भावयन्तिनिपुणाः शक्त्याचरन्त्युद्यताः।
ते तद्धर्मवशाज्जगत्त्रयवरंसर्वार्थसिद्धयादिजं भुक्त्वासौख्यमनारतसुतपसामुक्तिप्रयान्तिक्रमात् ।।

अर्थ—ये मुनियों की श्रेष्ठ भावनाएं सर्वोत्कृष्ट हैं और मोक्षरूपी स्त्री की सखी हैं। जो चतुर मुनि इनको सुनते हैं, इनका चितवन करते हैं और उद्योगी बनकर अपनी शक्ति के अनुसार इनका पालन करते हैं, वे उस धर्म के निमित्त से तीनों लोकों में श्रेष्ठ ऐसे सर्वार्थसिद्धि आदि के सुखों को निरंतर भोगते रहते हैं और फिर अंतमें श्रेष्ठ तपश्चरण धारण कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं ।।२४८९।।

अन्तमें सम्पूर्ण भावनायें एवं आत्मशुद्धि प्राप्ति की याचना—

ये सर्वे जिननायिकाश्च परयाशुद्धयावभूवुः पुरा,
सिद्धाअन्तविवर्जितानिरुपमाः प्राप्ताः शिवस्त्रींपराम्।
येनागारसुभावनारतमहायोगास्त्रिधासाधवः ते,
स्तुत्याममभावनाश्चसकलाः शुद्धीः प्रदद्यु र्निजाः ।।२४९०।।

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते
अनगारभावना वर्णनो नामाष्टमोधिकारः।

अर्थ—पहले समय में आज तक जितने तीर्थंकर हुए हैं, वे सब इन परम शुद्धियों से ही हुए हैं तथा उपमा रहित अनंत सिद्ध हुए हैं और उन्होंने जो सर्वोत्कृष्ट मोक्ष स्त्री प्राप्त की है, वह भी सब इन परम शुद्धियों का ही फल समझना चाहिये। इसीप्रकार आचार्य उपाध्याय साधु भी जो महा योगीश्वर कहलाते हैं वे भी मुनियों की इन भावनाओं में लीन होने से ही महा योगीश्वर कहलाये हैं। इसलिये मैं इन अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधुओं की स्तुति करता हूं, ये पांचों परमेष्ठी अपनी सब भावनाएं मुझे प्रदान करें तथा अपनी समस्त आत्मशुद्धि प्रदान करें ।।२४९०।।

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थ में मुनियों की भावनाओं को निरूपण करनेवाला यह आठवां अधिकार समाप्त हुआ।

नवमोधिकारः

मंगलाचरण

सिद्धान्तसमयादीनांप्रणेतॄन्परमेष्ठिनः । त्रिजगन्नाथपूज्यांश्रीन्वंदेतद्गुणसिद्धये ।।२४९१।।

अर्थ—जो पांचों परमेष्ठी सिद्धांत और समय आदि को निरूपण करनेवाले हैं और तीनों लोकों के इन्द्र जिनके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं ऐसे पांचों परमेष्ठियों को मैं उनके गुण प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं ।।२४९१।।

समयसार अध्याय के कथन की प्रतिज्ञा—

अथाखिलागमस्यात्रदर्शनज्ञानयो परः । चारित्रतपसो सारभूतः श्रीजिनभाषितः ।।२४९२।।
महान् यो ग्रंथसारः समयसाराभिधः सताम् । सर्वार्थसिद्धिदोवक्ष्येसमासेनतमूर्जितम् ।।२४९३।।

अर्थ—यह समयसार नामका महा ग्रंथ (अध्याय) सब ग्रंथों का सारभूत है, समस्त आगम का सार है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सार है, चारित्र और तपश्चरण का सार है, सबका सारभूत है, भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है, सर्वोत्कृष्ट है और सज्जनों को समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि करनेवाला है इसलिये अब मैं उसको संक्षेप से कहता हूं ।।२४९२-२४९३।।

कौन मुनि शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है—

द्रव्यशुद्धिपरां क्षेत्रकालशुद्धी च निर्मले । भावशुद्धि समाश्रित्य दृढंसंहननंपरम् ।।२४९४।।
चारित्रेयततेनित्यंदर्शनज्ञानपूर्वके । य स्तपस्वी विरागी स निर्वाणंलभतेचिरात् ।।२४९५।।

अर्थ—जो वीतराग तपस्वी निर्मल द्रव्यशुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि और भावशुद्धि का आश्रय लेकर तथा उत्कृष्ट दृढ़ संहननों का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र के धारण करने में सदा प्रयत्न करता रहता है, वह मुनि शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।।२४९४-२४९५।।

चारित्र के बिना कोई शुद्ध नहीं हो सकता—

धीरोवैराग्यसम्पंन्नः शिक्षित्वास्तोकमागमम् । चारित्राचरणात्सम्यग्दृष्टिः शुद्धचति नापरः ।।९६।
वैराग्यवर्जितो ज्ञानी पठित्वा सकलागमम् । चारित्रविकलो जातु न शुद्धचति विधेर्वशात् ।।९७।।

अर्थ—जो धीर वीर और वैराग्य को धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टि थोड़ा सा आगम भी पढ़कर चारित्र का पालन करता है वह पुरुष उस चारित्र को पालन करने से ही शुद्ध होता है, बिना चारित्र के कोई भी मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता। जो ज्ञानी पुरुष वैराग्य से रहित है वह समस्त आगम को पढ़कर भी यदि चारित्र धारण न करे तो वह कर्म के बंधन से कभी शुद्ध नहीं हो सकता ।।२४९६-२४९७।।

मुनि धर्म के पालने योग्य क्रियाओं की प्रेरणा—

भिक्षां चर वसारण्ये स्तोकं स्वादातिगंजिम् । माविंधेहि वृथासारं बहुजल्पनमात्मवान् ।।२४९८।।
सहस्वंसकलं दुःखं जयनिद्रां च भावय । मैत्रीं च सुष्ठुवैराग्यं कुरुकृत्यंवृषाप्तये ।।२४९९।।
एकाकीध्यानसंलीनोनिष्कषायोऽपरिग्रहः । निष्प्रमादो निरालम्बो जिताक्षा भवसन्मुने ।।२५००।।

अर्थ— अतएव हे मुने ! तू भिक्षावृत्ति धारण कर, वनमें निवास कर, स्वादरहित थोड़ा भोजन कर तथा व्यर्थ और असारभूत बहुत सी बकवाद मत कर। हे आत्मा के स्वरूप को जानने वाले तू सब दुःखों को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भावना को चिंतवन कर, उत्कृष्ट वैराग्य धारण कर, जो कुछ कर वह धर्म की प्राप्ति के लिये कर, एकाकी होकर ध्यान में लीन हो, कषायरहित हो, परिग्रह रहित हो, प्रमाद रहित हो, आलंबन वा किसी के आश्रय से रहित हो और जितेन्द्रिय बन। ।।२४९८-२५००।।

चित्त की एकाग्रता धारण करने की प्रेरणा—

निस्सगस्तत्वविल्लोकव्यवहारातिगोयते । भवैकाग्रस्थचित्तस्त्वं वृथा सत्कल्पनैश्चकिम् ।।२५०१।।

अर्थ—हे मुने ! तू समस्त परिग्रहों से रहित हो, तत्त्वों का जानकार बन, लोकव्यवहार से दूर रह और चित्त की एकाग्रता धारण कर। क्योंकि व्यर्थ की अनेक कल्पनाएं करने से क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।।२५०१।।

चारित्र सहित अल्प ज्ञान सिद्धि का कारण एवं चारित्र रहित बहुज्ञान भी मुक्ति प्रदाता नहीं—

यो योगीदृढचारित्रःपठित्वाल्पजिनागमम् । दशपूर्वधरं सोन्यं जयेन्मुक्त्यादिसाधनात् ।।२५०२।।
चारित्ररहितो योत्र श्रुतेन बहुनापिकिम् । साध्यं तस्य यतो नूनं मज्जनं भववारिधौ ।।२५०३।।

अर्थ—जो योगी दृढ़ चारित्र को धारण करता है वह थोड़े से आगम को भी पढ़कर जानकार ऐसे अन्य मुनि को स्वर्गमोक्ष को सिद्ध करने के कारण दस पूर्व के जानकार को भी जीत लेता है। जो पुरुष चारित्र रहित है वह यदि बहुत से श्रुतज्ञान

को पढ़ले तो भी उससे कोई लाभ नहीं होता क्योंकि बिना चारित्र के वह संसाररूपी समुद्र में ही डूबता है ।।२५०२-२५०३।।

मुनिराज कैसे संसार समुद्र से पार होते हैं—

ज्ञाननिर्जीविकेनाव्रध्यानवातेन धीधनाः । चारित्रपोतमारूढास्तरन्त्याशुभवार्णवम् ।।२५०४।।

अर्थ—जो बुद्धिमान् पुरुष चारित्ररूपी जहाज पर सवार हो जाते हैं वे ज्ञानरूपी पतवार से और ध्यानरूपी वायु से बहुत ही शीघ्र संसाररूपी समुद्र के पार हो जाते हैं ।।२५०४।।

ज्ञान, ध्यान, संयम के कार्य का निर्देश—

ज्ञानं प्रकाशकं विश्व तत्त्वातत्त्वादिकर्मणाम् । दुष्कर्मनाशकंध्यानं संयमः संवरप्रदः ।।२५०५।।

अर्थ—ज्ञान समस्त तत्त्वों को, अतत्त्वों को और कर्मोंको प्रकाशित करता है तथा ध्यान अशुभ कर्मों का नाश करता है और संयम आते हुए कर्मों को रोकता है । ।।२५०५।।

ज्ञान, ध्यान, संयम की एकता होनेपर नियम से मोक्ष होता है—

संयोगेसत्यमीषां च त्रयाणां स्यान्महामुनेः । जिनेन्द्रशासने मोक्षो नान्यथाभवकोटिभिः ।।२५०६।

अर्थ—यदि किसी महा मुनि के ज्ञान ध्यान और संयम इन तीनों का एक साथ संयोग हो जाय तो भगवान जिनेन्द्रदेवके शासन में उसी मुनि को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है बिना इन तीनों के मिले करोड़ों भवों में भी कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ।।२५०६।।

चारित्रादिक के बिना जिनलिंग धारण करना व्यर्थ है—

चारित्रवर्जितम् ज्ञानं लिंगग्रहणमूर्जितम् । द्विधासंयमहीनं च तपोदर्शनदूरगम् ।।२५०७।।
योज्ञः करोति कुर्यात् स केवलं हि निरर्थकम् । यतो न निर्जरा मोक्षो नास्य कर्मास्रवात्क्वचित् ।।

अर्थ—जो अज्ञानी चारित्रहीन ज्ञानको धारण करता है और दोनों प्रकार के संयम से रहित तथा तप और सम्यग्दर्शन से रहित उत्कृष्ट जिन लिंग धारण करता है वह निरर्थक ही जिन लिंग धारण करता है क्योंकि बिना चारित्र के निरंतर कर्मों का आस्रव होता रहता है इसलिये उनके न तो कर्मोंकी निर्जरा हो सकती है और न मोक्ष हो सकती है ।।२५०७-२५०८।।

उत्कृष्ट ध्यान करने की प्रेरणा—

सल्लेश्याध्यानचारित्रविशेषैस्तपसा सताम् । सद्‌गतिः स्याच्चतेभ्योऽपिध्यानं कार्यंबुधैःपरम् ।।९।।

अर्थ—उत्तम, शुभ लेश्या, ध्यान और चारित्र की विशेषता से तथा तपश्चरण से सज्जनों को श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है तथा उनमें भी बुद्धिमानों को उत्कृष्ट ध्यान ही करना चाहिये ।।२५०९।।

सम्यग्ज्ञान एवं व्रतादिक के लिये सम्यग्दर्शन मूल कारण—

सम्यक्त्वाज्जायते ज्ञानं ज्ञानात्सर्वार्थदर्शिनी । उपलब्धिः पदार्थानांसर्वेषांस्वपरात्मनाम् ।।२५१०।।
उपलब्धपदार्थोंगीश्रेयोश्रेयश्च वेत्तिवै । श्रेयोश्रेयोर्थवेत्तोद्भू तवुःशीलः सुशीलवान् ।।२५११।।
शीलेनाभ्युदयः सर्वस्ततोमोक्षंलभेत सः । अतोज्ञानव्रतादीनां सम्यक्त्वमूलमुच्यते ।।२५१२।।

अर्थ—देखो सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, सम्यग्ज्ञान से समस्त पदार्थों को दिखलाने वाली स्वकीय और परकीय समस्त पदार्थों की उपलब्धि प्राप्त होती है । जिसको समस्त पदार्थों की उपलब्धि प्राप्त हो जाती है वह मनुष्य अपने कल्याण-अकल्याण को जान लेता है । तथा कल्याण-अकल्याण को जान लेने से शील रहित मनुष्य भी शीलवान बन जाता है । शील पालन करने से सब तरह के अभ्युदय प्राप्त हो जाते हैं तथा अभ्युदय प्राप्त होने से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । अतएव कहना चाहिये कि सम्यग्ज्ञान और व्रतादिकों के लिये सम्यग्दर्शन ही मूल कारण है ।।२५१०-२५१२।।

ज्ञानकी अपेक्षा सम्यग्चारित्र प्रधान है—

कृत्स्नं चापि श्रुतज्ञानं पठितं सुष्ठुसंश्रितम् । गुणितं भ्रष्ट चारित्रं ज्ञानवन्तंयति क्वचित् ।२५१३।
सद्‌गतिनेतुमत्यर्थं न समर्थं भवेद्भुवान् । अतो ज्ञानात्प्रधानत्वं चारित्रविद्धिमोक्षदम् ।।२५१४।।

अर्थ—जिस किसी यति ने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान पढ़ लिया है तथा अच्छी तरह उसको धारण कर लिया है, मनन कर लिया है तो भी चारित्र से भ्रष्ट उस ज्ञानी पुरुष को श्रेष्ठ गति में पहुंचाने के लिये आप कभी समर्थ नहीं हो सकते । अतएव हे मुने ! ज्ञानकी अपेक्षा तू सम्यक्‌चारित्र को ही प्रधान समझ । क्योंकि यह निश्चित है कि मोक्ष सम्यक्‌चारित्र से ही प्राप्त होती है ।।२५१३-२५१४।।

चारित्र नहीं पालन करनेवाले का श्रुतज्ञान निष्फल है—

यदिप्रदीपहस्तो यः पतेत्कूपेप्रसादवान् । तस्यदीपफलंकिंस्यान्नकिंचिदपिभूतले ।।२५१५।।

शिक्षित्वायोखिलं ज्ञानं यदि चारित्रमंजसा । पालयेन्नात्र किं तस्य श्रुतज्ञानफलंभुवि ॥२५१६॥

अर्थ—जो कोई प्रमादी मनुष्य हाथ में दीपक लेकर भी कुए में पड़ जाय तो फिर उसने उस दीपक का फल ही क्या पाया अर्थात् इस लोक में उसे दीपक का फल कुछ नहीं मिला। इसी प्रकार जो मनुष्य समस्त ज्ञान को पढ़कर भी यदि चारित्र को पालन नहीं करता है तो समझना चाहिये कि उसे इस संसार में श्रुतज्ञान का फल कुछ नहीं मिला ॥२५१५-२५१६॥

उद्‌गमादि दोषों से रहित उपकरणादि ग्रहण करनेवाले के ही शुद्ध चारित्र होता है—

पिण्डं वसतिकां ज्ञानसंयमोपधिमात्मवात् । उद्‌गमोत्पादनादिभ्योदोषेभ्यःप्रत्यहं सुधीः ॥२५१७॥
शोधयेद्‌योतिनिर्दोषचारित्रशुद्धयेमुनिः । विशुद्धं तस्य चारित्रंजायते शिवकारणम् ॥२५१८॥

अर्थ—जो आत्मा के स्वरूप को जाननेवाला बुद्धिमान् अपने निर्दोष चारित्र को सिद्ध करने के लिये आहार वसतिका ज्ञानोपकरण और संयमोपकरणों को उद्‌गम उत्पादन आदि दोषों से प्रतिदिन शुद्ध करता है, आहार भी निर्दोष ग्रहण करता है तथा उपकरणों के ग्रहण में भी कोई दोष नहीं लगाता उसी मुनि के मोक्ष का कारण ऐसा अत्यन्त शुद्ध चारित्र होता है ॥२५१७-२५१८॥

जिनलिंग के चिह्न निर्देश—

पूर्णमचेलकत्वं च लोचोवैराग्यवर्द्धकः । सर्वसंस्कारहीनापराव्युत्सृष्टशरीरता ॥२५१९॥
प्रतिलेखनमित्येषलिंगकल्पश्चतुर्विधः । जिनेन्द्रलिंगिनां व्यक्तो लोकेसंवेगसूचकः ॥२५२०॥

अर्थ—पूर्णरूप से नग्नता धारण करना, वैराग्य को बढ़ाने वाला केशलोच करना, सब तरह के संस्कारों से रहित शरीर से भी निर्ममता धारण करना और प्रतिलेखन के लिये पीछी धारण करना ये चार लिंगकल्प कहे जाते हैं, ये चारों ही भगवान जिनेन्द्रदेव के लिंग को प्रगट करते हैं और लोक में वैराग्य के चिह्न हैं ॥२५१९-२५२०॥

मयूर पिच्छ के ५ गुणों का निर्देश—

रजःप्रस्वेदयोःसुष्ट्वग्रहणंमृदुतापरा । सौकुमार्यं लघुत्वं च यत्रपंचगुणाइमे ॥२५२१॥
सन्ति मयूरपिच्छेत्रप्रतिलेखनमूर्जितम् । तं प्रशंसन्तितीर्थेशादयाये योगिनां परम् ॥२५२२॥

अर्थ—जिसपर न तो धूल लग सके, न पसीना लग सके, जो अत्यन्त कोमल हो, सुकुमार हो और छोटी हो, ये पांच गुण जिसमें हों वही प्रतिलेखन उत्तम गिना

जाता है। ये पांचों गुण मयूरपिच्छ में हैं इसलिये भगवान जिनेन्द्रदेव जीवों की दया पालन करने के लिये मुनियोंको मयूरपिच्छ की पीछी की ही प्रशंसा करते हैं ।।२५२१-२५२२।।

निर्ग्रन्थ मुनि कैसे प्रतिलेखन को ग्रहण करें—

प्रक्षिप्तं चक्षुषोर्यच्चमनाक्पीडां करोति न । निर्गर्थैनिर्भयंरम्यं तद्ग्राह्यं प्रतिलेखनम् ।।२५२३।।

अर्थ—जिसको आंख में डाल देने पर भी रंचमात्र पीड़ा न हो वही निर्भय और मनोहर प्रतिलेखन निग्रंथ मुनियों को ग्रहण करना चाहिये। (जिसके रखने में कोई भय न हो मूठ में सोना चांदी न लगा हो उसको निर्भय कहते हैं।) ।।२५२३।।

प्रतिलेखन [पिच्छी] के अभाव में हिंसा से निवृत्ति नहीं हो सकती—

उत्थायशयनाद्रात्रौ विनात्रप्रतिलेखननात् । कृत्वाप्रस्रवणादींश्चपुनः स्वपन्व्रजन्भुवि ।।२५२४।।
उद्वर्तनपरावर्तनानि कुर्वन्नगोचरे । नेत्राणां वा यतिः सुप्तो जीवघातं कथं त्यजेत् ।।२५२५।।

अर्थ—यदि मुनि के पास प्रतिलेखन वा पीछी न हो तो जब कभी रात्रि में वह अपनी शय्या से उठेगा, मूत्र की बाधा दूर करने जायगा, फिर आकर सोवेगा, चलेगा, किसी पुस्तक कमंडलु आदि को उठावेगा, रक्खेगा, उठेगा, करवट बदलेगा अथवा ये सब क्रियाएं न भी करे तो भी नेत्र से न दिखने वाले स्थान में सोवेगा, इन सब क्रियाओं में वह यति बिना पीछी के जीवों के घात को कैसे बचा सकेगा। अर्थात् मुनि के पास पीछी हर समय होनी चाहिये, बिना पीछी के जीवों की हिंसा का त्याग हो ही नहीं सकता ।।२५२४-२५२५।।

मुनियों का खास चिह्न पिच्छी है—

मत्वेति कार्तिकेमासि कार्यं सत्प्रतिलेखनम् । स्वयंपतितपिच्छानां लिंगचिह्नं च योगिभिः ।।२६।।

अर्थ—अतएव मुनियों को कार्तिक महीने में स्वयं गिरे हुए पंखों की पीछी बनानी चाहिये क्योंकि यह मुनियों का खास चिह्न है ।।२५२६।।

कायोत्सर्गादि करते समय पिच्छो से प्रमार्जन करना चाहिये—

आसने शयनेस्थाने व्युत्सर्गेगमनादिके । ग्रहणे स्थापने ज्ञानशौचोपकरणात्मनाम् ।।२५२७।।
उद्वर्तनपरावर्त्तनांगकंडूयनादिषु । कृपयायत्नतः कार्यंदृष्टिपूर्वंप्रमार्जनम् ।।२५२८।।

अर्थ—मुनियों को सोते समय, बैठते समय, खड़े होते समय, कायोत्सर्ग करते समय, गमनागमन करते समय, ज्ञानोपकरण वा शौचोपकरण के उठाते रखते समय,

उठते समय, करवट बदलते समय और खुजाते समय कृपापूर्वक प्रयत्नपूर्वक, आंख से देखकर पीछी से प्रमार्जन करना चाहिये ॥२५२७-२५२८॥

अशुद्ध आहार को ग्रहण करनेवाला मुनि मूल स्थान को प्राप्त होता है—

यो विशोध्यमुनिभुंक्तेपिण्डापध्याश्रयादिकान् । मूलस्थानं सएवाप्तो यतित्वगुणदूरगः ॥२५२९॥

अर्थ—जो मुनि आहार के आश्रित रहनेवाले पदार्थों को (आहार को वा उच्चासन आदि को) बिना शुद्ध किये आहार ग्रहण कर लेता है, वह मुनि मुनिपने के गुणों से बहुत दूर रहता है तथा मूल स्थान को प्राप्त होता है (उसे फिर से दीक्षा देनी चाहिये ।) ॥२५२९॥

अशुद्ध आहार ग्रहण करनेवाले के अन्य संयमादिक क्रिया व्यर्थ है—

पिण्डोपध्यादिशुद्धिपोऽकृत्वातिमूढमानसः । कायक्लेशं तपः कुर्याच्चिरप्रवृजितोपिसन् ॥२५३०॥
तस्यसंयमहीनं तत्तपो व्यर्थंयमादि च । न चारित्रं क्रियाश्रेष्ठा नस्यात्पापास्रवाद्वृथा ॥२५३१॥

अर्थ—जो अज्ञानी मुनि चिरकाल का दीक्षित होकर भी आहार ग्रहण करने की सामग्री को बिना शुद्ध किये कायक्लेश तपश्चरण को करता है, उसका वह तपश्चरण संयम रहित कहलाता है और इसीलिये वह व्यर्थ है। इसीप्रकार उस मुनि के किये हुये यम नियम चारित्र भी सब व्यर्थ समझने चाहिये। उसकी कोई भी क्रिया श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती। क्योंकि संयम हीन मुनि के सदा पापकर्मों का आस्रव होता रहता है और इसीलिये उसकी सब क्रिया व्यर्थ हो जाती है ॥२५३०-२५३१॥

मूलगुण रहित उत्तरगुण फल प्रदाता नहीं—

छित्वामूलगुणानाद्यान्ख्यातिपूजादिहेतुना । वृक्षमूलादियोगान् यो बाह्यान् गृह्णातिदुर्द्धरान् ॥
तस्योत्तरगुणाःसर्वेमूलहीना द्रुमा इव । समीहितफलं किं ते करिष्यन्ति जगत्त्रये ॥२५३३॥

अर्थ—जो मुनि अपनी कीर्ति के लिये अथवा अपना बड़प्पन वा पूज्यपना दिखलाने के लिये महाव्रतरूप मूलगुणों का तो भंग कर देता है और वर्षाऋतु में वृक्षके नीचे योगधारण करना आदि अत्यन्त कठिन बाह्य तपश्चरणों को धारण करता है, उसके मूलगुण रहित उत्तरगुण ऐसे ही समझने चाहिये जैसे बिना जड़के वृक्ष होता है। जिसप्रकार बिना जड़ का वृक्ष न ठहर सकता है, न बढ़ सकता है और न फल सकता है उसी प्रकार मूलगुण रहित उत्तरगुण तीनों लोकों में कभी इच्छानुसार फल नहीं दे सकते ॥२५३२-२५३३॥

अप्रासुक आहार ग्रहण करनेवाला मुनि मोक्ष का इच्छुक नहीं वह अधम है—

हत्वाप्राणान् बहून् कुर्यादात्मनो यो महाबलम् । अप्रासुकं सुखाकांक्षी मोक्षाकांक्षी न स क्वचित् ॥
एकद्वित्रिमृगादींश्च सिंहव्याघ्रादिकोत्र यः । निहत्य खादयेत्पापी नीच स कथ्यते यदि ॥२५३५॥
यो मुनिः प्रत्यहं हत्वा बहूंश्चस्थावरत्रसान् । भक्षयेत्स कथंपापी नीचो वा नाधमोभवेत् ॥३६॥

अर्थ— जिसप्रकार कोई मनुष्य अनेक प्राणियों को मारकर अपने को महाबली प्रगट करता है उसीप्रकार अप्रासुक पदार्थों को ग्रहण करनेवाला मुनि सुख को चाहने वाला कहा जाता है, वह मोक्षको चाहने वाला कभी नहीं कहा जा सकता। देखो सिंह बाघ आदि जीव एक दो तीन चार आदि हिरण वा अन्य पशुओं को मारकर खा जाता है इसलिये वह पापी और नीच कहलाते हैं। इसीप्रकार जो मुनि बिना शुद्ध किया हुआ आहार ग्रहण करता है अर्थात् अनेक त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा कर आहार ग्रहण करता है, वह क्यों नहीं पापी, नीच और अधम कहलावेगा अर्थात् अवश्य कहलावेगा। ॥२५३४-२५३६॥

आरम्भ से होने वाले दोष—

आरंभाज्जीवराशीनां वधोवधादघंमहत् । अघाद्बंधोभवेत्स्वस्यदुर्गतौतीव्रदुःखदः ॥२५३७॥

अर्थ—और देखो आरंभ करने से जीवराशियों की हिंसा होती है, हिंसा होने से महापाप उत्पन्न होता है और उस महापाप से अपने ही आत्मा को नरकादिक दुर्गतियों में तीव्र दुःख देनेवाला कर्मबंध होता है ॥२५३७॥

हिंसा त्याग की प्रेरणा—

तस्मादात्मा न हंतव्यः स्वयं स्वेनवधादिना । तेनप्राणिवधोनित्यंमोक्तव्योयत्नतोबुधैः ॥२५३८॥

अर्थ—इसलिये बुद्धिमानों को जीवों की हिंसा करके अपने आत्मा की हिंसा नहीं करनी चाहिये और इसके लिये प्रयत्न पूर्वक सदा के लिये प्राणियों की हिंसा का त्याग कर देना चाहिये ॥२५३८॥

अधःकर्म दोषयुक्त आहार करनेवाले मुनि के तपश्चरण निरर्थक है—

ये स्थानमौनवीरासनाद्या हि दुष्कराः कृताः । आतापनादियोगाश्चसद्ध्यानाध्ययनादयः ॥३९॥
षष्ठाष्टमादिमासान्ताउपवासाअाद्यास्त्रवात् । सर्वे निरर्थकानूनमधःकर्मान्नसेविनाम् ॥२५४०॥

अर्थ—जो मुनि अधःकर्म नामके दोष से दूषित आहार को ग्रहण करते हैं, वे चाहे कायोत्सर्ग धारण करें, चाहे मौन धारण करें, चाहे वीरासन धारण करें, चाहे

आतापन आदि कठिन-कठिन योग धारण करें, चाहे श्रेष्ठ ध्यान और अध्ययन आदि शुभ कार्यों में लगे रहें और चाहे वेला तेला करें, पन्द्रह दिन वा महीने भरका उपवास करें, परन्तु उनके सदा पापकर्मों का ही आस्रव होता रहता है, इसलिये उनका सब तपश्चरण निरर्थक ही समझना चाहिये ।।२५३९-२५४०।।

पंच पापके त्याग बिना वस्त्र त्याग निष्फल—

यथोत्सृजति रौद्राहिः कंचुकं न विषं तथा । कश्चित्साधुस्त्यजेद्वस्त्रंपंचसूना न मंदधीः ।।२५४१।।

अर्थ—जिसप्रकार दुष्ट सर्प कांचली को छोड़ देता परंतु विषको नहीं छोड़ता उसीप्रकार कोई-कोई साधु वस्त्रों का त्याग तो कर देते हैं परंतु वे मूर्ख पंचपापों का त्याग नहीं करते ।।२५४१।।

हिंसा करनेवाले पंच पाप का निर्देश—

उदूखलस्तथा चुल्हीप्रेषणी च प्रमार्जिनी । उदकुम्भः इमाःपंचसूना। सत्त्वक्षयंकराः ।।२५४२।।

अर्थ—चक्की, ऊखली, चूली, बुहारी और पानी रखने का परंडा ये पांच अनेक जीवों की हिंसा करनेवाले पंच पाप कहलाते हैं ।।२५४२।।

इन पापों की अनुमोदनादि करनेवाले की दीक्षा व्यर्थ है—

आसुप्रवर्ततेयोऽधीः कृतकारितमोदनैः । सुस्वादान्नायतस्याहो वृथादीक्षादुरात्मनः ।।२५४३।।

अर्थ—जो मूर्ख मुनि अपने स्वादिष्ट अन्न के लिये कृत कारित अनुमोदना से इन पंचपापों में अपनी प्रवृत्ति करते हैं, उन दुष्टों की दीक्षा लेना भी व्यर्थ समझना चाहिये ।।२५४३।।

कौन श्रावक उभय लोक में भ्रष्ट माना जाता है—

योधःकर्मादिनिष्पन्नं भुंक्तेन्नंरसनांधधीः । जडोविराधनां कृत्वा षड्जीवानां च घातनम् ।।४४।।
श्राव्रकः सोधमोजातः पापारम्भप्रवर्तनात् । उभयभ्रष्टतामाप्तोदानपूजादिवर्जनात् ।।२५४५।।

अर्थ—जिह्वा इन्द्रिय की लंपटता के कारण अंधा हुआ जो मूर्ख श्रावक छहों प्रकार के जीवों की विराधना करके वा छहों प्रकार के जीवों का घात करके अधःकर्म से उत्पन्न हुए अन्नको भक्षण करता है वह पापारंभ में प्रवृत्ति करने के कारण अधम कहलाता है और उस द्रव्यसे वह दान पूजा करने का भी अधिकारी नहीं रहता इसलिये वह इस लोक और परलोक दोनों लोकों से भ्रष्ट गिना जाता है ।।२५४४-२५४५।।

अधःकर्म दोष को करनेवाला मुनि उभय लोक में भ्रष्ट है—

पचनेपाचनेन्नानांसदानुमनने शठः । वर्ततेवाङ्मनःकायैस्तस्माद्योत्रविभेति न ।।२५४६।।
मिथ्यादृष्टिः स मन्तव्योविरुद्धाचरणाद्भुवि । न तस्यचेह लोकोस्तिकुकीर्तिवर्तनात् क्वचित् ।।
परलोकों न जायेत संयमाचरणाद्विना । किन्तु स्याद्दुर्गतौ नूनं गमनं व्रतभंगतः ।।२५४८।।

अर्थ—जो मूर्ख मन-वचन-कायसे अन्नके पकाने, पकवाने वा अनुमोदना करने में प्रवर्त होते हैं, इन ऊपर लिखे पंचपापों से नहीं डरते उनको मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये । क्योंकि वे विरुद्ध आचरणों को ही धारण करते हैं और इसीलिये इस लोक में भी उनकी अपकीर्ति फैल जाने के कारण उनका यह लोक भी बिगड़ जाता है तथा संयमरूप आचरण धारण न करने के कारण उनका परलोक भी बिगड़ जाता है । इस प्रकार उनके दोनों लोक बिगड़ जाते हैं और व्रतभंग होने के कारण वे नरकादिक दुर्गतियों में अवश्य पहुंचते हैं ।।२५४६-२५४८।।

प्रायश्चित्त लेकर पुनः अधःकर्म दोष करनेवाले के तप व्यर्थ है—

प्रायश्चित्तं विधायोच्चैर्योभुनक्तिपुनः शठः । अधःकर्मकृताहारं तस्य तन्निष्फलं भवेत् ।।२५४९।।

अर्थ—जो मूर्ख अधःकर्म दोष से दूषित आहार ग्रहण करने के कारण प्रायश्चित्त ले लेते हैं और प्रायश्चित्त लेकर फिर भी अधःकर्म जन्य आहार को ग्रहण करते हैं, उनका भी वह सब तपश्चरण निष्फल समझना चाहिये ।।२५४९।।

कौन मुनि, मुनियों के गुणों से रहित है—

यः साधुर्यत्र देशादौ शुद्धेऽशुद्धेथवोभयोः । आहारोपधिवासादिं यथालब्धं निजेच्छया ।।२५५०।।
शुद्धं वा शुद्धमादत्तेधवत्परीक्षया बिना । मुक्तोयतिगुणैःसोऽपि प्रोक्तः संसारवर्द्धकः ।।२५५१।।

अर्थ—जो मुनि शुद्ध वा अशुद्ध देश में अथवा शुद्ध-अशुद्ध मिले हुए देश में आहार उपकरण वसतिका आदि अपनी इच्छानुसार जैसा प्राप्त हो जाय चाहे वह शुद्ध हो वा अशुद्ध हो उसको अंधे के समान बिना परीक्षा किये हुए ग्रहण कर लेता है, उसको भी मुनियों के गुणों से रहित ही समझ लेना चाहिये । उसको भगवान जिनेन्द्रदेव ने संसार को बढ़ाने वाला ही बतलाया है ।।२५५०-२५५१।।

कैसा आहार लेने पर मुनि शुद्ध व अशुद्ध होता है—

योन्नोधःकर्मजाहारेनित्यं परिणतः क्वचित् । प्राप्तेपिप्रासुकेहारे बंधकः स हृदो भवेत् ।।२५५२।।
शुद्धं मृगयमाणो योन्नादिं कृतादिदूरगम् । अधःकर्मकृतान्नाप्तेक्वचिच्छुद्धोहृदोत्र सः ।।२५५३।।

अर्थ—जो मूर्ख प्रतिदिन अधःकर्म जन्य आहार को ग्रहण करता है उसे यदि किसी दिन प्रासुक आहार भी मिल जाय तो भी हृदय से वह कर्मों का बंध करनेवाला ही समझा जाता है। इसीप्रकार यदि कोई मुनि कृत कारित अनुमोदना से रहित शुद्ध आहार को ढूंढता है और दैवयोग से उसे अधःकर्म जन्य आहार मिल जाता है तो भी उसे हृदय से शुद्ध ही समझना चाहिये ।।२५५२-२५५३।।

शुद्ध भिक्षाचर्या की महत्ता—

मूलोत्तरगुणेष्वत्र भिक्षाचर्योदिताजिनैः। प्रवरा तां विना विश्वे ते कृताःस्युर्निरर्थका:। २५५४।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव के समस्त मूलगुण और उत्तरगुणों में भिक्षाके लिये चर्या करना ही उत्तमगुण माना जाता है, उस शुद्ध भिक्षाचर्या के बिना बाकी के समस्त गुण निरर्थक ही बतलाये हैं ।।२५५४।।

सदोष आहार का निषेध—

प्रत्यहं वरमाहारो भुक्तो दोषातिगः सताम्। पक्षमासोपवासादिपारणेदोषजो न च ।।२५५५।।

अर्थ—सज्जनों को दोषरहित प्रतिदिन आहार कर लेना अच्छा परंतु पन्द्रह दिन वा एक महीने के उपवास के बाद पारणा के दिन सदोष आहार लेना अच्छा नहीं ।।२५५५।।

अभयदान की महिमा—

मृत्यादिभयभीतानां सर्वथाखिलदेहिनाम्। ददात्यभयदानं यस्तस्यैवसकला गुणाः ।।२५५६।।

अर्थ—जो मुनि मृत्यु के भयसे भयभीत हुए समस्त प्राणियों को अभय दान देता है, उसी के समस्त गुण अपने आप आ जाते हैं ।।२५५६।।

आचार्य रूपी वैद्य ही मुनिरूपी रोगी का इलाज करते हैं—

आचार्यो ज्ञानवान्वैयः शिष्यो रोगीविरक्तवान्। चर्यौषधं च निष्पापं क्षेत्रं सावद्यवर्जितम् ।।५७।।
वैयावृत्यकराः साह्यकर्त्तारा: परयानया। सामग्र्याकर्मरुक्त्यक्तं कुर्यात्सूरिमुंनि द्रुतम् ।।२५५८।।

अर्थ—संघ में आचार्य तो महाज्ञानी वैद्य हैं, संसार से विरक्त हुआ शिष्य रोगी है, पापरहित चर्या ही औषधि है, पापरहित स्थान ही उसके लिये योग्य क्षेत्र है और वैयावृत्य करनेवाले उसके सहायक हैं। वे आचार्यरूपी वैद्य इस सामग्री से उस रोगी मुनिको कर्मरूपी रोग को नष्ट कर शीघ्र ही निरोग सिद्ध बना देते हैं ।।२५५७-२५५८।।

भिक्षाशुद्धि धारण करने की प्रेरणा—

भिक्षाशुद्धि सुचर्यायै धूमांगारमलोज्झिताम् । प्रागुक्त सर्वदोषातीतां कुर्वन्तु मुमुक्षवः ।।२५५९।।

अर्थ—अतएव मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को अपनी चर्या के लिये पहले कहे हुये समस्त दोषों से रहित तथा धूप अंगार आदि दोषों से रहित भिक्षाशुद्धि धारण करनी चाहिये ।।२५५९।।

जुगुप्सा का स्वरूप एवं अतिचारों की शुद्धि की प्रेरणा—

जुगुप्सा लौकिकी बाह्या व्रतभंगादिजापरा । लोकोत्तरा जुगुप्सातस्त्रिरत्नशुद्धिहानिजा ।।२५६०।।
व्रतातिचारसंशुद्धिः प्रायश्चित्तादिनिन्दनैः । कर्तव्यास्वोत्तमाचारैर्लोकनिन्दादिहानये ।।२५६१।।

अर्थ—इस संसार में लौकिक घृणा तो बाह्य जुगुप्सा है व्रतों के भंग होने से उत्पन्न होनेवाली घृणा अंतरंग जुगुप्सा है और रत्नत्रय की शुद्धि की हानि होना लोकोत्तर जुगुप्सा है । मुनियों को लोक निंदा दूर करने के लिये प्रायश्चित्त धारण कर आत्मनिंदा कर तथा उत्तम आचरण पालन कर अपने व्रतों में लगे हुए अतिचारों की शुद्धि करनी चाहिये ।।२५६०-२५६१।।

लोकोत्तर निंदों के त्याग की प्रेरणा—

शंकावीन्दूरतस्त्यक्त्वा शुद्धि रत्नत्रये पराम् । कृत्वा लोकोत्तरानिन्दाहेयासंसारवर्द्धिनी ।।२५६२।।

अर्थ—मुनियों को शंकादिक दोषों का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये और रत्नत्रय की परम विशुद्धि धारण कर संसार को बढ़ाने वाली लोकोत्तर निंदा का भी सदा के लिये त्याग कर देना चाहिये ।।२५६२।।

मुनिको कैसा क्षेत्र छोड़ना चाहिये—

यत्रोत्पत्तिः कषायाणांयान्तिस्वखानिविक्रियाम् । दुर्जनाभक्तिहीनाश्चसन्त्युपद्रवराशयः ।।२५६३।।
जायन्तेद्वेषरागाद्याः विघ्नाध्यानादिकर्मणाम् । व्रतभंगश्चलं चित्तं तत्क्षेत्रं वर्जयेद्यतिः ।।२५६४।।

अर्थ—जिस क्षेत्र में कषायों की उत्पत्ति हो, अपनी इन्द्रियां प्रबल हो जांय वा विकृत हो जांय जहांपर दुष्ट और भक्तिहीन मनुष्य रहते हों, जहांपर अनेक उपद्रव होते रहते हों, जहांपर रागद्वेष आदि दोष उत्पन्न होते रहते हों, जहांपर ध्यान अध्ययन आदि कार्यों में विघ्न उपस्थित होते हों, जहांपर व्रतों का भंग होता हो और जहांपर चित्त चंचल हो जाता हो ऐसा क्षेत्र मुनियों को छोड़ देना चाहिये ।।२५६३-२५६४।।

कैसे क्षेत्र में मुनिराज निवास करते हैं—

एकान्तेनिर्जनेस्थानेवैराग्यगुणवृद्धिदे। श्मशानाद्रिगुहादौ च शून्यगेहे वनादिषु ।।२५६५।।
पशुस्त्रीक्लीवदुष्टादिहीनेशाम्ये शमप्रदे। क्षेत्रे वासं प्रकुर्वन्तिमुनयोध्यानसिद्धये ।।२५६६।।

अर्थ— मुनि लोग अपने ध्यान की सिद्धि के लिये एकांत और निर्जन स्थानमें वैराग्य गुण को बढ़ाने वाले, श्मशान पर्वत की गुफाएं सूने मकान और वन में अत्यन्त शांत और परिणामों को शांत करनेवाले तथा पशु स्त्री नपुंसक तथा दुष्ट जीवोंसे रहित क्षेत्र में निवास करते हैं ।।२५६५-२५६६।।

पुनः कैसे क्षेत्र में मुनि निवास नहीं करें—

नृपहीनं च यत्क्षेत्रंयत्र दुष्टो नृपो भवेत्। यत्र स्त्रीबालराजा च तत्र वासो न युज्यते ।।२५६७।।
दीक्षाग्रहणशीलाश्च यत्रसन्ति न धार्मिकाः। हानयः संयमादीनां स्थातव्यं तत्र नोर्जितैः ।।६८।।

अर्थ—जिस क्षेत्र में कोई राजा न हो, जहां का राजा दुष्ट हो और जहांपर स्त्री राज्य करती हो अथवा बालक राजा राज्य करता हो वहां पर मुनियों को कभी निवास नहीं करना चाहिये। जहां पर दीक्षा ग्रहण करनेवाले लोग न हों, जहां पर धर्मात्मा लोग निवास न करते हों और जहां पर संयम की हानि होती हो ऐसे स्थानमें उत्कृष्ट मुनियों को कभी नहीं रहना चाहिये ।।२५६७-२५६८।।

आर्यिका के निवास में मुनिराज को ठहरने का निषेध—

स्त्रीक्षान्तिकाश्रमेस्थातुं क्षणमात्रं न कल्पते। यतीनां आसनस्थानस्वाध्यायग्रहणादिभिः ।।६९।।
संसर्गेणार्यिकास्त्रीणांव्यवहाराभिधा भुवि। जुगुप्सापरमार्थान्या जायते यमिनां द्रुतम् ।।२५७०।।

अर्थ—मुनियों को बैठने कायोत्सर्ग करने अथवा स्वाध्याय ग्रहण करने के लिये भी स्त्रियों के अथवा अर्जिकाओं के आश्रम में क्षणमात्र भी नहीं ठहरना चाहिये। क्योंकि अर्जिका वा स्त्रियों के संसर्ग से मुनियों को व्यवहार जुगुप्सा भी प्रगट होती है और लोकोत्तर जुगुप्सा भी प्रगट होती है ।।२५६९-२५७०।।

कैसे पुरुषों के संसर्ग से रत्नत्रय की वृद्धि एवं हानि होती है—

जलकुम्भेयथा पद्मसम्पर्केण च वर्द्धते। सुशीतत्वं सुगंधित्वं हीयतेऽनलसंगमात् ।।२५७१।।
तथोत्तमाश्रयेणात्र सद्बोधिर्वर्द्धतेतराम्। क्षीयन्ते नीचसंगेनगुणदोषाश्चयोगिनाम् ।।२५७२।।

अर्थ—जिसप्रकार जलके घड़े में कमल के संसर्ग से उसका शीतलपना और सुगंधितपना गुण बढ़ता है तथा अग्नि के संयोग से वे दोनों गुण नष्ट हो जाते हैं उसी

प्रकार उत्तम पुरुषों के आश्रय से मुनियों का रत्नत्रय अत्यन्त बढ़ता है और नीच पुरुषों के आश्रय से रत्नत्रय गुण घटता है वा मलिन होता है ।।२५७१-२५७२।।

महामुनि को पाखंडी मुनि को संगति का निषेध—

प्रचण्डश्चपलोमन्दः पृष्टमांसादिभक्षकः । गुर्वादिबहुलोमूर्खोदुराश्रयः सतां यतिः ।।२५७३।।
दम्भान्वितमदोषाणां दोषोद्भवनतत्परम् । मारणत्रासनोच्चाटनवशीकरणाशयम् ।।२५७४।।
वैद्यज्योतिष्कसावद्यारम्भादिपरिवर्तकम् । पिशुनं कुत्सिताचारंमिथ्यात्वोपगतंशठम् ।।२५७५।।
लोकलोकोत्तराचाराजानन्तं स्वेच्छयायुतम् । चिरप्रवृजितंचापीत्याद्यन्यदोषभाजनम् ।।२५७६।।
संयतंवर्जयेद्दूरंसदाचारी महामुनिः । पापापवादिभीतात्मा तत्संगं नाश्रयेत्क्वचित् ।।२५७७।।

अर्थ—जो मुनि नीच लोगों की संगति करता है वह क्रोधी, चंचल, मंद, पीठका मांस भक्षण करनेवाला अर्थात् पीठ पीछे निंदा करनेवाला और मूर्ख होता है तथा वह अनेक गुरुओं का शिष्य होता है । जो मुनि पाखंडी है, निर्दोषों को भी दोषी कहने के लिये तत्पर रहता है, जो मारण, त्रासन, उच्चाटन, वशीकरण आदि करने की इच्छा रखता है, जो वैद्य ज्योतिष्क और पापरूप आरम्भों में प्रवृत्ति करता है, जो चुगलखोर है, जिसके आचरण निंदनीय हैं, जो मिथ्यादृष्टि है, मूर्ख है, जो लौकिक और लोकोत्तर आचरणों को नहीं जानता, जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करता है और चिरकाल का दीक्षित होनेपर भी अन्य अनेक दोषों का भाजन है, ऐसे मुनि का दूर से ही त्याग कर देना चाहिये । जो सदाचारी महामुनि हैं और पाप तथा अपवाद से सदा भयभीत रहते हैं वे महामुनि ऊपर कहे हुए पाखंडी मुनियों की संगति कभी नहीं करते हैं ।।२५७३-२५७७।।

कैसा पापी मुनि दुर्गति का पात्र है—

सूरेर्मुक्त्वा कुल योत्रैकाकीभ्रमेन्निजेच्छया । उपदेशं न गृह्णाति पापश्रमण एव सः ।।२५७८।।
यः शिष्यत्वमकृत्वात्र पूर्वंरवस्यशठाशयः । त्वरितः कर्तुमाचार्यत्वं हिंडति निजेच्छया ।।२५७९।।
घोंघाचार्यः स एवोक्तो मत्तदन्तीव पापधीः । निरंकुशो गुणैर्हीनः स्वान्यदुर्गतिकारकः ।।२५८०।।

अर्थ—जो मुनि आचार्य के कुल को छोड़कर अपनी इच्छानुसार अकेला परिभ्रमण करता है तथा किसी का उपदेश नहीं मानता उसको पापी मुनि कहना चाहिये । जो मूर्ख पहले किसी आचार्य का शिष्य तो बनता नहीं और शीघ्र ही आचार्य पद धारण करने के लिये अपनी इच्छानुसार घूमता है उसको घोंघाचार्य वा दंभाचार्य समझना चाहिये । वह पापी है और मदोन्मत्त हाथी के समान गुणों से रहित होकर

निरंकुश होता हुआ घूमता है। ऐसा मुनि स्वयं भी दुर्गति में जाता है और अन्य जीवों को भी दुर्गति में पहुंचाता है ॥२५७८-२५८०॥

कैसा मुनि स्वपर की आत्मा को नष्ट करता है—

आचार्यत्वं नयतेस्वस्याजानन् मः जिनागमम् । स कुत्सितोपदेशैश्चात्मानं परं विनाशयेत् ॥८१॥

अर्थ—जो मुनि श्री जिनागम को तो जानता नहीं और आचार्य बन बैठता है वह मुनि अपने निंद्य उपदेश से अपने आत्मा को भी नष्ट करता है और अन्य जीवों को भी नष्ट करता है ॥२५८१॥

हेतु पूर्वक अहंकार त्यागने का उपदेश—

वर्षादिगणनैश्चाहं सर्वं ज्येष्ठोत्र दीक्षया । मत्तोन्ये लघवोहीतिगर्वः कार्यो न संयतैः ॥२५८२॥
यतो वर्षाणिगण्यन्ते न मुक्तिसाधनेसताम् । केचिदन्तमुहूर्तेन गता मोक्षं दृढव्रताः ॥२५८३॥

अर्थ—"मैं इतने वर्षका दीक्षित हूं अतएव मैं इन सब मुनियों में बड़ा हूं, ये सब मुनि दीक्षा में मुझसे छोटे हैं" इसप्रकार का अभिमान मुनियोंको कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि मोक्षको सिद्ध करने के लिये सज्जन पुरुष वर्षोंकी गिनती नहीं करते। अपने व्रतों को दृढ़ता के साथ पालन करनेवाले बहुत से मुनि ऐसे हो गये हैं जो अंतर्मुहूर्त में ही मोक्ष चले गये हैं ॥२५८२-२५८३॥

जीव के कर्मबन्ध का कारण—

रागद्वेषाक्षमोहादीनिष्टोयोगोतिदुर्द्धरः । करोति कर्मणां बन्धं कषायैःसहदेहिनाम् ॥२५८४॥
जीवस्यपरिणामेनाणवः परिणमन्ति नुः । कर्मत्वेन स्वतोनांगो तन्मयत्वंप्रपद्यते ॥२५८५॥

अर्थ—रागद्वेष इन्द्रियां और मोहादिक में लगे हुए दुर्धर मन-वचन-काय के योग कषायों का संबंध पाकर जीवों के कर्मों का बंध करते हैं। तीनों लोकों में भरे हुये कर्म परमाणु जीवों के परिणामों को निमित्त पाकर जीवों के कर्मरूप परिणित हो जाते हैं। यह आत्मा बिना योग और बिना कषायों के स्वयं कर्मरूप परिणित नहीं होता ॥२५८४-२५८५॥

कैसी आत्मा कर्मबन्ध नहीं करती एव संसार से पार होती है—

ज्ञानचारित्रसम्पन्नः सद्ध्यानाध्ययने रतः । निष्कषायः स्थिरात्मात्रकर्मबन्धंकरोति न ॥२५८६॥
किन्तुसंवरपोतेन तपसाखिलकर्मणाम् । विधायनिर्गरां ध्यानी तरत्याशुभवाम्बुधिम् ॥२५८७॥

अर्थ—जो आत्मा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सुशोभित है, श्रेष्ठ ध्यान

और अध्ययन में लीन है, कषायरहित है और स्थिर है अर्थात् मन-वचन-काय के योगों से रहित है वह आत्मा कभी कर्मों का बंध नहीं कर सकता। किंतु ऐसा कषायरहित स्थिर ध्यानी आत्मा संवररूपी जहाज पर चढ़कर तपश्चरण के द्वारा समस्त कर्मों की निर्जरा करता है और शीघ्र ही संसाररूपी समुद्रसे पार हो जाता है ।।२५८६-२५८७।।

विनय पूर्वक स्वाध्याय आदि करने का फल—

कुर्वंन्स्वाध्यायमात्मज्ञ पचाक्षसंवृतोभवेत् । त्रिगुप्तश्चैकचित्तोत्रविनयेननिरास्रवः ।।२५८८।।

अर्थ—आत्मा के स्वरूप को जानने वाला जो मुनि विनय के साथ स्वाध्याय करता है वह पांचों इन्द्रियों को वश में करता है, तीनों गुप्तियों को पालन करता है और एकाग्रचित्त होने के कारण कर्मों के आस्रव से रहित हो जाता है ।।२५८८।।

तीनों काल में स्वाध्याय ही सर्वश्रेष्ठ तप है—

द्विषड्भेदतपोम्योपिस्वाध्यायेन ममं तपः । न भूतं परमं नास्ति न भविष्यतिमोक्षदम् ।।२५८९।।

अर्थ—बारह प्रकार के तपश्चरण में भी स्वाध्याय के समान अन्य कोई तपश्चरण उत्कृष्ट और मोक्ष देनेवाला न आज तक हुआ है न है और न आगे कभी हो सकता है ।।२५८९।।

सिद्धान्त शास्त्रों के अध्ययन का फल—

ससूत्रा च यथा सूचिर्नं नश्यतिप्रमादतः । तथा ससूत्रएवात्मा ज्ञानीरत्नत्रयांकितः ।।२५९०।।

अर्थ—जिसप्रकार सूत्रसहित (डोरा सहित) सुई प्रमाद के कारण नष्ट नहीं होती, खोती नहीं उसीप्रकार सूत्रसहित सूत्रों का वा सिद्धांतशास्त्रों का स्वाध्याय करने वाला ज्ञानी आत्मा रत्नत्रय से सुशोभित होता है ।।२५९०।।

निद्रा के दोष एवं उसे जीतने की प्रेरणा—

यत्नेन जयनिद्रां त्वं यतो निद्रा ह्यचेतनम् । कृत्वात्रराक्षसीवाशुगिलेज्जनंगतक्रियम् ।।२५९१।।
तथानिद्रावशःप्राणीखादत्यखाद्यमंजसा । अगम्यगमनं कुर्याद्विश्वपापेषु वर्तते ।।२५९२।।

अर्थ—हे मुने ! तू प्रयत्नपूर्वक निद्रा को जीत क्योंकि यह निद्रा राक्षसी के समान है । राक्षसी जिसप्रकार मनुष्यों को मारकर खा जाती है उसीप्रकार यह निद्रा भी मनुष्य को अचेतन के समान क्रियारहित बनाकर निगल जाती है । इसके सिवाय इस निद्रा के वशीभूत हुए प्राणी अभक्ष्य भक्षण करते हैं, अगम्य गमन करते हैं और समस्त पापों में प्रवृत्ति करते हैं ।।२५९१-२५९२।।

कौन मुनि मनको सरल रखता है—

इषुकारे यथा धत्ते ऋजुं चेषुं स्वचक्षुषा । तथैकाग्रत्वमापन्नंध्यानेध्यानीनिजंमनः ॥२५९३॥

अर्थ—जिसप्रकार बाण चलाने वाला आंख से देखकर अपना बाण सीधा रखता है उसीप्रकार ध्यान करनेवाला मुनि अपने ध्यान में एकाग्रता को प्राप्त हुए अपने मनको सरल ही रखता है ॥२५९३॥

कैसे मुनि ध्यान से उत्पन्न अमृत का पान करते हैं—

द्रव्यात्क्षेत्राद्यमीकालाद्भवाद्भावाद्भवेन्वहम् । विश्वदु खाकरे कस्यचिन्तयेत्परिनर्तनम् ॥२५९४॥
महामोहाग्निनानित्यंदह्यमानेजगत्त्रये । विरक्ताः स्वसुखाद्धीराः पिबन्तिध्यानजामृतम् ॥२५९५॥

अर्थ—यह समस्त संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव से प्रतिदिन दुःखों की खानि बना रहता है फिर भला ध्यान करनेवाला किसको बदल कर चितवन करे। ये तीनों लोक महा मोहरूपी अग्निसे जल रहे हैं, इसलिये जो धीर वीर मुनि अपने सुख से विरक्त हैं, वे ही मुनि ध्यान से उत्पन्न हुए अमृत का पान करते रहते हैं। ॥२५९४-२५९५॥

ध्यानी पुरुष तृणादि के समान कषायों को निकाल देते हैं—

यथा नेत्रसमुद्राद्यासहन्तेन्तर्गतं न च । तृणादीनि तथा दक्षाः कषायाक्षसुखादिकान् ॥२५९६॥

अर्थ—जिसप्रकार नेत्र और समुद्र आदि पदार्थ अपने भीतर आए हुए तृणादिकों को सहन नहीं कर सकते हैं, बाहर निकाल कर फेंक देते हैं उसीप्रकार चतुर पुरुष भी कषाय और इन्द्रियों के सुखों को सहन नहीं करते बाहर निकाल कर फेंक देते हैं ॥२५९६॥

कैसे मुनि आत्मा का एकाग्रचित्त से ध्यान करते हैं—

केवलयदर्शनज्ञानमयंस्वात्मानमूर्जितम् । अनादिनिधनं कर्मातिगं निश्चयवेदिनः ॥२५९७॥
पृथक्कृत्वाशरीरादिपर्यायेभ्योमुमुक्षवः । ध्यायन्ति स्वेकचित्तेननिर्विकल्पपदाश्रिताः ॥२५९८॥

अर्थ—जो मुनि मोक्षकी इच्छा करनेवाले हैं, निश्चयनयसे आत्माके स्वरूपको जानते हैं और जिन्होंने निर्विकल्पक पदका आश्रय ले लिया है वे मुनि केवलदर्शनमय, केवलज्ञानमय, अनादि अनिधन कर्मों से रहित और सर्वोत्कृष्ट ऐसे अपने आत्मा को शरीरादिक पर्यायों से सर्वथा अलग समझते हैं और एकाग्रचित्तसे उस आत्माका ध्यान करते हैं ॥२५९७-२५९८॥

कषाय के वशीभूत आत्मा असंयमी मिथ्यादृष्टि है—

अकषायं तु चारित्रं कषायवश आत्मवान् । भवेदसंयतो नूनं मिथ्यादृष्टिः कुमार्गगः ।।२५९९।।

अर्थ—चारित्र उसी को कहते हैं जो कषायरहित होता है, इसीलिये जो आत्मा कषाय के वशीभूत है वह अवश्य ही असंयमी है तथा कुमार्गगामी मिथ्यादृष्टि है ।।२५९९।।

कैसा मुनि मोक्षमार्गी है—

यदोपिशमितोविश्वकषायेभ्योतिशान्तधीः । तदेवसंयतः पूज्योभवेद् ज्ञानीशिवाध्वगः ।।२६००।।

अर्थ—अत्यन्त शांत बुद्धि को धारण करनेवाला मुनि जब अपने कषायों को अत्यन्त शांत कर लेता है तभी वह संयमी, पूज्य, ज्ञानी और मोक्षमार्ग में चलने वाला कहलाता है ।।२६००।।

अन्तिम समय गणमें प्रवेश करने का निषेध—

अन्तकाले यतेः स्वस्य गणप्रवेशतो वरम् । प्रवेशनं विवाहेन्न रागोत्पत्तिर्विवाहतः ।।२६०१।।

अर्थ—मुनियों को अंतिम समय में (समाधि मरण के समय) अपने गण में प्रवेश नहीं करना चाहिये । उस समय अपने गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह में प्रवेश करना अच्छा क्योंकि विवाह में भी राग की उत्पत्ति होती है और अपने गण में भी राग की उत्पत्ति होती है ।।२६०१।।

गणमें प्रवेश करने से उत्पन्न दोषों का निर्देश—

भवेत्पुनर्गणः सर्वदोषोत्पत्त्यादिहेतुकः । शिष्यादिमोहसंयोगात्तस्मान्मृत्योगणं त्यज ।।२६०२।।

अर्थ—अपने गण में शिष्यादिक का मोह उत्पन्न हो जाता है इसीलिये अपने गणमें सब तरह के दोष उत्पन्न हो सकते हैं अतएव हे मुने ! समाधिमरण के समय तू अपने गणका त्याग कर ।।२६०२।।

परगण में समाधिमरण करने से लाभ—

यथापृथ्वीजलादीनामभावे जायतेऽत्र न । अंकुरोखिलबीजानां वृद्धिहेतुः फलप्रदः ।।२६०३।।
तथाशिष्यादिसगोत्थरागद्वेषाद्यभावतः । कर्मणां च कषायाणांतोत्पत्तियमिनांभवेत् ।।२६०४।।

अर्थ—जिसप्रकार मिट्टी और जल के अभाव में बीज से अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता तथा बिना अंकुर के वह न बढ़ सकता है और न उस पर फल लग

सकते हैं उसीप्रकार शिष्य आदि के संगति से उत्पन्न हुए रागद्वेष के अभाव से परगण में मुनियों को कर्म और कषायों की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती ।।२६०३-२६०४।।

मुनि क्षमादि गुणों से कषाय उत्पन्न न होने दे—

कषायैर्हेतुभूतैश्चविश्वेपरिग्रहादयः । जायन्तेमानसे नृणामनर्थशतकारिणः ।।२६०५।।
तेषांसर्वकषायाणामनुत्पत्त्यैमुनीश्वरैः । विधेयंपरमयत्नंक्षमातोषादिभिः सदा ।।२६०६।।

अर्थ—इन मनुष्यों के हृदयों में सैकड़ों अनर्थ करनेवाले समस्त परिग्रह इन कषायों के ही कारणों से होते हैं इसलिये मुनियों को क्षमा और संतोष आदि आत्मगुण धारण कर समस्त कषायों को उत्पन्न न होने देने के लिये परम प्रयत्न करते रहना चाहिये ।।२६०५-२६०६।।

इन्द्रिय लम्पटी ४-४ अंगुलप्रमाण जिह्वाइन्द्रिय एवं कमेन्द्रिय से अनन्त
दुःखों की परम्परा को प्राप्त होते हैं—

अर्थार्थं जीवितार्थं च जिह्वाकामार्थमंजसा । म्रियतेनन्तवारान् भो मारयेच्चापरान् जनः ।२६०७।
जिह्वोपस्थनिमित्तं च जीवोनादिभवार्णवे । प्राप्तोघोरतरं दुःखमज्जनोत्थमनन्तशः ।।२६०८।।
चतुरगुलमानात्रजिह्वाही विश्वभक्षिका । चतुरंगुलमात्रोपस्थोनन्तभववर्द्धकः ।।२६०९।।
एतैरष्टांगुलोत्पन्नैर्दोषैर्दोषनिबन्धनैः । अनन्तदुःखसन्तानंप्राप्नुवन्तिखलम्पटाः ।।२६१०।।

अर्थ—देखो ये मनुष्य धन के लिये, जीवन के लिये, जिह्वा इन्द्रिय के लिये और कामेन्द्रिय के लिये अनंतबार स्वयं मरता है और अनंतबार ही दूसरों को मारता है । इस जिह्वा इन्द्रिय और कामेन्द्रिय के कारण यह जीव अनादि कालसे इस संसार-रूपी समुद्र में अनंतबार डूबा है और इसने अनंतबार ही अत्यंत महा घोर दुःख पाये हैं । यह जिह्वा इन्द्रियरूपी सर्पिणी यद्यपि चार अंगुलप्रमाण है तथापि समस्त संसारको खा जानेवाली है । इसीप्रकार यह कामेन्द्रिय भी चार अंगुलप्रमाण है तथापि अनंत संसारको बढ़ाने वाली है । इसप्रकार इन आठ अंगुलप्रमाण जिह्वाइन्द्रिय और कामेन्द्रिय से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे अनेक दोषों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं और उन्हीं से यह इन्द्रियलंपटी जीव अनंत दुःखों की परंपरा को प्राप्त होते हैं ।।२६०७-२६१०।।

कैसे मन्त्र के द्वारा इन्हें कील देना चाहिये—

ज्ञात्वेतिरसनोपस्थसर्पौ त्रैलोक्यभीतिदौ । दृढवैराग्यमंत्रेण कीलयन्तु तपोधनाः ।।२६११।।

अर्थ—यही समझकर तीनों लोकों को भय उत्पन्न करनेवाले ये जिह्वाइन्द्रिय

और कामेन्द्रियरूपी सर्प वैराग्यरूपी मन्त्र के द्वारा तपस्वियों को कील देने चाहिये । ॥२६११॥

काठादि स्त्रियों के संयोग से उत्पन्न हानि—

काष्ठादिजांगनारूपाद्भेतव्यं संयतैः सदा । यतस्तद्दर्शनान्नूनचित्तक्षोभोभवेन्नृणाम् ॥२६१२॥
सर्पिर्भृ तघटाभोंगीस्त्रीज्वलज्ज्वालसन्निभा । तयोः सम्पर्कतः किं किमनर्थो जायते न नुः ॥१३॥
स्त्रीसमीपं गतायेत्रहास्यवार्तादिलोकनैः । नष्टास्ते भ्रष्टचारित्राइतरे च शिवंगताः ॥२६१४॥

अर्थ—मुनियों को काठ की बनी हुई स्त्री से भी सदा डरते रहना चाहिये । क्योंकि उसके देखने से भी मनुष्यों के हृदय में अवश्य ही क्षोभ उत्पन्न हो जाता है । यह मनुष्य घी से भरे हुए घड़े के समान है और यह स्त्री जलती हुई अग्नि की ज्वाला के समान है । इन दोनों के संबंध से मनुष्यों को भला क्या-क्या अनर्थ नहीं हो सकते हैं अर्थात् सब कुछ तरह के अनर्थ हो सकते हैं । जो मनुष्य हंसी की बातचीत को सुनने वा देखने के लिये स्त्रियों के पास जाते हैं, वे चारित्र से भ्रष्ट होकर अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं । तथा जो ऐसा नहीं करते स्त्रियों से अलग रहते हैं वे अवश्य मोक्ष जाते हैं ॥२६१२-२६१४॥

मुनि, माता आदि स्त्रियों के संसर्ग का भी त्याग करें—

मातृभग्नीसुतामूकावृद्धास्त्रीरूपतोनिशम् । भेतव्यंमुनिभिर्यस्मा त्क्षोभ स्यान्नेत्रचित्तयोः ॥२६१५।
हस्तपादपरिछिन्नां कर्णनासाविवर्जिताम् । शतवर्षप्रमां नारी दूरतोवर्जयेद्व्रती ॥२६१६॥

अर्थ—मुनियों को माता, भगिनी, पुत्री, गूंगी और वृद्धा आदि स्त्रियोंके रूप से भी सदा डरते रहना चाहिये क्योंकि स्त्रियों के रूपसे भी नेत्र और हृदय में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है । जिस स्त्री के हाथ पैर कटे हुए हों और जिसके नाक, कान भी कटे हों तथा ऐसी स्त्री सौ वर्ष की हो तो भी व्रतियों को ऐसी स्त्री का दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ॥२६१५-२६१६॥

भावों से विरक्त ही वास्तविक विरक्त है—

भावेनविरतोयोगीविरक्तोविश्ववस्तुषु । भवेत्स्वमुक्तिगामी च द्रव्येण भववर्द्धकः ॥२६१७॥

अर्थ—जो मुनि अपने भावों से विरक्त है उसे सब वस्तुओं से विरक्त समझना चाहिये तथा उसे ही स्वर्गमोक्ष जानेवाला समझना चाहिये । जो मुनि ऊपर से विरक्त है, भावों से विरक्त नहीं है, उसे संसारको बढ़ानेवाला ही समझना चाहिये ॥२६१७॥

बृह्मचर्य के घात करनेवाले १० कारण—

विपुलाहारसेवार्था वपुर्मुखादिशोधनम् । गंधमाल्यादिकादानंगीतवाद्यादिसंश्रुतिः ॥२६१८॥
सरागेचित्रशालादौकोमलेशयनासनम् । स्त्रीसंसर्गोर्थवस्त्रादिग्रहणंभोगसिद्धये ॥२६१९॥
पूर्वंसेवितभोगानुस्मरणंस्वस्यमानसे । इन्द्रियार्थरतौ चेहा सर्वेष्ठरस सेवनम् ॥२६२०॥
इमानब्रह्महेतून यो दशदोषांस्त्यजेत्सदा । दृढव्रतो यतिः सोऽत्र भवत्येवनचापरः ॥२६२१॥

अर्थ—बहुत सा आहार खाना, अपने शरीर को तथा मुख को स्वच्छ शुद्ध रखना, गंध लगाना वा माला पहनना, गीत बाजे सुनना, राग को उत्पन्न करनेवाली ओर स्त्री पुरुषों के चित्रों से सुशोभित भवन में कोमल शय्यापर सोना वा बैठना, स्त्रियों की संगति करना, भोग भोगने के लिये धन और वस्त्रादिक का ग्रहण करना, पहले भोगे हुए भोगों का अपने मनमें स्मरण करना, इन्द्रियों के विषयों में रत होनेकी लालसा रखना और समस्त रसों का सेवन करना, ये दश ब्रह्मचर्य को घात करने के कारण हैं। जो मुनि इन दशों दोषोंका त्याग कर देता है वही दृढ़व्रती कहलाता है, अन्य नहीं ॥२६१८-२६२१॥

द्विविध परिग्रह त्याग की प्रेरणा—

मोहादिककषायाक्षैर्गृह्णात्यंगीपरिग्रहान् । अस्माद्बाह्यान्तराः संगाः सर्वेत्याज्याः शिवार्थिभिः ॥

अर्थ—यह जीव मोह कषाय और इन्द्रिय आदि के द्वारा परिग्रहों को ग्रहण करता है इसलिये मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को बाह्य और अभ्यंतर सब तरह के परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये ॥२६२२॥

श्रमण का स्वरूप एवं उनके भेद—

निस्संगोऽत्रनिरारम्भो भिक्षाचर्याशुभाशयः । सद्ध्यानरतएकाकीगुणाढ्यः श्रमणो भवेत् ॥२३॥
नाम्नास्थापनया द्रव्यभावाभ्यां श्रमणस्य च । चतुर्विधोऽत्रनिक्षेपोगुणिभिर्गुणसम्भवः ॥२६२४।

अर्थ—जो मुनि समस्त परिग्रहों से रहित है, समस्त आरम्भों से रहित है, भिक्षार्थ चर्या करने के लिये जिसके हृदयमें शुद्धता है, जो श्रेष्ठ ध्यानमें लीन रहता है, एकाकी है। आत्माको सबसे भिन्न समझता है और अनेक गुणों से सुशोभित है उसीको श्रमण कहते हैं। गुणी पुरुष नाम स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेप के भेद से अपने-अपने गुणों के अनुसार इन श्रमणों के चार भेद बतलाते हैं ॥२६२३-२६२४॥

भाव श्रमणपना ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं—

भावश्रमणएकोऽत्र शुद्धरत्नत्रयांकितः । विश्वाभ्युदयसौख्यादीन् भुक्त्वास्यान्मुक्तिवल्लभः ॥२५॥

नामाद्याःश्रमणा शेषाः गुणहीनाविधेवंशात् । भ्रमन्ति संसृतौनैवलभन्तेस्वेष्टसम्पदः ।।२६२६।।

अर्थ—इनमें से एक भावश्रमण ही शुद्ध रत्नत्रय से सुशोभित है वही मुनि समस्त अभ्युदयों के सुखों को भोगकर मोक्ष का स्वामी बनता है । बाकी के नामश्रमण, स्थापनाश्रमण वा द्रव्यश्रमण गुणों से रहित है और अपने-अपने कर्मों के निमित्त से संसार में परिभ्रमण ही करनेवाले हैं । इसलिये वे अपनी मोक्षरूप इष्ट सामग्रीको कभी नहीं पा सकते ।।२६२५-२६२६।।

भावलिंगी बनने की प्रेरणा—

मत्वेतिभावलिंगी त्वं भवरत्नत्रयान्वितः । त्यक्त्वायोगिन्द्विधासंगंयदीच्छसिशिवश्रियम् ।२६२७।।

अर्थ—इसलिये हे मुने ! यदि तू मोक्षलक्ष्मी को चाहता है तो ऊपर कही हुई सब बातों को समझकर और बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार का परिग्रह छोड़कर भावलिंगी बन और शुद्ध रत्नत्रय को धारण कर ।।२६२७।।

भिक्षाचर्या की महत्ता एवं उसे धारण करने की प्रेरणा—

व्रतशीलगुणाः सर्वेस्युर्भिक्षाचर्यया पराः । भिक्षाचर्यां विशोध्यातो विहरन्तुशिवार्थिनः ।।२६२८।।

अर्थ—भिक्षाके लिये होनेवाली चर्या की शुद्धि से व्रतशील आदि समस्त उत्कृष्ट गुण प्रगट होते हैं । अतएव मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियों को भिक्षाके लिये होनेवाली चर्या को विशुद्धतापूर्वक धारण करते हुए विहार करना चाहिये ।।२६२८।।

किसे गुणों की खानि कहते हैं—

भिक्षांवाक्यंमनोयत्नाद्योविशोध्यचरेत्सदा । चारित्रं स जिनैः प्रोक्तो मुनिर्विश्वगुणाकरः ।।२६।।

अर्थ—जो मुनि भिक्षा वचन मन और चारित्र को प्रयत्नपूर्वक शुद्ध कर अपनी प्रवृत्ति करता है उसको भगवान जिनेन्द्रदेव समस्त गुणों की खानि कहते हैं । ।।२६२९।।

शक्ति अनुसार ध्यानादि पालना चाहिये—

द्रव्यं क्षेत्रं तथा कालं भावं शक्ति विबुध्य च । ध्यानाध्ययनमत्यर्थं वृत्तं चरन्तुपण्डिताः ।।२६३०।।

अर्थ—अतएव विद्वान् मुनियों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अपनी शक्ति को समझकर ध्यान अध्ययन और चारित्र को अच्छी तरह पालन करना चाहिये । ।।२६३०।।

मुक्ति स्त्री के प्राप्ति हेतु किसका त्याग करें—

कलत्रसंगभेदाभ्यां द्विधात्यागो भवेद्विदः । कृत्वातदुभयत्यागंलभन्तेमुक्तिकामिनीम् ।।२६३१।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने स्त्री का त्याग और परिग्रहों का त्याग इस प्रकार दो तरह का त्याग बतलाया है, अतएव विद्वान पुरुष इन दोनों का त्याग कर मुक्तिस्त्री को प्राप्त करते हैं ।।२६३१।।

मुनि को ५ स्थावर के विराधना नहीं करने की प्रेरणा—

पृथ्व्यादिकायिकाजीवा ये पृथ्व्यादिवपुः श्रिताः संतिपृथ्व्यादिकारम्भे ध्रुवं तेषां विराधना ।।३२।।
तस्मात्पृथ्व्यादिकारम्भोद्विविधस्त्रिविधेन च । यावज्जीवं न कल्पेत जिनमार्गानुचारिणाम् ।।३३।।

अर्थ—यदि पृथ्वीके खोदने आदि का आरंभ किया जायगा तो पृथिवीकायिक जीवों का तथा पृथिवीकायके आश्रित रहनेवाले जीवों का अवश्य ही नाश होगा उनकी विराधना अवश्य होगी । अतएव जिनमार्ग के अनुसार चलने वाले मुनियों को मन-वचन-कायसे जीवन पर्यंत दोनों प्रकार का (पृथिवीकायिक और पृथिवी कायाश्रित) पृथिवी आदि का आरम्भ सदा के लिये छोड़ देना चाहिये तथा इसीप्रकार जलकायिक, जलकायाश्रित, वायुकायिक, वायुकायाश्रित, अग्निकायिक, अग्निकायाश्रित, वनस्पतिकायिक और वनस्पतिकायाश्रित जीवों की विराधना का भी त्याग कर देना चाहिये । ।।२६३२-२६३३।।

कौन मुनि रत्नत्रय से भ्रष्ट है—

पृथ्व्यादिकायिकान्सत्त्वानेतान्श्रीजिनभाषितान् । नचश्रद्दधाति यः स्याद्भ्रष्टो रत्नत्रयात्कुधीः ।।

अर्थ—जो मुनि भगवान जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुए इन पृथिवीकायिक, पृथिवीकायाश्रित, जलकायिक, जलकायाश्रित, अग्निकायिक, अग्निकायाश्रित, वायुकायिक, वायुकायाश्रित और वनस्पतिकायिक, वनस्पतिकायाश्रित जीवों का श्रद्धान नहीं करता है उस दुर्बुद्धि को रत्नत्रय से भ्रष्ट ही समझना चाहिये ।।२६३४।।

जीवराशि से भरे लोक में मुनि कैसी प्रवृत्ति करें—

विश्वसत्त्वाकुले लोके कथं चरेच्चसंयमी । कथं तिष्ठेत् कथं कुर्याच्छयनं चोपवेशनम् ।।२६३५।।
कथं भुंक्ते कथंव्र याद्विहारं कथमाचरेत् । कथं धत्ते क्रियाकर्मकथंवध्नातिनाशुभम् ।।२६३६।।

अर्थ—कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि इस लोक में सब जगह जीवराशि भरी हुई हैं, फिर भला मुनियों को किस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये, किस

प्रकार खड़े होना चाहिये, कैसे सोना चाहिये, कैसे बैठना चाहिये, कैसे आहार लेना चाहिये, कैसे बोलना चाहिये, कैसे विहार करना चाहिये, किसप्रकार आचरण पालन करना चाहिये, किसप्रकार वंदना प्रतिक्रमण आदि क्रियाकर्म करना चाहिये और किस प्रकार अशुभ कर्मोंसे दूर रहना चाहिये ।।२६३५-२६३६।।

मुनिराज को यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने की प्रेरणा—

चरेत्सर्वत्रयत्नेनतिष्ठेद्यत्नेन भूतले । यत्नेन प्रासुकेदध्याच्छयनं च दृढासनम् ।।२६३७।।
भिक्षाशुद्धया च भुंजीत वाक्समित्या यत्नतो भजेत् ।।२६३८।।
प्रयत्नेन क्रियाकर्म करोति सकल सदा । इति पापं न वध्नातिक्षपयेत्प्राक्तनाशुभम् ।।२६३९।।

अर्थ—तो इसका उत्तर यह है कि मुनियों को यत्नाचार पूर्वक अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये, यत्नाचार पूर्वक पृथिवीपर बैठना चाहिये, यत्नाचार पूर्वक प्रासुक स्थान पर सोना चाहिये और प्रासुक स्थान पर ही दृढ़ आसन से बैठना चाहिये । इसीप्रकार उनको भिक्षा भी शुद्धता पूर्वक ग्रहण करनी चाहिये, भाषासमिति पूर्वक वचन बोलने चाहिये और विहार इर्यासमिति पूर्वक दिन में ही यत्नाचार पूर्वक करना चाहिये । इसी प्रकार मुनियों को यत्नाचार पूर्वक ही वंदना प्रतिक्रमण आदि सब क्रियाकर्म सदा करते रहना चाहिये । इसप्रकार करने से वह मुनि पापों से लिप्त कभी नहीं होता किंतु पहले के अशुभ कर्मों को नाश ही करता है ।।२६३७-२६३९।।

परम समयसार को पालने का फल—

इति कथितमदोषं ये चरन्त्यात्मशक्त्या परमसमयसारं ग्रंथमाप्तैः प्रणीतम् ।
त्रिभुवनपति भूतिं सुष्ठुविज्ञायभुक्त्वा सकलचरणयोगात्स्युश्च ते मुक्तिनाथाः ।।२६४०।।

अर्थ—इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए इस परम समयसार को जो मुनि अपनी शक्तिके अनुसार निर्दोष रीति से पालन करते हैं, वे पूर्ण चारित्र को धारण करने के कारण भगवान जिनेन्द्रदेव की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंतमें मोक्षलक्ष्मी के स्वामी होते हैं ।।२६४०।।

पुनः परम समयसार को पालने की प्रेरणा—

सर्वासातहरंविशुद्धजनकं पापारिनाशंकरं स्वर्मोक्षैकनिबंधनंसुविमलंसंसारतापापहम् ।
श्रीतीर्थेश्वरभाषितंमुनिवरैः सेव्यं सदा यत्नतः सेवध्वंनिपुणाःपरंसमयसाराख्यंशिवाप्त्यैस्फुटम् ।।

अर्थ—यह ऊपर कहा हुआ परम समयसार समस्त दुःखों को दूर करनेवाला

है, विशुद्धियों को उत्पन्न करनेवाला है, पापरूप शत्रुको नाश करनेवाला है, स्वर्ग मोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, अत्यन्त निर्मल है, संसार के संताप को नाश करनेवाला है, भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ है और श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा सदा सेवन धारण करने योग्य है । अतएव चतुर मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्नपूर्वक इस परमसमयसार को अच्छी तरह पालन करते रहना चाहिये ।।२६४१।।

अरहतादि की भक्ति का फल श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति की अभिलाषा—

नाभेयाद्याजिनेन्द्रास्त्रिभुवनयजिताः धर्मचक्राधिपा,
ये सिद्धालोकाग्रभूताहतविधिवपुषोऽनन्तहीनाः प्रसिद्धाः ।
आचार्याःपाटका ये गुणगणसदनाः साधवोमुक्तिकामाः
आचारांगागमज्ञाममनिजसुगुणान्संस्तुतास्तेप्रदद्यु ः ।।२६४२।।

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथेभट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते
समयसार वर्णनो नाम नवयोधिकारः ।

अर्थ—इस संसार में जो धर्मचक्र के स्वामी और तीनों लोकों के द्वारा पूज्य ऐसे वृषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर हुए हैं तथा लोक शिखर पर विराजमान, समस्त कर्म और शरीर से रहित, संसार के परिभ्रमण से रहित और सर्वत्र प्रसिद्ध ऐसे अनंत सिद्ध परमेष्ठि विराजमान हैं और आचारांग आदि समस्त आगम के जानकार मोक्षकी इच्छा करनेवाले और अनेक गुणों के समूह के स्थान ऐसे आचार्य उपाध्याय और सर्व साधु विद्यमान हैं, इसप्रकार के पांचों परमेष्ठियों की मैं स्तुति करता हूं, इसके बदले में वे पांचों परमेष्ठि मुझे अपने-अपने श्रेष्ठ गुण प्रदान करें ।।२६४२।।

इसप्रकार आचार्य श्री सकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थ में समयसार को वर्णन करनेवाला यह नौवां अधिकार समाप्त हुआ ।

दशमोधिकारः

मंगलाचरण

अर्हंतः सिद्धनाथांश्चसमाधिवोधिपारगान् । जन्ममृत्युजराहंतृन् नौमि वोधिसमाप्तये ।।२६४३।।

अर्थ—अब मैं रत्नत्रय और समाधि की प्राप्ति के लिये जन्म मरण तथा बुढ़ापे को नाश करनेवाले और रत्नत्रय तथा समाधि पारगामी ऐसे भगवान् अरहंतदेव को तथा सिद्ध भगवान को नमस्कार करता हूं ।।२६४३।।

प्रत्याख्यान संस्तर के कथन की प्रतिज्ञा—

संक्षेपेणाथ वक्ष्यामि सद्यतीनां समाधये । अधिकारं परं प्रत्याख्यानसंस्तरसंज्ञकम् ।।२६४४।।

अर्थ—अब मैं श्रेष्ठ मुनियों को समाधि प्राप्त करने के लिये संक्षेप से प्रत्याख्यानसंस्तर नाम के श्रेष्ठ अधिकार का निरूपण करता हूं ।।२६४४।।

किन कारणों के आने पर सन्यास धारण करें—

उपसर्गे तिर्दुर्भिक्षेंवृद्धत्वेव्याधिसंचये । असाध्येनिष्प्रतीकारेमन्दाक्षे सतिं कारणे ।।२६४५।।
व्रतभंगादिकेन्यस्मिन् वा सन्यासं तपस्विनाम् । विधातुं युज्यते नूनं प्रयत्नेनहिताप्तये ।।२६४६।।

अर्थ— किसी उपसर्ग के आ जानेपर, घोर दुर्भिक्ष पड़ जानेपर, अत्यन्त वृद्धावस्था आ जानेपर, अनेक असाध्य और उपायरहित व्याधियों के आ जानेपर, नेत्रों की ज्योति मंद हो जानेपर वा व्रतभंग के कारण मिल जानेपर वा और भी ऐसे ही ऐसे कारण आ जानेपर, तपस्वियों को अपना आत्महित करने के लिये प्रयत्नपूर्वक सन्यास धारण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये ।।२६४५-२६४६।।

मरण निकंट जानकर समाधि का उद्यम व क्षमा मांगना चाहिये—

आसन्नं मरणं स्वस्य कश्चिद्विज्ञायसन्मुनिः । निमित्ताद्यैः समाध्यर्थं कुर्याद्युद्यमसंजसा ।।२६४७।
आपृच्छ्यस्वसुगुर्वादीन्क्षमयित्वाखिलान्परान् । त्रिशुद्धयायुक्तिमद्वाक्यैः स्वयंक्षांत्वास्वमानसे ।।

अर्थ—श्रेष्ठ मुनियों को किसी निमित्तशास्त्र आदि के द्वारा अपना मरण निकट जानकर समाधि के लिये बहुत शीघ्र उद्यम करना चाहिये । इसके लिये सबसे पहले उन मुनियों को अपने श्रेष्ठ गुरुसे पूछना चाहिये और फिर मन-वचन-काय की

शुद्धतापूर्वक युक्तिपूर्वक वचनों से समस्त मुनियों से क्षमा मांगनी चाहिये तथा अपने मनमें सबको क्षमा कर देना चाहिये ।।२६४७-२६४८।।

स्वगण के त्याग की प्रेरणा—

द्वित्र्यादियोगिभिः सार्द्धं परित्यज्य निजंगणम् । मोहादिहानयेसोस्मान्निर्गच्छतिसमाधये ।।४९।।

अर्थ—तदनंतर अपना मोह नाश करने के लिये दो तीन मुनियों को साथ लेकर तथा अपने गणका त्याग कर समाधि धारण करने के लिये वहां से चल देना चाहिये ।।२६४९।।

परीक्षा करके ही आचार्य से समाधि का निवेदन करना चाहिये—

क्रमात्परगणस्थं स विख्यातंसूरिपुंगवम् । आसाद्य संपरीक्ष्योच्चैर्नत्वा कार्यंनिवेदयेत् ।।२६५०।।

अर्थ—फिर अनुक्रम से चलकर किसी परगण में विराजमान प्रसिद्ध आचार्य के समीप पहुंचना चाहिये और उन आचार्य की अच्छी तरह परीक्षा कर तथा उनको नमस्कार कर उनसे अपना कार्य निवेदन करना चाहिये ।।२६५०।।

कैसे गुणों से युक्त आचार्य को निर्यापकाचार्य बनावें—

विश्वभव्यहितोद्युक्तः पंचाचारपरोमहान् । आगमे कुशली धीमान्क्षोभ्यःपरमार्थवित् ।।२६५१।।
आलोचितरहस्यापरिस्रावीसूरिसत्तमः । यः स निर्यापकः कार्यः उत्तमः स्वसमाधये ।।२६५२।।

अर्थ—जो समस्त भव्य जीवों के हित करने में तत्पर हों, पंचाचार पालन करने में तत्पर हों, सर्वश्रेष्ठ हों, आगम में कुशल हों, बुद्धिमान हों, कभी क्षुब्ध न होते हों, परमार्थ को जाननेवाले हों, जो किसी मुनि के द्वारा आलोचना किये हुये दोषों को कभी प्रगट न करते हों और जो सर्वोत्तम हों ऐसे उत्तम आचार्य को अपनी समाधि के लिये निर्यापकाचार्य बनना चाहिये ।।२६५१-२६५२।।

निर्यापकाचार्य की आवश्यकता—

यथापत्तनमासन्नाः कर्णधारैविनांबुधौ । रत्नहेमभृता नावः प्रमज्जन्ति प्रमादतः ।।२६५३।।
तथाक्षपनावोऽत्र मुक्तिद्वीपसमीपगाः । दृग्ज्ञानचरणानर्घ्यरत्नपूर्णा भवाम्बुधौ ।।२६५४।।
निमज्जन्ति न संदेहो विना निर्यापकैर्भुवि । प्रमादेन ततो मृग्यामृत्यौनिर्यापकाः बुधैः ।।२६५५।।

अर्थ—जिसप्रकार रत्न और स्वर्ण से भरी हुई तथा नगर के समीप पहुंची हुई कोई नाव बिना मल्लाहों के अपने प्रमाद से ही समुद्र में डूब जाती है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी अमूल्य रत्नों से भरी हुई और मोक्षरूपी

द्वीप के समीप पहुंची हुई क्षपकरूपी नाव बिना निर्यापकाचार्य के अपने प्रमाद से ही संसाररूपी समुद्र में डूब जाती है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, इसलिये बुद्धिमान मुनियों को समाधिमरण धारण करने के लिये निर्यापकाचार्य अवश्य तलाश कर लेना चाहिये ॥२६५३-६६५५॥

आचार्य परीक्षा करके आगन्तुक साधु को स्वीकार करते हैं—

आचार्यः सोऽपि तं युक्त्या प्रपरीक्ष्यपरार्थकृत् । स्वीकुर्यात्स्वगणंपृष्ट्वोत्तमार्थसाधनोद्यतम् ॥५६॥

अर्थ—तदनंतर परोपकार करने में तत्पर वे आचार्य भी युक्तिपूर्वक उसकी परीक्षा करते हैं फिर अपने गण को पूछकर मोक्ष के साधन में लगे हुए उन मुनि को अपने पास रहने की स्वीकारता देते हैं ॥२६५६॥

मुनि एकान्त में दोषों की आलोचना करता है—

ततोसौक्षपको नत्वा ह्येकान्तेसूरिसन्निधौ । ऋजुचित्तःस्वशुद्ध्यर्थंकुर्यादालोचनंस्फुटम् ॥२६५७॥

अर्थ—तदनंतर सरल हृदय को धारण करनेवाला वह क्षपक भी किसी एकांत में आचार्य के समीप नमस्कार कर बैठता है और अपने आतमा की शुद्धि के लिये स्पष्ट रीति से अपने दोषों की आलोचना करता है ॥२६५७॥

रत्नत्रय में लगे दोषों की आलोचना करें—

मूलोत्तरगुणादीनांरत्नत्रयस्य जातुचित् । अतीचाराः कृताः स्वेन कारिता ये परेण च ॥२६५८॥
हृदनुमानिता ये तान्त्रिशुद्ध्यासकलान्मलान् । त्यक्त्वालोचनदोषान् स सर्वान् सूरिं निवेदयेत् ॥

अर्थ—मूलगुण वा उत्तरगुणों में वा रत्नत्रय में कभी भी जो अतिचार लगाये हों, वा दूसरों से लगवाये हों वा हृदय से उनकी अनुमोदना की हो उन सबको आलोचना के समस्त दोषोंसे रहित होकर मन-वचन-कायकी शुद्धतापूर्वक आचार्य से निवेदन कर देना चाहिये ॥२६५८-२६५९॥

बालक वत् मायाचारी आदि दूषण रहित आलोचना करें—

ऋजुबुद्धिर्यथा बालो ब्रूयात्स्वस्यमनोगतम् । याथातथ्येनचाजानन् वाच्या वाच्यादिकं वचः ॥
मायाभिमानलज्जादींस्त्यक्त्वाशुद्धिमतिस्तथा । यथाजातान् तथा दोषान् भाषतेसूरिसन्निधौ ।६१॥

अर्थ—जिसप्रकार सरल बुद्धिको धारण करनेवाला बालक कहने योग्य वा न कहने योग्य वचनों को नहीं जानता हुआ यथार्थ रीतिसे अपने मनकी बात बतला देता है उसीप्रकार शुद्ध बुद्धि को धारण करनेवाले उन मुनियों को भी मायाचारी अभिमान

और लज्जा को छोड़कर आचार्य के समीप समस्त दोषों को यथार्थ रीति से कह देना चाहिये ।।२६६०-२६६१।।

तदनन्तर आचार्य क्षपक को प्रायश्चित देते हैं—

तदेवागमदृष्टयासौगणी तद्दोषशान्तये । ददातिविधिना तस्मै प्रायश्चित्तं यथोचितम् ।।२६६२।।

अर्थ—तदनंतर उन दोषों को शांत करने के लिये वे आचार्य भी आगम में कहे अनुसार विधिपूर्वक यथायोग्य प्रायश्चित्त उनके लिये देते हैं ।।२६६२।।

तदनन्तर आचार्य एवं क्षपक क्या करते हैं—

ततः स क्षपकः शक्त्यारत्नत्रयविशुद्धये । योदत्तः सूरिणादण्डस्तं सर्वमाचारेत्क्रमात् ।।२६६३।।
अथाचार्योमुनेस्तस्यहितायाह शुभाशुभान् । मृत्युभेदान्श्रुतात्सप्तदशनीचोच्चजन्मदान् ।।२६६४।।

अर्थ—तदनंतर वह क्षपक भी अपने रत्नत्रय को शुद्ध करने के लिये आचार्य के द्वारा दिये हुये समस्त दण्ड को अपनी शक्तिके अनुसार अनुक्रम से पालन करता है । इसके बाद वे आचार्य उन मुनिराज का हित करने के लिये ऊंच और नीच योनि में जन्म देनेवाले और इसीलिये शुभ-अशुभ ऐसे मृत्यु के सत्रह भेदों को शास्त्र के अनुसार कहते हैं ।।२६६३-२६६४।।

जिनेन्द्रदेव उपदिष्ट मरण के १० भेद—

आवीचिस्तद्भवाख्यं चावधिराद्यन्तसंज्ञकम् । सशल्यं गृध्रपृष्टाख्यं जिघ्रासमरणं ततः ।।२६६५।।
व्युत्सृष्टं हि वलाकाख्यंसंक्लिश्यमरणं नृणाम् । मरणानिदशैतानि भाषितानि जिनेश्वरैः ।।६६।।

अर्थ—आवीचिमरण, भवमरण, अवधिमरण, आद्यंतमरण, सशल्यमरण, गृद्धपृष्ठमरण, जिघ्रासमरण, व्युत्सृष्टमरण, वलाकामरण और संक्लिश्यमरण इसप्रकार ये दश प्रकार के मरण भगवान जिनेन्द्रदेव ने बतलाये हैं ।।२६६५-२६६६।।

बालबाल मरणादि मरण के सात भेद—

बालबालमृतिर्बालो बालपंडितनामकम् । चतुर्थं मरणं भक्तप्रत्याख्यानाभिधानकम् ।।२६६७।।
इंगनीमरणं नाम प्रयोपगमनाभिधम् । मरणं सप्तमं सर्वज्येष्टं पण्डितपण्डितम् ।।२६६८।।

अर्थ—बालबालमरण, बालमरण, बालपंडितमरण, भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमनमरण और सर्वोत्तम पंडितपंडितमरण इसप्रकार सात मरण ये बतलाये हैं ।।२६६७-२६६८।।

१७ प्रकार के मरण किसके कारण ?

इमानि देहिनांसप्तदशोक्तानिजिनागमे । सद्गतीता कर्तृ णिमरणानि गणेशिना ।।२६६९।।

अर्थ—इसप्रकार भगवान गणधरदेव ने अपने जिनागम में प्राणियों को सद्गति और असद्गति देनेवाले ये सत्रह प्रकार के मरण बतलाये हैं ।।२६६९।।

आवीचिमरण का स्वरूप—

यथाम्बुधौ जलौघानां वीचयः समयं प्रति । उद्भूयोद्भूयतत्रैवविलीयन्तेतथांगिनाम् ।।२६७०।।
उद्भूयोद्भूयकर्मायुः पुद्गलाणाषु यः क्षयः । रसनांप्रत्यहं ज्ञेयमावीचिमरणं हि तत् ।।२६७१।।

अर्थ—जिसप्रकार समुद्र में पानी के समूह की लहरें समय-समय पर उठती हैं और उठ-उठकर उसी में लीन हो जाती हैं उसीप्रकार संसार जीवों का आयुकर्म प्रत्येक समय में उदय होता रहता है और अपना रस देकर खिर जाता है, इसको आवीचिमरण कहते हैं । यह आवीचिमरण प्रतिदिन प्रति समय होता रहता है ।।२६७०-२६७१।।

भव मरण एवं अवधिमरण का स्वरूप—

भुज्यमानायुषः पुंसो योऽन्तिमेसमयेभुवि । प्राणत्यागो हि तद्विद्धिमरणं तद्भवाह्वयम् ।।२६७२।।
प्रकृत्याद्यैश्चतुर्विधैर्यादृशैःप्राग्भवे मृतः । यस्तस्य तादृशैर्यच्चावधाख्यंमरणं हि तत् ।।२६७३।।

अर्थ—जो मनुष्य अपनी आयु को भोगकर अंतिम समय में प्राण त्याग कर देता है उसको भवमरण कहते हैं । इस जीव ने पहले भव में जैसे प्रकृति स्थिति आदि चारों प्रकार के कर्मों का बंध कर मरण किया था यदि वैसे ही कर्मोंका बंध कर मरण करे तो उसको अवधिमरण कहते हैं ।।२६७२-२६७३।।

आद्यंत मरण एवं सशल्य मरण का स्वरूप—

प्राक्तनात्स्वभवाद्बंधैरन्यादृशैश्चतुर्विधैः । प्रकृत्याद्यैर्मृतिर्यानुराद्यन्तमरणं हि तत् ।।२६७४।।
मायामिथ्यानिदानाद्यैः शल्यैः सार्द्धं कषायिणाम् । यत्प्राणमोचनं निंद्यं सशल्यमरणं हि तत् ।।

अर्थ—पहले भव में जैसे प्रकृति स्थिति आदि कर्मों का बंध किया था उससे भिन्न प्रकृति स्थिति आदि कर्म प्रकृतियों का बंध कर जो मरण करता है उस मरणको आद्यंत मरण कहते हैं । कषायों को धारण करनेवाले जीव माया, मिथ्या, निदान इन तीनों शल्यों के साथ-साथ जो प्राण त्याग करते हैं उसको निंद्य सशल्यमरण कहते हैं । ।।२६७४-२६७५।।

गृध्रपृष्ठ मरण एवं जिघ्रासमरण का स्वरूप—

मृत्यु र्यः क्रियतेहस्तिकलेवरादिषुक्वचित् । प्रविश्य प्राणिभिर्गृध्रपृष्टाख्यंमरणंखुतत् ।।२६७६।।
स्वस्यस्वेनदुराचारैः कृत्वा घ्राणनिरोधनम् । क्रियतेस्वात्मघातो यो जिघ्रासमरणं हि तत् ।।७७।।

अर्थ—हाथी आदि पशुओं के कलेवरों में प्रवेश कर जो प्राणी मर जाते हैं उसको गृध्रपृष्ठमरण कहते हैं। जो मनुष्य अपने ही दुराचारों से स्वयं सांस रोक कर आत्मघात कर लेते हैं उसको जिघ्रासमरण कहते हैं ।।२६७६-२६७७।।

व्युत्स्टष्टमरण एवं वलाकामरण का स्वरूप—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयंमुक्त्वाशठात्मभिः । विधीयतेमृतिर्यात्रव्युत्सृष्टमरणं च तत् ।।२६७८।।
पार्श्वस्थेनात्र्यत्प्राणमोचनंशिथिलात्मनाम् । दीक्षितानांदुराचारैर्वलाकामरण हि तत् ।।२६७९।।

अर्थ—जो मूर्ख सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नत्रयों को छोड़कर मर जाते हैं उसको व्युत्स्टष्टमरण कहते हैं। शिथिल आचरणों को धारण करनेवाले दीक्षित मुनि अपने दुराचरण के कारण प्राण त्याग करते हैं अथवा पार्श्वस्थ आदि पांच प्रकार के त्याज्य मुनि जो प्राण त्याग कर करते हैं उसको वलाकामरण कहते हैं ।।२६७८-२६७९।।

संक्लेश मरण एवं बालबाल मरण का स्वरूप—

दृग्ज्ञानचरणाचारेषुसंक्लेशं विधाय यः । मृत्युस्तपस्विनां चित्तेसंक्लिश्यमरण खु तत् ।।२६८०।।
सम्यग्ज्ञानव्रताचाराद‍ृते प्राणविसर्जनम् । मिथ्यादृशां हि यद्बालबालाख्यंमरणं च तत् ।।२६८१।।

अर्थ—अपने हृदय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में वा अपने आचरणों में संक्लेश उत्पन्न कर जो तपस्वियों की मृत्यु होती है उसको संक्लेशमरण कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से रहित मिथ्यादृष्टियों की जो मृत्यु होती है उसको बालबालमरण कहते हैं ।।२६८०-२६८१।।

बालमरण का स्वरूप—

दृग्ज्ञाने सति सद्दृष्टेर्योल्पेतरव्रताद्विना । शिशोरिववपुस्त्यागस्तद्बालमरणाह्वयम् ।।२६८२।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुष सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के रहते हुए भी अणुव्रत वा महाव्रतों के बिना बच्चे के समान जो मृत्यु को प्राप्त होते हैं उसको बालमरण कहते हैं ।।२६८२।।

बालपण्डित मरण का स्वरूप—

स्थावरध्वंसनाद्यैर्यें सूक्ष्मपंचाद्यवर्तनैः । बालास्त्रसांगिरक्षाद्यैः स्थूलपंचाघवर्जनैः ।।२६८३।।
पण्डिताःश्रावकाश्चात्रप्रोच्यन्ते बालपण्डिताः । अणुव्रत जुषां तेषांमरणं बालपण्डितम् ।।२६८४।।

अर्थ—श्रावक लोग स्थावर जीवों की हिंसा सूक्ष्म मिथ्याभाषण आदि सूक्ष्मरूप से पांचों पापों की प्रवृत्ति करने के कारण बालक कहलाते हैं तथा त्रस जीवों की रक्षा करते हैं, स्थूल मिथ्याभाषण का त्याग करते हैं, इसप्रकार स्थूल रीति से पांचों पापों का त्याग कर देते हैं, इसलिये वे पंडित कहलाते हैं। इसप्रकार वे श्रावक बालपंडित कहलाते हैं, उन अणुव्रत धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि श्रावकों का जो मरण है उसको बालपंडितमरण कहते हैं ।।२६८३-२६८४।।

भक्त प्रत्याख्यान एवं इंगिनीमरण का स्वरूप —

यद्भुक्ताहारपानादींस्त्यक्त्वास्वस्यप्रतिज्ञया । प्राणोज्झनं च सा भक्तप्रत्याख्यानाह्वयामृतिः ।।८५।।
आत्मनोत्रेंगिताकारेणाभिप्रायेणयोगिभिः । साध्वते मरणं यत्तदिंगिणीमरणं हि तत् ।।२६८६।।

अर्थ—जो मुनि प्रतिज्ञापूर्वक चारों प्रकार के आहार का त्याग कर प्राण त्याग करता है उसको भक्तप्रत्याख्यान नामका मरण कहते हैं। जो योगी अपने आत्मा के इशारे से आत्मा के अभिप्राय के अनुसार अपने मरण को सिद्ध कर लेते हैं उसको इंगिनीमरण कहते हैं ।।२६८५-२६८६।।

प्रायोपगमन मरण का स्वरूप—

प्रायेणोपगमं कृत्वा जना स्थानाद्वनान्तरे । पापाद्वैकाकिनाधीरयमिनायच्चभाव्यते ।।२६८७।।
मरणंस्ववपुःक्षिप्त्वा ह्येकस्मिन्नचलासने । कस्मिश्चिन्मरणं तत्स्यात्प्रायोपगमनाह्वयम् ।।८८।।

अर्थ—जो धीर वीर एकाकी मुनि पापरूप मनुष्यों के स्थान को छोड़कर प्रायः निर्जन वनमें चले जाते हैं और अपने शरीर को किसी एक ही निश्चल आसन से विराजमान कर उस शरीर का त्याग कर देते हैं उसको प्रायोपगमन मरण कहते हैं। ।।२६८७ २६८८।।

पण्डित मरण के भेद एवं उसके स्वामी कौन ?

भक्तोज्झनादिनामानोमृत्युभेदास्त्रयोप्यमी । ज्ञेया पण्डितमृत्योश्चप्रमत्तादिमहात्मनाम् ।।२६८९।।

अर्थ—भक्तप्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन मरण ये तीनों मरण पंडितमरण के भेद हैं और प्रमत्तसंयमी वा अप्रमत्तसंयमियों के होते हैं ।२६८९।।

पण्डित पण्डित मरण का स्वरूप—

त्यक्त्वा केवलिनां प्राणानूगमनंयच्छिवालये। मरणंतज्जगज्ज्येष्टं वंद्यं पण्डितपण्डितम् ।।२६९०।।

अर्थ—केवली भगवान जो अपने शरीर को छोड़कर मोक्ष के लिये गमन करते हैं, वह तीनों लोकों में उत्तम और वंदनीय पंडित पंडितमरण कहलाता है। ।।२६९०।।

सैकड़ों जन्म को नष्ट करनेवाले पण्डित मरण की प्रेरणा—

अमीषां मरणानां च मध्ये यत्पण्डिताह्वयम् । मरणं क्षपक त्वं सत्साधयात्रातियत्नतः ।।२६९१।।
साधितं मरणं ह्येकंपण्डिताख्यप्रयत्नतः । बहुजन्मशतादीनिक्षपकाणां छिनत्त्यहो ।।२६९२।।

अर्थ—हे क्षपक ! इन सब मरणों में जो पंडितमरण है उसी को तू प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर । यदि यह एक पंडितमरण ही प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लिया जायगा तो उससे उस क्षपक के अनेक सैकड़ों जन्म-मरण क्षणभर में नष्ट हो जायेंगे ।।२६९१-२६९२।।

कैसे मरण युक्त मरण करना चाहिये ?

अतःसन्मरणेनात्र मर्तव्यं तेन धीधनैः । येनोत्पत्तिः पुन र्न स्याज्जन्ममृत्युजराविधा ।।२६९३।।

अर्थ—अतएव बुद्धिमानों को श्रेष्ठ मरण से ही मरना चाहिये जिससे कि जन्म-मरण और बुढ़ापे को उत्पन्न करनेवाला जन्म फिर कभी न हो ।।२६९३।।

कैसे जीव समाधिमरण रहित मरण करते हैं—

ये प्रणष्टमतिज्ञानाश्चतुःसंज्ञाविडंबिताः । कौटिल्यपरिणामाश्चमोहारिग्रसिताःशठाः ।।२६९४।।
कषायाकुलचेतस्काः सनिदानादृगुज्झिताः । आर्तरौद्रत्रिदुर्लेश्याः शुभध्यानातिगा नराः ।।२६९५।।
असमाधिहृदा क्लेशेनम्रियन्ते समाधिना । आराधके न ते प्रोक्तामृतौ ससृतिवर्द्धनात् ।।२६९६।।

अर्थ— जिन जीवों का मतिज्ञान नष्ट हो गया है, जो आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चारों संज्ञाओंसे विडंवित हैं, जिनके परिणाम कुटिल रहते हैं, जो मोहरूपी शत्रु से दबे हुये हैं, जो मूर्ख हैं, जिनके हृदय कषाय से आकुलित रहते हैं, जो सदा निदान करते रहते हैं, जो सम्यग्दर्शन से रहित हैं, जो आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानमें लीन रहते हैं, पहिली तीन अशुभलेश्याओं को धारण करते हैं, जो शुभध्यान से बहुत दूर रहते हैं और जिनके हृदय में कभी भी समाधि को स्थान नहीं मिलता ऐसे लोग बिना समाधिमरण के केवल क्लेशपूर्वक ही मरते हैं । इसलिये आराधना करनेवालों को मरण

के समय इन सबका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि ये सब जन्म मरणरूप संसार को बढ़ाने वाले हैं ।।२६९४-२६९६।।

कौन जीव देव दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं—

मरणेनष्टबुद्धीनांविराधितेसतिस्फुटम् । देवदुर्गतयोनूनंभवन्त्यात्रशुभाकरा: ।२६९७।।

अर्थ—नष्ट बुद्धि को धारण करनेवाले जो लोग अपने मरण की विराधना कर देते हैं वे जीव महा पाप की खानि ऐसी देव दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं ।।२६९७।।

रत्नत्रय की प्राप्ति इस लोक में दुर्लभ है—

बोधिसम्यक्त्वमत्यन्तदुर्लभं भवकोटिभिः। आगमिष्यति कालेह्यनन्तादुर्भवपद्धतिः ।।२६९८।।

अर्थ—इस लोक में रत्नत्रय और सम्यक्त्व का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है, करोड़ों भवों में भी प्राप्त नहीं होता यदि प्राप्त होता है तो काललब्धि के अनुसार प्राप्त होता है। तथा नीच जन्मों की परम्परा अनंतबार प्राप्त होती चली आ रही है ।।२६९८।।

देव दुर्गति आदि क्या है, शिष्य ऐसा प्रश्न करता है—

देवदुर्गतयः काश्च का बोधिर्मरणं हृदा। विनश्यतिमुमुक्षर्णांकीदृशेन भवोभवेत् ।।२६९९।।
अनन्तः केनशिष्येणपृष्टः सूरिरितिस्फुटम् । उवाच देवदुर्गत्यादिकं सर्वं तदीहितम् ।।२७००।।

अर्थ—यहांपर कोई शिष्य अपने आचार्य से पूछता है कि हे प्रभो ! देव दुर्गति क्या है ? रत्नत्रय किसको कहते हैं ? मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंका मरण कैसे हृदय से नष्ट हो जाता है जिससे कि उसको अनंत संसार की प्राप्ति होती है। इसके उत्तर में आचार्य उस शिष्य की इच्छानुसार देव दुर्गति आदि का स्वरूप कहते हैं ।।२६९९-२७००।।

देव दुर्गति एवं उसमें उत्पन्न जीव का स्वरूप—

कंदर्पमाभियोग्यं च कैल्विष्यं किल्विषाकरम् । स्वमोहत्वतथैवासुरन्वमेतैः कुलक्षणैः ।।२७०१।।
सम्पन्नादुर्द्धियोमृत्वागच्छन्ति देवदुर्गतिः । कंदर्पाद्याइति प्रोक्ता नीचयोनिभवादिवि ।।२७०२।।

अर्थ—जो मूर्ख कंदर्प जाति के कुलक्षणों को, अभियोग्य जाति के कुलक्षणों को, पापकी खानि ऐसे किल्विष रूप कुलक्षणोंको, स्वमोहत्व और असुर रूप कुलक्षणोंको धारण कर मरते हैं वे देव दुर्गतिमें उत्पन्न होते हैं। स्वर्गों में कंदर्प आदि नीच योनि में उत्पन्न होनेवाले जो देव हैं उन्हीं की गति को देव दुर्गति कहते हैं ।।२७०१-२७०२।।

कैसे पाखण्डी साधु कंदर्पमय क्रिया करनेवाले देव होते है—

असत्यं यो ब्रुवन् हास्यसरागवचनादिकान् । कन्दर्पोद्दीपकाँल्लोकेकंदर्परतिरंजितः ।।२७०३।।
कन्दर्पाःसन्तिदेवा ये नग्नाचार्याः सुरालये । कंदर्पकर्मभिस्तेषुह्य् त्पद्यतेसतत्समः ।।२७०४।।

अर्थ— जो साधु होकर भी असत्य वचन बोलते हैं, हंसी ठट्ठा के वचन कहते हैं, राग बढ़ाने वाले वचन कहते हैं, कामदेव को बढ़ाने वाले उत्तेजित करनेवाले वचन कहते हैं और जो कामसेवन में लीन हो जाते हैं, ऐसे जीव मरकर स्वर्ग में कंदर्प जाति के देव होते हैं वहां पर भी वे काम को बढ़ाने वाली क्रियाएं ही करते रहते हैं । इस प्रकार कंदर्पमय क्रियाओं के करने से वे पाखंडी स्वर्ग में भी वैसे ही कंदर्पमय क्रियाएं करनेवाले होते हैं । ऐसे देवों को नानाचार्य भी कहते हैं ।।२७०३-२७०४।।

कैसे साधु वाहन जाति के देव बनते हैं—

मंत्रतंत्रादिकर्माणि यो विधत्ते बहूनि च । ज्योतिष्कभेषजादीनिपराकार्याशुभानि च ।।२७०५।।
हास्यकौतूहलादीनि करोतिस्वेच्छया वदेत् । हस्त्यश्ववाहनेष्वत्र जायते सोमरोधमः ।।२७०६।।

अर्थ—जो मनुष्य साधु होकर भी मंत्र तंत्र आदि अनेक कार्यों को करता है, ज्योतिष्क वा वैद्यक करता है तथा ऐसे ही ऐसे और भी बहुत से अशुभ कार्य करता है, हंसी करता है, कौतूहल तमाशे आदि करता है और इच्छानुसार चाहे जो बोलता है, वह मर कर हाथी, घोड़ा आदि बनने वाले वाहन जाति के नीच देवों में उत्पन्न होता है ।।२७०५-२७०६।।

कैसा आचरण करने से साधु मरकर किल्विष जाति के देवों में उत्पन्न होता है—

तीर्थंकृतां च संघस्य चैत्यचैत्यालयस्य च । आगमस्याविनीतो यः प्रत्यनीकः सुधर्मिणाम् ।२७०७।
मायावीकिल्विषाक्रान्तः किल्विषादि कुकर्मभिः । स किल्विषसुरो नीचो भवेत्किल्विष जातिषु ।।

अर्थ— जो तीर्थंकरों की अविनय करता है, संघ की अविनय करता है, चैत्य चैत्यालयों की अविनय करता है, आगम की अविनय करता है, धर्मात्माओं के प्रतिकूल रहता है, जो मायाचारी है और महापापी है वह अपने महापापों के कारण किल्विष जाति के देवों में नीच किल्विष देव होता है ।।२७०७-२७०८।।

कैसे साधु मरकर नीच व मोह जाति में उत्पन होते हैं—

उन्मार्गदेशको योऽत्र जिनमार्गविनाशकः । सन्मार्गाद्विपरीतोऽत्र दृष्टहीनः कुमार्गगः ।।२७०९।।
मिथ्यामायादिमोहेन मोहयन्मोहपीडितः । जायते स स्वमोहेषुस्वभंडामरजातिषु ।।२७१०।।

अर्थ—जो साधु कुमार्ग का उपदेश देता है, जिनमार्गका नाश करता है, श्रेष्ठ मोक्षमार्ग से सदा विपरीत रहता है, जो सम्यग्दर्शन से रहित है, कुमार्गगामी है, जो मिथ्यात्व मायाचारी आदि तीव्रमोह से मोहित है, जो तीव्रमोह के कारण अत्यंत दुःखी है वे स्वच्छन्द देवों में उत्पन्न होते हैं। देवों की स्वभंड नामकी नीच जाति में स्वमोह वा श्वमोह (कुत्ते के समान इधर-उधर स्वच्छंद फिरने वाले) देव होते हैं ।।२७०९-२७१०।।

अम्बावरीष जाति में एवं असुरकुमारों में कैसे कर्म वाले साधु उत्पन्न होते हैं—

क्षुद्रः क्रोधीखलोमानीमायावीदुर्जनोयतिः । युक्तोनुबद्धवैरेणतपश्चारित्रकर्मसु ।।२७११।।
संक्लिष्टसनिदानो यः उत्पद्यतेऽघकर्मणा । रौद्रासुरकुमारेषुसोम्बरादि कुजातिषु ।।२७१२।।

अर्थ—जो साधु क्षुद्र हैं, क्रोधी हैं, दुष्ट हैं, अभिमानी हैं, मायाचारी हैं, दुर्जन हैं, जो पहले जन्म के वा इसी भव के पहले वैरभावों को धारण करते हैं जो तपश्चरण और चारित्र की क्रियाओं में संक्लेशता धारण करते हैं और जो निदान करते रहते हैं वे पापरूप कर्मों के कारण अंबावरीष जाति के नीच और रौद्र असुरकुमारों में उत्पन्न होते हैं ।।२७११-२७१२।।

रत्नत्रय की प्राप्ति कैसे साधु को दुर्लभ है—

मिथ्यादर्शनरक्ता ये सनिदानाः कुमार्गगा । कृष्णलेश्योद्धतारौद्रपरिणामागुणातिगः ।।२७१३।।
त्यक्त्वा सद्दर्शनंसंक्लेश्यान्मृयन्तेसमाधिना । संसारे भ्रमतां तेषां बोधिश्चातीवदुर्लभा ।।२७१४।।

अर्थ—जो जीव मिथ्यादर्शन में लीन रहते हैं, जो सदा निदान करते रहते हैं जो कुमार्गगामी हैं, कृष्णलेश्या को धारण करने के कारण जो अत्यन्त उद्धत रहते हैं, जो रौद्र परिणामों को धारण करते हैं और गुणों से सर्वथा दूर रहते हैं, ऐसे जो जीव सम्यग्दर्शन को छोड़कर बिना समाधि के संक्लेश परिणामों से मरते वे जीव सदा इस संसार में परिभ्रमण किया करते हैं। उनको रत्नत्रय की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ हो जाती है ।।२७१३-२७१४।।

रत्नत्रय की प्राप्ति दूसरे भव में भी कैसे जीवों को सुलभ है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्ना अनिदानाः शुभाशयाः । शुक्ललेश्याः शुभध्यानरताः सिद्धान्तवेदिनः ।।१५।।
धर्मध्यानादिसन्यासैर्येमृयन्तेसमाधिना । तेषामासन्नभव्यानांसुलभावोधिरुत्तमा ।।२७१६।।

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं, कभी निदान नहीं करते, जिनका हृदय

शुद्ध है, जो शुक्ललेश्या धारण करते हैं, शुभध्यान में सदा लीन रहते हैं और सिद्धांत-शास्त्रों को जानते हैं, ऐसे जो मुनि समाधि पूर्वक धर्मध्यान वा शुक्लध्यान धारण कर सन्यास से मरण करते हैं उन आसन्न भव्य जीवों के उत्तम रत्नत्रय की प्राप्ति अत्यन्त सुलभ रीति से हो जाती है ।।२७१५-२७१६।।

कैसे जीव अनन्त संसार में भ्रमण करते हैं—

गुरूणांप्रत्यनीका ये दीर्घमिथ्यात्ववासिताः । महुमोहावृतादुष्टा आर्तरौद्रपरायणाः ।।२७१७।।
मदोद्धताः कुशीलाश्चमृयन्तेऽत्रासमाधिना । स्युस्तेह्यनन्तसंसारा विश्वदुःखशताकुलाः ।।२७१८।।

अर्थ—जो जीव आचार्य वा गुरु से सदा प्रतिकूल रहते हैं, जो दीर्घमिथ्यात्व को धारण करते हैं, जो तीव्र मोंह से घिरे हुए हैं, जो दुष्ट हैं, आर्तरौद्र परिणामों को धारण करते हैं, मद से मदोंन्मत्त हैं, जो कुशीली हैं, ऐसे जीव बिना समाधि के मर कर अनंत संसार में परिभ्रमण किया करते हैं और सब तरह के सैकड़ों महा दुःखों से व्याकुल रहते हैं ।।२७१७-२७१८।।

कैसे जीव संसार से शीघ्र पार हो जाते हैं—

जिनवाक्यनुरक्ता ये गुरूणां भक्तितत्पराः । शुद्धभावाः सदाचारा रत्नत्रयविभूषिताः ।।२७१९।।
गुर्वाज्ञापालकुदिक्षा धर्मध्यानसमाधिना । उत्तमं मरणं यान्ति स्युस्ते संसारपारगाः ।।२७२०।।

अर्थ—जो जीव जिनवाणी में सदा अनुरक्त रहते हैं, गुरुओं की भक्ति करने में तत्पर रहते हैं, शुद्ध भावों को धारण करते हैं, सदाचार पालन करते हैं, रत्नत्रय से सुशोभित हैं, गुरु की आज्ञा को सदा पालन करते रहते हैं और जो चतुर हैं, ऐसे जीव धर्मध्यान और समाधि पूर्वक उत्तम मरण को प्राप्त होते हैं और शीघ्र ही संसार से पार हो जाते हैं ।।२७१९-२७२०।।

दुर्मरण से मरने का फल—

बालबालाशुभान्मृत्युन्मरिष्यन्तिबहूंश्च ते । जिनवाक्यं न जानन्ति वराका येंऽघवंचिताः ।।२१।।
स्वान्यशस्त्रादिघातेनविषादिभक्षणेन च । जलानलप्रवेशाभ्यामनाचारादिकोटिभिः ।।२७२२।।
उच्छ्वासरोधनाद्यैर्येंदुमृंतिस्वस्यकुर्वते । जन्ममृत्युजरादुःखौघस्तेषां वर्द्धतेतराम् ।।२७२३।।

अर्थ—जो जीव अनेक बार अत्यन्त अशुभ ऐसे बालबालमरण से मरते हैं, जो जिनवचनों को जानते ही नहीं, जो नीच हैं, पाप से ठगे हुए हैं, जो अपने ही शस्त्र से वा दूसरे के शस्त्र घातसे मरते हैं वा विषभक्षण से मरते हैं, जलमें डूबकर वा अग्नि

में जलकर मरते हैं वा करोड़ों अनाचारों के कारण श्वास रोक कर मरते हैं, इसप्रकार जो दुर्मरण से मरते हैं, उनके जन्म-मरण-जरा आदि अनेक दुःखों के समूह निरंतर बढ़ते रहते हैं ।।२७२१-२७२३।।

आचार्य क्षपक को बालबालमरण का स्वरूप उसके त्याग हेतु समझाते हुये पंडितमरण की प्रेरणा—

उद्वेगभयसंक्लेशैरूर्ध्वाधस्त्रिजगत्स्वपि । त्रिसस्थावर जीवेषु पराधीनतया त्वया ।।२७२४।।
मरणानि ह्यनन्तानिबालबालाशुभानि च । अन्यैः प्राप्तानि च सर्वैरक्षांधैर्वोधिदूरगैः ।।२७२५।।

अर्थ—हे क्षपक ! इस ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक रूप तीनों लोकों में तथा त्रसस्थावर आदि अनेक जीव योनियों में पराधीन होकर उद्वेग भय और संक्लेश रूप परिणामों से अनंतबार अशुभ बालबालमरण किये हैं तथा इसीप्रकार रत्नत्रय से रहित और जीवों की रक्षा करने में अंधे ऐसे अन्य समस्त जीवों ने अनंतबार बालबालमरण किये हैं ।।२७२४-२७२५।।

क्षपक त्रियोगशुद्धि पूर्वक ४ आराधना की शुद्धि करता है—

ज्ञात्वेति क्षपकेह त्वं मृयस्वाखिलयत्नतः । पण्डितेनमुदायेनमृत्युघ्नश्चभविध्वंसि ।।२७२६।।
इत्याचार्योपदेशेन योग्यंस्थाने मठादिके । समाधिसिद्धये युक्त्यासंस्तरं स प्रपद्यते ।।२७२७।।

अर्थ—यही समझकर हे क्षपक तू प्रसन्न होकर प्रयत्न पूर्वक पंडितमरण से मर जिससे कि तेरा जन्ममरण सदा के लिये नष्ट हो जाय । इसप्रकार आचार्य का उपदेश सुनकर वह क्षपक अपनी समाधि धारण करने के लिये युक्तिपूर्वक किसी मठ आदि योग्य स्थान में अपने बनाये हुये सांथरे पर पहुंचता है ।।२७२६-२७२७।।

क्षपक ४ आराधना की शुद्धिं एवं धारण करने के लिये कैसा चिंतवन करता है—

तदैवाराधनाशुद्धीश्चतुर्विधादृगादिकाः । मनोवाक्कायसंशुद्धया कर्तुमारभतेसुधीः ।।२७२८।।
शंकादिदोषदूरस्थाः सद्गुणाष्टविभूषिताः । धर्मरत्नखनीमेस्तु दृग्विशुद्धिर्दृढापरा ।।२७२९।।
सर्वज्ञध्वनिसम्भूतास्वांगपूर्वादिगोचरा । शुद्धया भवतुमेज्ञानाराधनाचारपूर्विका ।।२७३०।।
त्रयोदशविधा पूर्णा व्रतैः समितिगुप्तिभिः । सर्वैः दोषातिगा चास्तुचारित्राराधनामम् ।।२७३१।।
समस्तेच्छानिरोधोत्थां तपः आराधनांपराम् । उग्रोग्राख्यां द्विषड्भेदां कुर्वेहं कर्महानये ।।२७३२।।

अर्थ—तदनंतर वह बुद्धिमान मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक सम्यग्दर्शन आदि चारों प्रकार की आराधनाओं की शुद्धि करना प्रारंभ करता है । वह चिंतवन करता है कि शंकादिक दोषों से रहित तथा निःशंकित आदि आठों गुणों से सुशोभित

और धर्मरत्न की खानि ऐसी सम्यग्दर्शन की विशुद्धि मेरी सदा उत्कृष्ट और दृढ़ बनी रहे। जो ज्ञानाराधना भगवान सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि से प्रगट हुई है, जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्वके गोचर है ऐसी आचार पूर्वक मेरी ज्ञानाराधना सदा शुद्धि बनी रहे। पांच महाव्रत तीनगुप्ति और पांच समितियों से परिपूर्ण ऐसी तेरह प्रकार की मेरी चारित्राराधना समस्त दोषों से रहित हो। मैं अपने कर्म नष्ट करने के लिये समस्त इच्छाओं के निरोध करने से उत्पन्न हुई तथा घोर वा उग्र उग्र रूप को धारण करने वाली और बारह प्रकार के भेदों से सुशोभित ऐसी तप आराधना को धारण करूंगा। ।।२७२८-२७३२।।

पुनः क्षपक ४ महा आराधना को धारण करता है—

आराधनाइमासारामहतीश्चचतुर्विधाः। सर्वोत्कृष्टाः करोत्येष विशुद्धामुक्तिमातृकाः ।।२७३३।।

अर्थ—इसप्रकार चिंतवन करता हुआ वह क्षपक मोक्ष की इच्छा देनेवाली, अत्यन्त विशुद्ध, सर्वोत्कृष्ट और सारभूत ऐसी इन चारों प्रकार की महा आराधनाओं को धारण करता है ।।२७३३।।

क्षपक पुनः कषाय एवं काय का सल्लेखना करता है—

तथाकषायकायाभ्यां द्विधासल्लेखनां कृती। विधत्ते भुवि निःशल्यः क्षमातेषादिभिः परैः ।।३४।।

अर्थ—तदनंतर शल्यरहित वह बुद्धिमान् वह क्षपक क्षमा संतोष आदि श्रेष्ठ गुणों को धारण कर कषाय और काय दोनों की सल्लेखना करता है अर्थात् कषायों को घटाता है और शरीर से ममत्व का त्याग करता है ।।२७३४।।

कषाय सल्लेखना करने की विधि—

आदौ कुर्यात्कषायाणां परां सल्लेखनामिति। क्षमेहं विश्वजीवानामपराधंकिलांजसा ।।२७३५।।
कृतं मयापराधं मे क्षम्यतांत्रिजगज्जनाः। सर्वभूतेषु मैत्री च ममास्तुसुखकारिणी ।।२७३६।।

अर्थ—वह क्षपक सबसे पहले कषायों की सल्लेखना करता है वह कहता है कि मैं समस्त जीवों के अपराध को क्षमा करता हूं तथा मुझसे जो अपराध बने हों, उनको तीनों लोकों के समस्त जीव क्षमा कर देवें। तथा सुख देनेवाली मेरी मैत्री समस्त जीवों में हो ।।२७३५-२७३६।।

पुनः क्षपक सम्पूर्ण विकारों का त्याग पूर्वक समस्त पदार्थों में निर्ममत्व भाव धारण करता है—

गुणानुरागएवालं न वैरं केनचित्समम्। रागं कषायसम्बन्धं प्रद्वेषंहर्षमंजसा ।।२७३७।।

दीनभावं भयं शोकं सोत्सुकत्वं कुचिन्तनम् । कालुष्यं कृत्स्नदुर्ध्यानंस्नेहं रत्यरतिद्वयम् ।।२७३८।।
जुगुप्सादिकमन्यद्वा त्रिशुद्धया व्युत्सृजाम्यहम् । सर्वभूतदयाचित्तः शत्रुमित्रादिवर्जितः ।।२७३९।।
ममत्वं निजदेहादौ जहामि सर्वथाखिलान् । निर्ममत्वं सदा चित्तेप्रकुर्वे त्रिजगत्स्वपि ।।२७४०।।

अर्थ—समस्त गुणों में मेरा अनुराग हो, मैं किसी के साथ बैरभाव नहीं रखता, मैं राग को, कषायों के संबंध को, द्वेष को, हर्ष को, दीनतारूप परिणामों को, भय, शोक को, उत्सुकता को, अशुभध्यान को, कलुषता को, सब तरह के दुर्ध्यान को, स्नेह को, रति तथा अरति को, जुगुप्सा को तथा और भी कर्म जन्य जो आत्मा के विकार हैं, उन सबका मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक त्याग कर देता हूं। मैं अपने हृदय में समस्त जीवों के लिये दया धारण करता हूं, तथा सबसे शत्रुता वा मित्रता का त्याग करता हूं। मैं अपने शरीर से भी ममत्व का सर्वथा त्याग करता हूं, मैं तीनों लोकों के समस्त पदार्थों में निर्ममत्व धारण करता हूं ।।२७३७-२७४०।।

क्षपक किस प्रकार का आत्म-चितवन करता है—

आत्मैकालम्बनंमेऽस्तुसार्द्धं दृगादिसद्गुणैः । तं बिना त्रिजगज्जालंसर्वंद्रव्यंत्यजाम्यहम् ।।२७४१।।
आत्मैव मे परं ज्ञानमात्मा क्षायिकदर्शनम् । आत्मा परमचारित्रंप्रत्याख्यानं च निर्मलम् ।२७४२।।
आत्मैव सकलो योग आत्मैवमोक्षसाधनः । यतोऽत्रैतेगुणाःसन्ति विनात्मानं न जातुचित् ।२७४३।
एकाकीम्रियते देही ह्येक उत्पद्यते विधेः । एको भ्रमति संसारे एकः शुद्धयति नीरजाः ।।२७४४।।
एको मे शाश्वतोऽत्रात्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः । शेषा मेंरागादयोभावा बाह्याः संयोगसम्भवाः ।।४५।।

अर्थ—अब मैं सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके साथ साथ एक आत्मा का ही आश्रय लेता हूं, उसके सिवाय तीनों लोकों में भरे हुए समस्त द्रव्यों का मैं त्याग करता हूं। मेरा यह आत्मा ही परम ज्ञान है, आत्मा ही क्षायिक सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही परम चारित्र है और आत्मा ही परम निर्मल प्रत्याख्यान है। मेरा यह आत्मा ही समस्त योग रूप है और यही आत्मा मोक्ष का साधन है। क्योंकि आत्मा में जितने गुण हैं वा मोक्ष के कारणभूत जितने गुण हैं वे बिना आत्मा के कभी हो ही नहीं सकते हैं। यह प्राणी इस संसार में कर्म के निमित्त से अकेला ही मरता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही परिभ्रमण करता है और कर्म रहित होकर अकेला ही शुद्ध होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानस्वरूप यह मेरा एक आत्मा ही नित्य है, बाकी के शरीरादिक जितने मेरे बाह्य भाव हैं वे सब मुझसे भिन्न हैं और सब कर्मादिक के संयोग से उत्पन्न हुए हैं ।।२७४१-२७४५।।

पुनः क्षपक संयोगों का त्याग करके निंदा पूर्वक प्रतिक्रमण करता है—

येनसंयोगमूलने प्राप्तादुःखपरंपरा । मया तं कर्मजंसर्वसंयोगं व्युत्सृजास्यहम् ।।२७४६।।
मूलोत्तरगुणादीनांमध्येनाराधितागुणः । यः कश्चित्तं त्रिधादोषं गर्हे प्रतिक्रमामि च ।।२७४७।।

अर्थ—जिस कर्म के संयोग से मुझे अनादि काल से आज तक दुःखों की परंपरा प्राप्त हुई है, उन कर्मों से उत्पन्न हुए समस्त संयोगों को मैं त्याग करता हूं । मूलगुण और उत्तरगुणों में जो कोई गुण मैंने आराधन न किया हो उस दोष की मैं मन-वचन-कायसे गर्हा करता हूं; निंदा करता हूं और उसके लिये प्रतिक्रमण करता हूं । ।।२७४६-२७४७।।

पुनः सात भयादि की निंदा करता है—

भयान् सप्तमदानष्टौ चतुः संज्ञास्त्रिगौरवान् । गर्हेहं च त्रयस्त्रिंशदासादना हि सर्वथा ।।२७४८।।

अर्थ—मैं सातों भयों की निंदा करता हूं, आठों मदों की निंदा करता हूं, चारों संज्ञाओं की निंदा करता हूं; तीनों गौरव वा अभिमानों की निंदा करता हूं और तेंतीस आसादनाओं की सर्वथा निंदा करता हूं ।।२७४८।।

पुनः सप्त भय एवं अष्ट मदों का त्याग करता है—

इहामुत्रभयोत्राणागुप्तिमृत्युभयानि च । वेदनाकस्मिकश्चैते जहामि भयसप्तकम् ।।२७४९।।
विज्ञानैश्वर्यमाज्ञा च कुलजातितपोबलाः । रूपं सत्सु गुणेष्वत्रैतेषु गच्छामि नो मदम् ।।२७५०।।

अर्थ—इस लोक का भय, परलोक का भय, अपनी रक्षा न होने का भय, अगुप्ति (नगर में परकोट के न होने) का भय, मृत्यु का भय, वेदना का भय और आकस्मिक भय ये सात भय हैं, मैं इन सातों भयों का त्याग करता हूं । ज्ञान का मद, ऐश्वर्य का मद, आज्ञा का मद, कुल का मद, जाति का मद, तप का मद, बल का मद और रूप का मद ये आठ मद हैं । मैं इन गुणों में होनेवाले सब मदों का त्याग करता हूं ।।२७४९-२७५०।।

क्षपक ३३ आसादनाओं के त्याग का संकल्प करता है—

पंचैवात्रास्तिकायाश्चषड्जीवजातयस्ततः । महाव्रतानिपंचप्रवचनस्याष्टमातरः ।।२७५१।।
पदार्था नव चोक्ता हि त्रयस्त्रिंशदितिस्फुटम् । आसादना जिने जातु मनाक् कार्यामया न भो ।५२।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने पांच अस्तिकाय, छह प्रकार के जीव, पांच महाव्रत, आठ प्रवचन मातृकाएं नो पदार्थ बतलाये हैं, इन सबकी संख्या तेंतीस होती

है इन तेंतीसों से संबंध रखना वा इनसे ममत्व रखना इनका तिरस्कार करना इनके निमित्त से रागद्वेष उत्पन्न करना तेंतीस आसादनाएं बतलाई हैं इन आसादनाओं का मैं रंचमात्र भी नहीं लगने दूंगा ।।२७५१-२७५२।।

कैसे ध्यान पूर्वक हृदय में सल्लेखना धारण करनी चाहिये—

निन्दनीयं च यत्किचित्सर्वंनिन्दामि तद्हृदि । गर्हणीयमकृत्यंयद्ग्रहेतद्गुरुसन्निधौ ।।२७५३।।
इत्याद्यन्यशुभध्यानैः कृत्वा सल्लेखनां यतिः ।।२७५४।।

अर्थ—इस संसार में जो कुछ निंदनीय है, उसकी मैं अपने हृदय में निंदा करता हूं तथा जो गर्हा करने योग्य दुष्कृत्य हैं उनकी मैं गुरु के समीप में गर्हा करता हूं। इसप्रकार के ध्यान से अथवा और भी शुभध्यानों से अपने हृदय में कषायों की सल्लेखना करनी चाहिये और फिर उस मुनि का काय की सल्लेखना करनी चाहिये। ।।२७५३-२७५४।।

क्षपक शरीर को कैसे कृश करें—

षष्टाष्टमादिपक्षैकमासाद्यनशनैः परैः । तपोभेदैर्द्विषड्भिश्चशोषयेत्क्रमतो वपुः ।।२७५५।।

अर्थ—बेला तेला करके वा पंद्रह दिन वा एक महिने का उपवास करके तथा और भी तपश्चरण के बारह भेदों को धारण करके अनुक्रम से अपने शरीर को कृश करना चाहिये ।।२७५५।।

किस क्रमसे क्षपक अन्नादिक का त्याग करता है—

ततस्त्यक्त्वाक्रमेणान्नंस्तोकस्तोकेनधर्मधीः । गृह्णाति केवलं नीरं धर्मध्यानसमाधये ।।२७५६।।
पश्चाद्युक्त्याम्बुपानं च परित्यज्यकरोति सः । परलोकोत्तमार्थाय ह्युपवासान्निरन्तरम् ।।५७।।

अर्थ—तदनंतर उस धर्मबुद्धि को धारण करनेवाले यति को धर्मध्यान और समाधि की प्राप्ति के लिये थोड़ा थोड़ा करके अन्न का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और केवल उष्ण जल रख लेना चाहिये। तदनंतर वह मुनि परलोक में उत्तम गति प्राप्त करने के लिये वा मोक्ष प्राप्त करने के लिये युक्तिपूर्वक जल पीने का भी त्याग कर देता है और फिर सदा के लिये उपवास धारण कर लेता है ।।२७५६-२७५७।।

किस विधि से क्षपक इन्द्रिय आदि का मुंडन करता है—

मुण्डनंदशमुण्डानां करोत्येषुसुयुक्तितः । संकोच्येन्द्रियवाक्कायमनोऽवयवचंचलात् ।।२७५८।।
स्वस्वाक्षविषयेष्वत्र व्रजतः पंचखात्मकान् । जित्वा शक्त्या स पंचेन्द्रियमुण्डान्कुरुतेबलात् ।।५९।।

मौनेन वचसः कृत्वामुण्डनंहस्तपादयोः । वपुषोरोधनंयुक्त्यास्वस्वेच्छाचलनाद्बुधः ।।२७६०।।
निरुध्यश्रुतपाशेन भ्रमन्तं चित्तमर्कटम् । पंचेति मुण्डनान्येषकरोति च शिवाप्तये ।।२७६१।।

अर्थ—तदनंतर वह क्षपक पांचों इन्द्रिय मन-वचन-काय और शरीर की चंचलता को छोड़कर युक्तिपूर्वक दस प्रकार का मुंडन धारण करता है । पांचों इन्द्रियां अपने अपने विषयों में दौड़ लगाती हैं उनको अपनी शक्तिके अनुसार जीतकर जबर्दस्ती पांचों इन्द्रियोंको मुंडन करता है । इसीप्रकार मौन धारण कर वचन का मुंडन करता है, हाथ पैरों की क्रियाओं को रोक कर हाथ पैरों का मुंडन करता है तथा वह बुद्धिमान अपनी इच्छानुसार चलायमान होनेवाले शरीर को रोक कर शरीर का मुंडन करता है । चारों ओर कूदते हुए इस मनरूपी बंदर को भी श्रुतज्ञान के जाल में बांध कर मनका मुंडन कर लेता है । इसप्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिये वह यति हाथ पैर शरीर मन और वचन इन पांचों का मुंडन करता है ।।२७५८-२७६१।।

मुंडन के भेद—

पंचेन्द्रियारिमुण्डास्त्रिमुण्डाहस्तांघ्रिकायजाः । मनो वचोद्विमुण्डौचामीमुण्डादशवर्णिताः ।२७६२।

अर्थ—पांचों इन्द्रियरूपी शत्रुओं का मुंडन, हाथ पैर और शरीर का मुंडन तथा मन और वचन का मुंडन इसप्रकार आचार्यों ने दश प्रकार का मुंडन बतलाया है ।।२७६२।।

किसका मुंडन व्यर्थ है—

अमीभिर्मुण्डनै र्दीक्षासफलामुक्तिदा सताम् । एभिर्विनाजिताक्षाणांशिरसोमुण्डनं वृथा ।।२७६३।।

अर्थ—सज्जन पुरुषों की मोक्ष देनेवाली दीक्षा इन्हीं दश मुंडनों से सफल मानी जाती है । इन मुंडनों के बिना इन्द्रियों को न जीतने वाले लोगों के मस्तक का मुंडन करना व्यर्थ ही है ।।२७६३।।

अधिक भूखादि की वेदना होनेपर क्षपक किस प्रकार चिंतवन करता है—

तस्मिन्बहूपवासानां करणेतीव्रवेदना । क्षुधाद्यैर्यदि जायेत तदेतिचिन्तयेत्सुधीः ।।२७६४।।
अहोक्षुद्वेदनाश्वभ्रे साध्याविश्वान्नभक्षणः । अब्धिनीरैस्तृषा पीडाचानुभुतामयाचिरम् ।।२७६५।।
मयात्रारण्यशैलादौ मृगादिपशुजातिषु । मृगतृष्णादिभिः प्राप्ता तीव्राक्षुत्तृट्कुवेदना ।।२७६६।।
इत्याद्या अपरा घोराः क्षुत्तृषादिपरीषहाः । भ्रमतात्रभवारण्येनुभूता दुस्सहा मया ।।२७६७।।
सर्वा पुद्गलराशिश्चान्नाद्यात्रभक्षिता मया । क्षुत्तृषाशान्तयेपीतमब्ध्यम्बोरधिकं जलम् ।।२७६८।।
तथापि न मनागासीत्तृप्तिर्मेन्नादिभक्षणैः । किन्तुनित्यंप्रवर्द्धेते तीव्र क्षुत्तृट्कुवेदने ।।२७६९।।

अर्थ—इसप्रकार उपवास धारण करने से यदि भूख प्यास की वेदना अधिक होती हो तो उस बुद्धिमान् क्षपकको भी नीचे लिखे अनुसार चिंतवन करना चाहिये। देखो मैंने नरकों में भूख की इतनी महा वेदना सहन की है कि यदि उस समय तीनों लोकों का समस्त अन्न खाने को मिल जाता तो भी वह भूख नहीं मिटती तथा वहीं पर प्यास की भी इतनी वेदना सही है कि यदि तीनों लोकों के समुद्रों का जल भी पीने को मिल जाता तो वह प्यास नहीं मिटती। इसीप्रकार जंगल और पर्वतों पर हिरण आदि पशुओं की पर्याय मृगतृष्णा के द्वारा अत्यन्त तीव्र भूख और प्यास की वेदना सहन की है। इस संसाररूपी वनमें परिभ्रमण करते हुए मैंने इनके सिवाय और भी भूख प्यास की असह्य और घोर वेदनाएं वा परीषहें सहन की है। अनादि कालसे परिभ्रमण करते हुए मैंने भूख की वेदना मिटा देने के लिये अन्न की समस्त पुद्‌गल राशि भक्षण करली है तथा प्यास की वेदना मिटाने के लिये समुद्रों के जल से भी अधिक जल पी डाला है। तथापि इस अन्न जल के भक्षण करने से रंचमात्र भी मेरी तृप्ति नहीं हुई है, किंतु ये भूख प्यासकी दोनों कुवेदनाएं प्रतिदिन बढ़ती ही जातो हैं ॥२७६४-२७६९॥

काम भोग अतृप्तकारी हैं नरकादि गति के कारण हैं—

यथेन्धनचयैरग्निः समुद्रश्च नदीशतैः। तृप्तिं नेति तथा जीवः कामभोगैः प्रमातिगैः ॥२७७०॥
कांक्षितो मूर्च्छितो रोगी कामभोगैश्चमानसे। नित्यं कलुषितोभूतो भुंजानोऽपिकुमार्गगः ॥७१॥
भोगान् दुष्परिणामेनश्वभ्रदुःखनिबन्धनम्। दुरन्तं पापसन्तापंबध्नाति केवलं वृथा ॥२७७२॥

अर्थ—जिसप्रकार इंधन के समूहसे अग्नि तृप्त नहीं होती और सैकड़ों नदियों से समुद्र तृप्त नहीं होता उसीप्रकार प्रमाण से अधिक काम भोगों का सेवन करनेपर भी यह जीव कभी तृप्त नहीं होता। यह जीव अपने मनमें काम भोगों के ही कारण अनेक पदार्थों की इच्छायें करता है, मूर्छित होता है, रोगी होता है तथा वह कुमार्गगामी भोगों को नहीं भोगता हुआ भी सदा कलुषित परिणामों को धारण करता है, उस कलुषितरूप अशुभ परिणामों के कारण व्यर्थ ही नरक के महा दुःखों के कारण और अत्यंत कठिन ऐसे अनेक पाप कर्मों का बंध करता है ॥२७७०-२७७२॥

कैसे मुनि धन्य हैं—

आहारस्य निमित्तेन नरकं यान्ति सप्तमम्। मत्स्यायदि ततो नूनमाहारोनथसागरः ॥२७७३॥
पूर्वं कृततपोभ्यासश्चानिदानः शिवाप्तये। पश्चाद्धूतकषायो यो जित्वासर्वान् परीषहान् ॥७४॥
क्षुत्तृषादिभवांस्तीव्रान् साधयेन्मरणोत्तमम्। धन्यःसएवलोकेऽस्मिन्सार्थंतस्यतपोखिलम् ॥७५॥

अर्थ—देखो इस आहार के ही निमित्त से बड़े-बड़े मत्स्य सातवें नरक तक पहुंचते हैं, इसलिये कहना चाहियें यह आहार ही अनेक अनर्थों का समुद्र है। जिन्होंने पहले बहुत से तपश्चरण का अभ्यास किया है तथा कभी निदान किया नहीं है और मोक्ष प्राप्त करने के लिये जिन्होंने कषायों को नष्ट कर भूख प्यास आदि से होनेवाली समस्त तीव्र परीषहों का सहन किया है तथा अंत में जिन्होंने उत्तम पंडितमरण सिद्ध कर लिया है वे ही मुनि इस संसार में धन्य हैं और उन्हीं का समस्त तपश्चरण सार्थक है ।।२७७३-२७७५।।

कैसे मुनि संसार समुद्र में डूबते हैं—

पूर्वंकृततपोघोराः प्रतिपालितसद्व्रताः । पश्चात्कर्मगुरुत्वेनक्षुधाद्यंतिपरीषहैः ।।२७७६।।
ये पतन्तिरवधैर्यदिमृत्युकाले भवार्णवे । मज्जनंनिश्चितं तेषां वृथातपोयमादिकम् ।।२७७७।।

अर्थ—जिन्होंने पहले घोर तपश्चरण किये हैं और श्रेष्ठ व्रतों का अच्छी तरह पालन किया है, परंतु पीछे कर्मों के तीव्र उदय से क्षुधादिक कठिन परीषहों के कारण मरण के समय में अपने धैर्य से गिर जाते हैं वे इस संसाररूपी समुद्र में अवश्य डूबते हैं तथा उनका तप यम आदि सब व्यर्थ समझा जाता है ।।२७७६-२७७७।।

क्षपक क्षुधादि परीषहों को सहता है—

इत्यादिचिन्तनैरेषोत्रासेभ्यः शुद्धचेतसा । सहतेपरयाशक्त्याक्षुधातृषादिवेदनाम् ।।२७७८।।

अर्थ—इसप्रकार शुद्ध हृदय से चिंतवन करता हुआ वह यति कभी क्षुब्ध नहीं होता और अपनी परम शक्ति प्रगट कर क्षुधा तृषा आदि परीषहों को सहन करता है। ।।२७७८।।

क्षपक को पूर्व में किये गये भ्रमण के चिंतवन की प्रेरणा—

शुष्काधरोदरस्यास्यक्षीणगात्रस्ययोगिनः । चर्मास्थिमात्रशेषस्यकाठिन्यसंस्तरेण च ।।२७७९।।
उत्पद्यतेमहादुःखंयद्येषमानसे तदा । चिन्तयेत्प्राक्तनंस्वस्य भवभ्रमणमंजसा ।।२७८०।।

अर्थ—जिसके ओंठ पेट सब सूख रहे हैं, जिसका शरीर अत्यंत क्षीण हो रहा है और केवल हड्डी चमड़ा ही बाकी रह गया है, ऐसे उस क्षपक योगी को कठिन सांथरे का महा दुःख उत्पन्न होता है, उस समय उसको अपने हृदय में पहले किए हुए संसार के परिभ्रमण का चिंतवन करना चाहिये ।।२७७९-२७८०।।

किस प्रकार के चिंतवन से क्षपक संस्तर की वेदना को सहन करते हैं—

अहोजलस्थलाकाशेकटकादिभवाभुवि । प्राग्भवे वसता भुक्तामहतीवेदनामया ।।२७८१।।
वज्रकंटकसंकीर्णश्वभ्रे परवशेन भोः । स दुःखंवसितंपापच्चिरकालंमयविधेः ।।२७८२।।
कियन्मात्रा ततोत्रेयंवेदनासंस्तरादिजा । विचिंत्येति सदुःखंसहतेसंस्तरोद्भवम् ।।२७८३।।

अर्थ—उसको चिंतवन करना चाहिये कि देखो पहले भवों में मैंने जल, स्थल, आकाश और पर्वतों पर निवास किया है तथा उनसे उत्पन्न हुई अनेक महा वेदनाएं मैंने सहन की है । कर्म के परवश हुए मैंने पापकर्म के उदय से वज्रमय कांटों से भरे हुए नरक में चिरकाल तक निवास किया है और वहांपर अनेक महा दुःख भोगे हैं । फिर भला यह कठिन संस्तर से उत्पन्न हुई वेदना कितनी है, यही चिंतवन कर वह क्षपक कठिन संस्तर से उत्पन्न हुए समस्त दुःखों को सहन करता है ।।२७८१-२७८३।।

क्षपक क्या करके मनको निराकुल बनाता है—

इत्यादिसद्विचाराद्यै र्ध्यानैर्धर्मंशतैः परैः । परमेष्ठिपदध्यानैरनुप्रेक्षार्थचिन्तनैः ।।२७८४।।
आगमामृतपानैश्च तर्पयित्वानिजंमनः । स्वस्थं कुर्यात्स तत्त्वज्ञः स्वात्मध्यानसमाधये ।।२७८५।।

अर्थ—तत्त्वों को जाननेवाला वह क्षपक अपने आत्म ध्यान और समाधि के लिये ऊपर कहे अनुसार श्रेष्ठ विचारों को धारण कर, सैकड़ों उत्कृष्ट धर्मध्यानों को धारण कर, परमेष्ठी के चरण कमलों का ध्यान कर अथवा परमेष्ठी के वाचक पदोंका ध्यान कर वा अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन कर अथवा आगमरूपी अमृत का पान कर अपने मनको संतुष्ट करता है और उसको सब तरह से निराकुल बना लेता है ।।२७८४-२७८५।।

निराकुल मन वाला क्षपक किसका ध्यान करता है—

निर्विकल्पमनाः ध्यानी चिदानन्दमयंपरम् । ध्यातुमारभतेचित्ते परमात्मानमंजसा ।।२७८६।।

अर्थ— जिसका मन सब तरह के संकल्प विकल्पों से रहित है, ऐसा ध्यान करनेवाला वह क्षपक शीघ्र ही अपने मनमें चिदानंदमय सर्वोत्कृष्ट परमात्मा का ध्यान करना प्रारम्भ करता है ।।२७८६।।

अभ्यन्तर योग धारण करने की प्रेरणा—

अस्मिन्नवसरे योगी क्षीणदेहपराक्रमः । बाह्ययोगंविधातुं सोऽशक्तः सन्नपि धीधनः ।।२७८७।।
योगमभ्यन्तरं सारं सर्वाराधनपूर्वकम् । एकचित्तेनमुक्त्यर्थं विधत्तेत्वनिरन्तरम ।।२७८८।।

अर्थ—जिसका शरीर और पराक्रम क्षीण हो गया है ऐसा वह बुद्धिमान योगी यदि उस समय बाह्य योग धारण करने में असमर्थ हो जाय तो फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिये उस योगी को एकाग्रचित्त से निरन्तर समस्त आराधनाओं की आराधना पूर्वक सारभूत अभ्यन्तर योग धारण करना चाहिये ।।२७८७-२७८८।।

पञ्चपरमेष्ठी वाचक पदके चिंतवन की प्रेरणा—

एतस्मिन्समयेदक्षोद्वादशांगाखिलागमम् । चित्ते चिन्तयितुं धीरः सोऽशक्तोपिमहामनाः ।।२७८९।।
सर्वसिद्धान्तमूलंयत्पदमेकद्वयादिकम् । सारं तच्चिन्तयेद्युक्त्या प्रशस्तध्यानसिद्धये ।।२७९०।।

अर्थ—यदि उस समय वह महामना धीर वीर चतुर क्षपक अपने मनमें द्वादशांग श्रुतज्ञान को चिंतवन करने में समर्थ न हो तो उसको प्रशस्त ध्यान की सिद्धि के लिये समस्त सिद्धांतों का मूलकरण और सारभूत ऐसा पंचपरमेष्ठी का वाचक एक पद का वा दो पद का युक्तिपूर्वक चिंतवन करना चाहिये ।।२७८९-२७९०।।

क्षपक को दुष्ट व्याधि आनेपर कैसी औषधि सेवन करना चाहिये—

क्षीणगात्रे तदा तस्य दुर्व्याधिर्जायतेयदि । सोघपाकेनतद्धान्यै हीदं गृह्णाति चौषधम् ।।२७९१।।

अर्थ—कदाचित् पापकर्म के उदयसे उस समय उस क्षपक के क्षीण शरीर में कोई दुष्ट व्याधि उत्पन्न हो जाय तो उसको दूर करने के लिये उस क्षपक को नीचे लिखे अनुसार औषधि ग्रहण करनी चाहिये अर्थात् नीचे लिखे अनुसार चिंतवन करना चाहिये ।।२७९१।।

क्षपक को जिनवचन रूपी अमृतरस का ग्रहण करने की प्रेरणा—

जिनेन्द्रवचनं तथ्यं जन्ममृत्युजरान्तकम् । रोगक्लेशहरंयत्स्याद्विश्वदुःखक्षयंकरम् ।।२७९२।।
ग्राह्यं तद्धिमयासारं रोगक्लेशार्तशान्तये । जन्मादिदाहनाशायसुधारसमिवोर्जितम् ।।२७९३।।

अर्थ—उसे चिंतवन करना चाहिये कि इस संसार में भगवान जिनेन्द्रदेव के वचन ही तथ्य हैं वे ही जन्म मरण और बुढ़ापे को नष्ट करनेवाले हैं, रोग और क्लेश को दूर करनेवाले हैं और ससस्त दुःखों को क्षय करनेवाले हैं। अतएव रोग और क्लेशों के दुःखों को दूर करने के लिये और जन्ममरण का संताप शांत करने के लिये उत्कृष्ट अमृतरस के समान सारभूत जिनवचन मुझे ग्रहण करने चाहिये ।।२७९२-२७९३।।

क्षपक रोगों से उत्पन्न क्लेशों को शांत करने के लिये किसकी शरण लेता है—

अस्माद्रोगभवक्लेशाच्छरणंयामिसंप्रति । सर्वार्हत्सिद्धसाधूनांशरण्यानांजगत्सताम् ।।२७९४।।

केवलिप्रोक्तधर्मस्यशरण्यस्याखिलापदि । तपोरत्नत्रयादीनां विश्वसातारिघातिनाम् ॥२७६५॥

अर्थ—अब मैं इन रोगों से उत्पन्न हुए क्लेशों को शांत करने के लिये तीनों लोकों के सज्जनों को शरणभूत ऐसे समस्त अरहंत सिद्ध और साधुओं की शरण लेता हूं तथा समस्त आपत्तियों में शरणभूत ऐसे केवली भगवान के कहे हुए धर्म की शरण लेता हूं और समस्त दुःखरूपी शत्रुओं को नाश करनेवाले तप और रत्नत्रय की शरण लेता हूं ॥२७६४-२७६५॥

रत्नत्रय आदि शरणभूत क्यों ?

यतो लोकोत्तमा ये ते विश्वमंगलकारिणः । शरण्या भव्यजीवानांममापिसन्तुसिद्धिदाः ॥२७६६॥

अर्थ—क्योंकि संसार में ये ही लोकोत्तम हैं, ये ही समस्त मंगल करनेवाले हैं और ये ही भव्य जीवों को शरण हैं। इसलिये ये सब मेरे लिये भी समस्त कार्यों की सिद्धि करें अथवा मुझे सिद्ध अवस्था प्रदान करें ॥२७६६॥

धीर वीरता के साथ रोगादि सहना ही श्रेष्ठ है—

धीरत्वेनापि मर्तव्यं कातरत्वेन वा यदि । कातरत्वं मुदा त्यक्त्वा धीरत्वे मरणं वरम् ॥२७६७॥
धीरत्वेनापिसोढव्यं रोगादिकर्मजं फलम् । कातरत्वेन वा पुंसां धीरत्वेन वरं च यत् ॥२७६८॥

अर्थ—देखो मरना धीर वीरता के साथ भी होता है और कातरता के समय (रो रो कर) भी होता है। परन्तु कातरता का त्याग कर धीरवीरता के साथ मरण करना अच्छा है, इसीप्रकार रोग क्लेश कर्मों का फल धीरवीरता के साथ भी सहन किया जाता है और कायरता के साथ भी सहन किया जाता है, परन्तु कायरता को छोड़कर धीरवीरताके साथ रोग वा क्लेशों को सहन करना मनुष्यों के लिये हितकारक है ॥२७६७-२७६८॥

शील पूर्वक मरण करना ही श्रेष्ठ है—

शीलेनाप्यत्र मर्तव्यं निःशीलेनापिचेत्सताम् । निःशीलत्वं परित्यज्य शीलत्वे मरणंवरम् ॥६६॥

अर्थ—इसीप्रकार शीलादिक व्रतों को धारण कर भी मरण होता है और बिना शील व्रतोंको धारण किये भी मरण होता है, परंतु सज्जन पुरुषों को निःशीलता का त्याग कर शील धारण कर मरना अच्छा ॥२७६६॥

पुनः क्षपक को मन स्थिर करने की प्रेरणा—

इत्यादिचिन्तनैर्ध्यानैःकुर्वन् स स्वननःस्थिरम् । ददाति जातुगन्तुं न मनाक्क्लेशार्तसन्निधिम् ॥

अर्थ—उस क्षपक को इसप्रकार चिंतवन कर तथा ध्यान धारण कर अपने मन को स्थिर रखना चाहिये और अपने मन को क्लेश और दुःखों के समीप रंचमात्र भी नहीं जाने चाहिये ।।२८००।।

निरोहवृत्ती धारक क्षपक महा लोभ के लिये कैसी उत्तम याचना करता है—

तदासोति निरोहोपिमहालोभकृतोद्यमः । उत्तमामुत्तमार्थाप्त्यैयांचांकुर्यादिमांभुवि ।।२८०१।।
अर्हंतांवीतमोहानामकायानां च या गतिः । पंचमीत्रिजगत्प्रार्थ्या सा मे भवतुशर्मणे ।।२८०२।।
तीर्थेशसिद्धनिर्मोहयोगिनां ये परागुणाः । अनन्तज्ञानदृष्टयाद्यास्ते मे सन्तुशिवाप्तये ।।२८०३।।

अर्थ—उस समय यद्यपि वह क्षपक निरीह वृत्ति को धारण करता है तथापि वह किसी महा लोभ के लिये उद्यम करता है और इसीलिये वह उत्तम अर्थ अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति के लिये नीचे लिखे अनुसार सबसे उत्तम याचना करता है । वह याचना करता है कि भगवान वीतराग अयोगकेवली अरहंतदेव की जो तीनों लोकों के द्वारा प्रार्थनीय पंचम गति होती है वही सुख देने के लिये मुझे प्राप्त हो । भगवान तीर्थंकर परमदेव, भगवान सिद्ध परमेष्ठी और मोह रहित मुनियों जो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन आदि उत्तम गुण हैं वे सब मोक्ष प्राप्त होने के लिये मेरे आत्मा में प्रगट हों ।।२८०१-२८०३।।

क्षपक को उत्तम याचना के लिये कैसा चिंतवन करना चाहिये—

रत्नत्रययुता बोधिःसमाधिः शुक्लपूर्वकः । यावद्यास्याम्यहं मोक्षं तावन्मेस्तु भवेभवे ।।२८०४।।
अमीभिर्दुद्धराचारैः कृत्स्नदुष्कर्मणांक्षयः । चतुर्गतिजदुःखानां मे चास्तुमुक्तिहेतवे ।।२८०५।।
जिननाथजगत्पूज्य देहि त्वं सन्मृतिमम् । अधुना त्वद्गुणान्सर्वांस्त्वद्गतिचांशुभक्षयम् ।।२८०६।।

अर्थ—जब तक मैं मोक्ष प्राप्त न कर लूं तब तक मुझे भवभव में रत्नत्रय सहित बोधि की प्राप्ति होती रहे और शुक्लध्यान पूर्वक समाधि की प्राप्ति होती रहे । मैंने जो मोक्ष प्राप्त करने के लिये कठिन-कठिन तपश्चरण किये हैं, उनके फल से मेरे समस्त कर्मों का नाश हों तथा चारों गतियों के समस्त दुःखों का नाश हो । हे जिन-नाथ ! हे जगत्पूज्य ! आप मुझे इस समय श्रेष्ठ मरण देवें, अपने सब गुण देवें, अपनी सब सद्गति देवें और मेरे सब अशुभों को नाश करें । इसप्रकार उस क्षपक को चिंतवन करना चाहिये ।।२८०४-२८०६।।

मृत्यु के निकट आनेपर पञ्चपरमेष्ठी का जप एवं ध्यान करने की प्रेरणा—

मृत्यवस्थां क्रमादाप्य परमेष्ठयाख्यसत्पदान् । पंचैवात्रजपेद्वाचासचैकद्व्यादिसत्पदम् ।।२८०७।।

यदि तान् जपितुं योगी सोऽसमर्थोगिरा तदा। ध्यायेत्पंचनमस्कारांश्चेतसापरमेष्ठिनाम् ।२८०८।

अर्थ—इसप्रकार चिंतवन करते हुए उस क्षपक की यदि मृत्यु अवस्था अत्यंत समीप आ जाय तो उसे अपने वचन से परमेष्ठी के वाचक पांचों श्रेष्ठ पदों का जप करना चाहिये अथवा किसी भी एक दो पद का जप करना चाहिये। यदि वह योगी उन परमेष्ठी के वाचक पदों को उच्चारण पूर्वक जप करने में असमर्थ हो जाय तो उसको अपने हृदय में ही पंचपरमेष्ठी के वाचक पंच नमस्कार मंत्र का ध्यान करना चाहिये ।।२८०७-२८०८।।

क्षपक किस प्रकार प्राणों का त्याग करे—

इत्यादिसर्वयत्नेनध्यायन् जपन्पदोत्तमान् । कुर्वन् वा स्वात्मनोध्यानंश्रृण्वन्निर्यापकास्यजान् ।।
सारधर्माक्षरान् ध्यानी निःशल्योनिर्भयः सुधीः । ध्यानाभ्यां धर्मशुक्लाभ्यां त्यजेत्प्राणान्समाधिना ।।

अर्थ—इसप्रकार शल्य रहित, भय रहित, ध्यान करनेवाले उस बुद्धिमान् क्षपक को ऊपर लिखे अनुसार सब तरह के प्रयत्न पूर्वक पंच परमेष्ठी के वाचक उत्तम पदों का जप करते हुए; ध्यान करते हुए, वा अपने आत्मा का ध्यान करते हुए अथवा उन निर्यापकाचार्य के मुखसे निकले हुए सारभूत धर्म के अक्षरों को सुनते हुए धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान को धारण कर समाधि पूर्वक अपनें प्राणों का त्याग करना चाहिये। ।।२८०९-२८१०।।

श्रेष्ठ मृत्यु को सिद्ध करनेवाले क्षपक मरकर कहां उत्पन्न होता है—

ततोसौ शुद्धिमापन्नोऽहमिन्द्रपदमूर्जितम् । नाकं सर्वार्थसिद्धि वा गच्छेत्सन्मृतिसाधनात् ।।२८११।।

अर्थ—तदनंतर अत्यंत शुद्ध अवस्था को प्राप्त हुआ वह क्षपक श्रेष्ठ मृत्यु को सिद्ध कर लेने के कारण उत्कृष्ट अहमिंद्र पद प्राप्त करता है वा सर्वार्थ सिद्धि में उत्पन्न होता है अथवा स्वर्गों में उत्तम देव होता है ।।२८११।।

समाधिमरण से उत्पन्न श्रेष्ठ धर्म से किसकी प्राप्ति होती है—

सन्यासोत्थ सुधर्मेणसुदेवनृगतौसुखम् । महत्त्रिभवपर्यन्तंसुरेशचक्रिभूतिजम् ।।२८१२।।
भुक्त्वाहत्वास्वकर्माणि तपसायान्तिनिर्वृतिम् । पण्डिता मुनयः प्राप्यह्यष्ठौसिद्धगुणान्परान् ।।

अर्थ—इस समाधिमरण से उत्पन्न हुए श्रेष्ठ धर्म से विद्वानों को वा मुनियों को उत्तम देव गति वा उत्तम मनुष्यगति में सर्वोत्तम सुख मिलते हैं तथा तीन भव तक वे इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूतियों का अनुभव कर अंत में अपने तपश्चरण के द्वारा

समस्त कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और सिद्धों के आठों परमगुणों को प्राप्त कर लेते हैं ॥२८१२-२८१३॥

जघन्य आराधन का फल—

जघन्याराधना येषां तेऽपि भुक्त्वा परंसुखम् । सप्ताष्टभवपर्यंन्तंद्विगतौयान्तिनिर्वृतिम् ॥२८१४॥

अर्थ—जो भव्य जीव जघन्य रीति से आराधनाओं की आराधना करते हैं वे भी सात आठ भव तक परम सुखों का अनुभव करते हैं और अंतमें कर्मों को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥२८१४॥

उत्तम मरण को सिद्ध करने की प्रेरणा—

इतिज्ञात्वा फलं सारं मरणस्योत्तमस्य च । साधयन्तुविदोयत्नाच्छिवायमरणोत्तमम् ॥२८१५॥

अर्थ—इसप्रकार उत्तममरण का ऐसा अच्छा फल समझकर विद्वान् लोगों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक उत्तम मरण को सिद्ध करना चाहिये। ॥२८१५॥

सर्प काटने आदि उपसर्ग के आनेपर दो प्रकार के सन्यास धारण करने की प्रेरणा—

यदिसर्पविषाद्यैश्च चौपसर्गैर्नृपादिजैः । मरणं जायते स्वस्य ससन्देहं तदासुधीः ॥२८१६॥
समासेन जगज्जन्तून् क्षमयित्वा स्वमानसे । कृतकारितदोषादीन्विनिंद्यनिन्दनादिभिः ॥२८१७॥
भूत्वासर्वत्रनिःशल्योनिर्ममत्वंविधाय च । सन्यासंद्विविधंहीदगृह्णातिशिवसिद्धये ॥२८१८॥

अर्थ—यदि सर्प काट ले वा विष भक्षण करले वा राजा आदि का घोर उपसर्ग आ जाय और अपने मरने में सन्देह हो जाय तो उस बुद्धिमान को संक्षेप से ही अपने मनमें संसार के समस्त प्राणियों को क्षमा कर देना चाहिये, तथा कृत, कारित, अनुमोदना से हुए समस्त दोषों की निंदा गर्हा के द्वारा आलोचना करनी चाहिये तथा सर्वत्र शल्यरहित, ममत्वरहित होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिये नीचे लिखे अनुसार दोनों प्रकार का सन्यास धारण करना चाहिये ॥२८१६-२८१८॥

पहले सन्यास मरणं धारण करने का स्वरूप—

अस्मिन्देशेऽवधौकाले यदि मे प्राणमोचनम् । तदास्तु जन्मपर्यंन्तंप्रत्याख्यानं चतुर्विधम् ।२८१९॥
जीविष्यामिक्वचिद्वाहं पुण्येनोपद्रवात्परात् । करिष्ये पारणं नूनं धर्मचारित्रसिद्धये ॥२८२०॥

अर्थ—उसको पहला सन्यास तो इसप्रकार धारण करना चाहिये कि इस देश में इतने काल तक यदि मेरे प्राण निकल जांय तो मेरे जन्म पर्यंत चारों प्रकार के

आहार का त्याग है। तथा दूसरा सन्यास इसप्रकार धारण करना चाहिये कि यदि मैं अपने पुण्य से इस घोर उपद्रव से कदाचित बच जाऊंगा तो मैं धर्म और चारित्र की सिद्धि के लिये इतने काल के बाद अवश्य ही पारणा करूंगा ।।२८१९-२८२०।।

तीन प्रकार के आहार के त्याग की विधि—

यदि नीरं बिनाप्रत्याख्यानमादातुमिच्छति । तदा समाधयेस्वस्येदंप्रत्याख्यानमाचरेत् ।।२८२१।।
प्रत्याख्यामि बिना नीर चतुर्धाहारमामृतौ । अन्तर्वाह्योपधीन् सर्वान् सावद्यं त्रिविधेन च ।।२२।।
यः कश्चिदुपधिर्मेत्रबाह्योवाभ्यन्तरोऽशुभः । तमाहारं शरीरं च यावज्जीवं त्यजाम्यहम् ।२८२३।।

अर्थ—यदि वह क्षपक उस समय पानी को रखना चाहता है, पानी को छोड़कर बाकी का त्याग करना चाहता है तो उसे अपनी समाधि धारण करने के लिये नीचे लिखे अनुसार प्रत्याख्यान वा त्याग करना चाहिये। मैं अपने मरण पर्यंत पानी को छोड़कर बाकी के चारों प्रकार के आहारों का त्याग करता हूं तथा मैं मन-वचन-काय से अंतरंग और बाह्य समस्त परिग्रहों का त्याग करता हूं और समस्त पापों का त्याग करता हूं। इस समय मुझसे संबंध रखने वाला जो अशुभ बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह है, मैं उसका जीवन पर्यंत तक के लिये त्याग करता हूं तथा जीवन पर्यंत ही आहार और शरीर का त्याग करता हूं, शरीर से ममत्व छोड़ता हूं ।।२८२१-२८२३।।

मरण के निश्चित होनेपर ४ आहार के त्याग की प्रेरणा—

अथवा स्यस्यनिश्चित्यमरणं प्रागतं भुवि । प्रत्याख्यानमितिग्राह्यं दक्षैः सिद्धयै चतुर्विधम् ।।२४।।

अर्थ—अथवा यदि अपने मरने का अवश्य निश्चय हो जाय तो चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान ग्रहण कर लेना चाहिये ।।२८२४।।

प्रथम समाधिधारण करनेवाले का पहले बतायी विधि से मरण करने की प्रेरणा एवं उसका फल—

एषोऽपि पूर्ववत्सर्वान् धर्मंध्यानादिकान्परान् । स्वीकृत्य साधयित्वाशु चतुराराधनाः पराः ।।
समाधिना वपुस्त्यक्त्वासन्यासाज्जिनधर्मतः । सौधर्मादिसर्वार्थसिध्द्यन्तंधर्मधीर्व्रजेत् ।।२८२६।।

अर्थ—इस क्षपक को भी पहले के समान उत्कृष्ट धर्मध्यानादिक सब धारण करने चाहिये, चारों प्रकार की आराधनाओं को आराधन करना चाहिये और समाधिपूर्वक सन्यास से शरीर का त्याग करना चाहिये। इसप्रकार समाधिमरण करनेवाला

धर्मात्मा जिनधर्म के प्रसाद से सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थ सिद्धि तक उत्तम देवों में जन्म लेता है ॥२८२५-२८२६॥

पण्डित मरण करने का फल—

इतिगणधरजातंपण्डिताख्यंप्रयत्नादनघमरणसारं साधयेद्यः स्वसिद्ध्यै ।
सुरनरपतिसौख्यं प्राप्यमुक्त्यंगनां स श्रयति परमयोगात्कृत्स्नकर्माणिहत्वा ॥२८२७॥

अर्थ—इसप्रकार जो भव्य जीव अपने आत्मा की सिद्धि के लिये भगवान गणधरदेव के द्वारा कहे हुए पाप रहित और सारभूत इस पंडितमरण को प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लेता है वह जीव इन्द्र और चक्रवर्त्तियों के सुख भोगकर तथा अंतमें परमयोग धारण कर समस्त कर्मों को नाश करता है और फिर मोक्षस्त्री को प्राप्त कर लेता है ॥२८२७॥

बुद्धिमानों को पण्डित मरण की पुनः प्रेरणा—

मत्वेतीह बुधाप्रयत्नमनसास्वमुक्तिसंसिद्धये,
कृत्वा सत्तपऊर्जितंनिरुपमंसार्द्धं समस्तैर्व्रतैः ।
जन्मान्तेकिलसाधयन्तुमरणसत्पण्डिताख्यंपरं,
स्याद्येनात्रनृजन्मसद्व्रततपःसर्वार्थसिद्धिप्रदम् ।२८॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को स्वर्ग मोक्ष सिद्ध करने के लिये प्रयत्नपूर्वक समस्त व्रतों के साथ-साथ उपमारहित ऐसा सर्वोत्कृष्ट तपश्चरण करना चाहिये, तथा अंतमें सर्वोत्कृष्ट पंडितमरण को सिद्ध कर लेना चाहिये जिससे कि श्रेष्ठ व्रत, उत्तम तप और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय। ॥२८२८॥

चार आराधना की महिमा एवं उसकी प्राप्ति की भावना—

विश्वार्च्या विश्ववन्द्या शिवसुखजननीधर्मरत्नादिखानी,
सेव्यानित्यंमुनीन्द्रैःसकलविधिहराश्वर्गलाश्वभ्रगेहे ।
सारा सोपानमालाः सुरगृहगमनेसद्गुणग्रामधात्रीः,
वन्देआराधनाप्त्यैजिनवरपददाराधनादेवता वै ॥२८२९॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचितेप्रत्याख्यान-
संस्तरवर्णनो नाम दशमोऽधिकारः ।

अर्थ—यह चारों प्रकार की आराधनारूपी देवता तीनों लोकों में पूज्य है, तीनों लोकों में वंदनीय है, मोक्ष सुख देनेवाली है, धर्मरत्न की खानि है, श्रेष्ठ मुनिराज ही नित्य इसका सेवन करते हैं, यह समस्त कर्मों को नाश करनेवाली है, नरक के घर को बंद करने के लिये . वेंडा है, सबमें सार है, स्वर्ग की सीढ़ी है, अनेक सद्गुणों को उत्पन्न करनेवाली है और तीर्थंकर पद को देनेवाली है, ऐसी इस आराधना को मैं आराधना प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं ।।२८२९।।

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थ में प्रत्याख्यान संस्तर को वर्णन करनेवाला यह दसवां अधिकार समाप्त हुआ ।

◆

एकादशोधिकारः

मंगलाचरण

सर्वशीलगुणाधारान्विश्वातिशयभूषितान् । वन्देऽर्हतइहामुत्रत्रिजगच्छर्मकारकान् ।।२८३०।।

अर्थ—जो भगवान अरहंतदेव समस्त शील और समस्त गुणों के आधार हैं, जो समस्त अतिशयों से विभूषित हैं और इस लोक तथा परलोक में तीनों जगत के जीवों का कल्याण करनेवाले हैं उन भगवान् अरहंतदेव को मैं नमस्कार करता हूं। ।।२८३०।।

शील एवं गुणों के कथन की प्रतिज्ञा—

अथवक्ष्ये समासेनशीलानिसकलान्यपि । गुणांश्चनिखिलान्युक्त्यासंख्ययोत्तमयोगिनाम् ।२८३१।।

अर्थ—अब मैं उत्तम योगियों के लिये युक्ति और संख्या पूर्वक समस्त शीलों को कहता हूं और समस्त गुणों को कहता हूं ।।२८३१।।

शील के १८००० भेदों का निर्देश—

त्रियोगाः करणंत्रेधा चतुः संज्ञाखपंच वै । दशपृथ्व्यादिकायाश्चधर्माःक्षमादयो दश ।।२८३२।।
अन्योऽन्यं गुणिता एते योगाद्याः श्रुतकोविदैः । अष्टादशसहस्राणिशीलानिस्युर्महात्मनाम् ।।३३।।

अर्थ—तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पांच इन्द्रियां, पृथ्वीकायिक आदि दश प्रकार के जीव और उत्तम क्षमादिक दशधर्म इन सब योगादिकों को परस्पर गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं, ये ही महात्माओं के शील हैं, ऐसा श्रुतज्ञान के विशारद गणधरादिक देव कहते हैं ।।२८३२-२८३३।।

योगों के ९ भेदों का कथन—

मनोयोगोवचोयोगः काययोगोऽशुभाश्रितः । योगानांयानिपापादिक्रियाप्रवर्तकानि च ।।२८३४।।
तानित्रिकरणान्यत्रोच्यन्ते करणरोधनैः । अभ्यस्तास्तेत्रयोगानवभेदा भवन्ति वै ।।२८३५।।

अर्थ—शुभ मनोयोग, शुभ वचनयोग और शुभ काययोग ये तीन तो योग कहलाते हैं तथा उन योगों के द्वारा जो पुण्य पापरूप क्रिया होती है उनको यहां पर तीन करण कहते हैं। यदि उन मन-वचन-काय की होनेवाली क्रियाओं को, करणों को रोक दिया जाय तो योगों के नौ भेद हो जाते हैं ।।२८३४-२८३५।।

योगों को ४ संज्ञा से गुणा करनेपर शील के ३६ भेदों का कथन—

आहारभयसंज्ञेसंज्ञेमैथुनपरिग्रहे । चतुरन्नादिसंज्ञानां चतुर्धाविरतो व्रयः ।।२८३६।।
क्रियन्तेमुनिभिस्ताभिश्चतुर्भिगुंणिता नव । भेदाभवन्तिशीलस्य षट्त्रिंशत्संख्यकाःसताम् ।।३७।।

अर्थ—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये संज्ञा के चार भेद हैं, इनका त्याग करना अर्थात् आहार संज्ञा का त्याग करने के लिये अन्नादिक का त्याग कर देना, भय के त्याग के लिये परिग्रह नहीं रखना, मैथुन के त्याग के लिये ब्रह्मचर्य धारण करना और परिग्रह के त्याग के लिये ममत्व छोड़ना संज्ञाओं का त्याग है। ऊपर कहे हुए योग निरोधों के नौ भेदों से इन चार के साथ गुणा करने से शील के छत्तीस भेद हो जाते हैं ।।२८३६-२८३७।।

३६ भेदों को ५ इन्द्रिय से गुणा करनेपर १८० भेद होते हैं—

स्पर्शाक्षरसनघ्राण चक्षुःश्रोत्रनिवारणैः । षट्त्रिंशद्गुणिता भेदाः स्युरशीत्यधिकंशतम् ।।२८३८।।

अर्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां कहलाती हैं। इनको वश में करना इन्द्रियों का त्याग है। इसलिये छत्तीस से इन पांचों को गुणा करने से शील के एकसौ अस्सी भेद हो जाते हैं ।।२८३८।।

शील के १८०० भेदों का कथन—

पृथ्व्यप्तेजामरुत्प्रत्येकानन्तकायिकाःभुवि । द्वित्रितुर्येन्द्रियाःपंचाक्षाश्चेतिदशधांगिनः ।।२८३९।।
अमीषां रक्षणान्यत्र विधीयन्तेमुनीश्वरैः । यत्नेनयानि तानिस्युर्दशशीलानि धीमताम् ।।२८४०।।
दशभिगुंणितं चंतेयुक्त्याशीत्यधिकंशतम् । अष्टादशशतान्युत्पद्यन्तेशीलानियोगिनाम् ।।२८४१।।

अर्थ—पृथिवीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक प्रत्येक वनस्पतिकायिक, साधारण वनस्पतिकायिक, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये दश प्रकार के जीव हैं। मुनिराज इन दशों प्रकार के जीवों की रक्षा प्रयत्न पूर्वक करते हैं। इसलिये ये दश भेद भी शील के ही गिने जाते हैं। ऊपर जो शील के एकसौ अस्सी भेद बतलाये हैं उनसे इन दश के साथ गुणा कर देने से शील के अठारहसौ भेद हो जाते हैं ।।२८३९-२८४१।।

शील के १८००० भेदों का कथन—

उत्तमाद्याक्षमामार्दवं सारं चार्जवोत्तमम् । सत्यं शौचंमहत्संयमस्तपस्त्यागऊर्जितः ।।२८४२।।
आकिंचन्योत्तमोब्रह्मचर्यंदशविधः परः । एषधर्मो जगत्पूज्यः श्रमणानां शिवप्रदः ।।२८४३।।

दशभिर्गुणितान्येभि अष्टादशशतानि च । अष्टादशसहस्राणि सन्ति शीलानियोगिनाम् ।२८४४।।

अर्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आंकिचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य यह दश प्रकार का धर्म है। यह धर्म जगत्पूज्य है और मुनियों को मोक्ष प्रदान करनेवाला है। ऊपर जो शील के अठारहसौ भेद बतलाये हैं उनसे इन दश धर्मों के साथ गुणा कर देने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं। ये सब मुनियों के शील कहलाते हैं ।।२८४२-२८४४।।

शील की महिमा—

इत्यादिगणनाभिश्च जायन्ते व्रतधारिणाम् । सुशीलानां यतीशानां शीलानि निखिलान्यपि ।४५।।
अष्टादशसहस्रप्रमाणान्यर्च्यानि नाकिभिः । निर्मलानीह त्रैलोक्ये नन्तशर्माकराणि वै ।।२८४६।।

अर्थ—इसप्रकार की गणना से व्रतों को धारण करनेवाले और शीलों को पालन करनेवाले मुनिराजों के शीलों के सब भेद हो जाते हैं। ये अठारह हजार शील इन्द्रों के द्वारा भी पूज्य हैं, अत्यंत निर्मल हैं और तीनों लोकों में अनंत कल्याण करने वाले हैं ।।२८४५-२८४६।।

शील के पालने वाले की महिमा एवं उस पालने की प्रेरणा—

शीलाभरणयुक्तांश्च त्रिजगच्छ्रीः स्वयंमुदा । वृणोत्येत्य जिनश्रीश्चमुक्तिरालोकतेमुहुः ।।२८४७।।
प्रकम्पन्तेसुरेशानां शीलेनात्रासतानि भोः । किंकराइवसेवन्ते पादान् शील जुषांसुराः ।।२८४८।।
विघटन्ते सुशीलानां सर्वोपद्रवकोटयः । निरर्गला भ्रमेत्कीर्तिश्चन्द्रांशुवज्जगत्त्रये ।।२८४९।।
जीवितव्यंदिनंकं च वरं शीलवतां भुवि । निःशीलानां वृथा नूनं पूर्वकोटिशतप्रमम् ।।२८५०।।
मत्वेतीमानिशीलानि सर्वाणि कृत्स्नयत्नतः । पालयन्तु बुधा मुक्त्यैदुर्लभान्यल्पचेतसाम् ।२८५१।।

अर्थ—जो महा पुरुष इन अठारह हजार शीलों से सुशोभित हैं उनको तीनों लोकों की संपदा प्रसन्नता के साथ स्वयं आकर स्वीकार करती है तथा भगवान जिनेन्द्रदेव की लक्ष्मी और मुक्तिरूपी लक्ष्मी बार-बार उनको देखती है। इन शीलों के प्रभाव से इन्द्रों के आसन भी कंपायमान हो जाते हैं तथा शील पालन करनेवालों के चरण कमलों की देव लोग भी सेवक के समान सेवा करते रहते हैं। शील पालन करनेवालों के समस्त करोड़ों उपद्रव स्वयं नष्ट हो जाते हैं और चन्द्रमा के समान उनकी निर्मल कीर्ति निरर्गल होकर तीनों लोकों में फैल जाती है। शील पालन करनेवालों का एक दिन भी जीना अच्छा परंतु बिना शील के सैकड़ों करोड़ वर्ष भी जीना व्यर्थ है। यही

समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये प्रयत्न पूर्वक इन समस्त शीलों का पालन करते रहना चाहिये । जो छोटी बुद्धिको धारण करनेवाले हैं उनके लिये तो इन शीलों का पालन करना अत्यन्त कठिन है ।।२८४७-२८५१।।

मुनिराज के ८४ लाख गुणों के भेद—

एकविंशतिर्हिंसाद्याश्चत्वारोतिक्रमारय: । शतपृथ्व्यादिकायाश्चदशब्रह्मविराधना: ।।२८५२।।
दशालोचनजा दोषा दशशुद्धिकरा इमे । अन्योन्यंवर्गिता लक्षा अशीतिश्चतुरुत्तरा: ।।२८५३।।

अर्थ— हिंसादिक के इक्कीस भेद हैं, अतिक्रमणादिक के चार भेद हैं, पृथ्वीकायादि के सौ भेद हैं, ब्रह्मचर्य की विराधना के दश भेद हैं, आलोचना के दश दोष हैं और इनके त्याग को शुद्ध करनेवाले दश गुण हैं । इन सबको गुणा करने से चौरासी लाख हो जाते हैं ।।२८५२-२८५३।।

प्राणिहिंसादिक के २१ भेदों का निर्देश—

प्राणिहिंसामृषावादोऽदत्तादानं च मैथुनम् । संग: क्रोधोमदोमायालोभोभयोऽरतिस्तत: ।।२८५४।।
रतिस्तथाजुगुप्साथ मनोवाक्काय चंचला: । मिथ्यादर्शनमेवप्रमाद: पैशून्यमेव हि ।।२८५५।।
अज्ञानंसकलाक्षाणामनिग्रह इमेभुवि । एकविंशति दोषा:स्युर्नृणां दोषविधायिन: ।।२८५६।।

अर्थ—प्राणियों की हिंसा करना १, झूंठ बोलना २, चोरी करना ३, मैथुन सेवन करना ४, परिग्रह रखना ५, क्रोध ६, मद ७, माया ८, लोभ ९, भय १०, अरति ११, रति १२, जुगुप्सा १३, मन की चंचलता १४, वचन की चंचलता १५, काय की चंचलता १६, मिथ्यादर्शन १७, प्रमाद १८, पैशून्य १९, अज्ञान २० और पंचेन्द्रियों का निग्रह न करना ये समस्त दोषों को उत्पन्न करनेवाले प्राणिहिंसादिक इक्कीस दोष हैं । ।।२८५४-२८५६।।

किसके गुण हो जाते हैं—

यैर्दयादिव्रताचारैर्विपरीता: कृता इमे । दोषागुणा हि तेषांस्युस्त्रिजगत्पूज्ययोगिनाम् ।।२८५७।।

अर्थ—यदि दया आदि व्रतों को पालन कर इन दोषों के विपरीत आचरण किये जांय तो तीनों जगत के द्वारा पूज्य मुनियों के लिये वे हो सब गुण हो जाते हैं । ।।२८५७।।

अतिक्रमणादि दूषणों के त्यागने से व्रतादि धर्म की वृद्धि होती है—

अतिक्रमणमेवैकं व्यतिक्रमण एव हि । अतीचारोप्यनाचारोदोषाश्चत्वारइत्यमी ।।२८५८।।

व्रतादीनांप्रयत्नेनसहिता ये जितेन्द्रियाः । जायन्ते ते गुणास्तेषां व्रतादिधर्मवृद्धिदाः ।।२८५९।।

अर्थ—अतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार ये चार अतिक्रम आदि दोष कहलाते हैं। जो जितेन्द्रिय पुरुष इन दोषों का त्याग कर देते हैं, उनके व्रतादि धर्म की वृद्धि करनेवाले वे गुण हो जाते हैं ।।२८५८-२८५९।।

गुणों के ८४ भेदों का निर्देश—

गुणैश्चतुर्भिरेभिस्तेप्राग्गुणाएकविंशतिः । गुणाश्चतुरशीतिश्चभवेयुर्गुणिताः सताम् ।।२८६०।।

अर्थ—पहले जो हिंसा का त्याग आदि इकईस गुण बतलाये हैं, उनके साथ इन चार अतिक्रमादि के त्याग से गुणा कर देने से गुणों के चौरासी भेद हो जाते हैं। ।।२८६०।।

जीवादि की विराधना से १०० भेद—

पृथ्व्यपतेजोमरुत्प्रत्येकानन्तकायदेहिनः । द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियास्तु येंन्द्रियाः पंचेन्द्रियादश ।।२८६१।।
इमे भेदा किलाभ्यस्ताःपृथ्व्याद्याः परस्परम् । शतभेदाभवन्त्यत्रदोषास्तेषांविराधनात् ।।२८६२।।
अमीषांसर्वयत्नेन रक्षणं ये प्रकुर्वते । तेषां सद्व्रतिनांदोषास्तावन्तःस्युर्गुणा हि ते ।।२८६३।।

अर्थ—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेंन्द्रिय ये दस जीवोंके भेद होते हैं तथा इन दशों प्रकार के जीवों की विराधना के दश भेद हो जाते हैं, इनको परस्पर गुणा कर देने से दश प्रकार के प्राणी और उनकी दश प्रकारकी विराधना इन दोनों को परस्पर गुणा कर देने से सौ भेद हो जाते हैं। श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करनेवाले जो मुनि प्रयत्न पूर्वक इन दशों प्रकार के प्राणियों की रक्षा करते रहते हैं और उनको दश प्रकार की विराधना से बचाते रहते हैं, उनके उत्तरगुणोंके सौ गुण माने जाते हैं। ।।२८६१-२८६३।।

८४०० भेदों का कथन निर्देश—

गुणाश्चतुरशीतिस्तेशतेनानेनवर्गिताः । गुणाभवन्ति दक्षैश्चतुराशीतिशतप्रमाः ।।२८६४।।

अर्थ—पहले उत्तरगुणों में चौरासी गुण बतला चुके हैं, उनको इन सौ से गुणा कर देने से चौरासी सौ भेद हो जाते हैं ।।२८६४।।

व्रह्मचर्य की विराधना करनेवाले १० भेदों के कथन निर्देश—

स्त्रीसंसर्गोमहास्वादरसाद्याहारभोजनम् । गंधमाल्यादिसंस्पर्श.कोमलंशयनासनम् ।।२८६५।।

शरीरमण्डनं गीतवाद्यादिश्रवणं ततः । अर्थहेमादिसम्पर्कः कुशीलदुर्जनाश्रयः ।।२८६६।।
राजसेवाक्षसौख्यायरात्रिसंचरणं वृथा । एते विराधनादोषाब्रह्मचर्यस्य वै दश ।।२८६७।।

अर्थ—स्त्रियों की संगति करना १, महा स्वादिष्ट सरस आहार का भोजन करना २, गंध माला आदि को सूंघना ३, कोमल शयन और आसन पर सोना बैठना ४, शरीर को सुशोभित बनाये रखना ५, गीत बाजे आदि का सुनना ६, सोना चांदी आदि धन से संबंध रखना ७, कुशीली दुष्टों की संगति रखना ८, राजसेवा करना ९ और इन्द्रियों के सुख के लिये व्यर्थ ही रात्रि में घूमना १०, ये दश ब्रह्मचर्य की विराधना करनेवाले दोष हैं ।।२८६५-२८६७।।

८४००० भेदों का कथन निर्देश—

त्रिशुद्धया ये त्यजन्ते तान्दशदोषांस्तपस्विनः । जायन्तेसद्गुणास्तेषां दशैव व्रतशुद्धिदाः ।२८६८।
एतैर्दशविकल्पैश्चतुरशीतिशतान्यपि । गुणितानिसहस्राश्चतुरशीतिप्रमाणकाः ।।२८६९।।

अर्थ—जो तपस्वो मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक इन दश दोषों का त्याग कर देते हैं, उनके व्रतों को शुद्ध करनेवाले दश गुण प्रगट हो जाते हैं, ऊपर गुणों के चौरासीसौ भेद बतलाये हैं, उनसे इन दश को गुणा कर देने से गुणों के चौरासी हजार भेद हो जाते हैं ।।२८६८-२८६९।।

आलोचना के दस भेदों का कथन—

आकंपितश्चदोषोनुमानितोऽदृष्टबादरौ । सूक्ष्मः प्रच्छन्नदोषोथशब्दाकुलितसंज्ञकः ।।२८७०।।
दोषो बहुजनोऽव्यक्तस्तत्सेवीति दशस्फुटम् । दोषा आलोचनस्यैव ज्ञेया एतेघकारकाः ।।२८७१।।

अर्थ—आकंपित, अनुमानित, अदृष्ट, बादर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, तत्सेवी ये दश पाप उत्पन्न करनेवाले आलोचना के दश दोष हैं । ।।२८७०-२८७१।।

८ लाख ४० हजार गुणों के कथन का निर्देश—

अमीषां दशदोषाणांयत्नेनत्यजनात्सताम् । उत्पद्यन्तेगुणाः शुद्धिकरास्तावन्त एव हि ।।२८७२।।
एतैश्चतुरशीतिश्च सहस्रावर्गितागुणैः । चत्वारिंशत्सहस्राणि ह्यष्टलक्षाधिकान्यपि ।।२८७३।।

अर्थ—जो सज्जन पुरुष प्रयत्नपूर्वक इन दश दोषोंका त्याग कर देते हैं, उनके व्रतों को शुद्ध करनेवाले दस गुण प्रगट हो जाते हैं । ऊपर चौरासी हजार गुण बतला चुके हैं, उनके साथ इन दस का गुणा कर देने से आठ लाख चालीस हजार गुण हो

जाते हैं ॥२८७२-२८७३॥

प्रायश्चित के दश भेद—

आलोचनं त्रिशुद्धयाप्रतिक्रमणं च तद्द्वयम । विवेकोथतनूत्सर्गस्तपश्छेदः स्वदीक्षया ॥२८७४॥
मूलं च परिहारोथश्रद्धानंदशसंख्यकाः । प्रायश्चित्तस्य भेदा हि भवन्त्येतेविशुद्धिदाः ॥२८७५॥

अर्थ—मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना, दोनों करना, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, स्वदीक्षा का छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दस समस्त व्रतों को शुद्ध करनेवाले प्रायश्चित्त के भेद होते हैं ॥२८७४-२८७५॥

प्रायश्चित के १० भेद किसके गुण व किसके दोष रूप होते हैं—

विपरीता अमीदोषा जायन्तेवप्रमादिनाम् । सम्यगाचरिता नूनं गुणाः शुद्धिकराः सताम् ॥७६॥

अर्थ—यदि इन प्रायश्चित्तों के विपरीत आचरण किया जाय तो ये ही दश दोष हो जाते हैं तथा ये दोष प्रमादियों को अवश्य लगते हैं। यदि इन्हीं प्रायश्चित्तों के भेदों को अच्छी तरह पालन किया जाय तो सज्जनों के व्रतों को शुद्ध करनेवाले ये ही दस गुण हो जाते हैं ॥२८७६॥

मुक्ति के कारणभूत ८४ लाख गुणों का कथन—

एतैर्दशगुणैश्चत्वारिंशत्सहस्रसद्गुणाः । अष्टलक्षाधिका युक्त्याप्राक्तनागुणिता बुधैः ॥२८७७॥
लक्षाश्चतुरशीतिश्चभवेयु पिण्डितागुणाः । सर्वदोषारिहंतारोमुनीनां मुक्तिहेतवः ॥२८७८॥

अर्थ—ऊपर जो आठ लाख चालीस हजार गुणों के भेद बतलाये हैं उनके साथ इन दस से गुणा कर देने से चौरासी लाख गुण हो जाते हैं। ये सब गुण मुनियों के समस्त दोष रूपी शत्रुओं को नाश करनेवाले हैं और मुक्ति के कारण हैं ॥२८७७-२८७८॥

कैसे गुणों को धारण करनेवाले पूज्य पद प्राप्त होते हैं—

एतैर्महागुणैर्यान्तित्रिजगत्पूज्यतापदम् । गणेशजिनचक्र्यादिभूतिं च गुणशालिनः ॥२८७९॥

अर्थ—जो महा पुरुष इन गुणों को धारण कर अपनी शोभा बढ़ाते हैं वे पुरुष इन गुणों के माहात्म्य से तीनों लोकों के द्वारा पूज्य पदको प्राप्त होते हैं और गणधर तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती आदि की महा विभूति को प्राप्त होते हैं ॥२८७९॥

उत्तम गुणों के धारण करनेवाले महापुरुषों की उभय लोक में कैसी महिमा होती है—

यथात्रैव लभन्तेहोयशःसत्कारपूजनम् । नमस्कारस्तवादीनिगुणिनश्चपदेपदे ॥२८८०॥

तथार्हमिन्द्रदेवेन्द्रनागेन्द्रादिपदानि च । प्राप्यामुत्रश्रयन्ते ते पूजास्तुतिशतानि च ॥२८८१॥

अर्थ—जो पुरुष इन उत्तम गुणों को धारण करते हैं, उनका इस लोकमें यश फैलता है, लोग पद-पदपर उनका आदर सत्कार करते हैं, उनकी पूजा करते हैं, उनको नमस्कार करते हैं और उनकी स्तुति करते हैं । तथा इसीप्रकार परलोकमें भी अर्हमिंद्र, देवेन्द्र, नागेन्द्र आदि के उत्तम उत्तम पद उनको प्राप्त होते हैं और वहांपर भी सैंकड़ों बार उनकी पूजा होती है और सैंकड़ों बार उनकी स्तुति होती है ॥२८८०-२८८१॥

कौन जगत में पूज्य है और कौन अपूज्य है—

गुणाःसर्वत्रपूज्यन्तेदक्षैःसत्पुरुषाश्रिताः । निर्गुणा नच लोकेस्मिन् सत्कुलादियुताअपि ।।२८८२॥

अर्थ—सत्पुरुषों के आश्रित रहनेवाले गुण विद्वान पुरुषों के द्वारा सर्वत्र पूजे जाते हैं और जो पुरुष निर्गुण होते हैं वे चाहे कितने ही अच्छे कुल में उत्पन्न क्यों न हुए हों तथापि उनकी पूजा कोई नहीं करता ॥२८८२॥

मर जानेपर भी कौन सदा जीवित एवं कौन जीवित रहने पर भी मरे के समान है ?

इहामुत्र च जीवन्तिजीवन्तो वा मृताः स्फुटम् । गुणितोगुणिसंयोगाज्जगद्विख्यातकीर्तितः ॥८३॥
जीवन्तोपिमृताज्ञेया निर्गन्धकुसुमोपमाः । दृक्तपोज्ञानवृत्तादिगुणहीनाः कुकीर्तितः ॥२८८४॥

अर्थ—गुणी पुरुष उन गुणों के निमित्त से तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो जाते हैं और तीनों लोकों में उनकी कीर्ति फैल जाती है । इसलिये वे इस लोक में भी जीते हैं और परलोक में भी जीते हैं । वे मर जानेपर भी सदा जीवित ही रहते हैं । जो पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तप आदि गुणों से रहित हैं, उनकी अपकीर्ति चारों ओर फैल जाती है इसलिये वे जीवित रहते हुए भी सुगंध रहित पुष्प के समान मरे हुए के समान समझे जाते हैं ॥२८८३-२८८४॥

सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति की प्रेरणा—

मत्वेति धीधनानित्यं पालयन्तुगुणोत्तमान् । गुणिनां पदसंसिद्धयै दृगाद्यान्यत्नतोभुवि ।२८८५॥

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान पुरुषोंको गुणियों का पद प्राप्त करने के लिये सम्यग्दर्शन आदि उत्तम गुणों को प्रतिदिन प्रयत्न पूर्वक पालन करते रहना चाहिये । ॥२८८५॥

दश प्रकार के धर्मों का स्वरूप एवं नामों का निर्देश—

अथधर्मं प्रवक्ष्यामि दशभेदं सुखाम्बुधिम् । साक्षान्मुक्तिपरींगन्तुं पाथेयंपथि योगिनाम् ॥२८८६॥

आद्याक्षमोत्तमा श्रेष्ठं मार्दवं चार्जवोत्तमम् । सत्यं शौचंमहान् संयमस्तपस्त्यागसत्तमः ।।२८८७।।
आकिंचन्यं परं ब्रह्मचर्यंसल्लक्षणान्यपि । इमानि धर्ममूलानि श्रमणानां दशैव हि ।।२८८८।।

अर्थ—अथानंतर—अब आगे दश प्रकार के धर्मों का स्वरूप कहते हैं । ये दश प्रकार के धर्म मुनियों के लिये सुख के समुद्र हैं और मोक्षरूपी नगर में जाने के लिये मार्ग का साक्षात् पाथेय है, मार्ग व्यय है । उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य यह मुनियों के दश धर्म हैं और समस्त धर्मोंका मूल है ।।२८८६-२८८८।।

उत्तम क्षमा धर्म का स्वरूप निर्देश—

मिथ्यादृक्शत्रुदुष्टाद्यैःकृतेसत्यत्युपद्रवे । अपकीर्तिभयादिभ्यः सह्यतेताडनादिकम् ।।२८८९।।
संयतैरिह लोकार्थं न परमार्थसिद्धये । यत्सा क्षमोच्यते सद्भिः सामान्यपुरुषाश्रिता ।।२८९०।।

अर्थ—यदि कोई मिथ्यादृष्टि, शत्रु वा दुष्ट लोग किसी मुनि पर घोर उपद्रव करें, उनकी अपकीर्ति करें, उन्हें भय दिखलावें वा ताड़नादिक करें तो जो मुनि केवल इस लोक के लिये उसको सहन करते हैं, परलोक के लिये सहन नहीं करते उसको सज्जन पुरुष सामान्य पुरुषों के आश्रित रहनेवाली क्षमा कहते हैं ।।२८८९-२८९०।।

किसके उत्तम क्षमा होती है—

आस्यदृष्टिविषद्धर्यादीनांसमर्थेत्रसत्यपि । केवलंकर्मनाशायसह्यते यो महात्मभिः ।।२८९१।।
प्राणनाशकरोघोरोपसर्गो दुर्जनैः कृतः । उत्तमाख्याक्षसासोक्ताधर्मरत्नखनीपरा ।।२८९२।।

अर्थ—परंतु जो मुनि उसी विष ऋद्धि दृष्टि विष ऋद्धि आदि अनेक ऋद्धियों के कारण समर्थ होनेपर भी केवल कर्मों को नाश करने के लिये दुष्टों के द्वारा किये हुये प्राणों को नाश करनेवाले घोर उपसर्गों को भी सहन करते हैं, उन महात्माओं के धर्मरत्न की खानि ऐसी सर्वोत्तम उत्तम क्षमा होती है ।।२८९१-२८९२।।

उत्तम क्षमा धारण करने की प्रेरणा—

स्वदोषगुणचिन्ताद्यैः प्रत्यक्षादिविचिंन्तनैः । विचार चतुरैः कार्यासर्वत्रैका क्षमापरा ।।२८९३।।

अर्थ—अपने गुण दोषों को चिंतवन कर अथवा प्रत्यक्ष परोक्ष के गुण दोषों को चिंतवन कर विचारशील चतुर पुरुषों को सर्वत्र एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिये ।।२८९३।।

साधु किस प्रकार चिंतवन करते हुये निंदा आदि के वचन सहते हैं—

यदिकश्चित्कुधीः कुर्यात्साधोर्निन्दां तदायमी । हृदीतिचिन्तयेदेतेदोषाःसन्ति न वा मयि ।।६४।।
विद्यते यदिदोषोमे नचास्यसत्यभाषणात् । दोषाभावेथवाऽज्ञानाद्वक्त्येष ममदूषणम् ।।२८६५।।
न मारयतिमां मे न किंचिद्गृह्णातिसद्गुणम् । इत्यादिचिन्तनंस्तेन सोढव्यंनिन्दनादिकम् ।।६६।।

अर्थ—यदि कोई दुष्ट पुरुष किसी साधु की निंदा करता हो तो उस समय उस साधु को अपने मनमें विचार करना चाहिये कि मुझमें ये दोष है वा नहीं। यदि मुझमें ये दोष है तो इसका कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह तो सत्य भाषण कर रहा है। यदि अपने में ये दोष न हों तो उनको विचार करना चाहिये कि यह अपने अज्ञान से मेरे दोषों को कहता है, मुझे मारता तो नहीं है अथवा मेरे श्रेष्ठ गुणों को तो ग्रहण नहीं करता अथवा नहीं छीनता, इसप्रकार चिंतवन कर उन मुनियों को अपनी होने वाली निंदा को सहन करना चाहिये ।।२८६४-२८६६।।

किस प्रकार के चिंतवन से गाली आदि के वचन सहते, क्षमा भाव धरते हैं—

यदि कश्चित्परोक्षेणमुनिमाक्रोशतिक्रुधा । तदेति मुनिना ध्येयंक्रोधाग्निजलदोपमम् ।।२८६७।।
आक्रोशति परोक्षेयं प्रत्यक्षे मां न पापधीः । लाभोस्मान्मम मत्वेतिक्षंतव्यं तेन तत्कृतम् ।।६८।।

अर्थ—यदि कोई दुष्ट पुरुष क्रोध में आकर परोक्ष में किसी मुनि को गाली देता हो वा कड़वे बुरे वचन कहता हो तो क्रोध रूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ के समान उन मुनि को इसप्रकार चिंतवन करना चाहिये कि यह पापी परोक्ष में ही मुझे गाली देता है, प्रत्यक्ष में आकर तो गाली नहीं देता मेरे लिये यही बड़ा लाभ है। यही समझ कर उन मुनियों को उस दुष्ट का अपराध क्षमा कर देना चाहिये ।।२८६७-२८६८।।

दुष्ट दुर्वचन सहन करने की प्रेरणा—

वाक्रोशतिर्यति कश्चित्प्रत्यक्षेण दुरात्मकः । तदेतिचिन्तनीयंसन्मुनिना कोपनाशकम् ।।२८६६।।
ददाति केवलंमेयंगालीं हन्ति न मां शठः । गालीभिः किं व्रणान्यत्र जायन्तेमेऽशुभानि वा ।।
अतोत्रामुत्रहानिश्चास्यैवनिन्दनतो न मे । विचिन्त्येतिस्वमौनेन सोढव्यं तेन दुर्वचः ।।२६०१।।

अर्थ—यदि कोई दुरात्मा प्रत्यक्ष में ही आकर किसी मुनि को गाली देवे तो उस मुनि को क्रोध को नाश करनेवाला इसप्रकार का चिंतवन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे गाली ही देता है, मुझे मारता तो नहीं है, गाली से मेरे घाव थोड़े ही हुए जाते हैं अथवा मेरी कुछ हानि थोड़ी ही होती है। यदि वास्तव में देखा जाय तो मेरी

निंदा करने से इस लोक में भी इसकी हानि होती है और परलोक में भी इसकी हानि होती है । इसमें मेरी कुछ हानि नहीं होती इसप्रकार चितवन कर और मौन धारण कर उन मुनिराज को उस दुष्ट के दुर्वचन सहन कर लेने चाहियें ।।२८९९-२९०१।।

क्रोध से ताड़नादि करनेपर मुनिराज किस प्रकार चिंतवन करते हैं—

अथवायद्यधी:कश्चित्साधुं ताडयतिक्रुधा । तदेत्थं साधुना चित्ते चिन्तनीयंक्षमाकरम् ।।२९०२।।
हन्त्येवायंकुधीर्मामत्प्राणान् हरतिनांजसा । अस्मान्मे लाभएवात्रनंचहानिरघक्षयात् ।।२९०३।।
वात्रायंवधबंधाद्यै मे पापं हरतिस्फुटम् । नच पुण्यमतोस्यैवहानिर्वृद्धिर्ममोर्जिता ।।२९०४।।
अथवामद्रिपुश्चायंप्राग्भवे ताडितो मया । ततो मां ताडयत्यत्रदोषोमेऽस्य न जातुचित् ।।२९०५।।

अर्थ—यदि कोई मूर्ख क्रोध में आकर किसी साधु को ताड़ना करे मारे तो उन मुनिराज को अपने चित्तमें क्षमा की खानिरूप ऐसा चितवन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे मारता ही है, मेरे प्राणों का हरण तो नहीं करता अतएव इसमें मेरा लाभ ही है, मेरी हानि कुछ नहीं है, मेरे तो इसमें पाप नष्ट होते हैं, असाताकर्मों की निर्जरा होती है । इसप्रकार चितवन करना चाहिये । अथवा इसप्रकार चिंतवन करना चाहिये कि यह मूर्ख मुझे मारकर वा बांधकर मेरे पापों का हरण करता है, मेरे पुण्य को तो हरण नहीं करता ? इसलिये ऐसा करने में इसकी तो हानि है और मेरे लिये लाभ है। अथवा उन मुनिराज को इसप्रकार चितवन करना चाहिये कि यह मेरे पहले भव का शत्रु है, मैंने पहले भव में इसको मारा होगा इसलिये यह इस भव में मुझे मारता है, यह तो मेरा ही दोष है इसमें इसका क्या दोष है ।।२९०२-२९०५।।

अपने ही कर्म का उदय जान मुनिराज क्षमा धारण करते हैं—

प्राग्भवे वा कृतं कर्म यत्तन्मयेवभुज्यते । निमित्तमात्रमत्रेमं मन्ये दु:खादिकारकम् ।।२९०६।।
मदीयमपिचेच्चित्तं व्रजेत्क्रोधाग्निसन्निधिम् । अज्ञस्यास्यविदोमेत्र कोविशेषस्तदापृथक् ।।२९०७।।

अर्थ—अथवा उन मुनिराज को इसप्रकार चितवन करना चाहिये कि मैंने पहले भवों में जो कर्म किए हैं वे मुझे ही भोगने पड़ेंगे । यह प्राणी तो उन कर्मों के उदय से होनेवाले दु:खों में केवल निमित्त कारण है । मुख्य कारण तो मेरे ही कर्मों का उदय है । यदि इस समय मेरे हृदय में भी क्रोध उत्पन्न हो आवे तो फिर इस मूर्ख में और मुझ ज्ञानी में अलग-अलग विशेषता क्या होगी ? फिर तो दोनों ही समान हो जायेंगे ।।२९०६-२९०७।।

क्रोध करने से पूर्व साधना भी व्यर्थ हो जाती है—

क्रोधहालाहलाक्रान्तंनिर्विषीकर्तुं मक्षमः । अहं यदि कथं क्रोधविषं पिवामिसाम्प्रतम् ।।२९०८।।
अभ्यस्तो यः शमः पूर्वं बहुकष्टैर्मयाधुना । वैफल्यं तस्य जायेत यदि कोपं करोम्यतः ।।२९०९।।

अर्थ—यदि मैं क्रोधरूपी महा विषसे आक्रांत हुए इस पुरुष को निर्विष करने में समर्थ नहीं हूं अर्थात् यदि मैं इसका क्रोधरूपी विष दूर नहीं कर सकता हूं तो फिर मैं इस समय क्रोधरूपी विष का पान क्यों करूं । यदि मैं इस समय क्रोध करता हूं तो मैंने पहले अनेक कष्ट सहन कर जो उपशम रूप (अत्यंत शांत) परिणामों का अभ्यास किया है वह सब व्यर्थ हो जाता है ।।२९०८-२९०९।।

स्थिरचित्त से उपद्रव सहने की प्रेरणा—

इत्यादिचिन्तनैश्चित्तंस्थिरीकृत्याशुसाधुना । सोढव्यं निखिलंलोके ताडनं दुर्जनोद्भवम् ।।२९१०।।

अर्थ—इसप्रकार चिंतवन कर उन मुनिराज को अपना चित्त स्थिर कर लेना चाहिये और इस लोक में दुष्टों के द्वारा उत्पन्न हुए मारण ताड़न आदि सब उपद्रव सहन कर लेने चाहिये ।।२९१०।।

प्राण हरण करने के अवसर पर भी मुनिराज क्षमा धारण करते हैं—

यदि कश्चिद्ऋषेःप्राणान् गृह्णातिश्वभ्रनायकः । ऋषिणेदं तदा चिन्तनीयकोपाग्नि नीरदम् ।।
आदत्तेयं ममप्राणान् नच धर्मं शिवप्रदम् । अस्मा द्रालाद्धि मे लाभो न हानिर्धर्मवर्द्धनात् ।।१२।।

अर्थ—यदि कोई नरक को जाने वाला दुष्ट किसी मुनि के प्राण ही हरण करता हो तो उन मुनिराज को उस समय क्रोधरूपी अग्नि को शांत करने के लिये मेघ के समान इसप्रकार का चिंतवन करना चाहिये, यह मूर्ख मेरे प्राणों को लेता है, मोक्ष देने वाले मेरे धर्म को तो नहीं लेता इसलिये इस मूर्ख से मेरी कोई हानि नहीं है, किंतु मेरे धर्म की वृद्धि होने से मेरा लाभ ही है ।।२९११-२९१२।।

मुनिराज मारने वाले को भी मित्र एवं हितू मानते हैं—

जरा जर्जरितंकायंहत्वादिव्यंगुणाकरम् । वपुदत्ते वधाद्यै मे कथं स न सुहृद्वरः ।।२९१३।।
बंधाद्यैः पापकर्मभ्योयद्ययं मां न मोचयेत् । तदामोक्षः कुतस्तेभ्योमेऽस्मादेषहितंकरः ।।२९१४।।
कारागारनिभात्कायान्मोचयित्वाशुमां हि यः । स्वर्गादौस्थापयत्येव कथं स शत्रुरुच्यते ।।२९१५।।

अर्थ—और देखो यह प्राणी मुझे मारकर जरासे जर्जरित हुए मेरे शरीर को नाश करता है और अनेक गुणों की खानि ऐसा दिव्य शरीर मुझे देता है इसलिये यह

तो मेरा सबसे बढ़कर मित्र है । यदि यह प्राणी मुझे मारकर पाप कर्मों से मुझे नहीं छुड़ाता तो मैं उन पापों से कैसे छूटता ? इसलिये कहना चाहिये कि यह तो मेरा सबसे अच्छा हित करनेवाला है । अरे जो पुरुष कारागार के समान इस शरीर से मुझे शीघ्र ही छुड़ाकर मुझे स्वर्गादिक में पहुंचा देता है, यह मेरा शत्रु कैसे हो सकता है उसे तो मैं अपना मित्र समझता हूं ।।२९१३-२९१५।।

पुनः उत्तम क्षमा धारण करने की प्रेरणा—

इत्यादिसद्विचारौघैः प्राणनाशेपि साधुना । क्षमैका सर्वथा कार्या कोपः कार्यो न जातुचित् ।।१६।।

अर्थ—इसप्रकार अनेक तरह से अपने श्रेष्ठ विचार धारण कर प्राण नाश होनेपर भी मुनिराज को एक उत्तम क्षमा ही धारण करनी चाहिये । उन मुनिराज को क्रोध कभी नहीं करना चाहिए ।।२९१६।।

मुनिराज चन्दन के वृक्ष एवं पृथ्वी के समान अविकारी और अचल होते हैं—

छेदनैः कर्तनैर्दाहैर्विक्रियांयातिचन्दनम् । न यथान्न तथा योगी सर्वोपद्रवराशिभिः ।।२९१७।।
कम्पते न यथा पृथ्वीखननज्वालनादिभिः । उपसर्गैस्तथाविश्वैर्ध्यानस्थोधीरसंयमी ।।२९१८।।

अर्थ—जिस प्रकार चंदन को छेदने से, काटने से वा जलाने से चंदन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार समस्त उपद्रवों के समूह आ जानेपर भी योगी के हृदय में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता । जिसप्रकार पृथ्वी को खोदने वा जलाने से पृथ्वी कभी कंपायमान नहीं होती उसी प्रकार समस्त उपसर्गों के आ जानेपर भी ध्यान में स्थिर हुए धीरवीर संयमी अपने ध्यान से कभी चलायमान नहीं होते हैं । ।।२९१७-२९१८।।

सैकड़ों उपसर्गों के आनेपर भी साधु विकृत नहीं होते हैं—

क्वचिद्दुग्धामृतादीनिविषायन्तेविधेर्वशात् । नोपसर्गैश्चसाधूनांचित्तानन्दामृतानि भोः ।।२९१९।।

अर्थ—कभी कभी कर्मोंके निमित्त से वा अन्य किसी कारण से दूध वा अमृत आदि उत्तम पदार्थ भी विषरूप हो जाते हैं, परंतु साधुओं के हृदय से उत्पन्न हुआ आनंदामृत सैकड़ों उपसर्गों के आ जानेपर भी कभी विषरूप वा विकाररूप नहीं होता । ।।२९१९।।

क्रोध की निंदा एवं क्षमा की महिमा का वर्णन—

न कोपसदृशोवह्निर्विश्वप्रज्वालनक्षमः । अमृतं न क्षमातुल्यंत्रिजगत्प्रीणनक्षमम ।।२९२०।।

अर्थ—इस संसार में क्रोध के समान अन्य कोई अग्नि नहीं है क्योंकि यह क्रोध समस्त संसार को जला देने में समर्थ है। इसीप्रकार क्षमा के समान इस संसार में कोई अमृत नहीं है क्योंकि इस क्षमा से तीनों लोकों के प्राणी अत्यन्त संतुष्ट हो जाते हैं ।।२६२०।।

क्रोध करनेवाले जीवों की हानि—

द्वीपायनः स्वकोपेनदग्ध्वाद्वारावतीं मुनिः । सर्वां स्वस्य शरीरचागात्तैजसेन दुर्गतिम् ।।२६२१।।
क्रोधेनाघार्जनं कृत्वा बहवो नारदादयः । रौद्रध्यानाद्गताःश्वभ्रं स्त्रीश्यप्रादिरहिता अपि ।।२२।।

अर्थ—देखो द्वीपायन मुनि ने क्रोध कर तेजस समुद्घात के द्वारा समस्त द्वारिका नगरी जला डाली, अपना शरीर जला डाला और अंत में उसे नरकरूप दुर्गति में जाना पड़ा। इनके सिवाय स्त्री धन आदि से रहित ऐसे नारद आदि बहुत से प्राणी क्रोध के कारण अनेक पापों को उपार्जन कर अंतमें रौद्रध्यान से मर कर नरक पहुंचे हैं ।।२६२१-२६२२।।

क्रोध अग्नि के समान आत्मिक गुणों को नष्ट करता है—

कोपाग्नि र्जृम्भतेसाधोर्यस्य कायकुटीरके । तस्यदृष्टयादिरत्नानि भस्मीभावंव्रजन्त्यतः ।२६२३।।
पूर्वं दहति कोपाग्निर्देहं ततोपरान्जनान् । इहंपुंसां च धर्मादीन् दत्तेमुत्रह्यधोगतिम् ।।२६२४।।

अर्थ—जिस साधु के शरीररूपी झोंपड़ी में क्रोधरूपी अग्नि लग जाती है, उसके सम्यग्दर्शन आदि समस्त रत्न अवश्य ही जलकर भस्म हो जाते हैं। यह क्रोधरूपी अग्नि पहले तो अपने शरीर को जलाती है, फिर अन्य प्राणियों को जलाती है और फिर उन साधुओं के धर्मादिक गुणोंको नष्ट करती है तथा फिर अंतमें परलोक में नरकादिक अधोगति को देती है ।।२६२३-२६२४।।

जिनेन्द्रदेव क्रोध करनेवाले को क्या समझते हैं—

यदि कोपं क्वचित्कुर्यान्नग्नो वा चीवरावृतः । तदा नीचो जिनैः प्रोक्तः सोन्त्यजादपिपापधीः ।।

अर्थ—यदि कोई नग्न साधु वा एक कोपीन मात्र रखने वाला एलक वा क्षुल्लक कहीं पर क्रोध करता है तो भगवान जिनेन्द्रदेव उस पापी को चांडाल से भी नीच समझते हैं ।।२६२५।।

अनेकों दोषों को उत्पन्न करनेवाले क्रोध को मुनि कैसी तलवार से नाश करते हैं—

न क्रोधेन समो वैरी सर्वानर्थाकरोशुभः । इहामुत्रमनुष्याणां सप्तमश्वभ्रकारकः ।।२६२६।।

इत्यादिदोषकर्तारं क्रोधशत्रुं तपोधनाः । क्षमाखड्गेनमोक्षायदुर्जयंघ्नन्तुशक्तितः ॥२९२७॥

अर्थ—इस संसार में क्रोध के समान मनुष्यों का अन्य कोई शत्रु नहीं है। क्योंकि यह क्रोध इस लोक में भी समस्त अनर्थों को करनेवाला और अशुभ वा पाप उत्पन्न करनेवाला है और परलोकमें भी सातवें नरक तक पहुंचाने वाला है। इसप्रकार अनेक दोष उत्पन्न करनेवाले और अत्यन्त दुर्जय ऐसे क्रोधरूप शत्रु को तपस्वी लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपनी शक्ति से क्षमारूप तलवार के द्वारा नाश कर डालते हैं ॥२९२६-२९२७॥

क्षमा की महिमा और किसने इसे धारण करके केवल ज्ञान को प्राप्त किया—

क्षमामुक्तिसखी प्रोक्ता जिनैर्मुक्तिवशीकरा । कल्पवल्लीक्षमा नृणां संकल्पितसुखप्रदा ॥२९२८॥
क्षमा रक्षापरापुंसां शत्रुभ्यः शममातृकाः । क्षमा धर्मसुरत्नानां खनीसाराशुभकरा ॥२९२९॥
पार्श्वेशसंजयन्ताख्यशिवभूत्यादियोगिनः । क्षमयात्राचिराज्जित्वाबहूपसर्गान्वैरिजान् ॥२९३०॥
केवलावगमंप्राप्यत्रिजगद्भव्यपूजनम् । लोकाग्रशिखरजग्मुर्बहवः शर्मसागरम् ॥२९३१॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने इस क्षमा को, मोक्ष को वश करनेवाली ऐसी मोक्ष की सखी बतलाई है। तथा यही क्षमा मनुष्यों के लिये इच्छानुसार सुख देनेवाली कल्पलता के समान है। मनुष्यों को शत्रुओं से रक्षा करनेवाली यह क्षमा ही सबसे उत्तम है। यह क्षमा उपशम की माता है, सबमें सारभूत है, शुभ करनेवाली है और धर्मरूप रत्नों की खानि है। देखो भगवान पार्श्वनाथ स्वामी, संजयंत मुनि और शिवभूत आदि कितने ही मुनि इस क्षमा को धारण कर ही शत्रुओं से उत्पन्न अनेक उपसर्गों को जीतकर शीघ्र ही केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं तथा तीनों लोकों के भव्य जीवों के द्वारा पूजे जाकर अनंत सुखों के समुद्र ऐसे लोक शिखर पर जा विराजमान हुए हैं। ॥२९२८-२९३१॥

सर्वश्रेष्ठ गुणों का समूह रूप क्षमा को धारण करने की प्रेरणा—

क्षमासमं तपश्नेनास्तिक्षमातुल्यं न सद्व्रतम् । क्षमाभं न हितंकिंचित्क्षमानिभं न जीवितम् ॥३२॥
इत्यादीन्परमान् ज्ञात्वा क्षमायाः गुणसंचयान् । कुर्वन्तुसुधियोनित्यं क्षमां कृत्स्नप्रयत्नतः ॥३३॥

अर्थ—इस संसार में क्षमा के समान अन्य कोई तप नहीं है, क्षमा के समान अन्य कोई श्रेष्ठ व्रत नहीं है, क्षमा के समान कोई हित नहीं है और क्षमा के समान कोई जीवन नहीं है। इसप्रकार इस क्षमा के सर्वोत्कृष्ट गुणों के समूह को समझकर

बुद्धिमानों को पूर्ण प्रयत्न के साथ नित्य ही क्षमा धारण करनी चाहिये ।।२९३२-२९३३।।

उत्तम मार्दव धर्म के कथन की प्रतिज्ञा—

इत्येकं लक्षणं सारं धर्मस्याख्यायधीमताम् । क्षमाख्यं धर्ममूलं च द्वितीयं मार्दवं ब्रुवे ।।२९३४।।

अर्थ—इसप्रकार बुद्धिमानों के लिये धर्मका मूल और सारभूत ऐसे एक उत्तम रूप धर्मका लक्षण कहा । अब आगे दूसरे उत्तम मार्दव का लक्षण कहते हैं ।।२९३४।।

मार्दव धर्म का लक्षण—

सत्सूत्तमेषुसर्वेषुसज्जात्यादिषुचाष्टसु । मृदुभिश्चित्तवाक्कायैर्निहत्य तत्कृतंमदम् ।।२९३५।।
क्रियतेमृदुभावोयोखिलाहंकारवर्जितः । तद्धर्मलक्षणं ज्ञेयं मार्दवं सत्कृपाकरम् ।।२९३६।।

अर्थ—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर ये अभिमान के आठ कारण बतलाये हैं, इन सबकी उत्तमता प्राप्त होनेपर भी मुनियों को अपने कोमल मन-वचन-काय को धारण कर इन आठों मदों का त्याग कर देना चाहिये तथा सब तरह के अभिमानों का त्याग कर अपने कोमल परिणाम धारण करने चाहिये । श्रेष्ठ दया को पालन करनेवाला यही मार्दव धर्म का लक्षण है ।।२९३५-२९३६।।

कोमल एवं कठोर परिणामों के फल का निर्देश—

व्रतशीलसमस्तानि यान्तिसम्पूर्णतां सताम् । सुमार्दवेन मुक्तिस्त्रीदत्ते चालिंगनं दृढम् ।।२९३७।।
त्रियोगमार्दवत्वेन धर्मिणां धर्मउल्वणः । उत्पद्यतेगुणैर्विश्वैः सार्द्धं विश्वसुखाकरः ।।२९३८।।
काठिन्यपरिणामेन जायते पापमूर्जितम् । क्षयोखिलव्रतादीनांनिंद्यं च श्वभ्रसंबलम् ।।२९३९।।

अर्थ—इस मार्दव धर्म के कारण सज्जनों के समस्त व्रत और शील पूर्ण हो जाते हैं तथा इस मार्दव धर्म से ही मुक्तिस्त्री दृढ़ आलिंगन देने को तत्पर रहती है । मन-वचन-काय तीनों को कोमल रखने से धर्मात्मा पुरुषों के समस्त गुणों के साथ-साथ समस्त सुखों को देनेवाला सर्वोत्कृष्ट धर्म प्रगट होता है । तथा कठिन परिणामों को रखने से प्रबल पाप उत्पन्न होता है, समस्त व्रतों का नाश होता है और अत्यन्त निंद्य ऐसा नरक गति का साधन प्रगट हो जाता है ।।२९३७-२९३९।।

मार्दव धर्म के धारण करने की प्रेरणा—

इतिसन्मृदुकाठिन्यचित्तयोःफलमंजसा । शुभाशुभंविदित्वाहोहत्वाकठिनमानसम् ।।२९४०।।
विश्वसत्वकृपाक्रान्तं मार्दवं सुष्ठुयत्नतः । कुर्वन्तुमुनयोधर्मंशिवश्रीसुखसमृद्धये ।।२९४१।।

अर्थ— इसप्रकार कोमल परिणामों का फल शुभ और कठिन परिणामों का फल अशुभ समझकर कठिन परिणामों का त्याग कर देना चाहिये और उन मुनियों को धर्म तथा मोक्ष की लक्ष्मी और सुख बढ़ाने के लिये प्रयत्नपूर्वक समस्त जीवों की कृपा से परिपूर्ण ऐसा मार्दव धर्म धारण करना चाहिये ।।२९४०-२९४१।।

पुन: जिनेन्द्रदेव कथित आर्जव धर्म का स्वरूप निर्देश—

हृदियत्संस्थितंकार्यंब्रूयते वचसा च तत् । वपुषाचर्यंतेतथ्यमृजुबुद्धिभिरंजसा ।।२९४२।।
एतदार्जवमत्यर्थमुत्तमं धर्मलक्षणम् । प्रणीतं धर्मनाथेन सतां धर्मकुलालयम् ।।२९४३।।

अर्थ—अपनी सरल बुद्धि को धारण कर अपने मनमें जो कार्य जिस रूप से चिंतवन किया है, उसको उसी रूप से कहना और शरीर के द्वारा उसी रूप से करना, उत्तम आर्जव धर्म कहलाता है । धर्मकी परंपरा का घर ऐसा यह आर्जव धर्मका लक्षण सज्जनों के लिये भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।।२९४२-२९४३।।

आर्जव धर्म की महिमा एवं उसका फल—

पुंसां चार्जवभावेन जायन्ते निर्मला गुणाः । त्रिजगत्सुखसाराणि तीर्थेशादिविभूतयः ।।२९४४।।
धर्मिणामृजुचित्तेनोत्तमो धर्मोभवान्तकः । साक्षान्मुक्तिवधूदाताभवेत्सर्वार्थसाधकः ।।२९४५।।
आर्या आर्जवयोगेनह्यव्रताअपिभोगिनः । यान्तिदेवालयं नूनं ? मतोस्याप्यमातृकः ।।२९४६।।

अर्थ—इस आर्जव धर्म के निमित्त से मनुष्यों को अत्यन्त निर्मल गुण प्राप्त होते हैं, तीनों जगत के सारभूत सुख प्राप्त होते हैं और तीर्थंकरादिक की विभूतियां प्राप्त होती हैं । सरल हृदय को धारण करने से धर्मात्माओं को, संसार को नाश करने वाला साक्षात् मोक्षस्त्री को देनेवाला और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करनेवाला उत्तम धर्म प्राप्त होता है । देखो सदा भोगोपभोग सेवन करनेवाले और अव्रती ऐसे भोग भूमिया भी मन-वचन-कायको सरल रखने के कारण स्वर्ग में ही जाकर जन्म लेते हैं । ।।२९४४-२९४६।।

किसके ध्यानादि तप निष्फल है—

कौटिल्यपरिणामेन कुटिलायान्तिदुर्गतिम् । अहोपापार्जनंकृत्वामार्जारमकरादिकाः ।।२९४७।।
कूटद्रव्यमिवव्यर्थंनिष्फलंस्वप्नराज्यवत् । विषमिश्रितदुग्धं वा तपोध्यानादिदुर्धियाम् ।।२९४८।।

अर्थ—तथा बिल्ली, मगर आदि मायाचारी कुटिल जीव अपने कुटिल परिणामों के ही कारण अनेक पापों को उत्पन्न कर दुर्गति में जाकर जन्म लेते हैं । जो

सरल बुद्धि को धारण नहीं करते, उनके तप और ध्यानादिक सब नित्य द्रव्य के समान व्यर्थ हैं, स्वप्न में मिले हुए राज्य के समान निष्फल हैं और विष मिले हुए दूध के समान हानि करनेवाले हैं ।।२९४७-२९४८।।

मायाचारी रूप क्रियाओं का फल एवं उसे त्यागने की प्रेरणा—

मायाविनां तपोधर्मसंयमो वा शुभक्रिया । क्वयतो निश्चितंमायाघेनतिर्यग्गतिर्भवेत् ।।२९४९।।
मत्वेति दूरतस्त्यक्त्वामायावाक्यादिमंजसा । ऋजुयोगेन कुर्वीध्वमार्जवंमुक्तयेबुधाः ।।२९५०।।

अर्थ—मायाचारी पुरुषों के तप, धर्म, संयम वा शुभ क्रियाएं कुछ नहीं बन सकतीं, क्योंकि यह निश्चित है कि मायाचारी से उत्पन्न हुए पाप के कारण मायाचारियों को तिर्यंच गति की ही प्राप्त होती है । यही समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये मायाचारी से मिले हुये मन-वचन-काय को दूर से ही त्याग कर देना चाहिये और मन-वचन-काय की सरलता धारण कर आर्जव धर्मका पालन करना चाहिये ।।२९४९-२९५०।।

सत्यधर्म का लक्षण एवं उसे धारण करने का फल—

स्वान्येषां हितमुद्दिश्य धर्मतत्त्वार्थगर्भितम् । ब्रूयतेयद्वचस्तथ्यं सारं सिद्धान्तवेदिभिः ।।२९५१।।
भाषासमितिमालंब्य तत्सत्यं धर्मलक्षणम् । ज्ञानबीजं जगन्मान्यं कर्मघ्नं मोक्षकारणम् ।।२९५२।।
सत्येन विमला कीर्तिर्भ्रमेल्लोकत्रयेसताम् । महाधनश्च जायेत ज्ञानाद्यैः सद्गुणैः सह ।२९५३।।
त्रिजगच्छ्रीः परं सौख्यं जगत्पूज्या च भारती । सर्वज्ञवैभवंसत्याल्लभ्यतेसत्यवादिभिः ।।२९५४।।

अर्थ—सिद्धांत को जाननेवाले जो मुनि अपने और दूसरों के हित को ध्यान में रखते हुए धर्म और तत्त्वों के अर्थों से सुशोभित यथार्थ और सारभूत वचन कहते हैं तथा भाषा समिति को आलंबन कर वचन कहते हैं, वह सत्यधर्म का लक्षण है । यह सत्यधर्म ज्ञानका बीज है, तीनों लोकों में मान्य है, कर्मों को नाश करनेवाला है और मोक्ष का कारण है । इस सत्यधर्म के कारण सज्जनों की निर्मल कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है और सम्यग्ज्ञानादिक श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ उनको महाधर्म की प्राप्ति होती है । सत्यवादियों को इस सत्यधर्मके प्रभाव से तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त होती है, परम सुख की प्राप्ति होती है, तीनों लोकों में पूज्य ऐसी सरस्वती की प्राप्ति होती है और सर्वज्ञ की विभूति प्राप्त होती है ।।२९५१-२९५४।।

असत्य बोलने का फल एवं सत्य बोलने की प्रेरणा—

जडत्वंमुखरोगत्वं स्वाकीर्तिदुःखमंजसा । दुर्गतिं च महत्पापंलभन्तेनृतभाषिणः ।।२९५५।।

इत्येतयोःफलं ज्ञात्वा त्यक्त्वामृषावचोखिलम् । वदन्तुनिपुणाः सत्यं मधुरंसद्वचोहितम् ।।२६५६।।

अर्थ—मिथ्या भाषण करनेवालों को अज्ञानता की प्राप्ति होती है, मुख के अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, संसारमें अपकीर्ति फैल जाती है, अनेक दुःखों की प्राप्ति होती है और महा पाप उत्पन्न होता है । इसप्रकार सत्य असत्य दोनों का फल समझ कर बुद्धिमानों को सब तरह के मिथ्या भाषण त्याग कर देना चाहिये और हित करने वालें मधुर सत्य वचन कहने चाहिये ।।२६५५-२६५६।।

शौच धर्म का लक्षण—

इन्द्रियार्थेष्वनासक्तं निस्पृहं विश्ववस्तुषु । सर्वांगिकरुणाकान्तंमनः कृत्वाघवर्जितम् ।।२६५७।।
लोभशत्रुं निहत्योच्चैः सन्तोषो यो विधीयते । विश्वार्थस्वसुखादौतच्छौचं सद्धर्मलक्षणम् ।।५८।।

अर्थ—जो मुनि अपने मनसे इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति का त्याग कर देते हैं, अपने ही मन में समस्त पदार्थों की निस्पृहता धारण करते हैं और समस्त जीवों की दया पालन करते हैं । इसप्रकार अपने मनको पाप रहित बनाकर लोभ रूपी शत्रु को सर्वथा नाश कर डालते हैं और समस्त पदार्थों में तथा अपने सुखादिक में पूर्ण संतोष धारण करते हैं, उसको शौच नामका धर्म कहते हैं ।।२६५७-२६५८।।

लोभ के चार भेद एवं उन्हें त्यागने की प्रेरणा—

जीवितारोग्य पंचेन्द्रियोपभोगैश्चतुर्विधः । स्वान्ययोरत्रलोभोदक्षैस्त्याज्यः समुक्तये ।।२६५६।।

अर्थ—इस संसारमें लोभ चार प्रकार का है, जीवित रहनें का लोभ, आरोग्य रहने का लोभ पंचेन्द्रियों का लोभ और भोगोपभोगों की सामग्री का लोभ । चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये अपने तथा दूसरों के दोनों के लिये चारों प्रकारके लोभ का त्याग कर देना चाहिये ।।२६५६।।

किसको शौच धर्म की प्राप्ति होती है—

निर्लोभानां जिताक्षाणां शौचधर्मोहिकेवलम् । जायतेपरमोमुक्त्यै न कामाशक्तचेतसाम् ।२६६०।।

अर्थ—जो इन्द्रियों को जीतनेवाले निर्लोभी हैं, उन्हीं के मोक्ष प्राप्त करनेवालें परमोत्कृष्ट शौचधर्म की प्राप्ति होती है, जिनका हृदय कामवासना में लगा हुआ है, उनके शौचधर्म की प्राप्ति कभी नहीं होती ।।२६६०।।

निर्लोभी एवं लोभी पुरुषों को संसार में किसकी प्राप्ति होती है—

शौचेन महती लक्ष्मीर्भुवनत्रयगोचरा । मुक्तिस्त्रीस्वयमायातिनिर्लोभांश्चयशःपरम् ।।२६६१।।

लोभिनां लोभपापेनदारिद्रं दुःखमुल्वणम् । दुर्गतौ भ्रमणं पापंदुर्ध्यानं चाशुभो भवेत् ।।२९६२।।

अर्थ—निर्लोभी पुरुषों को इस शौचधर्म के प्रभाव से तीनों लोकों में उत्पन्न होनेवाली महा लक्ष्मी प्राप्त होती है तथा मोक्ष लक्ष्मी स्वयं आकर प्राप्त हो जाती है और उनका सर्वोत्कृष्ट यश तीनों लोकों में फैल जाता है। लोभी पुरुषों को लोभ रूप पाप से दरिद्रता उत्पन्न होती है, घोर दुःख प्राप्त होते हैं, अनेक दुर्गतियों में परिभ्रमण होता है, महा पाप उत्पन्न होता है, निंद्य अशुभध्यान होता है और अशुभ कर्मों का बंध होता है ।।२९६१-२९६२।।

किसके द्वारा लोभ रूपी शत्रु को नष्ट करना चाहिये—

मत्वेत्याहत्यलोभारिंसन्तोषखड्गघाततः । अन्तः शौचंविधातव्यंबुधैर्मुक्त्यै जलावृते ।।२९६३।।

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये संतोष रूपी तलवार की चोट से लोभ रूपी शत्रु को मार डालना चाहिये और बिना जल के अंतरंग शौच को धारण करना चाहिये ।।२९६३।।

संयम धर्म का स्वरूप निर्देश—

मनः पचेन्द्रियाणांयद्रोधनंपरिरक्षणम् । षड्जीवानांत्रिशुद्धया चाचर्यंतेत्रमुमुक्षुभिः ।।२९६४।।
संयमः स जिनैः प्रोक्तः साक्षान्मुक्तिनिबन्धनः । तपोदृग्ज्ञानधर्मादिगुणानांशुद्धकारकः ।।२९६५।।

अर्थ—मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनि लोग मन-वचन-काय की शुद्धतापूर्वक जो मन और पांचों इन्द्रियों का निरोध करते हैं तथा छहों काय के जीवों की रक्षा करते हैं उसको भगवान जिनेन्द्रदेव संयम कहते हैं। यह संयम मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा तप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और धर्मादिक समस्त गुणों को शुद्ध करनेवाला है ।।२९६४-२९६५।।

संयम के भेद एवं उनके स्वामी का निर्देश—

उपेक्षापहृताभ्यां स संयमोद्विविधोमतः । आद्यउत्कृष्टकायानांद्वितीयोऽपरयोगिनाम् ।।२९६६।।

अर्थ—अथवा उपेक्षा संयम और अपहृत संयम के भेद से इस संयम के दो भेद हैं। उत्कृष्ट शरीर को धारण करनेवालों के उपेक्षा संयम होता है और अन्य मुनियों के अपहृत संयम होता है ।।२९६६।।

उपेक्षा संयम एवं अपहृत संयम का स्वरूप निर्देश—

उत्कृष्टांगवलाद्यस्यविदस्त्रिगुप्तिधारिणः । रागद्वेषाद्यभावो यः उपेक्षासंयमो त्र सः ।।२९६७।।

दक्षैः समितयः पंच यत्रसंवरमातृकाः । यत्नेन प्रतिपाल्यन्तेऽपहृताख्यः स संयमः ।।२९६८।।

अर्थ—महा ज्ञानी और तीनों गुप्तियों को पालन करनेवाले महा मुनियों के उत्कृष्ट शरीर में बल होने के कारण जो रागद्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है उसको उपेक्षा संयम कहते हैं । जो चतुर मुनि प्रयत्नपूर्वक संवर को उत्पन्न करनेवाली पांचों समितियों का पालन करते हैं उसको अपहृत संयम कहते हैं ।।२९६७-२९६८।।

संयम के उत्कृष्ट ५ भेद—

सामायिकाभिधं छेदोपस्थापनसमाह्वयम् । परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्परायनामकम् ।।२९६९।।
यथाख्याताख्य चारित्रं पंचभेदा इमेपराः । संयमस्य बुधैर्ज्ञेयाश्चारित्राख्यः शिवंकराः ।।२९७०।।

अर्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात ये चारित्र के उत्कृष्ट भेद हैं । ये सब मोक्ष की प्राप्ति करानेवाले हैं और संयम के ही उत्कृष्ट भेद कहलाते हैं । ऐसा बुद्धिमानों को समझ लेना चाहिये ।।२९६९-२९७०।।

सामायिक चारित्र का स्वरूप—

सर्वसावद्ययोगानांसर्वथायच्चवर्जितम् । निंदास्तुतिसुहृच्छत्रुदृषद्रत्नादिवस्तुषु ।।२९७१।।
सुखदुःखादिसंयोगे समता करणं बुधैः । विधीयते त्रिशुध्या तद् वृत्तंसामायिकाह्वयम् ।।२९७२।।

अर्थ—जहां पर बुद्धिमान पुरुष मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक समस्त सावद्यरूप (पापरूप) योगों का सर्वथा त्याग कर देते हैं तथा निंदा स्तुति में, शत्रुमित्र में, रत्न और पाषाण में और सुख दुःखादि के संयोग में समता धारण करते हैं, उस चारित्र को सामायिक नामका चारित्र कहते हैं ।।२९७१-२९७२।।

छेदोपस्थापना संयम का स्वरूप—

देशकालनिरोधाद्यैःप्रमादेन च कारणैः । अंगीकृतव्रतादीनां जातातीचारदोषतः ।।२९७३।।
प्रायश्चित्तस्वनिन्दाद्यैः यद्विशोधनमंजसा । क्रियतेव्रतिभिस्तद्धि छेदोपस्थापनंमतम् ।।२९७४।।

अर्थ—किसी देश काल के कारण वा किसी की रुकावट के कारण वा प्रमाद से अथवा और किसी कारण से यदि स्वीकार किये हुए व्रतों में कोई अतिचार लग जाय तो अपनी निंदा, गर्हा आदि के द्वारा प्रायश्चित्त धारण कर उस अतिचार संशोधन करना, दोषों की शुद्धि कर व्रतों को शुद्ध करना छेदोपस्थापन नाम का संयम कहलाता है ।।२९७३-२९७४।।

परिहार विशुद्धि चारित्र कौन धारण कर सकता है ?

त्रिंशद्वर्षप्रमायुस्त्रिवर्षाणामुपरिस्फुटम् । अधस्तलेनवाष्टानां पादसेवीजितेन्द्रियः ॥२९७५॥
तीर्थंकरस्य सद्धैर्यवीर्यकायवलांकितः । योनेकदेशभाषादिचतुरो नवपूर्ववित् ॥२९७६॥
निष्प्रमादो महादुःखचर्य्या सत्तपसायुतः । परिहारविशुद्धि सः कर्तुं महंति नापरः ॥२९७७॥

अर्थ—जिस मुनिकी आयु कम से कम तीस वर्ष की है, जो तीन वर्ष से ऊपर आठ नौ वर्ष तक भगवान तीर्थंकर परमदेव के समीप चरण कमलों के समीप रह चुका हो, जो जितेन्द्रिय हो, श्रेष्ठ धैर्य, श्रेष्ठ पराक्रम, श्रेष्ठ बल और श्रेष्ठ शरीर से सुशोभित हो तो अनेक देश की भाषाओं के जानने में चतुर हो, ग्यारह अंग और नौ पूर्वका पाठी हो, प्रमाद रहित हो, जो अत्यन्त कठिन और दुःखमय चर्या करता हो और श्रेष्ठ तपश्चरण करता हो वही मुनि परिहार विशुद्धि नाम के चारित्र को धारण कर सकता है। जिसमें ये गुण नहीं है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र को कभी धारण नहीं कर सकता ॥२९७५-२९७७॥

परिहार विशुद्ध चारित्र का स्वरूप—

वर्जयित्वात्रिसंध्यांचानेकदेशविहारिणा । एकाकिना प्यनेनैवयोगिना वनवासिना ॥२९७८॥
गम्यते यत्रयत्नेन गव्यूतिद्वयमन्वहम् । परिहारविशुध्याख्यंतच्चारित्रंविशुद्धिदम् ॥२९७९॥

अर्थ—परिहार विशुद्धि संयम को धारण करनेवाला मुनि सामायिक की तीनों संध्याओं को छोड़कर बाकी के समय में अकेला ही अनेक देशों में विहार करता है, वन में ही निवास करता है और प्रतिदिन प्रयत्न पूर्वक दो गव्यूति अवश्य गमन करता है, वह आत्मा को अत्यन्त विशुद्ध करनेवाला परिहार विशुद्ध नामका चारित्र कहलाता है ॥२९७८-२९७९॥

सूक्ष्म साम्पराय नामक चारित्र का स्वरूप—

सूक्ष्मीकृतस्वलाभेन शुक्लध्यानविधायिना । क्षपकोपशमश्रेण्यारूढेनमोहघातिना ॥२९८०॥
सूक्ष्मात्मानुभावोयोऽत्रक्रियतेशुद्धचेतसा । तत्सूक्ष्मसाम्परायाख्यचारित्रंलोभघातकम् ॥२९८१॥

अर्थ—जिन महा मुनि ने अपना संज्वलन लोभ कषाय अत्यंत सूक्ष्म कर लिया है, जो शुक्लध्यान धारण कर रहे हैं, जो क्षपकश्रेणी वा उपशम श्रेणी में विराजमान हैं, जो मोहनीय कर्मको घात करनेवाले हैं, ऐसे मुनिराज जो शुद्ध हृदय से सूक्ष्म आत्मा का अनुभव करते हैं उसको लोभ को घात करनेवाला सूक्ष्म सांपराय नाम का चारित्र कहते हैं ॥२९८०-२९८१॥

यथाख्यात चारित्र का स्वरूप—

यथातथ्येन सर्वेषां व्रतादीनां च पालनम् । आगमोक्त्यान्तरेस्वानुभवनं परमात्मनः ।।२९८२।।
निर्मोहानां भवेद्यत्र शुक्लध्यानसुधाशिनाम् । तच्चारित्रं यथाख्यानाभिधंघातिघ्नघातकम् ।।८३।।

अर्थ—जो मुनिराज मोहनीय कर्म से रहित हैं और जो शुक्लध्यानरूपी अमृत का पान कर रहे हैं, ऐसे मुनिराज जो समस्त व्रतादिकों को यथार्थ रीति से पालन करते हैं और आगम में कहे अनुसार अपने आत्मा में परमात्मा का अनुभव करते हैं उसको घातिया कर्मों को नाश करने वाला यथाख्यात चारित्र कहते हैं ।।२९८२-२९८३।।

संयम की महिमा एवं उसको पालनें की प्रेरणा—

चारित्रैःपंचभिश्चैतैश्चतुर्भिर्वाशिवांगना । ध्यानिभिर्लभ्यते नूनं समस्तगुणभूषिता ।।२९८४।।
संयमेनसतांस्याच्च संवरोखिलकर्मणाम् । निर्जरासद्गुणग्रामः सुखं वाचामगोचरम् ।।२९८५।।
संयमेनसमं स्वल्पं कृतं तपोमहाफलम् । फलत्यत्र न संदेहो धीमतां स्वशिवादिषु ।।२९८६।।
संयमेन विना पुंसां तपोध्यानव्रतादिकम् । वृथा भवेन्न च सार्थंसर्वपापभवाश्रयात् ।।२९८७।।
विदित्वेतिविधातव्यः संयमः संवरार्थिभिः । कृत्स्नयत्नेनमुक्त्यर्थंरत्नत्रयविशुद्धये ।।२९८८।।

अर्थ—इन पांचों प्रकार के चारित्र से अथवा चार प्रकार के चारित्रसे ध्यानी पुरुषों को समस्त गुणों से विभूषित ऐसी मुक्तिरूपो स्त्री अवश्य प्राप्त हो जाती है । इस संयम को धारण करने से सज्जन पुरुषों के समस्त कर्मों का संवर होता है, समस्त कर्मों की निर्जरा होती है, समस्त गुणों के समूह प्राप्त होते हैं और वाणी के अगोचर सुख प्राप्त होता है । इस संयमके साथ-साथ थोड़ासा किया हुआ तप भी बुद्धिमानों को मोक्षादिक की प्राप्ति में महा फल देता है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है । इस एक संयम के बिना मनुष्यों के तप, ध्यान और व्रतादिक सब व्यर्थ हो जाते हैं, सार्थक नहीं होते क्योंकि बिना संयम के समस्त पापों का आस्रव होता ही रहता है । यही समझकर संवर करने वालों को रत्नत्रय की विशुद्धि के लिये तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिये पूर्ण प्रयत्न के साथ इस संयम का पालन करना चाहिये ।।२९८४-२९८८।।

तप का स्वरूप और उसके भेद—

पंचाक्षविषयाणांयत्समस्तेच्छानिरोधनम् । तत्तपः सूरिभिः प्रोक्तं परं सद्धर्मकारणम् ।।२९८९।।
प्रागुक्तं यद्द्विषड्भेदंविस्तरेण तपोखिलम् । धर्मार्थिभिर्विधेयं तत्सद्धर्माय भवापहम् ।।२९९०।।

अर्थ—पांचों इन्द्रियों के विषयों में अपनी समस्त इच्छाओं का निरोध करना

आचार्यों के द्वारा तप कहलाता है, यह तप उत्कृष्ट धर्म है और श्रेष्ठ धर्म का कारण है। पहले इस तप के बारह भेद विस्तार के साथ कह चुके हैं। वह सब तप संसार को नाश करनेवाला है, इसलिये धर्मात्मा पुरुषों को श्रेष्ठ धर्म धारण करना चाहिये। ॥२९८९-२९९०॥

त्याग धर्म का स्वरूप एवं ज्ञान दान का निर्देश—

अन्तर्बाह्योपधीनांयन्मूर्च्छात्यजनमंजसा। मनोवाक्काययोगैः स त्यागउत्तमधर्मदः ॥२९९१॥
तथाज्ञानहरं ज्ञानदानसिद्धान्तगोचरम्। शब्दार्थोभयसम्पूर्णं यत्सत्पात्राय दीयते ॥२९९२॥

अर्थ—मन-वचन-काय के तीनों योगों से अंतरंग और बाह्य सब तरह के परिग्रहों में मूर्च्छा वा ममत्व का त्याग कर देना त्याग कहलाता है। यह त्याग सबसे उत्तम धर्म को देनेवाला है। अज्ञान को हरण करनेवाला दूसरा त्याग ज्ञानदान है। यह ज्ञानदान सिद्धांत शास्त्रके गोचर है अर्थात् सिद्धांत शास्त्रोंका पढ़ाना ज्ञानदान है। सिद्धांत शास्त्र के शब्द अर्थ वा शब्द अर्थ दोनों जो श्रेष्ठ पात्रों के लिये दिए जाते हैं उसको ज्ञानदान कहते हैं ॥२९९१-२९९२॥

अभय दान का स्वरूप एवं ज्ञान दान एवं अभय दान का फल—

अभयाख्यं महद्दानं भयभीताखिलात्मनाम्। त्यागः स उच्यते सद्भिः केवलज्ञाननेत्रदः ॥२९९३॥
ज्ञानदानेन लभ्यन्ते श्रुतज्ञानादयोखिलाः। बुधेश्चनिर्भयस्थानं दयादानेननिश्चितम् ॥२९९४॥

अर्थ—तीसरा त्याग अभयदान है, भयसे भयभीत हुए समस्त जीवों को अभय दान देना अभय दान है, यह सब दानों में उत्तम दान है और केवलज्ञान रूपी नेत्रों को देनेवाला है ऐसा श्रेष्ठ पुरुषों ने कहा है। विद्वान पुरुषों को ज्ञानदान देने से पूर्ण श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है तथा दयादान देने से मोक्षरूप निर्भय स्थान की प्राप्ति होना अवश्य ही निश्चित है ॥२९९३-२९९४॥

परिग्रह त्याग से लाभ—

संगत्यागेन जायेत चित्तशुद्धिः परासताम्। तथाध्यानं प्रशस्तं च ध्यानात्कर्मक्षयस्ततः ॥२९९५॥
केवलज्ञानलक्ष्मीश्चततोमुक्तिवधूस्तया। अनन्तसुखमात्मोत्थंसिद्धश्रियागुणैःसमम् ॥२९९६॥

अर्थ—परिग्रहों का त्याग करने से सज्जनों का मन अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, मन के शुद्ध होने से ध्यान की प्राप्ति होती है, ध्यान से कर्मों का क्षय होता है, कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होती है, केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त होने से मुक्ति

रूपी स्त्री की प्राप्ति होती है और मुक्ति के प्राप्त होने से अनंत गुण और अनंत लक्ष्मी के साथ-साथ आत्मा से उत्पन्न होनेवाला अनंत सुख प्राप्त होता है ।।२६६५-२६६६।।

परिग्रह ग्रहण से हानि—

संगादिमूर्च्छया पुंसां दुर्ध्यानंजायतेतराम् । दुर्ध्यानाच्चमहापापं पापाद्दुःखपरंपरा ।।२६६७।।

अर्थ—परिग्रहादिक में ममत्व रखने से मनुष्यों के अशुभध्यान होता है, अशुभध्यान से महा पाप होता है और पाप से अनेक दुःखों की परंपरा प्राप्त होती है ।।२६६७।।

परिग्रह त्याग की महिमा आकांक्षा पूर्वक परिग्रह के त्यागने की प्रेरणा—

संगत्यागसमो धर्मो न जगच्छ्रीसुखाकरः । संगमूर्च्छानिभं पापं न महच्छ्वभ्रदुःखदम् ।।२६६८।।
विज्ञायेतिनिहत्याशुसंगाकांक्षांसुखार्थिनः । धर्मायाखिलसंगानां त्यागं कुर्वन्तु धर्मदम् ।।२६६६।।

अर्थ—इस संसार में परिग्रह के त्याग के समान अन्य कोई धर्म नहीं है, क्योंकि यह धर्म तीनों लोकों की लक्ष्मी और सुख की खानि है । इसीप्रकार परिग्रह में मूर्च्छा रखने के समान अन्य कोई पाप नहीं है, क्योंकि परिग्रह में मूर्च्छा रखना महा नरक के दुःख देनेवाली है । यही समझकर सुख चाहने वाले पुरुषों को धर्म की प्राप्ति के लिये समस्त परिग्रहों की आकांक्षा का त्याग कर देना चाहिये और उसके साथ समस्त परिग्रहों का त्याग कर देना चाहिये । यह परिग्रहों का त्याग ही धर्म की प्राप्ति करानेवाला है ।।२६६८-२६६६।।

आकिंचन्य धर्म का स्वरूप—

देहोपधिखशर्मादौममत्वं त्यज्यतेत्रयत् । निस्पृहैर्योगशुद्धया तदाकिंचन्यंसुखाकरम् ।।३०००।।

अर्थ—जो निस्पृह मुनि मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक शरीर परिग्रह और इन्द्रियों के सुख में ममत्व का त्याग कर देते हैं उसको सुख देनेवाला आकिंचन्य धर्म कहते हैं ।।३०००।।

पुनः परिग्रह के ममत्व के त्यागने की प्रेरणा—

यथा यथा शरीरादौनिर्ममत्वंप्रवर्द्धते । तथा तथा निरोधश्चपापानांनिर्जरासताम् ।।३००१।।
अक्षार्थोपधिशर्मादित्यक्तुं यच्छक्यते बुधैः । तत्त्याज्यंसकलं वस्तुमनोवाक्कायशुद्धिभिः ।।३००२।।
त्यक्तुं यच्छक्यते नाहो कायादिपुस्तकादिकम् । त्याज्यं तेषांममत्वं च सर्वथादोषकारणम् ।।

अर्थ—जैसे-जैसे शरीरादिक में निर्ममत्व बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे सज्जनों

के पापों का निरोध होता रहता है और कर्मों की निर्जरा होती रहती है। बुद्धिमान पुरुष इन्द्रियों के विषयों को और परिग्रहों के सुखको जितना त्याग कर सकते हैं उनको उतना त्याग मन-वचन-कायकी शुद्धता पूर्वक अवश्य कर देना चाहिये। तथा जो शरीर वा पुस्तक आदि ऐसे परिग्रह हैं जिसका त्याग किया ही नहीं जा सकता उनमें समस्त दोषों का कारण ऐसा ममत्व अवश्य छोड़ देना चाहिये ।।३००१-३००३।।

परिग्रह में ममत्व धारने से हानि—

एवं ये कुर्वते नित्यंह्याकिंचन्यं परं भवेत् । तेषां धर्मार्णवंदोषसंचयंममकारिणम् ।।३००४।।

अर्थ—इसप्रकार जो परिग्रह का त्याग वा ममत्वका त्याग कर देते हैं, उनके धर्मका सागर ऐसा सर्वोत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म होता है तथा जो परिग्रहादिकों में ममत्व धारण करते हैं उनके समस्त दोषों के समूह आ उपस्थित होते हैं ।।३००४।।

उत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म धारने की प्रेरणा—

मत्वेति ममतां त्यक्त्वासर्वांकायादिवस्तुषु । निर्ममत्वाशयैः कार्यमाकिंचन्यंशिवाप्तये ।।३००५।।

अर्थ—यही समझकर निर्ममत्व धारण करनेवाले पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये शरीरादिक समस्त पदार्थों में पूर्ण ममत्व का त्याग कर उत्कृष्ट आकिंचन्य धर्म धारण करना चाहिये ।।३००५।।

सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का लक्षण—

दृश्यन्ते सकला नार्यो यत्रमात्रादिसन्निभाः । त्यक्तरागैर्मनोनेत्रैब्रह्मचर्यं तदुत्तरम् ।।३००६।।
ब्रह्मचर्येणमुक्तिस्त्री वृणोति ब्रह्मचारिणम् । सर्वैःगुणैः समं शीघ्रं स्वर्गश्रियोत्र का कथा ।३००७।

अर्थ—रागद्वेष को त्याग करनेवाले जो पुरुष अपने मनरूपी नेत्रों से समस्त स्त्रियों को अपनी माता के समान देखते हैं उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मचर्य होता है। ब्रह्मचारियों को इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मुक्तिस्त्री समस्त गुणों के साथ-साथ आकर स्वयं स्वीकार करती है फिर भला स्वर्ग की लक्ष्मी की तो बात ही क्या है ।।३००६-३००७।।

किसका हृदय शुद्ध एवं किसका हृदय अशुद्ध रहता है—

उत्पद्यतेपरोधर्मो हृच्छुद्धया ब्रह्मचारिणाम् । कामिनां चित्तशुद्धिः क्व तयाविनाशुभंकुतः ।।

अर्थ—ब्रह्मचारियों का हृदय शुद्ध रहता है इसलिये उनको परम धर्म की

प्राप्ति होती रहती है तथा कामी पुरुषों का हृदय कभी शुद्ध नहीं हो सकता इसलिये उनका कल्याण भी नहीं हो सकता ।।३००८।।

ब्रह्मचर्य पालने की प्रेरणा—

ज्ञात्वेतिधीधना नित्यंयोगशुद्धयाविमुक्तये । पालयन्तुविरक्त्याहो ब्रह्मचर्यं सुधर्मदम् ।।३००९।।

अर्थ—यही समझकर विद्वान् पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक तथा परिणामों में विरक्तता धारण कर श्रेष्ठ धर्म देनेवाला यह ब्रह्मचर्य सदा पालन करते रहना चाहिये ।।३००९।।

दश धर्म पालने की प्रेरणा—

एषोदशविधोधर्मोमुक्तिस्त्रीहृदयप्रियः । क्षमादिलक्षणंविश्वैः कर्तव्योमुक्तिकांक्षिभिः ।।३०१०।।

अर्थ—इसप्रकार यह दश प्रकार का धर्म है और मुक्तिस्त्रीके हृदय को अत्यंत प्रिय है अतएव मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को उत्तम क्षमा आदि समस्त धर्मों को धारण कर सदा इसका पालन करते रहना चाहिये ।।३०१०।।

धर्म की महिमा एवं उसे पालने की प्रेरणा—

न धर्मसदृशोबंधुरिहामुत्रहितंकरः । नात्रधर्मसमः कल्पद्रुमः कल्पितभोगदः ।।३०११।।
चिन्तामणि नं धर्माभश्चिन्तितार्थशतप्रदः । धर्मतुल्योनिधिनास्तिह्यखण्डो वा सुहृद्वरः ।।३०१२।।
नधर्मसन्निभं पुंसां पाथेयं परजन्मनि । सहगामीक्वचिन्नान्योधर्माद्वाशर्मदः शुभः ।।३०१३।।
धर्माद्विना न कोप्यन्यो मोक्षं नेतुं नरान्क्षमः । उद्धर्तुं नरकाद्वाहो दातुं चेन्द्रादिसत्पदम् ।३०१४।।
इत्याद्यस्य फलं ज्ञात्वाप्रवरंसुष्ठुशक्तितः । भजध्वंधर्ममेकं च त्यक्त्वापापसुखार्थिनः ।।३०१५।।

अर्थ—इस संसार में इस लोक और परलोक दोनों लोकों में हित करनेवाला धर्म के समान अन्य कोई बन्धु नहीं है तथा इसी धर्म के समान इच्छानुसार भोगों को देनेवाला अन्य कोई कल्पवृक्ष नहीं है । इस धर्म के समान सैंकड़ों चिंतित पदार्थों को देनेवाला कोई चिंतामणि रत्न नहीं है, अथवा इस धर्म के समान कोई अखंड निधि नहीं है और इस धर्म के समान अन्य कोई श्रेष्ठ मित्र नहीं है । मनुष्यों को परजन्म में जाने के लिये इस धर्म के समान कोई पाथेय (मार्ग का व्यय) नहीं है तथा कल्याण करनेवाला शुभ रूप ऐसा वा साथी भी इस धर्म के सिवाय अन्य कोई नहीं है । इस धर्म के सिवाय अन्य कोई भी मनुष्यों को मोक्ष ले जाने में समर्थ नहीं है अथवा नरक से उद्धार करने के लिये भी तथा इन्द्रादिक श्रेष्ठ पद देने के लिये भी धर्म के सिवाय

अन्य कोई समर्थ नहीं है। अतएव सुख की इच्छा करने वालों को इस धर्म का ऐसा श्रेष्ठ फल समझकर अपनी शक्ति के अनुसार पापों का त्याग कर इस एक धर्म का ही सेवन करना चाहिये।२०११-२०१५॥

किसको धारण कर मोक्ष स्थान प्राप्त किया जा सकता है—

इतिमुदितसुधर्मंविश्वनाथैर्मुदार्च्यं दशविधमपदोषं ये चरन्त्यात्मशक्त्या।
त्रिभुवनपतिसेव्यंशमसारं च भुक्त्वा जिनपतिविभवं ते यान्तिमोक्षंगुणाब्धिम् ॥२०१६॥

अर्थ—इसप्रकार यह दश प्रकार का धर्म तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है और समस्त दोषों से रहित है। ऐसे इस धर्म को जो अपनी शक्तिके अनुसार धारण करते हैं वे तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा सेवनीय ऐसे सारभूत सुखों का अनुभव कर तीर्थंकर की विभूति को प्राप्त करते हैं और अंतमें अनेक गुणों के समुद्र ऐसे मोक्षस्थान में जा विराजमान होते हैं॥२०१६॥

अन्तमें धर्म को नमस्कार करके आचार्य पापों के नाश की याचना करते हैं—

धर्मश्रीधनकाङ्क्षिणां च धनदो धर्मंश्रयन्तेविदो,
धर्मणैवसदाप्यतेवरसुखं धर्मायभक्त्यानमः।
धर्मान्नास्त्यपरोगुणाष्टजनको धर्मस्यखानिः,
क्रियाः धर्मेमेदधतोमनः प्रतिदिनंहेधर्म पापं जहि ॥२०१७॥

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भ‌ट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते शीलगुण-
दशलाक्षणिकधर्मवर्णनोनामैकादशमोऽधिकारः।

अर्थ—यह धर्म लक्ष्मी और धन की इच्छा करनें वालों को धन देता है, विद्वान लोग ही इस धर्म को धारण करते हैं, इस धर्म से ही श्रेष्ठ सुखों की प्राप्ति होती है, इसीलिये मैं इस धर्म के लिये भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूं। इस धर्म के सिवाय सम्यक्त्व आदि आठों गुणों को देनेवाला अन्य कोई नहीं है, क्रियाकर्म वा धर्मानुष्ठान ही इस धर्मकी खानि है अतएव मैं अपने मनको प्रतिदिन धर्ममें ही लगाता हूं, हे धर्म तू मेरे पापों को नाश कर॥३०१७॥

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नामके महाग्रन्थमें शीलगुण दशलक्षण धर्म को निरूपण करनेवाला यह ग्यारहवां अधिकार समाप्त हुआ।

द्वादशमोधिकारः

मंगलाचरण

वीतरागान्मुनीन्द्रौघाननुप्रेक्षार्थचिन्तकान् । सद्ध्यानध्वस्तकर्मारीन् वन्देविश्वहितोद्यतान् ।१८।।

अर्थ—जो मुनिराज वीतराग हैं, अनुप्रेक्षाओं का सदा चिंतवन करते रहते हैं, जिन्होंने अपने श्रेष्ठध्यान से कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया है और जो समस्त संसार का हित करनेवाले हैं ऐसे मुनिराजों को मैं नमस्कार करता हूं ।।३०१८।।

बारह अनुप्रेक्षाओं के कथन की प्रतिज्ञा—

प्रत्यहं या अनुप्रेक्षा द्वादशैव मुनीश्वरैः । वैराग्यायसदाध्येयास्तावक्ष्येरागहानये ।।३०१९।।

अर्थ—मुनियों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिये बारह अनुप्रेक्षाओं का प्रतिदिन चिंतवन करना चाहिये । इसलिये रागद्वेष को नष्ट करने के लिये मैं उन अनुप्रेक्षाओं का निरूपण करता हूं ।।३०१९।।

द्वादश अनुप्रेक्षाओं के नाम निर्देश—

अनित्याख्या ह्यनुप्रेक्षा द्वितीयाशरणाभिधा । संसारसंज्ञिकैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवाह्वयाः ।३०२०।।
संवरो निर्जरा लोको बोधिदुर्लभनामकः । धर्मरातानुप्रेक्षा भाषिता जिनपुंगवैः ।।३०२१।।

अर्थ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधि दुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएं भगवान जिनेन्द्रदेव ने कही हैं ।।३०२०-३०२१।।

अनित्य अनुप्रेक्षा का स्वरूप निर्देश—

अनित्यानिसमस्तानि वपुरायुः सुखानि च । इन्द्रचापसमानानि राज्यसौधधनानि च ।।३०२२।।
यौवनं जरयाक्रान्तं स्वायुर्यममुखेस्थितम् । रोगैः सन्निमश्रिता भोगाःसौख्यं दुःखपुरस्सरम् ।।२३।।
इन्द्रचक्रिबलेशादिपदानि शाश्वतानि न । इन्द्रियारोग्यसामर्थ्यबलान्यभ्रोपमानि च ।।३०२४।।
शृंचलाभाश्चलानार्यः कुटम्बंस्वविडम्बकम् । पुत्राः पाशोपमा गेह वासो वन्दिगृहोपमः ।३०२५।।
रूपं पुंसां क्षणध्वंसि संपावच्चलजीवितम् । सम्पदोविपदोन्तेस्युभगुरंनिखिलं जगत् ।।३०२६।।
आजन्मदिनमारभ्य जीवान् स्वान्तनयत्यहो । समयाद्यैः सदापापीयमोखण्डप्रयाणकैः ।।३०२७।।
यत्किचिद्दृश्यतेवस्तु सुन्दरं भुवनत्रये । कालानलेनतत्सर्वं भस्मीभावंभवेद्विधेः ।।३०२८।।

अर्थ—यह शरीर, आयु, सुख, राज्य, भवन और धन आदि सब अनित्य हैं और इन्द्रधनुष के समान क्षणभंगुर हैं। यह यौवन बुढ़ापे से घिरा हुआ है, अपनी आयु यमराज के मुख में ही रह रही है. भोग सब रोगों से मिले हुए हैं और सुखों के आगे सदा दुःख ही बने रहते हैं। इन्द्र चक्रवर्ती, बलदेव आदि के जितने उत्तम पद हैं वे भी सदा रहनेवाले नहीं हैं, तथा इन्द्रिय, आरोग्य, सामर्थ्य और बल सब बादल के समान थोड़ी देर तक ही ठहरने वाले हैं। चंचल स्त्रियां संकल के समान बंधनमें डालने वाली हैं, कुटम्ब सब विडम्बना मात्र है, पुत्र जाल के समान बांधने वाले हैं और घर का निवास कारागार के समान है। मनुष्यों का यह रूप क्षणभंगुर है, जीवन बिजली के समान चंचल है, संपत्तियां सब विपत्तियों के मध्य में रहती हैं। इसप्रकार यह समस्त जगत क्षणभंगुर है। यह महापापी यमराज समय समय के अनुसार थोड़ा थोड़ा चल कर जन्मपर्यंत सवेरे से शाम तक अनेक जीवोंको अपने पास बुला लेता है। इस संसार में तीनों लोकों में जो कुछ सुन्दर पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं वे सब कालरूपी अग्नि से जलकर भस्म हो जाते हैं ।।३०२२-३०२८।।

अनित्य शरीरादि से नित्य मोक्ष सिद्ध करने की प्रेरणा—

इत्यनित्यं जगद्ज्ञात्वा नित्यंमोक्षंसुलोभिनः। अनित्यै स्वशरीराद्यैः साधयन्तुदृगादिभिः ।३०२६।

अर्थ—इसप्रकार जगत को अनित्य समझ कर मोक्ष के लोभी पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर इस अनित्य शरीरादिक से नित्य स्वरूप मोक्ष को सिद्ध कर लेना चाहिये ।।३०२६।।

अशरण अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

वनेव्याघ्रगृहीतस्यमृगस्येव जगत्त्रये । यमारातिगृहीतस्य जन्तो र्न शरणं क्वचित् ।।३०३०।।

अर्थ—जिसप्रकार किसी वनमें किसी हिरण को सिंह पकड़ लेता है, उस समय उस हिरण का कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार जब इस जीव को यमरूपी शत्रु पकड़ लेता है तब इसको बचाने वाला शरणभूत तीनों लोकों में कोई दिखाई नहीं देता ।।३०३०।।

समस्त आपत्तियों में शरणभूत कौन ?

अर्हन्तोत्राशरीराश्चत्रिविधा साधवोखिलाः। इहामुत्रशरण्याः स्युःसर्वत्रापदिधीमताम् ।।३०३१।।
तथा तैश्च प्रणीतो यो धर्मोरत्नत्रयात्मकः। सहगामीशरण्यः स सतां यमान्तकोमहान् ।।३०३२।।
संसारभयभीतानांजिनशासनमद्भुतम् । शरण्यंविद्यतेपुंसां जन्ममृत्युसुखापहम् ।।३०३३।।

मंत्रतंत्रौषधादीनि व्यर्थानिनिखिलान्यपि । सन्मुखेसति जन्तूनांयमेऽकिंचित्कराणि च ।।३०३४।।

अर्थ—इसलिये बुद्धिमानों को इस लोक और परलोक दोनों लोकों में सर्वत्र समस्त आपत्तियों में अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ही शरण हैं। अथवा उन्हीं पंच परमेष्ठियों के द्वारा कहा हुआ तथा परलोक में भी इस जीव के साथ जाने वाला, सर्वोत्कृष्ट और यमराज को नाश करनेवाला ऐसा रत्नत्रय रूप धर्म ही सज्जनों को शरण होता है। जीव संसार से भयभीत हैं उनके लिये जन्ममृत्यु के दुःखों को दूर करनेवाला सर्वोत्कृष्ट यह जिनशासन ही शरणभूत है । जिस समय यमराज इन जीवों के सन्मुख होता है, उस समय मंत्र, तंत्र और औषधि आदि सब न कुछ करनेवाली व्यर्थ हो जाती हैं ।।३०३१-३०३४।।

मृत्युरूपी यमराज से कोई नहीं बचा सकता—

नीयमानोयमेनांगीवराकः स्वालयंप्रति । इन्द्रचक्रिखगेशाद्यैः क्षणं त्रातुं न शक्यते ।।३०३५।।
यत्रेन्द्राद्यांयमेनांघः पाल्यन्तेस्वपदाद्बलात् । कस्तत्रोद्धरतेन्योऽस्मात्सर्वजीवक्षयंकरात् ।।३०३६।।

अर्थ—जिस समय यह यमराज इस दुःखिया जीव को अपने घर ले जाता है उस समय इन्द्र चक्रवर्ती विद्याधर आदि कोई भी क्षणभरके लिये भी नहीं बचा सकता। अरे जब यह यमराज इंन्द्र को भी जबर्दस्ती अपने पैरों के नीचे डाल लेता है तो फिर समस्त जीवों को क्षय करनेवाले यमराज से और कौन बचा सकता है ।।३०३५-३०३६।।

पञ्च परमेष्ठी की शरण लेने की प्रेरणा—

विज्ञायेतिजिनेन्द्रोक्तधर्मस्यपरमेष्ठिनाम् । नित्यं मोक्षं यमादिभ्योव्रजन्तु शरणं बुधाः ।।३०३७।।

अर्थ—यही समझकर विद्वान पुरुषों को भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुये धर्म की शरण लेनी चाहिये, पांचों परमेष्ठियों की शरण लेनी चाहिये और यम नियम पालन कर सदा रहनेवाली मोक्ष प्राप्त कर लेनी चाहिये ।।३०३७।।

५ परावर्तन रूप संसारानुप्रेक्षा का स्वरूप—

द्रव्यक्षेत्राभिधे कालभवभावाह्वयेऽशुभे । संसारे दुःखसम्पूर्णे भ्रमन्ति कर्मणांगिनः ।।३०३८।।
कर्मनोकर्मपर्याप्तिभिर्गृहीता न पुद्गलाः । न मुक्ता बहुशो जीवैर्ये ते न स्युर्जगद्गृहे ।।३०३९।।
अधोमध्योर्ध्व लोकेषुभ्रमन्तोनिखिलांगिनः । यत्रोत्पन्नामृतानैव स प्रदेशो न विद्यते ।।३०४०।।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्दहिनः कर्मणा धृताः । येषु जातामृताहो न नस्युस्तेसमयाभुवि ।।३०४१।।

चतुर्गतिषु जीवैश्चयावद्ग्रैवेयकान्तिमम् । न गृहीता न मुक्ता या सा योनिर्नास्तिभूतले ।।३०४२।।
मिथ्याविरतिदुर्योगकषायैश्चनिरन्तरम् । प्रमादैर्विषयान्धाःस्वंनिघ्नन्ति कर्मपुद्गलैः ।।३०४३।।

अर्थ—यह संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पांच प्रकार का है, यह संसार दुःखों से परिपूर्ण है और अशुभ है, ऐसे संसार में ये प्राणी अपने कर्मों के उदय से सदा परिभ्रमण किया करते हैं। इन तीनों लोकोंमें ऐसे कोई पुद्गल नहीं हैं जो इस जीव ने कर्म नोकर्म और पर्याप्तियों के द्वारा अनंतबार ग्रहण न किये हों और अनंतबार ही न छोड़े हों। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक में ऐसा कोई लोक का प्रदेश नहीं है जहांपर संसार में परिभ्रमण करते हुए ये जीव उत्पन्न न हुए हों अथवा मृत्यु को प्राप्त न हुए हों। इसीप्रकार इस उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का कोई ऐसा समय नहीं है जिसमें ये प्राणी अपने-अपने कर्मों के उदय से न जन्में हों और न मरे हों। इस संसार में चारों गतियों की योनियों में से ग्रैवेयक विमान के अंत तक ऐसी कोई योनि नहीं है जो इस जीव ने न ग्रहण की हो न मरकर छोड़ी हो। विषयों में अंधे हुए ये जीव मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, प्रमाद और योगों के द्वारा निरंतर पुद्गलों के द्वारा बने हुए कर्मों का बन्ध करता रहता है ।।३०३८-३०४३।।

संसार में परिभ्रमण का कारण—

इति संसारकान्तारेऽनादौघोरेभ्रमन्त्यहो । धर्मंरत्नत्रयोपेतं ह्यप्राप्येन्द्रिलोलुपाः ।।३०४४।।

अर्थ—इसप्रकार इन्द्रियों के लोलुपी जीव रत्नत्रय से सुशोभित धर्म को न पाकर अनादि काल से चले आये घोर दुःखमय संसाररूपी वनमें सदा परिभ्रमण किया करते हैं ।।३०४४।।

संसार में भ्रमण करते जीव कैसे-कैसे कष्ट भोगते हैं—

जन्ममृत्युजरादु.खंरोगक्लेशशतानि च । इष्टवस्तुवियोगं चानिष्टसंयोगसंचयम् ।।३०४५।।
अपमानशतादीनिदारिद्रय विरहान्बहून । दौर्भाग्यादिमहादुःखान्प्राप्नुवन्तिभवांगिनः ।।३०४६।।

अर्थ—ये संसारी जीव सैंकड़ों जन्म-मरण जरा दुःख रोग और क्लेशों को प्राप्त होते हैं, इष्ट पदार्थों के वियोग और अनिष्ट पदार्थों के संयोग को प्राप्त होते हैं, सैंकड़ों अपमानों को प्राप्त होते हैं; दरिद्रता को प्राप्त होते हैं; अनेक प्रकार के विरहों को प्राप्त होते हैं, दुर्भाग्यता को प्राप्त होते हैं और अनेक महा दुःखों को प्राप्त होते हैं ।।३०४५-३०४६।।

संसार का स्वरूप समझ विवेकीजन को क्या करना चाहिये—

श्वभ्रस्थलजलाकाशेजायमानाविधेर्वशात् । म्रियमाणाः पराधीनालभन्तेदुःखमुल्वणम् ।।३०४७।।
सुखदुःखद्वयंभान्ति संसारेनिर्विवेकिनाम् । किंचित्सुखलवेनैवसर्वंदुःखंविवेकिनाम् ।।३०४८।।
इत्यशर्माकरं ज्ञात्वाभवंमोक्षंसुखार्णवम् । साधयन्तु बुधाः शीघ्रं तपोरत्नत्रयादिभिः ।।३०४९।।

अर्थ—ये जीव अपने-अपने कर्म के निमित्त से नरक में उत्पन्न होते हैं, जल, स्थल वा आकाश में उत्पन्न होते हैं और फिर पराधीन होकर मरते हैं इसप्रकार महा दुःखों को प्राप्त होते हैं। इस संसार में जो निर्विवेकी पुरुष हैं, उनके लिये सुख दुःख दोनों अच्छे लगते हैं और विवेकी पुरुषों को सुख किंचिन्मात्र दिखाई देता है, बाकी समस्त संसार महा दुःखमय प्रतीत होता है। अतएव विद्वान् पुरुषों को इस संसार को अनेक दुःखों का घर समझकर तपश्चरण और रत्नत्रय के द्वारा बहुत शीघ्र सुख का समुद्र ऐसा मोक्ष सिद्ध कर लेना चाहिये ।।३०४७-३०४९।।

एकत्व भावना का स्वरूप—

एकोरोगभराक्रान्तोरुदन् दीनोयमालयम् । गच्छेत्स्वजनमध्यान्न कोपि तेनसमंव्रजेत् ।।३०५०।।
एकोवध्नाति कर्माणि ह्येकोभ्रमतिसंसृतौ । एकोत्र जायते देही एकश्चम्रियतेसदा ।।३०५१।।
यत्ननानाहितैर्भोगैर्यः कायः पोषितोपि सः । पादैकं न व्रजेद्देहिनासार्द्धं दुर्जनादिवत् ।।३०५२।।
तत्र ये स्वजना जाताःस्वस्वकार्यपरायणाः । कर्मायत्ताः कथं यान्ति जीवेनसहतेखिलाः ।।३०५३।।
एकः पापार्जनाद्गच्छेन्नरकं दुःखपूरितम् । पुण्यपाकवशादेकः स्वर्गंसर्वसुखांकितम् ।।३०५४।।
त्रसस्थावरकायेष्वेकाकीभ्रमतिदुःखभाक् । आर्यम्लेच्छकुलेष्वत्रनृगतौविधिवंचितः ।।३०५५।।
एकस्तपोसिनाहत्वाकर्मारातीन् स्वपौरुषात् । मोहेनसहभव्योत्र व्रजेन्मोक्षं गुणाकरम् ।।३०५६।।

अर्थ—यह जीव अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही रोता है, अकेला ही दरिद्री होता है और अकेला ही मरता है, उस समय कुटम्ब परिवार के लोगों में से कोई इसके साथ नहीं जाता। यह जीव अकेला ही कर्मबंध करता है, अकेला ही संसार में परिभ्रमण करता है, सदा अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। यह जीव जिस शरीर को अनेक सुख देनेवाली भोगोपभोग सामग्री से पालन पोषण करता है वह शरीर उन जीवों के एक पेंड भी साथ नहीं जाता, दुष्ट के समान वह वहीं पड़ा रहता है। इस संसार में कर्मों के उदय से प्राप्त हुए कुटम्बी लोग जो अपने-अपने कार्य सिद्ध करने में सदा तत्पर रहते थे वे सब इस जीव के साथ भला कैसे जा सकते हैं अर्थात् कभी नहीं ? यह जीव इकट्ठे किए हुए पाप कर्म के उदय से अकेला ही दुःखों

से भरे हुए नरकों में जाता है और पुण्यकर्मके उदय से अकेला ही समस्त सुखों से भरे हुए स्वर्ग में जाता है। कर्मों से ठगा हुआ वह प्राणी अकेला ही दुःखी होता हुआ त्रस और स्थावरकायिक जीवों में परिभ्रमण करता है और अकेला ही मनुष्यगति में आर्य वा मलेच्छ कुलों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार यह अकेला ही भव्यजीव अपने पौरुष से तपश्चरणरूपी तलवार के द्वारा मोह के साथ-साथ समस्त कर्मरूपी शत्रुओं को मार कर अनंतगुणों से भरे हुए मोक्ष में जा विराजमान होता है ।।३०५०-३०५६।।

एकत्व भावना के चिंतवन की प्रेरणा—

इत्येकत्वंपरिज्ञायस्वस्यसर्वत्रधीधनाः। एकत्वं भावयन्त्वात्मनोत्रैकत्वपदाप्तये ।।३०५७।।

अर्थ—इसप्रकार सर्वत्र अपने अकेलेपन का परिज्ञान करके बुद्धिमानों को मोक्षरूप एकत्व पद प्राप्त करने के लिये इस एकत्व भावना का चिंतवन करते रहना चाहिये ।।३०५७।।

अन्यत्व अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

यत्रदेहात्पृथग्भूतोमृतःसाक्षात्विलोक्यते। देही जडेतरैस्तत्र किं स्वकीयः पृथग्जनः ।।३०५८।।
जीवात्पचेन्द्रियाण्यत्रभिन्नरूपाणि तत्त्वतः। कर्मजान्यन्यवस्तूनि मनः कायवचांसि च ।।३०५९।।
अन्यामातापिताप्यन्योन्याभार्यास्वजनोखिलः। पुत्राद्यन्यत्कुटंबं च स्याद्देहिनां चतुर्गतौ ।।३०६०।।
आत्मानंदर्शनज्ञानवृत्तादिगुणभाजनम्। मुक्त्वा किंचिन्न वस्तुस्यात्स्वकीयभुवनत्रये ।।३०६१।।

अर्थ—जहांपर मरने पर यह शरीर से साक्षात् भिन्न दिखाई देता है फिर भला जड़ और चैतन्यमय अन्य पदार्थ वा कुटम्बी लोग जो साक्षात् भिन्न दिखाई देते हैं वे इस आत्मा के कैसे हो सकते हैं। वास्तव में देखा जाय तो पांचों इन्द्रियां, मन-वचन-काय तथा अन्य समस्त पदार्थ इस जीव से भिन्न हैं और अपने-अपने कर्मके उदय से प्राप्त हुए हैं। चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए इन जीवों के माता भी भिन्न हैं, पिता भी भिन्न हैं, स्त्री भी भिन्न हैं, समस्त कुटम्ब वर्ग भी भिन्न हैं और पुत्रादिक भी सब भिन्न हैं। इन तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप गुणों से सुशोभित अपने आत्माको छोड़कर बाकी का और कोई भी पदार्थ अपना नहीं है ।।३०५८-३०६१।।

अन्यत्व भावना के स्वरूप को जाननेवाले को क्या करना चाहिये —

इत्यन्यत्वंविदित्वास्वंदेहादेस्तत्त्ववेदिनः। पृथक्कृत्यांगतोऽस्यन्तरेध्यायन्तुस्वंचिन्मयम् ।।३०६२।।

अर्थ—तत्त्वों को जानने वाले पुरुषों को इसप्रकार अपने आत्मा को शरीरादिक से भिन्न समझकर अपने उस शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को अपने अंतरंग में ही शरीर से भिन्न समझते हुए उसका ध्यान करना चाहिये ।।३०६२।।

अशुचि भावना का स्वरूप—

दृश्यते यत्रदुर्गंधेस्वदेहेप्यशुभाकरे । विश्वाशुचित्वबाहुल्यंभार्यादौ तत्र किं शुचिः ।।३०६३।।
एकान्ततोऽशुभं तीव्रं नरकेछेदनादिजम् । नारकांगेऽशुचित्वं च कृत्स्नदुःखनिबन्धनम् ।।३०६४।।
देहछेदांगभारारोपणाद्यशुभमुल्वणम् । तिर्यग्गतौतदंगादौ चाशुचित्वकृमिव्रजम् ।।३०६५।।
वीभत्सेश्वभ्रसादृश्ये गर्भे वसन्तिदेहिनः । नवमासान् ततो जन्मलभन्तेऽशुचियोनितः ।।३०६६।।
बालत्वेऽशुचिमध्येत्रलोटन्ति यौवन नराः । सेवन्ते चाशुचिद्वारंस्त्रीणांकामार्तपोडिताः ।।३०६७।।
रक्तमांसाशुभाकीर्णं चर्मवद्धास्तिसंचयम् । विश्वाशुभाकरीभूतं मलमूत्रादिभाजनम् ।।३०६८।।
रोगोरगविलं निंद्यमशुभं स्वकलेवरम् । विद्धि त्वं दुःखदंसर्वानर्थानां मूलमंजसा ।।३०६९।।
स्त्र्यशुचिद्वार जाता ये भोगाश्चस्वान्यदेहयोः । कदर्थनाभवास्तेषामशुभंवर्ण्यतेत्रकिम् ।।३०७०।।

अर्थ—जहांपर अनेक अशुभों की खानि और दुर्गंधमय अपने शरीर में ही समस्त अपवित्रता की बहुलता दिखाई देती है फिर भला स्त्रियों के शरीर में पवित्रता कैसे आ सकती है । देखो नरक में नारकियों के शरीर में तीव्र अपवित्रता है, वह अपवित्रता स्वभाव से ही अशुभरूप है, छेदन भेदन से उत्पन्न होती है और अन्य समस्त दुःखों के कारणों से उत्पन्न होती है । तिर्यंचगति में भी तिर्यंचों का शरीर छेदा जाता है, अधिक भार से वह थक जाता है, अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, इसप्रकार तिर्यंचों का शरीर भी अत्यन्त अपवित्र है । मनुष्यभव में यह प्राणी नौं महिने तक तो नरक के समान अत्यन्त बीभत्स गर्भ में निवास करता है और फिर अत्यन्त अपवित्र योनिके द्वारा जन्म लेता है । फिर बालकपन में अपवित्र स्थानों में ही लोटता फिरता है और यौवन अवस्था में काम से पीड़ित होकर स्त्रियों की महा अपवित्र योनि का सेवन करता है । हे जीव देख तेरा यह शरीर रुधिर मांस आदि अशुभ पदार्थों से भरा है, ऊपर चमड़े से ढका हैं, भीतर हड्डियों का ढेर भर रहा है, मल-मूत्र का भाजन है, समस्त अशुभ पदार्थों की खानि है, रोगरूपी सर्पों का बिल है, अत्यन्त निंद्य है, अनेक दुःख देनेवाला है और समस्त अनर्थोंकी जड़ है । हे जीव तू अपने शरीर को ऐसा समझ । जो भोग स्त्रियों की अत्यन्त अपवित्र योनि से उत्पन्न हुए हैं तथा अपने और दूसरों के शरीर को संघट्टित करने से उत्पन्न होते हैं उन भोगोंकी अपवित्रता

का भला क्या वर्णन करना चाहिये। अर्थात् वे तो अत्यन्त अपवित्र हैं ही ।।२०६३-२०७०।।

अपवित्र शरीर से पवित्र मोक्ष पद की सिद्धि की प्रेरणा—

इत्याद्यशुचिसम्पूर्णंजगद्ज्ञात्वाविरागिणः । वपुषाऽशुचिना मोक्षं साधयन्तु शुचिप्रदम् ।।२०७१।।

अर्थ—इसप्रकार समस्त जगत को अपवित्रमय जानकर विरक्त पुरुषों को इस अपवित्र शरीर से अत्यन्त पवित्र ऐसी मोक्ष सिद्ध कर लेनी चाहिये ।।२०७१।।

कौन संसार समुद्र में डूबते हैं ?

भयदु:खशताकीर्णे घोरेसंसारसागरे । कर्मास्रवैर्निमज्जन्तिधर्मपोतातिगा जनाः ।।२०७२।।

अर्थ—जिन मनुष्यों ने धर्मरूपी जहाज को छोड़ दिया है वे कर्मों के आस्रव होते रहने से सैंकड़ों भय और दुःखों से भरे हुए इस घोर संसार समुद्र में अवश्य डूबते हैं ।।२०७२।।

आस्रव के कारणों के त्यागने की प्रेरणा—

रागद्वेषौद्विधामोह:खानि संज्ञाश्चतुःप्रमाः। गौरवाणिकषायाश्चयोगाहिंसादयोनृणाम् ।।२०७३।।
एते नर्थाकरीभूतादुस्त्याज्याः कातरांगिनाम् । त्याज्याः कर्मारिभीतैः कृत्स्नकर्मास्रवहेतवः ।।७४।।

अर्थ—राग, द्वेष, दोनों प्रकार का मोह, इन्द्रियां, चारों प्रकार की संज्ञा, गौरव, कषाय, योग और हिंसादिक पाप ये सब मनुष्यों के अनेक अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं और कातर पुरुष बड़ी कठिनता से इसका त्याग कर सकते हैं इसलिये कर्मरूपी शत्रुओं से भयभीत रहनेवाले मनुष्यों को इन समस्त कर्मों के आस्रव के कारणों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये ।।२०७३-२०७४।।

आस्रव अनुप्रेक्षा का चिंतवन करनेवाला भव्यजीव रागद्वेष संज्ञादि की बार-बार निंदा करता है—

येनात्र तुष्यति द्रव्ये कुत्सिते द्वेष्टि दुर्जनः । दृग्वृत्तादौ च तौ रागद्वेषौधिग्भवतोऽशुभौ ।।२०७५।।
येनादत्ते न सन्मार्गं कुमार्गंमन्यते जनः । अक्षामिषे सुख वेत्ति द्विधामोहोधिगस्तु सः ।।२०७६।।
अभिभूता जगज्जीवा वारं वारं चतुर्गतौ । स्वं जानन्ति न यैस्तानिखानियान्तुक्षयंसताम् ।।७७।।
संज्ञाभिर्याभिरत्यर्थंपीडिताजन्तवोखिलाः । अर्जयन्तिमहापापं ता यान्तुप्रलयं स्वतः ।।२०७८।।
गारवैर्येजडाः पापं घोरं गुरुतरं वृथा । उपार्ज्यं नरकं यान्ति गच्छन्तु नाशमाशु ते ।।२०७९।।
कषायरिपवस्तेत्र व्रजन्तुक्षयमंजसा । यंदुष्कर्मस्थितिं कृत्वा पतन्ति नरकेंगिनः ।।२०८०।।
दुर्योगैर्यैं निजात्मानंनिवद्धकर्मबन्धनैः । क्षयन्तिदुर्गतौ जीवास्तेधिग्भवन्तु चंचलाः ।।२०८१।।

अर्थ— जिस रागद्वेषके कारण दुष्ट पुरुष धनादिक द्रव्यों में संतोष मनाते हैं और कुत्सित द्रव्य में द्वेष करते हैं अथवा सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र में द्वेष करते हैं, ऐसे अशुभ रागद्वेष को बार-बार धिक्कार हो । जिस मोह के कारण यह जीव श्रेष्ठ मार्ग को तो ग्रहण नहीं करता और कुमार्ग को बहुत अच्छा मानता है तथा जिस मोह इन्द्रियों के विषयों में ही सुख मानता है, ऐसे दोनों प्रकार के मोह को बार-बार धिक्कार हो । जिन इन्द्रियों के कारण ये जीव चारों गतियों में परिभ्रमण कर बार बार तिरस्कृत होते हैं और अपने आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते, ऐसी इन सज्जनों की इन्द्रियों का शीघ्र ही नाश हो । जिन आहारादिक संज्ञाओं के कारण ये समस्त जीव अत्यन्त पीड़ित वा दुःखी हो रहे हैं और महापाप उत्पन्न कर रहे हैं उन संज्ञाओं का भी अपने आप नाश हो । जिन गारव तथा अभिमानों से ये अज्ञानी जीव व्यर्थ ही महापाप उपार्जन कर नरक में जाते हैं उन अभिमानों का भी शीघ्र ही नाश हो । जिन कषायों से ये जीव कर्मों की स्थिति बांधकर नरक में पड़ते हैं वे कषायरूपी शत्रु शीघ्र ही नाश को प्राप्त हों । जिन चंचल योगों से ये जीव अपने आत्मा को कर्मरूपी बंधनों से बांधकर दुर्गति में गिर पड़ते हैं उन चंचल योगों को भी धिक्कार हो । ।।३०७५-३०८१।।

अल्प आस्रव भी संसार का ही कारण है—

हिंसाद्यैः पंचभिर्घोरैर्यैरुपार्ज्यात्रकिल्विषम् । गच्छन्तिदुर्धियःश्वभ्रं प्रलयंयान्तुपंच ते ।।३०८२।।
इत्याद्यैः प्रत्ययैःसर्वैः कर्मास्रवैर्गले धृताः । भ्रमन्तोत्र शठाः नित्यं लभन्ते दुःखमुल्वणम् ।३०८३।।
यावत्कर्मास्रवोल्पोपिकुर्वतामपि सत्तपः । न तावच्छाश्वतस्थानं किन्तुसंसारएव हि ।।३०८४।।

अर्थ—जिन हिंसादिक पांचों पापों से ये मूर्ख जीव घोर पापों का उपार्जन कर नरक में पड़ते हैं उन पांचों पापों का भी शीघ्र ही नाश हो । इसप्रकार कर्मास्रव के समस्त कारणों से जकड़े हुए मूर्ख प्राणी इस संसार में सदा परिभ्रमण किया करते हैं और घोर दुःखों का अनुभव किया करते हैं । श्रेष्ठ तपश्चरण करनेवाले मुनियों के भी जब तक थोड़े से कर्मों का भी आस्रव होता रहता है, तब तक उनको मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं होती किंतु उनका संसार ही बढ़ता रहता है ।।३०८२-३०८४।।

त्रियोग की शुद्धता पूर्वक आस्रव रोकने की प्रेरणा—

इत्यास्रवमहादोषान् ज्ञात्वानिरुध्यप्रत्ययान् । योगशुद्धयास्रवान्विश्वान् निराकुर्वन्तुधीधनाः ।८५।

अर्थ—इसप्रकार आस्रव के महा दोषों को समझकर बुद्धिमान मुनियों को

मन-वचन-काय की शुद्धता से आस्रव के सब कारणों को रोक कर समस्त आस्रव को बंद कर देना चाहिये ।।३०८५।।

संवर अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

रागद्वेषादिपूर्वोक्तान् निरुध्यास्रवकारणान् । कर्मास्रव निरोधे यः संवरः स शिवंकरः ।।३०८६।।

अर्थ—पहले जो रागद्वेष आदि आस्रव के कारण बतलाये हैं उन सबको रोक कर कर्मों के आस्रव का निरोध करना चाहिये । कर्मों के आस्रव का निरोध होना ही मोक्ष देनेवाला संवर है ।।३०८६।।

आसूव को किसके द्वारा रोका जाता है—

रागद्वेषौनिरुध्येतेसर्पोवा ज्ञानमंत्रतः । दृग्वृत्ताभ्यांद्विधामोहो रुध्यते दुष्टदंतिवत् ।।३०८७।।
तपसेन्द्रियसंज्ञानिराक्रियन्तेजितेन्द्रियैः । गौरवाविनयेनात्रत्यज्यन्ते वैरिणोयथा ।।३०८८।।
निगृह्यन्तेकषायाश्चक्षमाद्यस्त्रैरिवारयः । निरुध्यन्ते चलायोगागुप्तिपाशेन वा मृगाः ।।३०८९।।
हिंसादीनिनिवार्यन्तेसमितिव्रतसंयमैः । प्रशस्तध्यानलेश्याद्यै रुध्यतेसकलास्रवः ।।३०९०।।

अर्थ—ये रागद्वेषरूपी सर्प ज्ञानरूपी मंत्र से रोके जाते हैं तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से दुष्ट हाथी के समान दोनों प्रकार का मोह रुक जाता है । जितेन्द्रिय पुरुष तपश्चरणके द्वारा इन्द्रिय और संज्ञाओं को रोकते हैं और गारवों वा अभिमानों को शत्रुओं के समान विनय से रोकते हैं । इसी प्रकार कषायरूपी शत्रुओं को क्षमा, मार्दव आदि शस्त्रों से वश में करते हैं, गुप्तिरूपी जाल से हिरणों के समान चंचल योगों को वश में कर लेते हैं । इसी प्रकार व्रत समिति और संयम से हिंसादिक पांचों पापों को निवारण करते हैं और प्रशस्त ध्यान तथा शुक्ललेश्यासे समस्त आस्रव को रोक देते हैं ।।३०८७-३०९०।।

किसके निर्जरा के साथ मोक्ष की प्राप्ति होती है—

इतियुक्त्यासुयोगाद्यै निरुध्यनिखिलास्रवान् । ये कुर्युः संवरं तेषां निर्वाणंनिर्जरायुतम् ।।३०९१।।

अर्थ—इसप्रकार योग धारण कर युक्तिपूर्वक जो समस्त आस्रवों को रोक लेते हैं और संवर धारण कर लेते हैं, उनके कर्मों की निर्जरा के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।।३०९१।।

संवर की महिमा एवं उसे सिद्ध करने की प्रेरणा—

येन कर्मास्रवोरुद्धः संवरोयुक्तिभिः कृतः । तस्यैवेष्टसुसिद्धिः स्यात्तंविनानिष्फलं तपः ।।३०९२।।

मत्वेति संवरं दक्षाःकुर्वन्त्वेकं शिवाप्तये । परीषह जयैर्ज्ञानसद्ध्यानसंयमादिभिः ॥३०९३॥

अर्थ—जिस महात्मा ने युक्तिपूर्वक अपने कर्मों को रोक कर संवर धारण किया है, उसीके समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि होती है। उस संवर के बिना तपश्चरण भी सब निष्फल समझना चाहिये। यही समझकर चतुर पुरुषों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये परीषहों को जीतकर, सम्यग्ज्ञान की वृद्धि कर, श्रेष्ठध्यानको धारण कर और संयम को पालन कर एक संवर ही सिद्ध कर लेना चाहिये ॥३०९२-३०९३॥

निर्जरा का स्वरूप एवं उसके भेद—

रुद्धास्त्रवमहर्षेश्चारित्रसद्गुणभागिनः । तपोभिर्दुष्करैर्मुक्तिजननीनिर्जराभवेत् ॥३०९४॥
निर्जरा सा द्विधाज्ञेयादेशतः सर्वतोनृणाम् । स्वकर्मवशतोदेशनिर्जरान्यतपो भवा ॥३०९५॥

अर्थ—जिन महामुनियों ने समस्त आस्त्रव को रोक दिया है और जो चारित्र-रूपी श्रेष्ठ गुण को धारण करते हैं उनके कठिन-कठिन तपश्चरणों के द्वारा मोक्ष को देनेवाली निर्जरा होती है। वह निर्जरा दो प्रकार की है—एक एकदेश निर्जरा और दूसरी सर्वदेश निर्जरा। उनमें से एकदेश निर्जरा अपने-अपने कर्मों के उदय से होती है और सर्वदेश निर्जरा तपश्चरण से होती है ॥३०९४-३०९५॥

एक देश एवं सर्वदेश निर्जरा का लक्षण—

चतुर्गतिषुसर्वेषांभ्रमतां कर्मणां क्षयात् । अमाद्यानिर्जराजाता साहेयादेशनिर्जरा ॥३०९६॥
संवरेण समं यत्नात्तपोभिर्याबुधैः कृता । विपुला मुक्तिसंसिद्धयै सा ग्राह्यासर्वनिर्जरा ॥३०९७॥

अर्थ—चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए जीवों के कर्मों के क्षय होने से जो निर्जरा होती है उसको देश निर्जरा कहते हैं। ऐसी निर्जरा सदा त्याग करने योग्य है। बुद्धिमान् लोग जो मोक्ष प्राप्त करने के लिये संवर के साथ-साथ तपश्चरण के द्वारा प्रयत्नपूर्वक बहुत से कर्मों की निर्जरा करते हैं उसको सर्वनिर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा ग्रहण करने योग्य है ॥३०९६-३०९७॥

कौन जीव अत्यन्त शुद्ध होता है—

अग्निना धातुपाषाणो यथाशुद्धयतियोगतः । तथा तपोग्निनाभव्यः कृतःसंवरनिजरः ॥३०९८॥

अर्थ—जिसप्रकार अग्निके द्वारा धातुपाषाण (जिस पाषाणमें सोना वा चांदी निकले) युक्तिपूर्वक शुद्ध करने से शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार तपश्चरणरूपी अग्नि से संवर और निर्जरा को करनेवाला भव्य जीव अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥३०९८॥

मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति किसको होती है ?

यथा यथामुनीन्द्राणां जायते कर्मनिर्जरा । तथातथा च मुक्तिस्त्रीमुदायातिस्वयंवरा ।।३०९९।।
ध्यानयोगेनभव्यानां समस्तकर्मनिर्जरा । यदातदेव जायेत मोक्षलक्ष्मी गुणैःसमम् ।।३१००।।

अर्थ—मुनियों के जैसी-जैसी कर्मों की निर्जरा होती जाती है वैसे ही वैसे स्वयं वरण करनेवाली मुक्तिस्त्री प्रसन्न होकर उसके समीप आती जाती है । जिस समय भव्य जीवों के ध्यान के निमित्त से समस्त कर्मों की निर्जरा हो जाती है, उसी समय अनंत गुणों के साथ-साथ मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ।।३०९९-३१००।।

संवर पूर्वक निर्जरा करने की प्रेरणा—

मत्वेतिनिर्जरानित्यं कर्तव्यामुक्तयेबुधैः । तपोयोगैः सदाचारैः सर्वासंवरपूर्विका ।।३१०१।।

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमानों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये तपश्चरण ध्यान और सदाचार धारण कर संवर पूर्वक पूर्ण कर्मों की निर्जरा सदा करते रहना चाहिये ।।३१०१।।

लोक अनुप्रेक्षा का स्वरूप—

अधोवेत्रासनाकारो मध्येस्याद्झल्लरीसमः । मृदंगसदृशश्चाग्रे लोकस्येतित्रिधास्थितिः ।।३१०२।।
पापिनः पापपाकेनपच्यन्तेखेदनादिभिः । सप्तश्वभ्रेष्वधोभागे नारकाः नरकेसदा: ।।३१०३।।
पुण्येनपुण्यवन्तोस्योर्ध्व भागेसुखमुल्वणम् । कल्पकल्पान्तविश्वेषुभुजन्तिस्त्रीमहर्द्धिभिः ।।३१०४।।
क्वचित्सौख्यं क्वचिद्दुःखं मध्येलोके क्वचिदद्वयम् । प्राप्नुवन्तिनृतिर्यंचपुण्यपापवशीकृताः ।।
लोकाग्रेशाश्वतं धाम मनुष्यक्षेत्रसम्मितम् । सिद्धा यत्रलभन्तेहो अनन्तं सुखमात्मजम् ।।३१०६।।

अर्थ—यह लोकाकाश नीचे वेत्रासन के (स्टूल के) आकार है, मध्य में झल्लरी के आकार है और ऊपर मृदंग (परवावज) के आकार है । इसप्रकार यह लोक तीन भागों में बटा हुआ है । इस लोक के अधो भागमें सातों नरकों में महापापी नारकी अपने पापकर्म के उदयसे छेदन भेदन आदि के द्वारा महा दुःख भोगा करते हैं । इसी प्रकार इस लोक के ऊपर के भाग में कल्पवासी देवों में अनेक पुण्यवान् देव अपने पुण्य कर्म के उदय से देवांगना और महा ऋद्धियों के द्वारा उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं तथा कल्पातीत देवों में महा ऋद्धियों के द्वारा अत्यन्त उत्कृष्ट सुख भोगा करते हैं । इसी प्रकार मध्य लोक में पुण्य पाप के वशीभूत हुए मनुष्य और तिर्यंच कहीं सुख भोगते हैं, कहीं दुःख भोगते हैं और कहीं सुख दुःख दोनों भोगते हैं । इस लोक के

शिखर पर मनुष्य लोक के समान एक नित्य स्थान है, जहांपर सिद्ध भगवान शुद्ध आत्मा से उत्पन्न हुए अनंत सुखों का अनुभव किया करते हैं ।।३१०२-३१०६।।

लोक अनुप्रेक्षा को समझने वाले की प्रेरणा—

इति लोकत्रयं ज्ञात्वा तन्मूर्द्धस्थं शिवालयम् । हत्वामोहं दृगाद्यैश्चसाधयन्तुविदोद्रुतम् ।।३१०७।।

अर्थ—इसप्रकार तीनों लोकों का स्वरूप समझकर और उसके मस्तक पर मोक्ष का स्वरूप समझकर विद्वान पुरुषों को सम्यग्दर्शनादिक धारण कर शीघ्र ही मोह का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेनी चाहिये ।।३१०७।।

बोधिदुर्लभ भावना का स्वरूप—

युगच्छिद्रेप्रवेशश्चसमिलाया यथाम्बुधौ । दुर्लभोऽनन्तसंसारेनृभवोत्रतथांगिनाम् ।।३१०८।।

अर्थ—यदि किसी समुद्र में एक ओर बैल के कंधे का जूआ डाला जाय और उसी समुद्र में दूसरे किनारे पर उस जूए के छिद्र में पड़ने वाली बांस की कील डाली जाय जिसप्रकार उन दोनों का मिलना तथा उस जूए के छिद्रमें उस बांस की कील का पड़ जाना अत्यन्त कठिन है, उसीप्रकार अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है ।।३१०८।।

आर्यदेश उत्तम-कुल आदि की प्राप्ति की क्रमशः दुर्लभता का निर्देश —

क्वचिल्लब्धेमनुष्यत्वेप्यार्यदेशोतिदुर्लभः । तस्मात्सुकुलमत्यर्थं दुर्लभंकल्पशाखिवत् ।।३१०९।।
कुलतोदुर्लभंरूपं रूपादायुश्चदुर्घटम् । आरोग्यमायुषोक्षाणिपटूनिसुलभानि न ।।३११०।।
तेभ्योपि सुमतिः साध्वीनिष्पापासुष्ठुदुर्लभा । मतेः कषायहीनत्वं विवेकाद्यतिदुर्लभम् ।।३१११।।
एतेभ्यः सद्गुरो सारः संयोगोदुर्लभस्तराम् । संयोगाद्धर्मशास्त्राणांश्रवणधारणं नृणाम् ।३११२।।
सुगमं न ततः श्रद्धानंनिश्चयोतिदुर्लभः । ततःसद्दर्शनज्ञानेविशुद्धिःसुष्ठुदुर्लभा ।।३११३।।
ततो निर्मलचारित्रंदुष्प्राप्यंनिधिवत्तराम् । लब्धेष्वेतेषुसर्वेषुयावज्जीवं निरन्तरम् ।।३११४।।
सर्वदानिरवद्याचरणमत्यन्तदुर्घटम् । तस्मात्समाधिमृत्युः स्यान्निधिवद्दुर्लभःसताम् ।।३११५।।

अर्थ—यदि कदाचित् किसी काल में मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी हो जाय तो आर्य देश में जन्म होना अत्यंत दुर्लभ है । यदि कदाचित् आर्य देश में भी मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाय तो कल्पवृक्ष की प्राप्ति के समान श्रेष्ठ उत्तम कुल में जन्म होना अत्यंत कठिन है । इसी प्रकार उत्तम कुल से सुन्दर रूप का प्राप्त होना दुर्लभ है, उससे पूर्ण आयु का प्राप्त होना दुर्लभ है । पूर्ण आयु से भी नीरोग शरीर का प्राप्त होना अत्यंत

दुर्लभ है और नीरोग शरीर की प्राप्ति होनेपर भी इन्द्रियों की चतुरता प्राप्त होना कभी सुलभ नहीं हो सकता। कदाचित् इन्द्रियों की चतुरता भी प्राप्त हो जाय तो पापरहित श्रेष्ठ बुद्धि का मिलना अत्यंत दुर्लभ है। यदि कदाचित् निष्पाप बुद्धि भी प्राप्त हो जाय तो कषाय रहित होना और विवेक का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। इन समस्त संयोगों के मिल जानेपर भी सारभूत श्रेष्ठ गुरु का संयोग मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि कदाचित् श्रेष्ठ गुरु का भी संयोग मिल जाय तो धर्मशास्त्रों का सुनना तथा उनका धारण करना उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ है। कदाचित् इनका भी संयोग मिल जाय तो उन धर्मशास्त्रों में कहे हुए पदार्थों का श्रद्धान करना उनका निश्चय करना अत्यंत ही दुर्लभ है। तथा उस श्रद्धान से भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में विशुद्धि रखना अत्यंत ही दुर्लभ है। कदाचित् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की विशुद्धि भी प्राप्त हो जाय निधि के मिलने के समान निर्मल चारित्र का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। कदाचित् इन सबका संयोग प्राप्त हो जाय तो अपने जीवन पर्यंत निरंतर सर्वदा निर्दोष चारित्र का पालन करना अत्यंत ही दुर्लभ है। यदि कदाचित् यह भी प्राप्त हो जाय तो सज्जनों को निधि मिलने के समान समाधिमरण का प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है ।।३१०९-३११५।।

कौन जीव बोधि के फल को प्राप्त करता है—

इतिदुर्लभबोधिं ये प्राप्ययत्नेनधीधनाः। साधयन्तिशिवादीनि तेषां बोधिफलं भवेत् ।।३११६।।

अर्थ—इसप्रकार अत्यंत दुर्लभ ऐसे बोधि रूप रत्नत्रय को पाकर जो विद्वान् प्रयत्न पूर्वक मोक्षादिक को प्राप्त कर लेते हैं उन्हीं को बोधि का फल प्राप्त हुआ समझना चाहिये ।।३११६।।

कौन जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं—

आसाद्याबोधिमज्ञा ये कुर्वंते मोक्षसाधने। प्रमादं दीर्घसंसारे ते भ्रमन्तिविधेवंशात् ।।३११७।।

अर्थ—जो मूर्ख पुरुष इस रत्नत्रय रूप बोधि को पाकर मोक्ष के सिद्ध करने में प्रमाद करते हैं वे पुरुष अपने कर्मों के उदय से दीर्घकाल तक इस महा संसार में परिभ्रमण किया करते हैं ।।३११७।।

किनका बोधि प्राप्त करना सफल है—

मत्वेतिबोधिसद्रत्नंप्राप्यशीघ्रं शिवश्रियम्। साधयन्तु बुधायत्नाद्येन तत्सफलंभवेत् ।।३११८।।

अर्थ— यही समझकर विद्वानों को रत्नत्रयरूपी श्रेष्ठ रत्नों को पाकर प्रयत्न पूर्वक शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मी को सिद्ध कर लेना चाहिये जिससे उनका बोधि का प्राप्त होना सफल हो जाय ॥३११८॥

पुनः दश धर्म पालन करने की प्रेरणा—

प्रागुक्तोदशधाधर्मः कर्तव्योधमकांक्षिभिः । भुक्तिमुक्तिप्रदोनित्यं क्षमादि लक्षणोत्तमः ॥३११९॥

अर्थ—धर्म की इच्छा करनेवाले पुरुषों को उत्तम, क्षमा, मार्दव आदि लक्षणों से सुशोभित तथा भुक्ति और मुक्ति दोनों को देनेवाला जो ऊपर कहा हुआ दश प्रकार का धर्म है वह सदा पालन करते रहना चाहिये ॥३११९॥

मोक्ष प्रदायिनी अनुप्रेक्षाओं के चिन्तवन की प्रेरणा—

अनुप्रेक्षा इमा सद्भिर्द्वादशैव निरन्तरम् । वैराग्यवृद्धये ध्येया रागहान्यै शिवंकराः ॥३१२०॥

अर्थ—विद्वान् पुरुषों को अपना वैराग्य बढ़ाने के लिये और रागद्वेष को नष्ट करने के लिये इन बारह अनुप्रेक्षाओं का निरंतर चिंतवन करते रहना चाहिये । क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएं अवश्य मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं ॥३१२०॥

द्वादश-अनुप्रेक्षा की महिमा एवं उनके चिन्तवन का फल—

एताद्वादशभावनाः सुविमलास्तीर्थेश्वरैः सेविता प्रोक्ताभव्यनृणांहिताय परमा वैराग्यवृद्धयै बुधाः ।
ये ध्यायन्ति सदाऽमलेस्वहृदये तेषांमुदावर्द्ध तेसंवेगोत्रपरोविनश्यतितरांरागः शिवश्रीर्भवेत् ॥२१॥

अर्थ—ये बारह भावनाएं अत्यंत निर्मल हैं, तीर्थंकर परमदेव भी इनका चिंतवन करते हैं और भव्य जीवों का हित करने और परम वैराग्य को बढ़ाने के लिये कही गई है । इसलिये जो विद्वान् अपने निर्मल हृदय में प्रसन्न होकर इन भावनाओं का चिंतवन करते हैं उनका सर्वोत्कृष्ट संवेग बढ़ता है, राग नष्ट हो जाता है और मोक्षलक्ष्मी उनको प्राप्त हो जाती है ॥३१२१॥

उपसंहारात्मक अनुप्रेक्षाओं की महिमा—

निरुपमगुणखानीर्मोक्षलक्ष्मीसखीश्च जिनवरमुखजाताः सेविताः श्रीगणेशैः ।
दुरितगिरिविघातेवज्रधाराः सदैव प्रभजतशिवकामा भावना द्वादशैताः ॥३१२२॥

अर्थ— ये बारह भावनाएं अनुपम गुणों की खानि है, मोक्षलक्ष्मी की सखी है, भगवान जिनेन्द्रदेव के मुखसे उत्पन्न हुई है तथा गणधर देवों ने इनकी सेवा की है और पापरूपी पर्वतों को चूर-चूर करने के लिये वज्र की धारा के समान है । अतएव मोक्ष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narja, Varanasi

की इच्छा करनेवाले मुनियों को इन बारह भावनाओं का चिंतवन सदा करते रहना चाहिये ।।३१२२ ।

परीषहों के कथन की प्रतिज्ञा—

मुनीनां येथसोढव्याः परीषहाश्चतानिह । मार्गाच्यवनदुष्कर्मनिर्जरार्थंदिशाम्यहम् ।।३१२३।।

अर्थ—मुनिराज अपने चारित्रमार्ग से वा मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिये तथा पाप कर्मों की निर्जरा करने के लिये जिन परीषहों को अवश्य सहन करते हैं उनको मैं कहता हूं ।।३१२३।।

२२ परीषहों के नाम निर्देश—

क्षुत्पिपासाथशीतोष्णाख्यौ दंशमशकाह्वयः । नाग्न्यारत्यभिधौस्त्रीचर्यानिषद्यापरीषहौ ।।३१२४।
शय्याक्रोशोवधोयांचालाभोरोगपरीषहः । तृणस्पर्शोमलःसत्कारपुरस्कारसंज्ञकः ।।३१२५।।
प्रज्ञाज्ञानाभिधादर्शनान्येतेपरीषहाः । सोढव्या यतिभिर्नित्यंद्वाविंशतिः शिवाप्तये ।।३१२६।।

अर्थ—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्नन्य, अरति, स्त्रीचर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, यांचा, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और प्रदर्शन ये बाईस परीषह हैं । मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन परीषहों को अवश्य सहन करना चाहिये ।।३१२४-३१२६।।

क्षुधा परिषह को जीतने के लिये कि ा प्रकार चिन्तवन करना चाहिये—

षष्ठाष्टमेकपक्षाद्यु पवासालाभकारणैः । उत्पद्यतेमुनेः स्वान्तर्दाहिन्यग्निशिखेवक्षुत् ।।३१२७।।
यदातेन तदाचित्तेस्मरणीयमिदं स्फुटम् । अहो परवशेनात्रयाप्ता क्षुद्वेदनामया ।।३१२८।।
नृगतौवन्दिगेहाद्यैः जलंस्थलखगादिषु । तिर्यग्गतौनिरोधाद्यैश्वभ्रेषु भ्रमता चिरम् ।।३१२९।।
तस्या इयं कियन्मात्रा विचिन्त्येतिशिवार्थिना । जेतव्या वेदना क्षुज्जा सन्तोषात्तेननान्यथा ।।३०।

अर्थ—किसी मुनिराज ने वेला वा तेला किया हो अथवा पंद्रह दिन वा एक महीने का उपवास किया और पारणा के दिन भी आहार का लाभ न हुआ हो तो उस समय अग्नि की शिखा के समान उनके अंतरंग को जलाने वाली क्षुधा वेदना उत्पन्न होती है । उस समय उन मुनिराज को अपने हृदय में यह चिंतवन करना चाहिये कि मैंने परवश होकर जो भूख की वेदना सही है, मनुष्यगति में बंदीगृह में पड़कर भूख की वेदना सही है, जलचर, थलचर और नभचर के पंशु पक्षियों की योनियों में जो भूख की वेदना सही है । तिर्यंचगति में बांधे जाने वा रोके जाने के कारण जो भूखकी वेदना

सही है तथा नरकगति में जो भूख की वेदना सही है, उसके सामने यह भूख कितनी है, कुछ भी नहीं है, इसप्रकार चिंतवन कर मोक्ष चाहने वालों को संतोष धारण कर भूख से उत्पन्न हुई वेदना को जीतना चाहिये, बिना संतोष के क्षुधा वेदना कभी नहीं जीती जा सकती ।।३१२७-३१३०।।

मुनिराज को किस प्रकार के चिंतवन से तृषा परिषह जीतना चाहिये—

बहूपवासमार्गश्रमविरुद्धान्नसेवनैः । ग्रीष्मभानुकरैस्तीव्रापिपासा जायतेयतेः ।।३१३१।।
तदेदंचिन्तनीयं सन्मुनिनावुद्धंरातृषा । पराधीनतयात्राहो अनुभूताचिरंमया ।।३१३२।।
नरतिर्यग्गतौश्वभ्रूप्रदेशेनिर्जले वने । इति ध्यानेनधीरः सज्जयतात्तृट्परीषहम् ।।३१३३।।

अर्थ—अनेक उपवास करने से, मार्ग के परिश्रम से, विरुद्ध अन्न के सेवन करने से और ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तीव्र किरणों से मुनियों को तीव्र प्यास की वेदना होती है। उस समय उन मुनियों को इसप्रकार चिंतवन करना चाहिये कि मैंने परवश होकर मनुष्यगति में, तिर्यंचगति में, नरक में और निर्जन वनों में चिरकाल तक बड़ी-बड़ी कठिन प्यास की वेदना सही है। इसप्रकार चिंतवन कर उन धीरवीर मुनिराज को तृषा परीषह जीतनी चाहिये ।।३१३१-३१३३।।

प्यास की शांति के लिये मुख प्रक्षालनादि का निषेध—

शुष्कोष्ठमुखसर्वांगस्तृषाग्निस्तपितोपिसन् । तच्छान्त्यै जातु न कुर्यान्मुखप्रक्षालनादिकम् ।३१३४।

अर्थ—यदि तृषारूपी अग्नि से उन मुनियों के ओठ सूख गये हों, मुख सूख गया हो, समस्त शरीर सूख गया हो तथा वे मुनिराज प्यास की अग्नि से संतप्त हो रहे हों तो भी वे उस प्यास की शांति के लिये अपना मुख प्रक्षालन आदि कभी नहीं करते हैं ।।३१३४।।

मुनिराज को किस प्रकार के चिंतवन से शीत वेदना जीतनी चाहिये—

तुषारबहुलेशीतकालेचतुः[illegible]थतस्यशीतवाताद्यैः शीतबाधापराभवेत् ।।३१३५।।
तदैषनारकाणां च पाशूनां नृ[illegible]णाम् । चिन्तनैः शीतदुःखौघं सहतेदृढचेतसा ।।३१३६।।

अर्थ—जिस शीत ऋतु में बहुत ही तुषार पड़ रहा हो, बहुत ठंडी वायु चल रही हो और वे मुनिराज किसी चौराहे पर खड़े हों उस समय उनको शीत की अधिक वेदना होती है। उस समय वे मुनिराज नारकियों के पशुओं के और दरिद्री मनुष्यों के शीतजन्य दुःखों को चिंतवन करते हुए अपने चित्त को दृढ़ बनाकर शीत की वेदना को

सहन करते हैं ।।३१३५-३१३६।।

किस प्रकार की गर्मी से शीत वेदना दूर करते हैं—

तथाध्यानोष्मणा योगी शीतबाधांनिवारयेत् । मनाक्प्रावरणाग्न्यादीन्शीतशान्त्यैनंचिन्तयेत् ।।

अर्थ—उस समय वे मुनिराज ध्यानरूपी गर्मी से अपनी शीत वेदना को दूर करते हैं और उस शीत की वेदना को शांत करने के लिये न तो किसी के ओढ़ने का चिंतवन करते हैं और न अग्नि आदि शीत को दूर करनेवाले पदार्थों का चिंतवन करते हैं ।।३१३७।।

किस प्रकार के चिंतवन से उष्ण वेदना जीतते हैं—

ग्रीष्मोग्रभास्करोष्णांशुपित्तरोगपथश्रमैः । आतापनमहायोगक्षाराम्नानशनादिभिः ।।३१३८।।
दुस्सहोष्णमहातापो जायते वनवासिनः । निराश्रयपशुनृणां नारकाणां विधेवंशात् ।।३१३९।।
जातोष्णचिन्तनेनासौसद्ज्ञानामृतपानतः । उष्णदुःखं जयेन्नाम्बुसेकावगाहनादिभिः ।।३१४०।।

अर्थ—गर्मी के दिनों में जब सूर्य की किरणें अत्यन्त तीव्र और उष्ण होती हैं वा पित्त रोग हो जाता है अथवा मार्ग के चलने से परिश्रम बढ़ जाता है वा वे मुनिराज आतापन महा योग धारण कर लेते हैं अथवा वे अधिक लवण मिला हुआ अन्न ग्रहण कर लेते हैं उस समय वन में निवास करनेवाले उन मुनियों के असह्य गर्मी का महा संताप उत्पन्न होता है। उस समय वे निराश्रय पशुओं के, मनुष्यों के वा नारकियों के कर्मों के उदय से होनेवाली तीव्र उष्ण वेदना का चिंतवन करते हैं और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी अमृतका पान करते हैं, इन दोनों कारणों से वे उस गर्मी की वेदना को जीतते हैं। वे मुनिराज पानी के छिड़काव से वा पानी में नहाने से गर्मी की बाधा को कभी दूर नहीं करते ।।३१३८-३१४०।।

दंशमशक परीषह जय का स्वरूप—

दंशैश्चमशकैः सर्वैर्मक्षिकावृश्चिकादिभिः । भक्षमाणोत्र दिग्वस्त्रो वृक्षमूलादिषुस्थितः ।।३१४१।।
न मनाक्खिद्यतेयत्रध्यानीध्यानच्चलेन्न च । परीषहजपो ज्ञेयः स दंशमशकाह्वयः ।।३१४२।।

अर्थ—जो मुनि दिगम्बर अवस्था को धारण किये हुए किसी वृक्ष के नीचे विराजमान हैं, उस समय यदि कोई डांस, मच्छर, मक्खी, बीछू आदि कीड़े मकोड़े उन्हें काट लेते हैं तो वे मुनिराज अपने मन में रंचमात्र भी खेद खिन्न नहीं होते और न वे

ध्यानी अपने ध्यान से चलायमान होते हैं इसको दंशमशक परीषह विजय कहते हैं। ।।३१४१-३१४२।।

नाग्न्य परीषह जय का स्वरूप—

नग्नत्वेन च ये जाताः शीतोष्णाद्याउपद्रवाः । शरीरविक्रिया जीवभक्षणैर्हंसनादिभिः ।।३१४३।।
सह्यन्ते यत्रधैर्येण ते संक्लेशाद्विनान्वहम् । दिगम्बरधरंर्ज्ञेयो नाग्न्यदोषजयोत्र सः ।।३१४४।।

अर्थ—नग्न अवस्था धारण करने से बहुत से ठंडी गर्मी के उपद्रव होते हैं, अनेक जीव काट लेते हैं, शरीर में कोई विकार भी हो जाता है और अनेक दुष्ट लोग भी उनको देखकर हंसते हैं, इन सब उपद्रवों को वे दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले मुनिराज बिना किसी प्रकार के संक्लेश परिणामों के धैर्य के साथ प्रतिदिन सहन करते हैं इसको नाग्न्य परीषह जय कहते हैं ।।३१४३-३१४४।।

अरति परीषह जय का स्वरूप—

अरण्यवासशीतोष्णोग्रतपश्चरणादिभिः । शब्दैर्भयानकैर्जातारतिः सिंहादिर्जैर्निशि ।।३१४५।।
मुनिभिर्जीयते यात्र रतिं कृत्वागमामृते । ध्यानज्ञानरतैःस्याच्चारतिबाधाजयोऽत्र सः ।।३१४६।।

अर्थ—वन का निवास, शीत उष्ण की बाधा, उग्र तपश्चरणादिक और सिंह व्याघ्र आदि के भयानक शब्दों से रात के समय अरति के कारण प्राप्त होते हैं तथापि ज्ञान ध्यान में लीन रहनेवाले वे मुनिराज आगमरूपी अमृत में प्रेम करते हुए उस अरति की बाधा को जीतते हैं इसको अरति परीषह जय कहते हैं ।।३१४५-३१४६।।

स्त्री परीषह जय का स्वरूप—

हावभावविलासांगास्यभ्रू विकार जल्पनैः । कटाक्षशरविक्षेपैः श्रृंगाररसदर्शनैः ।।३१४७।।
उन्मत्तयौवनास्त्रीभिः कृतोनर्थोव्रतान्तकः । सह्यतेयोगिभिर्योत्रस्त्रीबाधाजयएव सः ।।३१४८।।

अर्थ—कोई मुनिराज किसी एकांत स्थान में विराजमान हों और वहां पर उन्मत्त यौवनवती स्त्रियां आकर हाव, भाव, विलास, शरीर के विकार, मुखके विकार, भोंहों के विकार, गाना बजाना बकवाद करना, कटाक्षरूपी बाणों का फेंकना और श्रृंगार रस का दिखाना आदि कितने ही कारणों से व्रतों को नाश करनेवाला अनर्थ करतीं हों तो भी वे मुनिराज निर्विकार होकर उस उपद्रव को सहन करते हैं। इसको स्त्री परीषह जय कहते हैं ।।३१४७-३१४८।।

चर्या परीषह जय का स्वरूप—

भीमारण्याद्रिदुर्गेषु नानादेशपुरादिषु । विहरद्भिः सदाखंडपाषाणकंटकादिभिः ॥३१४९॥
जातपादव्यथाया यः क्रियतेसर्वथाजय । निर्ग्रंथैर्मुक्तयेचर्यापरीषह जयोत्रसः ॥३१५०॥

अर्थ—जो मुनिराज भयानक वन में, पर्वत पर, किलों में अनेक देश और नगरों में विहार करते हैं तथा उस विहार में पत्थरों के टुकड़े वा कांटे आदि के लग जाने से पैरों में अनेक छोटे-छोटे घाव हो जाते हैं तथापि वे दिगम्बर मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये उस सबको सहन करते हैं, जीतते हैं इसको चर्यापरीषह जय कहते हैं ॥३१४९-३१५०॥

निषद्या परीषह जय का स्वरूप—

बहूपसर्गसंजातैः कन्दराद्रिवनादिषु । कृतवज्रासनादिभ्योऽचलनं यन्महात्मनाम् ॥३१५१॥
धृतासनविशेषाणांध्यानारोपितचेतसाम् । सर्वद्राचलयोगानां निषद्याजय एव सः ॥३१५२॥

अर्थ—जो मुनिराज किसी गुफा में पर्वत पर वा वनादिक में किसी वज्रासन आदि कठिन आसन से विराजमान होते हैं और उस समय भी अनेक उपसर्ग उन पर आ जाते हैं तथापि वे मुनिराज अपने आसन से कभी चलायमान नहीं होते, इसीप्रकार विशेष-विशेष कठिन आसन धारण करके भी वे अपने हृदय को ध्यान में ही लगाये रहते हैं और अपने योग को सदा अचल बनाये रखते हैं, उनके इस परिषह सहन करने को निषद्या जय कहते हैं ॥३१५१-३१५२॥

शय्या परीषह जय का स्वरूप—

स्वाध्यायध्यानयोगाध्वश्रमखेदादिहानये । निद्रां मौहूर्तिकीं युक्त्यानुभवद्भिर्जिताशयैः ॥३१५३॥
दण्डैकपार्श्वशय्यादौक्रियतेपरिवर्तनम् । न सिंहाद्युपसर्गौघैर्यच्छय्या जयएव सः ॥३१५४॥

अर्थ—जो मुनि स्वाध्याय, ध्यान, योग और मार्ग का परिश्रम दूर करने के लिये युक्तिपूर्वक मुहूर्तमात्र की निद्रा का अनुभव करते हैं, उस समय में भी अपने हृदय को अपने वश में रखते हैं, दंड के समान वा किसी एक करवट से सोते हैं, सिंहादिक का उपद्रव होनेपर भी जो कभी करवट नहीं बदलते उसको शय्या परिषह जय कहते हैं। ॥३१५३-३१५४॥

आक्रोश परीषह जय का स्वरूप—

मिथ्यादृग्म्लेच्छचांडालशत्रुपापिदुरात्मनाम् । परुषाद्यवमानावज्ञाधिक्कारवचांसि च ॥३१५५॥

आक्रोशादीन्बहून्श्रुत्वात्रिशुद्धयासहनंहियत् । विनाक्लेशेन दक्षाणामाक्रोशजय एव सः ।।३१५६।

अर्थ—जो मुनिराज मिथ्यादृष्टि, म्लेच्छ, चांडाल, शत्रु, पापी और दुरात्माओं के कठोर वचनों को अपमान जनक शब्दों को तिरस्कार वा धिक्कार के वचनों को वा अनेक प्रकार के गालीगलौच के शब्दों को सुन करके भी मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक उनको सहन करते हैं, उनको सुनकर कभी किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उन चतुर मुनियों के आक्रोश परिषह जय कही जाती है ।।३१५५-३१५६।।

वध परीषह जय का स्वरूप—

मिथ्यादृग्दुर्जनैर्दुष्टैः शत्रुभिः श्वभ्रगामिभिः । कोपादिभिःप्रयुक्ताश्चवधवंधादिताडनाः ।।३१५७।।
सद्यः प्राणहरायत्रसह्यन्तेधोरयोगिभिः । योगशुद्धयाघनाशायवधमर्षणमेवतत् ।।३१५८।।

अर्थ— जो मुनिराज अपने पापों को नाश करने के लिये मिथ्यादृष्टि, दुर्जन, दुष्ट, नरकगामी और शत्रु आदि के द्वारा क्रोध पूर्वक किये गये बध, बंधन वा ताड़न आदि को सहन करते हैं तथा वे धीर वीर मुनि मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक उसी समय प्राण हरण करनेवाले बधबंधनादि को भी सहन करते हैं उसको बध परिषह जय कहते हैं ।।३१५७-३१५८।।

यांचा परीषह ज़य का स्वरूप—

व्याधिक्लेशशताद्ययंद्वहूपवासपारणैः । योऽयते नौषधाम्ब्वादियांचासहनमेवतत् ।।३१५९।।

अर्थ—जो मुनि सैंकड़ों व्याधि और क्लेशों के हो जाने पर भी तथा अनेक उपवासों के बाद पारणा करनेपर भी कभी औषधि वा जल आदि की याचना नहीं करते हैं उसको यांचा परिषह जय कहते हैं ।।३१५९।।

अलाभ परीषह विजय का स्वरूप—

अलाभो योऽन्नपानादेः षष्टाष्टमादिपारणे । त्रिशुद्धया सह्यते तुष्टैरलाभविजयोत्र सः ।।३१६०।।

अर्थ—जो मुनिराज वेला तेला आदि अनेक उपवास करके पारणा को निकलें और अन्न पानादिक का लाभ न हो तो भी वे मुनिराज संतुष्ट होकर मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक उस भूख प्यासकी तथा आहारादिक के न मिलने की बाधा को सहन करते हैं इसको अलाभ परिषह विजय कहते हैं ।।३१६०।।

रोग परीषह जय का स्वरूप—

कुष्ठोदरव्यथावातपित्तज्वरादिरुक्शतैः । दुस्सहैः पापपाकोत्थैर्विश्वदुःखनिबन्धनैः ।।३१६१।।

जाताया वेदनाया यन्महत्याः सहनं बुधैः । कर्महान्यैप्रतीकारंविनारोगजयोत्र सः ।।३१६२।।

अर्थ—जो मुनिराज अपने कर्मों को नाश करने के लिये कोढ़, उदर शूल, बातल्वर, पित्तज्वर आदि अपने पाप कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए और समस्त दुःखों को देनेवाले ऐसे सैंकड़ों असह्य रोगों की महा वेदना को भी बिना प्रतिकार वा इलाज कराये सहन करते हैं उन बुद्धिमानों के रोग परिषह जय कहलाती है ।।३१६१-३१६२।।

तृणस्पर्श परीषह जय का स्वरूप—

शुष्कपत्रतृणादीनांस्पर्शनैश्चमरुद्वशैः । जातकंडुविकारादेस्त्यक्तदेहमहात्मभिः ।।३१६३।।
क्लेशादृतेघनाशायसहनं यद्विधीयते । त्रिशुद्धया स तृणस्पर्शपरीषह जयोत्रसः । ३१६४।।

अर्थ—अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर देनेवाले जो मुनिराज अपने पापों को नाश करने के लिये मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक वायु से उड़कर आये हुए सूखे पत्ते वा तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई खुजली आदि के विकार को सहन करते हैं, उसमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं करते उसको तृणस्पर्श परिषह जय कहते हैं। ।।३१६३-३१६४।।

मल परीषह जय का स्वरूप—

मलजल्लादिलिप्तांगंध्रियते यद्विरागिभिः । संस्कारक्षालनातीतमर्द्धदग्धशवप्रमम् ।।३१६५।।
स्नानादीन् दूरतस्त्यक्त्वादयायैरागहानये । दुष्कर्ममलनाशायमलधारणमेवतत् ।।३१६६।।

अर्थ—जो वीतराग मुनिराज जीवों की दया पालन करने के लिये, राग को नष्ट करने के लिये और पापकर्म रूपी मल को नाश करने के लिये स्नान आदि को दूर से ही त्याग कर देते हैं और संस्कार वा प्रक्षालन आदि से रहित आधे जले हुए मुरदे के समान मल पसीना नाक का मल आदि से लिप्त हुए शरीर को धारण करते हैं उसको मल परिषह जय कहते हैं ।।३१६५-३१६६।।

सत्कार पुरस्कार परीषह जय का स्वरूप—

नमःस्तवप्रशंसादि सत्कारउच्यतेबुधैः । अग्रतः करणं यात्रादेः पुरस्कारएव सः ।।३१६७।।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नैस्तपःसद्गुणशालिभिः । द्विधंषस्त्यज्यतेसत्कारपुरस्कारएव सः ।।३१६८।।

अर्थ— नमस्कार करना, स्तुति करना, प्रशंसा करना आदि सत्कार कहलाता है तथा चलते समय यात्रादिक में उनको आगे रखना स्वयं पीछे चलना पुरस्कार

कहलाता है। जो मुनिराज ज्ञान विज्ञान से सुशोभित हैं और तपश्चरण आदि अनेक सद्गुणों से विभूषित हैं, ऐसे मुनिराज इन दोनों सत्कार पुरस्कार का त्याग कर देते हैं, कोई सत्कार पुरस्कार न करे तो खेद नहीं करते उसको सत्कार पुरस्कार परीषह जय कहते हैं ।।३१६७-३१६८।।

प्रज्ञा परीषह जय का स्वरूप—

अहंविद्वान् जगद्वेत्ता वलीवर्दाइमे जडाः । किंचितत्त्वं न जानन्तिहीत्यादिगर्वएव यः ।।३१६९।।
सर्वांगपूर्वविद्भिश्चनिवार्यंतेमदान्तकैः । सद्वादिभिर्महाप्राज्ञैः प्रज्ञाजय स ऊर्जितः ।।३१७०।।

अर्थ—जो मुनि ग्यारह अंग चौदह पूर्व के जानकार हैं, महा बुद्धिमान हैं, वाद विवाद करने में सर्वश्रेष्ठ हैं और अभिमान से सदा दूर हैं तो भी वे अपने मन में ऐसा अभिमान कभी नहीं करते कि मैं विद्वान् हूं, संसार के समस्त तत्त्वों को जानता हूं, बाकी के ये लोग सब बैल के समान मूर्ख हैं, तत्त्वों का स्वरूप कुछ भी नहीं जानते इसप्रकार के अभिमान को वे सदा के लिये त्याग कर देते हैं उसको प्रज्ञा परीषह जय कहते हैं ।।३१६९-३१७०।।

अज्ञान परीषह जय का स्वरूप—

अज्ञोयं वेत्तिकिंचिन्न परमार्थंपशूपमः । इत्यादिकटुकालापसहनंयज्जनोद्भवम् ।।३१७१।।
ईदृशंदुर्द्धरं घोरं तपो मे कुर्वतोनघम् । अद्याप्युत्पद्यते कश्चिद् ज्ञानाद्यतिशयो त्र न ।।३१७२।।
इत्यादि बहुकालुष्यमनसोयन्निहन्यते । स्वल्पज्ञानिभिरज्ञानपरीषह जयोहि सः ।।३१७३।।

अर्थ—जो मुनि स्वल्पज्ञानी हैं उनके लिये अन्य दुष्ट लोग "यह अज्ञानी है यह परमार्थ को कुछ नहीं जानता पशु के समान है" इसप्रकार कड़वे वचन कहते हैं तथापि वे उनको सहन करते हैं तथा "मैं इसप्रकार का दुर्धर और घोर और पापरहित तपश्चरण करता हूं तो भी मुझे ज्ञान का कुछ भी अतिशय प्रगट नहीं होता श्रुतज्ञान वा अवधिज्ञान प्रगट नहीं होता" इसप्रकार की कलुषता अपने मन में कभी नहीं लाते उसको अज्ञान परीषह जय कहते हैं ।।३१७१-३१७३।।

अदर्शन परीषह जय का स्वरूप—

प्रातिहार्याणिकुर्वन्ति सुराःसद्योगधारिणाम् । महातपस्विनामेतत्प्रलापमात्रमेव हि ।।३१७४।।
यतो मे दुर्द्धरानुष्ठानसत्तपोविधायिनः । विख्यातोतिशयःकश्चिज्जातेनामरैः कृतः ।।३१७५।।
प्रवृज्यानर्थिकात्रेत्रमित्त्यादिस्त्यज्यते च यः । संकल्पोदृग्विशुद्धया हि सोऽदर्शनजयो बुधैः ।।७६।।

अर्थ—"शास्त्रों में यह सुना जाता है कि देव लोग श्रेष्ठ योग धारण करने वाले महा तपस्वियों के लिये प्रातिहार्य प्रगट करते हैं उनका अतिशय प्रगट करते हैं, परन्तु यह कहना प्रलापमात्र है यथार्थ नहीं है क्योंकि मैं बड़े बड़े घोर तपश्चरण तथा दुर्धर अनुष्ठान पालन करता हूं तो भी देव लोग मेरा कोई प्रसिद्ध अतिशय प्रगट नहीं करते इसलिये कहना चाहिये कि यह दीक्षा लेना भी व्यर्थ है" इसप्रकार के कलुषित संकल्प विकल्प को जो मुनिराज अपने सम्यग्दर्शन की विशुद्धि से कभी नहीं करते हैं उसको बुद्धिमान लोग अदर्शन परीषह जय कहते हैं ।।३१७४-३१७६।।

परीषहों को सहन करने की प्रेरणा—

एते कर्मोदयोत्पन्नाद्वाविंशतिपरीषहाः । सर्वशक्त्याघनाशाय सोढव्यामुक्तिगामिभिः ।।३१७७।।

अर्थ—ये बाईस परीषह अपने-अपने कर्मों के उदय से प्रगट होती हैं इसलिये मोक्ष प्राप्त करनेवाले मुनियोंको अपने पाप नाश करने के लिये अपनी सब शक्ति लगा कर ये परीषहों को सहन करना चाहिये ।।३१७७।।

किस-किस कर्म के उदय से कौन कौनसी परीषह होतो है—

ज्ञानावरणपाकेनप्रज्ञाज्ञानपरीषहौ । दर्शनाभिधमोहोदयेनादर्शनसंज्ञकः ।।३१७८।।
लाभान्तरायपाकेनस्यादलाभपरीषहः । नाग्न्याभिधानिषद्याचाक्रोशोयांचापरीषहः ।।३१७९।।
स्यात्सत्कारपुरस्कारोमानाह्वयकषायतः । अरत्यरतिनाम्नोवेदोदयात्स्त्रीपरीषहः ।।३१८०।।
वेदनीयोदयेनात्र क्षुत्पिपासा परीषहः । शीतोष्णाख्यौ तथा दंशमशको हि परीषहः ।।३१८१।।
शय्या चर्यावधोरोगस्तृणस्पर्शोमलाह्वयः । एकांवश इमे पुंसांप्रजायन्ते परीषहाः ।।३१८२।।

अर्थ—इन परीषहों में से ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह प्रगट होती हैं । दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन परीषह प्रगट होती है । लाभांतराय कर्मके उदय से अलाभ परीषह होती है । नाग्न्य परीषह, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार पुरस्कार परीषह मान कषाय नाम के चारित्रमोहनीय कर्मके उदय से होती है, अरति परीषह अरति नाम के नोकषाय चारित्र मोहनीय के उदय से होती है और स्त्री परीषह वेद नाम के नोकषाय रूप चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती है । इसप्रकार सात परीषह चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होती है । क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, शय्या, चर्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होती है ।।३१७८-३१८२।।

एक जीव के एक समय में एक साथ कितनी परीषह हो सकती है—

एकस्मिन्समये ह्य ेकजीवस्ययुगपद्भु वि । परीषहा प्रजायन्तेंगिनां चैकोनविंशति ।।३१८३।।
मध्येशीतोष्णयोर्नूनमेकएवपरीषहः । शय्या चर्यानिषद्यानांतयैकः स्यान्नचान्यथा ।।३१८४।।

अर्थ—एक जीव के एक समय में एक साथ जीवों के उन्नीस परीषह हो सकती है। क्योंकि शीत और उष्ण परीषह में से कोई एक ही परीषह होती है तथा शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनों परीषहों में से कोई एक परीषह होती है। इसमें कभी अंतर नहीं होता ।।३१८३-३१८४।।

किस-किस गुणस्थान में कौन-कौन से परीषह होते हैं—

मिथ्यात्वाद्यप्रमत्तान्तगुणस्थानेषुसप्तसु । सर्वेपरीषहाः सन्ति ह्यपूर्वकरणेसताम् ।।३१८५।।
आदर्शनंविनाह्य ेकविंशति स्युःपरीषहाः । विंशतिश्चानिवृत्तौ हिविनारतिपरीषहात् ।।३१८६।।
शुक्लध्यानेनतत्रैवप्रनष्टे वेदकर्मणि । स्त्र्याख्ये परीषहे नष्टे ते स्युरेकोनविंशतिः ।।३१८७।।
ततोमानकषायस्यक्षयात्तत्रैव वाशमात् । ताग्न्यनामनिषद्याख्याक्रोशयांचापरीषहाः ।।३१८८।।
सत्कारादिपुरस्कारश्चामीभिः पंचभिर्विना । अनिवृत्यादिषु क्षीणकषायान्तेषुनिश्चितम् ।।३१८९।
गुणस्थानचतुष्केषु चतुर्दशपरीषहाः । छद्मस्थवीतरागाणां भवन्त्यल्पाःसुखप्रदाः ।।३१९०।।
नष्टेघातिविघौक्षीणकषाये च परीषहाः । प्रज्ञाज्ञानाह्वयालाभा नश्यन्तिद्यातिघातिनः ।।३१९१।।
केवलज्ञानिनोवेदनीयाख्यविद्यमानतः । उपचारेण कथ्यन्तेत्रैकादशपरीषहाः ।।३१९२।।

अर्थ—मिथ्यात्व से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक सात गुणस्थानों में सब परीषह होती है। अपूर्वकरण नाम के आठवें गुणस्थान में अदर्शन को छोड़कर बाकी की इकईस परीषह होती है। अनिवृत्ति करण नामके नौवें गुणस्थान में अरति परीषह को छोड़कर बाकी की बीस परीषह होती है। उसी नौवें गुणस्थान में जब शुक्लध्यान के द्वारा वेद कर्म नष्ट हो जाता है तब स्त्री परीषह भी नष्ट हो जाती है और उस समय नौवें गुणस्थान में उनईस परीषह ही रह जाती है। इसी नौवें गुणस्थान में आगे चलकर जब मान कषाय नष्ट हो जाता है अथवा मान कषाय का उपशम हो जाता है तब नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार पुरस्कार ये पांच परीषह नष्ट हो जाती है, उस समय उसी नौवें गुणस्थानमें इन पांचों के बिना चौदह परीषह रह जाती है। ये चौदह परीषह नौवें गुणस्थानके इस भाग से लेकर क्षीण कषाय नामके बारहवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानोंमें रहती हैं। परंतु छद्मस्थ वीतरागों के अर्थात् ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान में ये परीषह बहुत ही थोड़ी रहती है और सुख देनेवाली ही होती

है दुःख नहीं देती। क्षीण कषाय के अंतमें जब घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब उन केवली भगवान के प्रज्ञा अज्ञान और अलाभ परीषह भी नष्ट हो जाती हैं अतएव केवली भगवान के वेदनीय कर्म के विद्यमान रहने से उपचार से ग्यारह परीषह रह जाती है ॥३१८५-३१९२॥

केवली भगवान के रंचमात्र भी दुःख का कारण परीषह नहीं—

घातिकर्मवलापायात्स्वकार्यकरणेऽक्षमाः। दातुं दुःखमशक्ताश्चविगतान्तसुखाश्रयात् ॥३१९३॥

अर्थ—केवली भगवान के घातिया कर्मों का नाश हो जाने से वे परीषह अपना कुछ कार्य नहीं कर सकती। तथा उन भगवान के अनंत सुख की प्राप्ति हो जाती है इसलिये वे परीषह रंचमात्र भी दुःख नहीं दे सकती ॥३१९३॥

नरकादि गति में कितनी परीषह होती है ?

सर्वे तीव्रतराः सन्तिसर्वोत्कृष्टाः परीषहाः। नारकाणां गतौ घोरास्तथातिर्यग्गतावपि ॥३१९४॥
प्रज्ञाज्ञानाभिधादर्शनालाभनाग्न्यसंज्ञकाः। अरतिस्त्रीनिषद्याख्याक्रोशयांचापरीषहाः ॥३१९५॥
सत्कारादिपुरस्कारः क्षुत्पिपासावधोप्यमी। सन्ति देवगतौस्वल्पाश्चतुर्दशपरीषहाः ॥३१९६॥

अर्थ—नरकों में नारकियों के और तिर्यंचगति में तिर्यंचों के समस्त परीषह होती हैं तथा अत्यन्त तीव्र और उत्कृष्ट होती हैं। देव गतिमें प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन, अलाभ, नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, यांचा, सत्कार पुरस्कार, क्षुधा, पिपासा और बध ये चौदह परीषह बहुत थोड़े रूपमें होती है ॥३१९४-३१९६॥

ध्यानादि द्वारा परीषह सहने की प्रेरणा—

एते परीषहाविश्वे कर्मजाः कर्महानये। सोढव्याः संयतैः शक्त्या ध्यानाध्ययनकर्मभिः ॥३१९७॥

अर्थ—ये समस्त परीषह कर्मों के उदय से उत्पन्न होती है। इसलिये मुनियों को अपने कर्म नष्ट करने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान और अध्ययन आदि कार्यों के द्वारा अवश्य सहन करनी चाहिये ॥३१९७॥

मुनिराज किस प्रकार परीषह रूपी योद्धाओं को जीतते हैं—

चारित्रसंगरेघोरे परीषह महाभटाः। यैर्जिताः सत्तपोवाणैर्वृत्तचापार्पितैर्दृढैः ॥३१९८॥
तेषां नश्यन्ति कर्माणिपंचाक्षतस्करैःसमम्। ढौकतेत्रिजगल्लक्ष्मीमुंक्तिश्रियासहाचिरात् ॥३१९९।

अर्थ—अपने चारित्र में अचल रहनेवाले जो मुनिराज चारित्ररूपी घोर युद्ध में चारित्र रूपी धनुष पर श्रेष्ठ तप रूपी बाण चढ़ाकर परीषह रूपी महा योद्धाओं को

जीत लेते हैं, उनके समस्त कर्म पांचों इन्द्रियरूपी चोरों के साथ-साथ अवश्य नष्ट हो जाते हैं और बहुत ही शीघ्र मोक्ष लक्ष्मी के साथ-साथ तीनों लोकों की लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ।।३१९८-३१९९।।

परीषहों को नहीं जीतने से हानि—

परीषहभटेभ्यो ये भीता नश्यन्ति कातराः । सच्चारित्ररणात्प्राप्यतेपकीर्तिजगत्त्रये ।।३२००।।
हास्यं स्वजनसाधूनांमध्येचतुर्गताविह । अमुत्रपापपाकेनस्युर्विश्वदुःखभाजनाः ।।३२०१।।

अर्थ—जो कायर मुनि परीषह रूपी योद्धाओं से डरकर भाग जाते हैं वे उस चारित्ररूपी युद्ध में तीनों लोकों में फैलने वाली अपकीर्ति प्राप्त करते हैं, अपने स्वजन और साधुओं के मध्य में उनकी हंसी होती है तथा परलोक में पापकर्म के उदय से उनको चारों गतियों के समस्त महा दुःख प्राप्त होते हैं ।।३२००-३२०१।।

धैर्य रूपी तलवार से परीषहों को जीतने की प्रेरणा—

मत्वेति सुधियोनित्यंस्वारीनिवपरीषहान् । जयन्तु धैर्यखड्गेन मुक्तिसाम्राज्यसिद्धये ।।३२०२।।

अर्थ—यही समझकर बुद्धिमान् मुनियों को मुक्तिरूपी साम्राज्य सिद्ध करने के लिये अपनी धैर्य रूपी तलवार से अपने शत्रुओं के समान ये समस्त परीषह सदा के लिये जीत लेनी चाहिये ।।३२०२।।

ऋद्धियों के कथन की प्रतिज्ञा एवं उनके भेद—

ऋद्धीरथमुनीन्द्राणामृषीणां सत्तपोभवाः । समासेन प्रवक्ष्यामि तपोमाहात्म्यव्यक्तये ।।३२०३।।
ऋद्धिर्बुद्धयाह्वया चाद्याक्रियर्द्धिर्विक्रियाह्वया । तपऋद्धिर्बलर्द्धिश्चौषधर्द्धिरससंज्ञका: ।।३२०४।।
क्षेत्रर्द्धिर्योगिनामेताऋद्धयोष्टविधाःपराः । जनन्योखिलसौख्यानां तपःशुद्धिप्रभावजाः ।।३२०५।।

अर्थ— अथानंतर—मुनियों के, ऋषियों के श्रेष्ठ तप के प्रभाव से अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं । अतएव उस तप का माहात्म्य प्रगट करने के लिये संक्षेप से उन ऋद्धियों का स्वरूप कहता हूं । बुद्धिऋद्धि, क्रियाऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, तपऋद्धि, बलऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि और क्षेत्रऋद्धि ये आठ प्रकार की ऋद्धियां मुनियों के होती हैं । ये सब ऋद्धियां तपश्चरण की शुद्धता के प्रभाव से प्रगट होती हैं और समस्त सुखों को उत्पन्न करनेवाली होती हैं ।।३२०३-३२०५।।

बुद्धि ऋद्धि के भेद व क्रिया ऋद्धि के भेद—

केवलावधिसंज्ञाने मनःपर्यबोधनः । बीजकोष्ठाह्वयेबुद्धीपादानुसारिसंज्ञका ।।३२०६।।

संभिन्नश्रोत्रदूरास्वादनस्पर्शनदर्शनाः । घ्राणाश्रवणसमर्थ्यं दशपूर्वित्वमेवहि ।।३२०७।।
सच्चतुर्दशपूर्वित्वंविश्वार्थावगमक्षमम् । अष्टांगपरिपूर्णा महानिमित्तज्ञतापरा ।।३२०८।।
सत्प्रज्ञाश्रवणत्वं च प्रत्येकंबुद्धता परा । वादित्वमृद्धिभेदाःस्युर्बुद्धेरष्टादशाप्यमी ।।३२०९।।

अर्थ—केवलज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पादानुसारि, सभिन्नश्रोत्र, दूरास्वादन, दूरस्पर्शन, दूरदर्शन, दूरघ्राण, दूरश्रवण, दशपूर्वित्व वा चतुर्दशपूर्वित्व, समस्त पदार्थों के जानने की सामर्थ्य, अष्टांग महा निमित्त की पूर्णता, प्रज्ञाश्रमणत्व, प्रत्येक बुद्धता और श्रेष्ठ वादित्व इसप्रकार अठारह अतिशयों का प्राप्त होना बुद्धिऋद्धि के भेद हैं ।।३२०६-३२०९।।

क्रिया ऋद्धि का प्रथम भेद व रूप चारण ऋद्धि के भेद—

चारणत्वंतथाकाशगामित्वं व्योमगामिनाम् । द्विधाक्रियर्द्धिरत्रेति तत्रैते चारणाः पराः ।।३२१०।।
जलजंघाभिधास्तन्तुपुष्पपत्राख्यचारणाः । बीजश्रेणिफलाग्राग्निशिखाद्यु परिगामिनः ।।३२११।।
जलमादाय वाप्यादिष्वप्कायिकविराधनाम् । अकुर्वन्तोमनाग्भूमाविव कार्यायपादयोः ।।३२१२।।
व्रजन्त्युद्धारनिक्षेपाभ्यां येखिलांगिरक्षकाः । महाकारुण्यचित्तास्ते भवन्ति जलचारणाः ।।३२१३।।
भूमेरुपरिचाकाशेचतुरंगुलसम्मिते । स्वजंघोक्षेपनिक्षेपाभ्यांयान्तिबहुयोजनान् ।।३२१४।।
विहारकर्मणे ये ते योगिनोजंघचारिणः । एवमन्येपिविज्ञेयातत्त्वादिचारणाः पराः ।।३२१५।।

अर्थ—चारण ऋद्धि और आकाशगामी ऋद्धि ये दो प्रकार की क्रियाऋद्धियां आकाशगामी मुनियोंके होती हैं । अब आगे चारण ऋद्धियों का विशेष रीति से लिखते हैं । जलचारण, जंघाचारण, तंतुचारण, पुष्पचारण, पत्रचारण, बीजचारण, श्रेणीचारण, फलचारण, अग्निशिखाचारण आदि चारण ऋद्धिके अनेक भेद हैं । जो मुनि अपने कार्य के लिये बावड़ी, सरोवर आदि जल में जलकायिक जीवों की रंचमात्र भी विराधना न करते हुए पृथ्वी के समान उस जल पर पैरों को उठाते रखते हुए चलते हैं, ऐसे समस्त जीवों की रक्षा करनेवाले और हृदय में महा करुणा धारण करनेवाले वे मुनिराज जलचारण ऋद्धि को धारण करनेवाले कहलाते हैं । जो मुनि भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में अपनी जंघाओं को उठाते रखते हुए विहार करते हैं और इसीप्रकार अनेक योजन चले जाते हैं उन मुनियोंको जंघाचारण ऋद्धिधारी कहते हैं । इसीप्रकार तंतुचारण, पुष्प, फल, चारण आदि चारण ऋद्धियोंके भेद समझ लेने चाहिये ।।३२१०-३२१५।।

आकाशगामिनी ऋद्धि का स्वरूप—

पर्यंकासनयुक्ता वा निषण्णा वा सुचारणाः । कायोत्सर्गस्थिताः पादोद्धारनिक्षेपणेन वा ।।३२१६।

वा ताभ्यामन्तरेणैवबहुयोजनगामिनः । आकाशगामिनो ज्ञेयाः कुशलाः व्रजने च खे ।।३२१७।।

अर्थ—आकाशगामिनी ऋद्धि को धारण करनेवाले मुनि चलने में अत्यन्त चतुर होते हैं तथा पर्यंकासन से बैठकर वा अन्य किसी आसन से बैठकर वा कायोत्सर्ग से खड़े होकर वा पैरों को उठाते रखते हुए वा पैरों को बिना उठाए रक्खे अनेक योजन चले जाते हैं, उसको आकाशगामिनी ऋद्धि कहते हैं ।।३२१६-३२१७।।

विक्रिया ऋद्धि के भेद—

अणिमा महिमा नाम्नो लघिमा गरिमा ततः । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वंवशित्वं वशकारकम् ।।
तथैवाप्रतिघातोन्तर्द्धानमदृश्यकारणम् । कामरूपित्वमित्याद्याविक्रियर्द्धिरनेकधा ।।३२१९।।

अर्थ—विक्रिया ऋद्धि के अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्य, प्राकाम्य, ईशत्वं, वश करनेवाली वशित्व, अप्रतिघात, अदृश्यता का कारण अंतधान और कामरूपित्व आदि अनेक भेद हैं ।।३२१८-३२१९।।

तपोतिशय ऋद्धि के ७ भेद का कथन—

उग्रोदीप्ततपस्तप्तोमहद्घोरतपस्ततः । सर्वकार्यविधौशक्तस्तपोघोरपराक्रमः ।।३२२०।।
घोराद्यन्तगुणब्रह्मचर्यंस्वप्नेप्यखण्डितम् । सत्तपोतिशयर्द्धिश्चैषामता सप्तधासताम् ।।३२२१।।

अर्थ—अग्रदीप्ततप, तप्ततप, महाघोरतप, समस्त कार्यों के सिद्ध करने में समर्थ ऐसा घोर तप, घोर पराक्रम, घोरगुण और स्वप्न में अखंडित रहनेवाला घोर ब्रह्मचर्य इसप्रकार तपोतिशय ऋद्धि के सात भेद हैं ।।३२२०-३२२१।।

बल ऋद्धि का स्वरूप एवं भेद—

मनोवाक्कायभेदेन त्रिधा बलर्द्धिरुच्यते । सर्वांगपाठचिन्तादौसत्तपश्चरणेक्षमाः ।।३२२२।।

अर्थ—मनोबल, वचनबल और कायबलके भेद से बलऋद्धि के तीन भेद हैं। वे मुनिराज इस बलऋद्धि के समस्त अंगों का पाठ और चिंतवन क्षणभरमें कर लेने के लिये समर्थ हो जाते हैं ।।३२२२।।

औषधि ऋद्धि के भेद—

आमखेलाख्यजल्लमलोविटसर्वौषधिस्ततः । तथैवास्यविषोदृष्टिविषर्द्धिरितियोगिनाम् ।।३२२३।।
विश्वरोगहराज्ञेयात्रौषधर्द्धिः पराष्टधाः । सत्तपोवृत्तधर्मादिमाहात्म्यव्यक्तिकारिणी ।।३२२४।।

अर्थ—आम, खेल, जल्ल, मल, विट्, सर्वौषधि, आस्य विष और दृष्टि विष ये समस्त रोगों को हरण करनेवाली औषधि ऋद्धियां आठ प्रकार की हैं। ये सब

ऋद्धियां तप चारित्र और धर्म के माहात्म्य को प्रगट करनेवाली हैं ।।३२२३-३२२४।।

रस ऋद्धि के भेद—

परा आस्यविषादृष्टिविषामहर्षयोद्भूताः । सन्क्षीराश्राविणोमध्वाश्राविणो मुनिपुंगवाः ।।३२२५।
सर्पिराश्राविश्चैवामृताश्राविण ऊर्जिताः । एवंरसर्द्धिसंप्राप्ताः षड्विधाऋषयोसताः ।।३२२६।।

अर्थ—रसऋद्धि के छह भेद हैं—आस्यविषा, दृष्टिविषा, क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, सर्पिस्रावी और अमृतस्रावी । इनसे सुशोभित होनेवाले मुनि रसऋद्धिधारी कहलाते हैं ।।३२२५-३२२६।।

क्षेत्र ऋद्धि के भेद—

द्विधाक्षेत्रर्द्धिसंप्राप्ताः इत्यक्षीणमहानसाः । जनावगाहदाःस्वस्याश्रमेक्षीणमहालयाः ।।३२२७।।

अर्थ—क्षेत्र ऋद्धि के दो भेद हैं—एक अक्षीण महानस और आश्रम में समस्त लोगों को जगह देनेवाली अक्षीण महालय इनसे सुशोभित होनेवाले मुनि क्षेत्रऋद्धिधारी कहलाते हैं ।।३२२७।।

ऋद्धियों की महिमा—

इमा अष्टविधाः साराः ऋद्धयोविविधास्तथा । तपोमाहात्म्यजा ज्ञेया ऋषीणांशिवशर्मदाः ।।२८।

अर्थ—इसप्रकार ये आठ प्रकार की ऋद्धियां कहलाती हैं इन सारभूत ऋद्धियों के अनेक भेद हैं तथा ऋषियों के तपश्चरण के माहात्म्य से प्रगट होती हैं और उन्हें मोक्ष देनेवाली होती हैं ।।३२२८।।

किनके ये ऋद्धियां प्रकट होती हैं—

निराकांक्षास्त्रिशुद्धयायेऽनघंकुर्वन्तिसत्तपः । ऋद्धयः सकलास्तेषां जायन्ते स्वयमेव हि ।।३२२९।।

अर्थ—जो मुनि मन-वचन-काय की शुद्धता पूर्वक बिना किसी आकांक्षा के पापरहित श्रेष्ठ तपश्चरण करते हैं उनके अपने आप समस्त ऋद्धियां प्रगट हो जाती हैं ।।३२२९।।

तप नहीं करने से हानि—

जिनदीक्षांमुदादाय तपोयेत्र न कुर्वंते । तेषां रोगव्रजोमुत्रदुर्गतिर्नित्यभक्षणात् ।।३२३०।।

अर्थ—जो मुनि अपनी इच्छानुसार दीक्षा धारण करके भी तपश्चरण नहीं करते उनके अनेक रोग प्रगट होते हैं और नित्य भक्षण करने से परलोक में दुर्गति

होती है ।।३२३०।।

तपश्चरण करने की प्रेरणा—

मत्वेति शिवसिद्धयर्थं कुर्वन्तुसत्तपोन्वहम् । विश्वर्द्धिजनकंशक्त्या भवभीताः शिवार्थिनः ।।३२३१।

अर्थ—यही समझकर संसार से भयभीत हुए और मोक्ष की इच्छा करनेवाले मुनियों को मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त ऋद्धियों को प्रगट करनेवाला यह श्रेष्ठ तपश्चरण अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन करते रहना चाहिये ।।३२३१।।

ऋद्धिधारी मुनिराज की वन्दना, स्तुति—

इतिविमलमहर्द्धयलंकृता ये महान्तः सकलगुणसमुद्राः विश्वपूज्याऋषीन्द्राः ।
शिवगतिसुखकामा वंदिताः संस्तुतास्ते ममनिखिल निजर्द्धींमुक्तिसिद्धयै प्रदद्युः ।३२३२।

अर्थ—इसप्रकार जो मुनि निर्मल महा ऋद्धियोंसे सुशोभित हैं, जो सर्वोत्कृष्ट हैं, समस्त गुणों के समुद्र हैं, तीनों लोकों में पूज्य हैं, ऋषिराज हैं और मोक्ष गति के सुखों की इच्छा करनेवाले हैं, उनकी मैं वंदना एवं स्तुति करता हूं । वे मुनिराज मोक्ष प्राप्त करने के लिये मुझे अपनी समस्त ऋद्धियों को प्राप्त करें ।।३२३२।।

ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं महिमा—

मूलाचारादिशास्त्रान्वरगणिगदितान्संविलोक्यार्थतो,
वै मूलाचारप्रदीपाभिधमंमृतसमं ज्ञानतीर्थंमयात्र ।
सम्यक्स्वाचारदीपंजगतिसुयमिनांधर्मबीजंबुधार्च्यं,
मेतत्स्वान्याद्यहान्यैदुरितचयहरंग्रंथसारं च चक्रे ।।३२३३।।

अर्थ—मैंने श्रेष्ठ आचार्यों के द्वारा कहे हुए मूलाचार आदि अनेक शास्त्रोंको देखकर तथा उनका सार लेकर अपने और अन्य जीवों के पाप नाश करने के लिये अमृत के समान यह मूलाचार प्रदीप नामका सारभूत ग्रंथ मुनियों के लिये बनाया है । यह ग्रंथ ज्ञानका तीर्थ है, श्रेष्ठ आचारों को दिलाने वाला दीपक है, धर्म का बीज है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है और पापों के समूह को नाश करनेवाला है ।।३२३३।।

ग्रन्थ रचना का कारण—

न कीर्तिपूजादिकलाभवांच्छया नवा कवित्वाद्यभिमानकांक्षया ।
ग्रंथः कृतः किन्तुपरार्थसिद्धये स्वधर्मवृत्यै भुवि केवलंमया ।।३२३४।।

अर्थ—यह ग्रंथ मैंने न तो अपनी कीर्ति वा पूजा आदि के लाभ की इच्छा से

बनाया है और न अपना कवित्व के अभिमान को दिखलाने की इच्छा से बनाया है। किंतु केवल दूसरों का उपकार करने के लिये और अपने धर्म की वृद्धि के लिये मैंने यह ग्रंथ बनाया है ।।३२३४।।

पूज्य सरस्वती से क्षमा याचना—

अस्मिन्ग्रन्थवरेसुमार्गकथकेकिंचिन्मयोक्तं च यत् मात्रासन्धिपदादिहीनमखिला ज्ञानप्रमादादिभिः ।
आचारांगमसंविरुद्धमथवासर्वंक्षमत्वाम्वतं पूज्ये भारति तीर्थनाथमुखजे दोषंमदीयं भुवि ।३२३५।।

अर्थ—हे माता सरस्वतो, हे तीर्थंकर के मुख कमल से उत्पन्न हुई देवो ! मैंने सुमार्ग को दिखलाने वाले इस श्रेष्ठ ग्रंथमें अपने पूर्ण अज्ञान वा प्रमादिक से आचारांग शास्त्र के विरुद्ध कहा हो वा मात्रा संधि पद आदि कुछ कम कहा हो उस मेरे दोष को हे पूज्य सरस्वती तू क्षमा कर ।।३२३५।।

ग्रन्थ के पठन-पाठन का फल—

येपठन्तिसुविदोवरशास्त्रं धर्मरत्ननिधिमात्महिताय ।
आदिमांगजमिमंनिरवद्यं ते विबुध्ययतिमार्गसमग्रम् ।।३२३६।।
तत्त्वतोनुचरणाद्दिविसौख्यं प्राप्यशक्रपदजंशुभवीजम् ।
चक्रिराजविभवं च निहत्य कृत्स्नकर्मकिलयान्तिशिवान्तम् ।।३२३७।।
ये पाठयन्तिनिपुणा यमिनः शिवाय शुद्धं यथार्थसहितं वरशास्त्रमेतत् ।
ते ज्ञानदानजनिताद्भुतधर्मत:स्यु लब्ध्वाखिलागममिहत्रिजगच्छरण्या: ।।३२३८।।

अर्थ—यह मूलाचार प्रदीप नाम का शास्त्र धर्मरूप रत्नों का निधि है, पहले आचारांग अंग से उत्पन्न हुआ है और निर्दोष है। इसलिये जो बुद्धिमान पुरुष अपना हित करने के लिये इसको पढ़ते हैं वे मुनियों के समस्त मार्ग को जानकर और यथार्थ रीति से उसको आचरण कर स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं तथा वहांके सुखों को प्राप्त कर वा वहां के इन्द्रपद के सुखों को प्राप्त कर बचे हुए पुण्य कर्म से चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्त करते हैं। तथा अंतमें समस्त कर्मों को नाश कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं। जो चतुर मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिये इस शास्त्र को यथार्थ अर्थ सहित शुद्ध रीति से पढ़ाते हैं वे ज्ञानदान से उत्पन्न हुए अद्भुत धर्म के प्रभाव से समस्त आगम के पारगामी होकर तीनों लोकों को शरणभूत हो जाते हैं, अर्थात् अरहंत वा सिद्ध हो जाते हैं ।।३२३६-३२३८।।

ग्रन्थ को लिखने लिखवाने का फल—

ये संलिखन्तिसुधियःस्वयमेव वेमं ग्रन्थं धनेनधनिनः खलुलेखयन्ति ।
ते ज्ञानतीर्थपरमोद्धरणाद्धरिञ्यां तीर्थेश्वराः किल भवेयुरहो क्रमेण ।।३२३९।।

अर्थ—इसीप्रकार जो बुद्धिमान् इस ग्रंथ को स्वयं लिखते हैं वा जो धनी धन खर्च कर लिखाते हैं वे इस पृथ्वीपर ज्ञानरूपी तीर्थ के परम उद्धार करनेवाले कहे जाते हैं और इसीलिये वे अनुक्रम से तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं ।।३२३९।।

ग्रन्थकर्त्ता (सकलकीर्ति) शास्त्र शुद्धि के लिये विशेष ज्ञानियों से प्रार्थना करते हैं—

रहितसकलदोषा ज्ञानपूर्णा ऋषीन्द्रा स्त्रिभुवनपतिपूज्याः शोधयन्त्वेवयत्नात् ।
विशदसकलकर्त्याख्येनचाचारशास्त्रमिदमिहगणिनासंकीर्तितं धर्मसिद्धचै ।।३२४०।।

अर्थ—यह आचारशास्त्र ग्रंथ धर्म की सिद्धि के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध ऐसे आचार्य सकलकीर्ति ने बनाया है। जो मुनिराज समस्त दोषों से रहित हों, ज्ञान से परिपूर्ण हों और तीनों लोकों के द्वारा पूज्य हों वे इस ग्रंथ को प्रयत्न पूर्वक शुद्ध करें। ।।३२४०।।

समस्त गुणों की प्राप्ति हेतु तीर्थंकर देव की स्तुति—

सर्वेतीर्थंकराः परार्थजनका लोकत्रयोद्योतकाः,
वंद्याविश्वहितोद्यता भवहराधर्मार्थकामादिदाः ।
अन्तातीतगुणार्णवा निरुपमामुक्तिस्त्रियोवल्लभा,
लोकेऽकारणबंधवोनिजगुणाप्त्यैसन्तु नोवःस्तुताः ।।३२४१।।

अर्थ—इस संसार में आज तक जितने तीर्थंकर हुए हैं वे सब मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ को प्रगट करनेवाले, तीनों लोकों के पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले, तीनों लोकों के द्वारा वंदनीय, समस्त जीवों का हित करनेवाले, संसार को नाश करनेवाले, धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों को देनेवाले, अनंत गुणों के समुद्र, उपमारहित मुक्ति-स्त्री के स्वामी और इस लोक में बिना कारण सबका हित करनेवाले बंधु रूप हुए हैं। इसीलिये मैं उनकी स्तुति करता हूं। वे तीर्थंकर परमदेव मेरे लिये अपने समस्त गुण प्रदान करें ।।३२४१।।

समस्त सिद्धि के लिये सिद्ध भगवान की स्तुति—

सिद्धामुक्तिवधूसुसंगसुखिनोऽनंतास्त्रिलोकाग्रगा ध्येयास्तत्पदकांक्षिभिःमुनिवरैःप्राक्तीर्थनाथैरपि ।

वंद्याअष्टगुणांकिताःशिवकराःमूर्तातिगा निर्मलाः,
ज्ञानांगाममबोदिशन्तुसकलांसिद्धिनिजांसंस्तुताः ।।३२४२।।

अर्थ—इसीप्रकार अनंत सिद्ध परमेष्ठी मुक्तिरूपी स्त्री के समागम से अत्यन्त सुखी हैं, तीनों लोकों के शिखर पर विराजमान हैं; सिद्ध पद की इच्छा करनेवाले मुनियों को ध्यान करने योग्य हैं, पहले भगवान तीर्थंकर परमदेव ने भी उनकी वंदना की है, वे सम्यक्त्व आदि आठों गुणों से सुशोभित हैं, मोक्ष के देनेवाले हैं, अमूर्त हैं, निर्मल हैं और ज्ञानरूप शरीर को धारण करनेवाले हैं। ऐसे सिद्ध परमेष्ठी की मैं स्तुति करता हूं वे सिद्ध परमेष्ठी तुम लोगों के लिये अपनी समस्त सिद्धि प्रदान करें। ।।३२४२।।

समस्त साधुओं की स्तुति—

पंचाचारपरायणाः सुगणिनः स्वाचारसंदर्शिन,
श्चाचाराद्यखिलांगपाठनिपुणाअध्यापकाः साधवः।
विश्वेशक्तिभरेणयोगसहिताः स्वाचारमार्गोद्यताः,
ये ते विश्वहितंकराश्चममवोदद्यु:स्वकीयान्गुणान् ।।३२४३।।

अर्थ—इस संसार में पंचाचारों के पालन करने में तत्पर तथा अपने आचारों को दिखलाने वाले दूसरों से पालन कराने वाले जितने आचार्य हैं तथा आचारांगादि समस्त अंगों के पढ़ने पढ़ाने में निपुण जितने उपाध्याय हैं और अपनी शक्तिके अनुसार योगों को धारण करनेवाले अपने आचार मार्ग में उद्यत रहने वाले तथा समस्त जीवों का हित करनेवाले जितने साधु हैं वे सब तुम्हारे लिये और मेरे लिये अपने-अपने समस्त गुण प्रदान करें ।।३२४३।।

जैन शासन की स्तुति—

भवरिपुभयभीतानां शरण्यं बुधार्च्यं निरुपमगुणपूर्णंस्वर्गमोक्षैकहेतुम् ।
गणधरमुनिसेव्यं धर्ममूलं गरिष्ठं जयतु जगति जैनं शासनंपापदूरम् ।।३२४४।।

अर्थ—इस संसार में यह जैनशासन संसाररूपी शत्रु से भयभीत हुए जीवों के लिये शरणभूत है, विद्वानों के द्वारा पूज्य है, उपमारहित गुणों से पूर्ण है, स्वर्गमोक्ष का एक अद्वितीय कारण है, गणधर और मुनियों के द्वारा सेवा करने योग्य है, धर्म का मूल है, सर्वोत्कृष्ट है और पापों से रहित है। ऐसा यह जैनशासन तीनों लोकों में जयवंत हो ।।३२४४।।

आचार प्रदीप नामक ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं स्तुति—

विश्वेशैर्ज्ञानतीर्थंमहितमपमलं वन्दितं संस्तुतं च,
विश्वाचारप्रदीपंगुणगणजनकंतीर्थनाथैः प्रणीतम् ।
अर्थादंगादिपूर्वैर्गणधरयमिभिर्यन्निबद्धं मयातत् नित्यं,
यात्वत्रवृद्धिसकलयतिगणैर्धर्मतीर्थं हि यावत् ।।३२४५।।

अर्थ—जो आचार प्रदीप ज्ञान का तीर्थ है, तीनों लोकों के इन्द्रों के द्वारा पूज्य है, वंदनीय है, स्तुति करने योग्य है, समस्त आचारों को दिखलाने वाला दीपक है, अनेक गुणों के समूह को उत्पन्न करनेवाला है, अर्थरूप से भगवान तीर्थंकर परमदेव का कहा हुआ है, तथा अर्थरूप से अंग पूर्व के द्वारा गणधर परमदेवों ने इसकी रचना की है, उसी को मैंने रचना रूप में प्रगट कर दिया है ऐसा यह ग्रन्थ जब तक धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति रहे तब तक समस्त मुनियों के समूह के द्वारा सदा वृद्धि को प्राप्त होता रहे ।।३२४५।।

आचार्य स्वयं ज्ञान तीर्थ की स्तुति करते हुए स्तुति के फल की कामना कर रहे हैं—

एतद्ज्ञानसुतीर्थसारमतुलं प्रोक्तंमयासंस्तुतं वंद्यंमेति सुलोभिनः शिवपथंरत्नत्रयंनिर्मलम् ।
शुद्धिवाक्तनुचेतसां च सुमृतिं बोधिसमाधिगुणान् तीर्थेशांसुगतिंवदातुसकलं दुःखं निहत्य द्रुतम् ।।

अर्थ—यह वंदना करने योग्य, स्तुति करने योग्य, उपमारहित और सारभूत ऐसा मेरे द्वारा कहा हुआ ज्ञान तीर्थ अत्यन्त लोभ करनेवाले मेरे समस्त दुःखों को दूर कर मुझे मोक्ष मार्ग प्रदान करे, निर्मल रत्नत्रय प्रदान करे, मन-वचन-काय की शुद्धि प्रदान करे, पंडितमरण प्रदान करे, बोधि और समाधि को प्रदान करे, तीर्थंकरों के गुणों को प्रदान करे और सबसे उत्तम गति प्रदान करे ।।३२४६।।

पञ्च परमेष्ठी की स्तुति पूर्वक मंगल कामना करते हैं—

असमगुणनिधानास्तीर्थनाथाः शरण्याः जगतिरहितदेहा विश्वलोकाग्रभूताः ।
त्रिविधगुणमहान्तः साधवोयेखिलास्ते ममसकलसुखाप्त्यंसन्तुमांगल्यदा वः ।।३२४७।।

अर्थ—इस संसार में अनुपम गुणों के निधान और सबको शरणभूत जितने तीर्थंकर हैं तथा शरीर रहित और लोक शिखर पर विराजमान जितने सिद्ध हैं और अनेक गुणों से सुशोभित जितने आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं वे सब मेरे लिये समस्त सुखों को देनेवाले हों और तुम्हारे लिये समस्त मंगलों को देनेवाले हों ।।३२४७।।

शास्त्र के श्लोक संख्या का प्रमाण—

पंचषष्ठ्यधिकाः श्लोकास्त्रयस्त्रिंशच्छतप्रमाः ।
अस्याचारसुशास्त्रस्य ज्ञेयाः पिण्डीकृताभुवि ।।३२४८।।

इति श्रीमूलाचारप्रदीपकाख्येमहाग्रंथे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचितेनुप्रेक्षापरीषह ऋद्धिवर्णनो नाम द्वादशमोऽधिकारः ।

अर्थ—विद्वान् पुरुषों ने इस आचार शास्त्र के समस्त श्लोकों की संख्या तीन हजार तीन सौ पेंसठ बतलाई है ।।३२४८।।

इसप्रकार आचार्य श्रीसकलकीर्ति विरचित मूलाचार प्रदीप नाम के महाग्रन्थ में अनुप्रेक्षा परीषह और ऋद्धियों को वर्णन करनेवाला यह बारहवां अधिकार समाप्त हुआ ।

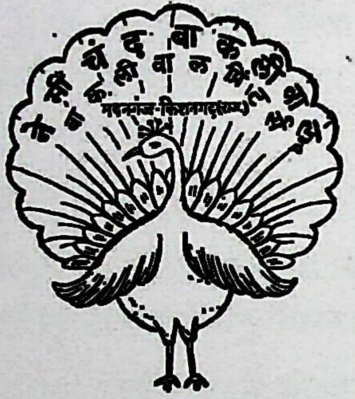
मदनगंज-किशनगढ़(राज.)

मूलाचार ग्रंथ के प्रकाशन में दान-दातारों की
* नामावली *

३५१०)	श्री नेमीचन्द महावीरप्रसादजी बडजात्या, मारोठ
३०००)	,, माणकचन्दजी चिरंजीलालजी बज, कुचामन
२१६२)	,, भंवरलालजी नोरतमलजी, बोरावड़ (मकराना)
२०६५)	,, महिला समाज मारोठ
२०००)	,, बुधमलजी रतनलालजी गोधा, मारोठ
१५३१)	,, पूरणमलजी महावीरप्रसादजी काला, कलकत्ता
१५३१)	,, हीरालालजी खुशालचन्दजी कुमारगांव (फल्टन)
१५३१)	,, नंदकिशोरजी शांतिलालजी अग्रवाल, मन्दसौर
१५३१)	,, कंवरीलालजी बोहरा, कालू
१५३१)	,, माणकचंदजी विमलकुमारजी विनायक्या, मारोठ
१५३१)	,, शांतिलालजी पवनकुमारजी चौधरी, मारोठ
१५३०)	,, कमलकुमारजी पदमचन्दजी चौधरी, मारोठ
१५३०)	,, मदनलालजी माणकचन्दजी गंगवाल, मारोठ
१५३०)	,, शीलचन्दजी डॉ० सा० नागदा मण्डी
१५०१)	,, गोपीदेवी W/o स्व. दुर्गादत्तजी काला सुजानगढ
१५०१)	,, हरकचन्दजी माणकचन्दजी, भगतपुरा
१५०१)	,, विमलादेवी W/o चिरंजीलाल गोधा मारोठ
१५००)	,, घासीलालजी रतनलालजी चांदमलजी छाबड़ा कुचामन
१५००)	,, लादूलालजी केवलचन्दजी, रैनवाल
१५००)	श्री किस्तूरचन्दजी जैन रामगंज मंडी
१५००)	,, बापूलालजी बघेरवाल, रामगंज मंडी
११११)	,, रामचन्द्रजी सोहनलालजी रारा मारोठ
११११)	,, महेन्द्रकुमारजी डोसी, रैनवाल
१०५१)	,, पारसचन्दजी कमलकुमारजी विनायक्या, मारोठ
१०५०)	,, सुवालालजी पन्नालालजी, कुचामन सिटी
१००१)	,, विद्युत श्री माताजी
१००१)	,, नवदीक्षित माताजी परिवार, (कुचामन)
१००१)	,, श्रीमती पानाबाई W/o मंगलचन्दजी, देहली
९३०)	,, किस्तूरचन्दजी आनन्दीलालजी विनायक्या; कलकत्ता
७५१)	,, उम्मेदमलजी निर्मलकुमारजी पाटनी, मारोठ
७५०)	,, चिरंजीलालजी सेठी, कुचामन
७५०)	,, श्रीमती सोहनीबाई W/o कज्जूलालजी पाटनी; कुचामन
७५०)	,, फूलचन्दजी कपूरचन्दजी झांझरी, कुचामन
५५१)	,, जैन समाज, निम्बाहेड़ा (ह. बिमलाबाई)
५१०)	,, बाबूलालजी नेमीचन्दजी, भानपुरा
५०१)	,, रूपचन्दजी जैन, लखनऊ
५००)	,, फूलचन्दजी झांझरी, कुचामन
५००)	,, मन्दसोर (गुप्त)

५००) श्री मूलचन्दजी शांतिकुमारजी, जोबनेर
५००) „ नाथूलालजी, मन्दसौर
३३१) „ सोहनलालजी सुन्दरलालजी पहाड़िया, कुचामन
३३१) „ चांदमलजी गंगवाल, रूपनगर
३३१) „ भंवरलालजी लक्ष्मीचन्दजी पाटनी, (तामसा)
३३०) „ हरिश्चन्द्रजी महेशकुमारजी छाबड़ा, मारोठ
३३०) „ धनसिंहजी पटवारी, पिड़ावा
३३०) „ श्रीमती मेनाबाई W/o श्री सोहनलालजी
काला, जयपुर
३००) „ धर्मचन्दजी चौधरी (नांवा)
२५१) „ नाथूलालजी सेठी, मन्दसौर
२५१) „ सरोजकुमारी पुत्री सोहनलालजी, कुचामन
२११) „ रतनलालजी कन्हैयालालजी बड़जात्या, मदनगंज
२११) „ बापूलालजी चौरड़िया, निम्बाहेड़ा
२१०) „ चतुर्भुजजी जयकुमारजी काला, नांवा
२१०) „ रिखबचन्दजी की धर्मपत्नी, कुचामन
२०६) „ फूलचन्दजी पाटनी, लोसल
२०२) „ कपूरचन्दजी जैन, सूरत
२०१) „ निर्मलकुमारजी सेठी, लखनऊ
२०१) „ महावीरप्रसादजी निर्मलकुमारजी
१५१) „ रमेशकुमारजी शाह, मारोठ
१५१) „ पारसमलजी लूणकरणजी, कालू
१५१) „ शांतिलालजी धर्मचन्दजी पाटनी, कालू
१५१) „ नेमीचन्दजी कमलकुमारजी पाटनी, कालू
१५१) „ गणपतलालजी कोठारी, कालू
१५१) „ किस्तूरचन्दजी उमरावमलजी जैन, मन्दसौर
१५१) „ शिखरचन्दजी (बाय वाला)
१५१) „ भंवरलालजी सुमेरमलजी पहाड़िया, कुचामन
१५१) „ जैन समाज, भीण्डर

१५१) श्री जंवरीलालजी डूंगरीचा (भीण्डर)
१५१) „ श्रीमती केसरबाई W/o भंवरलालजी जैन,
मारोठ
१५१) „ अमरचन्दजी रतनलालजी, डोडी कोडी
१५१) „ रूपचन्दजी संजयकुमारजी पाटनी, तामसा
१५१) „ सुगनचन्दजी फुलचन्दजी डेह (नागौर)
१५०) „ गुप्त (ह. माणकचन्दजी गंगवाल)
१५०) „ मदनलालजी महावीरप्रसादजी, सुरेरा
१५०) „ नाथूलालजी सुरेशकुमारजी, लालास
१५०) „ श्रीमती कपूरीदेवी W/o मूलचन्दजी पाटनी,
लाडनूं
१५०) „ किशनलालजी महावीरप्रसादजी ठोल्या, नांवा
१२५) „ फुलचन्दजी पाटनी, लोसल
१२१) „ भंवरलालजी छमकलालजी, भीण्डर
१२०) „ गुप्त (ह. उमराव बाई)
१२१) „ चिरंजीलालजी कुसुमकुमारजी चौधरी
१२०) „ नेमीचन्दजी माणकचन्दजी बाकलीवाल,
सुजानगढ
१०१) „ जुगराजजी सोहनलालजी काला, डेगाना
१०१) „ उम्मेदमलजी वकील, नांवा
१०१) „ अकलंककुमारजी जैन, मनीपुर
१०१) „ माणकचन्दजी बड़जात्या, सूरत
१०१) „ गोरधनजी काला, कुचामन
१०१) „ मिश्रीलालजी सेठी, कलकत्ता
१०१) „ धर्मचन्दजी अशोककुमारजी पांड्या, कुचामन
१००) „ महावीरप्रसादजी पांड्या, कुचामन
१००) „ नेमीचन्दजी भागचन्दजी सेठी,
शांतिपुरा
१००) „ लक्ष्मीचन्दजी गोधा, प्रतापगढ

१००) श्री भंवरलालजी पांड्या डेह (नागौर)
७१) ,, नाथूलालजी शंकरलालजी, भीण्डर
७०) ,, गुप्त ह. कमलजी चौधरी
६५) ,, गुप्त (ह. सौभागजी गोधा)
६२) ,, लिखमीचन्दजी कासलीवाल
६१) ,, सागरमलजी, भानपुरा
६०) ,, फुलचन्दजी डोसी, कुचामन
६०) ,, चिरंजीलालजी पांड्या ,,
६०) ,, सुगनचन्दजी बड़जात्या, मारोठ
६०) ,, मदनलालजी सोगानी कुचामन
६०) ,, गुप्त
६०) ,, श्रीमती रूकमणीदेवी मन्दसौर
६०) ,, श्रीमती साधनादेवी, W/o प्रकाशचन्दजी कोठारी कालू
६०) ,, कल्याणमलजी बाकलीवाल
६०) ,, भंवरलालजी ज्ञानचन्दजी, नांवा
५१) ,, जंवरीलालजी गोधा, मारोठ
५१) ,, मोहनलालजी सोहनलालजी काला, जीजोट
५१) ,, मीठालालजी, भीण्डर
५१) ,, अमरचन्दजी महेन्द्रकुमारजी, भीलवाड़ा
५१) ,, लालचन्दजी मनोजकुमारजी पाटनी, तामसा
५१) ,, किस्तूरचन्दजी, निवाई
५१) ,, जुगराजजी बाबूलालजी कासलीवाल, कालू
५१) ,, शांतिलालजी कन्हैयालालजी कालू
५१) ,, मदनलालजी विजयकुमारजी गंगवाल, सुरेरा
५१) ,, फुलेरा समाज
५१) ,, माणकचन्दजी बिनोदकुमारजी, फुलेरा
५१) ,, सोहनलालजी विनोदकुमारजी, जोबनेर
५१) ,, हरकचन्दजी धर्मेन्द्रकुमारजी, कूकनवाली
५०) श्री मदनलालजी शांतिलालजी, सुरेरा
५०) ,, श्रीमती भंवरीदेवी पहाड़िया, मकराना
५०) ,, चिरंजीलालजी चौधरी, नांवा वाला
५०) ,, श्रीमती बिमलादेवी जैन, निम्बाहेड़ा
५०) , बालूरामजी जैन, भीण्डर
४१) ,, गुप्त
३१) ,, श्रीमती फूटरीबाई पाटनी कालू
३१) ,, माणकचन्द्रजी गोधा, फुलेरा
३१) ,, जेठमलजी सेठी (लाडनू)
३१) ,, बाबूलालजी बड़जात्या, लाडनूं
३१) ,, कैलाशचन्दजी काला (पचार वाला)
३१) ,, नेमीचन्दजी जैन, चेची वाले
३१) , प्रेमकुमारजी, बिजोलिया
३१) ,, रोशनलालजी अजमेरा, भीलवाड़ा
३१) ,, भंवरलालजी निर्मलकुमारजी बड़जात्या, नागौर
३१) ,, गुप्त (पिड़ावा)
३१) ,, सागरचन्दजी जैन (तिजारा)
३१) ,, श्रीमती शकुन्तलादेवी जैन, लखनऊ
३१) ,, मांगीलालजी हाथी, (भीण्डर)
३१) ,, माणकचन्दजी प्रकाशचन्दजी गोधा, मारोठ
३१) ,, हीरालालजी श्रीपालचन्दजी गोधा, मारोठ
३१) ,, श्रीमती भंवरीदेवी W/o निर्मलकुमारजी पाटनी, मारोठ
३१) ,, श्रीमती कंचनदेवी W/o उम्मेदमलजी पाटनी, मरोठ
३१) ,, श्रीमती कंचनदेवी W/o सोभागमलजी पाटोदी, मीठड़ी
३१) ,, गुप्त, भीलवाड़ा

३०) श्री शिवचन्दजी झांझरी, लिचाणा
३०) ,, पूरणमलजी जैन, रांची
३०) ;, प्रकाशचन्दजी सेठी, बाय
३०) ;, तेजमलजी जैन, बहराव
३०) ,, श्रीमती मोहनमाला W/o महावीरप्रसादजी, गुढा
३०) ,, छीतरमलजी डोसी, कुचामन
३०) ,, श्रीमती भंवरीदेवी W/o छोगालालजी, मंढाभीमसिह
३०) ,, लोकेन्द्रकुमारजी जैन, जोधपुर
३०) ,, बनारसीलालजी सुनीलकुमारजी पांड्या, फतेहपुर
३०) ,; शिवभगवानजी बाबूलालजी पांड्या, फतेहपुर
३०) ;, रामेश्वरलालजी डूंगरमलजी पांड्या, फतेहपुर
३०) ,, चिरंजीलालजी सुशीलकुमारजी गोधा, फतेहपुर
३०) ,, छोगालालजी कन्हैयालालजी सेठी, फतेहपुर
३०) ,, वृजमोहनजी सुगनचन्दजी छाबड़ा, फतेहपुर
३०) ;, हीरालालजी नोरंगलालजी बड़जात्या फतेहपुर
३०) ,, सर्वसुखजी जगन्नाथजी पांड्या, फतेहपुर
३०) ;, लक्ष्मणरामजी भ्रमरचन्दजी छाबड़ा, फतेहपुर
३०) श्री ब्रजमोहनजी केसरदेवजी छाबड़ा, फतेहपुर
३०) श्री केसरदेवजी प्रमोदकुमारजी पांड्या, फतेहपुर
३०) ,, फुलचन्दजी नेमीचन्दजी पांड्या, फतेहपुर
३०) ,, चिरंजीलालजी प्रमोदकुमारजी छाबड़ा, फतेहपुर
३०) ;, गुप्त (दूदू)
३०) ,, लादूलालजी प्रकाशचन्दजी चौधरी, भीलवाड़ा
३०) ;; भंवरलालजी सेठिया, भीलवाड़ा
३०) ;, छोगालालजी जैन, भीलवाड़ा
३०) ,, लालजी गंगवाल, पांचवा
३०) ,, कन्हैयालालजी अजमेरा, नांवा
३०) ,, मोहनलालजी पाटोदी, नांवा
३०) ,, भंवरलालजी सोहनलालजी अजमेरा, नांवा
२१) ,, श्रीमतो बिमलादेवी W/o महावीरप्रसाद पहाड़िया, मीठड़ी
२१) ,, महावीरप्रसादजी रांवका
११) ,, शांतिलालजी बड़जात्या की धर्मपत्नी, मारोठ
११) ,, सुगनचन्दजी बड़जात्या, मारोठ
११) ,, किशनलालजी शाह, नांवा

* * *

आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन

प्रथमं चरणं नमः

करणं द्रव्यं

कोलकाता

फाउण्डेशन के उद्देश्य

- मूल आर्ष परम्परा का शंखनाद।
- देव-शास्त्र-गुरु के प्रति अगाढ़निष्ठा एवं समर्पण।
- प्राचीन अनुपलब्ध, अप्रकाशित साहित्य का प्रकाशन।
- धार्मिक संस्कार शिविर, श्रावक संस्कार शिविर, विद्वत संगोष्ठियों का आयोजन।
- आगमनिष्ठ विद्वानों एवं विधानाचार्यों का निर्माण एवं समाज के सामाजिक, साहित्यिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक उन्नयन के प्रकल्पों का आयोजन।
- विद्वानों, प्रतिभाओं, पत्रकारों, बुजुर्गों एवं समाज सेवियों का सन्मान

आचार्य शान्तिसागर फाउण्डेशन
1/2 दर्पनारायण टैगोर स्ट्रीट–कोलकाता–700006
मोबाईल – 9831008868, 9903080975
ई-मेल - shantisagar.foundation@gmail.com